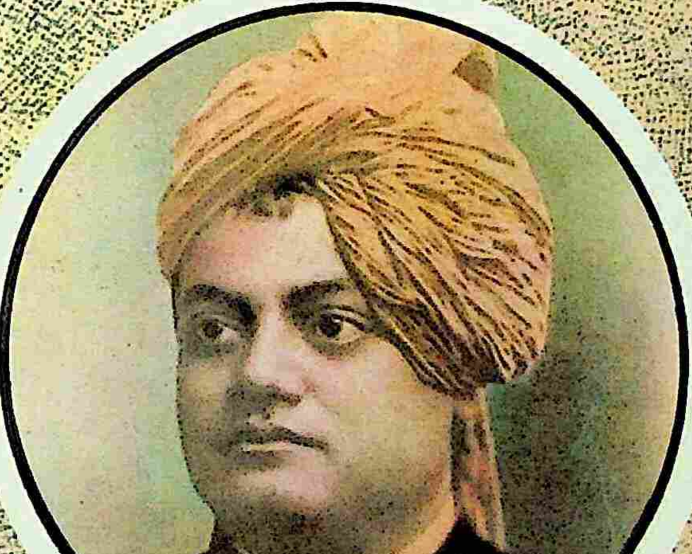
विवेकानन्द साहित्य

चतुर्थ खंड



अद्वैत आश्रम

विवेकानन्द साहित्य

चतुर्थ खंड

अद्वैत आश्रम
५ डिही एण्टाली रोड
कलकत्ता १४

प्रकाशक
स्वामी अनन्यानन्द
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम
मायावती, पिथौरागढ़, हिमालय

तृतीय संस्करण, नवम्बर १९८४
3M3C

मुद्रक : श्री अनिल कुमार दे
युनियन प्रेस
५ ई, रामकृष्ण लेन, कलकत्ता-३
भारत

विषय-सूची

भक्तियोग



स्वामी विवेकानन्द

प्रार्थना

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ।।
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

—'वह विश्व की आत्मा है; वह अमर है; उसीका शासकत्व है; वह सर्वज्ञ, सर्वगत और इस भुवन का रक्षक है, जो सर्वदा इस जगत् का शासन करता है; क्योंकि इस जगत् का चिरन्तन शासन करने के लिए और कोई समर्थ नहीं है।

—'जिसने सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा (सार्वभौम चेतना) को उत्पन्न किया और जिसने उसके लिए वेदों को प्रवृत्त किया, आत्मबुद्धि को प्रकाशित करनेवाले उस देव की मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ।"[1]

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् ।।६।१७-१८।।

भक्ति की परिभाषा

सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते हैं। इस खोज का आरम्भ, मध्य और अन्त प्रेम में होता है। ईश्वर के प्रति प्रेमोन्मत्तता का एक क्षण भी हमारे लिए शाश्वत मुक्ति देनेवाला होता है। भक्तिसूत्र में नारद कहते हैं, "भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है।" "जब मनुष्य इसे प्राप्त कर लेता है, तो सभी उसके प्रेम-पात्र बन जाते हैं। वह किसीसे घृणा नहीं करता; वह सदा के लिए सन्तुष्ट हो जाता है।" "इस प्रेम से किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक सांसारिक वासनाएँ घर किये रहती हैं, तब तक इस प्रेम का उदय नहीं होता।" "भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है और योग से भी उच्च है," क्योंकि इन सबका एक न एक लक्ष्य है ही, पर "भक्ति स्वयं ही अपना फलस्वरूप तथा साध्य और साधनस्वरूप है।"[1]

हमारे देश के साधु-महापुरुषों के बीच भक्ति स्थायी चर्चा का एक विषय रही है। भक्ति की विशेष रूप से व्याख्या करनेवाले शाण्डिल्य और नारद जैसे महापुरुषों के अतिरिक्त, स्पष्टतः ज्ञानमार्ग के समर्थक, व्याससूत्र के महान् भाष्यकारों ने भी भक्ति के सम्बन्ध में हमें बहुत कुछ दर्शाया है। भले ही उन भाष्यकारों नें, सब सूत्रों की न सही, पर अधिकतर सूत्रों की व्याख्या शुष्क ज्ञान के अर्थ में ही की है, किन्तु उन सूत्रों की और विशेषकर उपासना-काण्ड के सूत्रों की व्याख्या इतनी सरलता से नहीं की जा सकती।

वास्तव में ज्ञान और भक्ति में उतना अन्तर नहीं, जितना लोगों का अनुमान है। जैसा हम आगे देखेंगे, ये दोनों एक ही विंदु पर मिलते हैं। यही हाल राजयोग का भी है। उसका अनुष्ठान जब मुक्ति-लाभ के लिए किया जाता है—भोले-भाले लोगों की आँखों में धूल झोंकने के उद्देश्य से नहीं (जैसा बहुधा ढोंगी और जादू-मंतरवाले करते हैं)—तो वह भी हमें उसी लक्ष्य पर ले जाता है।

---

१. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।। नारद-सूत्र ।।१।२।।
सा न कामयमाना, निरोधरूपत्वात् ।। वही, ७।।
सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ।। वही ।।२।२५।।
स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ।। वही ।।४।३०।।

भक्तियोग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे महान् दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। पर साथ ही उससे एक विशेष आशंका यह है कि वह अपनी निम्न अवस्था में मनुष्य को बहुधा भयानक मतान्ध और कट्टर बना देता है। हिन्दू, इस्लाम या ईसाई धर्म में जहाँ कहीं इस प्रकार के धर्मान्ध व्यक्तियों का दल है, वह सदैव ऐसे ही निम्न श्रेणी के भक्तों द्वारा गठित हुआ है। भक्ति के किसी पात्र के प्रति अनन्य निष्ठा, जिसके बिना यथार्थ प्रेम का विकास सम्भव नहीं, अक्सर अन्य सब की भर्त्सना का कारण बन जाती है। प्रत्येक धर्म और देश के सभी दुर्बल और अविकसित बुद्धिवाले मनुष्य अपने आदर्श से प्रेम करने का एक ही उपाय जानते हैं, और वह है—अन्य सभी आदर्शों से घृणा करना। यहीं इस बात का उत्तर मिलता है कि वही मनुष्य, जो ईश्वर सम्बन्धी अपने आदर्श के प्रति इतना अनुरक्त है, किसी दूसरे आदर्श को देखते ही या उस सम्बन्ध में कोई बात सुनते ही इतना खूँख्वार क्यों हो उठता है। इस प्रकार का प्रेम कुछ कुछ, दूसरों के हाथ से अपने स्वामी की सम्पत्ति की रक्षा करनेवाले एक कुत्ते की जन्मजात-प्रवृत्ति के समान है। पर कुत्ते की वह जन्मजात-प्रवृत्ति मनुष्य की युक्ति से कहीं श्रेष्ठ है, क्योंकि कुत्ता अपने स्वामी को शत्रु समझकर कभी भ्रमित तो नहीं होता—चाहे उसका स्वामी किसी भी वेष में उसके सामने क्यों न आये। फिर, मतान्ध व्यक्ति अपनी सारी विचार-शक्ति खो बैठता है। व्यक्तिगत विषयों की ओर उसकी इतनी अधिक नज़र रहती है कि वह यह जानने का बिल्कुल इच्छुक नहीं रह जाता कि कोई व्यक्ति कहता क्या है—वह सही है या गलत; उसका एकमात्र ध्यान रहता है, यह जानने में कि वह बात कहता कौन है। जो व्यक्ति अपने मतवाले लोगों के प्रति दयालु है, भला और सच्चा है, सहानुभूतिसम्पन्न है, वही अपने सम्प्रदाय से बाहर के लोगों के प्रति बुरा से बुरा काम करने में भी न हिचकेगा।

पर यह ख़तरा भक्ति की केवल निम्नतर अवस्था में रहती है, जिसे 'गौणी' कहते हैं। परन्तु जब भक्ति परिपक्व होकर उस अवस्था को प्राप्त हो जाती है, जिसे 'परा' कहते हैं, तब इस प्रकार की भयानक मतान्धता और कट्टरता की अभिव्यक्तियों की आशंका नहीं रह जाती। इस 'परा' भक्ति से अभिभूत व्यक्ति प्रेमस्वरूप भगवान् के इतने निकट पहुँच जाता है कि वह फिर दूसरों के प्रति घृणा के विकिरण का यंत्रस्वरूप नहीं हो सकता।

यह सम्भव नहीं कि इसी जीवन में हममें से प्रत्येक, सामंजस्य के साथ अपना चरित्र-गठन कर सके; फिर भी हम जानते हैं कि जिस चरित्र में ज्ञान, भक्ति और योग—इन तीनों का सुन्दर सम्मिश्रण है, वही सर्वोत्तम कोटि का है। एक पक्षी के उड़ने के लिए तीनों अंगों की आवश्यकता होती है—दो पंख और पतवार-

स्वरूप एक पूँछ। ज्ञान और भक्ति मानो दो पंख हैं और योग पूँछ, जो सामंजस्य बनाये रखता है। जो इन तीनों साधना-प्रणालियों को एक साथ, सामंजस्य सहित अपना नहीं सकते और इसलिए केवल भक्ति को अपने मार्ग के रूप में ग्रहण करते हैं, उन्हें यह सदैव स्मरण रखना आवश्यक है कि यद्यपि बाह्य अनुष्ठान और क्रिया-कलाप आरम्भिक दशा में नितान्त आवश्यक हैं, फिर भी भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न कर देने के अतिरिक्त उनकी और कोई उपयोगिता नहीं है।

यद्यपि ज्ञान और भक्ति, दोनों ही मार्गों के आचार्यों का भक्ति के प्रभाव में विश्वास है, फिर भी उनमें कुछ मतभेद है। ज्ञानी की दृष्टि में भक्ति मुक्ति का एक साधन मात्र है, पर भक्त के लिए वह साधन भी है और साध्य भी। मेरी दृष्टि में तो यह भेद नाममात्र का है। वास्तव में, जब भक्ति को हम एक साधन के रूप में लेते हैं, तो उसका अर्थ केवल निम्न स्तर की उपासना होता है। और यह निम्न स्तर की उपासना ही आगे चलकर 'परा' भक्ति में परिणत हो जाती है। ज्ञानी और भक्त, दोनों ही अपनी अपनी साधना-प्रणाली पर विशेष जोर देते हैं; वे यह भूल जाते हैं कि पूर्ण भक्ति के उदित होने से पूर्ण ज्ञान बिना माँगे ही मिल जाता है और इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान के साथ पूर्ण भक्ति भी अभिन्न है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम अब यह समझने का प्रयत्न करें कि इस विषय में महान् वेदान्त-भाष्यकारों का क्या कथन है। आवृत्तिरसकृदुपदेशात् सूत्र की व्याख्या करते हुए भगवान् शंकर कहते हैं, "लोग ऐसा कहते हैं, 'वह गुरु का भक्त है, वह राजा का भक्त है', और वे यह बात उस व्यक्ति को सम्बोधित कर कहते हैं, जो गुरु या राजा का अनुसरण करता है और इस प्रकार यह अनुसरण ही जिसके जीवन का ध्येय है। इसी प्रकार, जब वे कहते हैं, 'एक प्रेमिका स्त्री अपने प्रेमी पति का ध्यान करती है,' तो यहाँ भी एक प्रकार से उत्कण्ठायुक्त निरन्तर स्मृति को ही लक्ष्य किया गया है।" शंकराचार्य के मतानुसार यही भक्ति है।[1]

"एक पात्र से दूसरे पात्र में तेल ढालने पर जिस प्रकार वह एक अखण्ड धारा में गिरता है, उसी प्रकार (किसी ध्येय-वस्तु के) निरन्तर स्मरण को ध्यान कहते हैं। 'जब इस तरह की ध्यानावस्था ईश्वर के सम्बन्ध में प्राप्त हो जाती है, तो सारे बन्धन टूट जाते हैं।' इस प्रकार, शास्त्रों में इस निरन्तर स्मरण को मुक्ति का साधन बतलाया है। फिर, यह स्मरण दर्शन के ही समान है, क्योंकि उसका तात्पर्य इस शास्त्रोक्त वाक्य के तात्पर्य के ही सदृश है—'उस पर और अवर (दूर और समीप) पुरुष के दर्शन से हृदय-ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, समस्त संशयों का नाश हो जाता

---

१. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य ॥४।१।१॥

है और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं ।"[1] जो समीप है, उसके तो दर्शन हो सकते हैं, पर जो दूर है, उसका तो केवल स्मरण किया जा सकता है। फिर भी शास्त्रों का कथन है कि हमें तो उसे देखना है, जो समीप है और दूर भी; और अतः उपर्युक्त प्रकार का स्मरण दर्शन के ही बराबर है। यह स्मृति प्रगाढ़ हो जाने पर दर्शन का रूप धारण कर लेती है।. . .शास्त्रों में प्रमुख स्थानों पर कहा है कि उपासना का अर्थ निरन्तर स्मरण ही है। और ज्ञान भी, जो असकृत् उपासना से अभिन्न है, निरन्तर स्मरण के अर्थ में ही वर्णित हुआ है।. . .अतएव श्रुतियों ने उस स्मृति को, जिसने प्रत्यक्ष अनुभूति का रूप धारण कर लिया है, मुक्ति का साधन बतलाया है। 'आत्मा की उपलब्धि न तो नाना प्रकार की विद्याओं से हो सकती है, न मेधा से और न विपुल वेदाध्ययन से। जिसको यह आत्मा वरण करती है, वही इसकी प्राप्ति करता है तथा उसीके सम्मुख आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करती है।' यहाँ यह कहने के उपरान्त कि केवल श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्मोपलब्धि नहीं होती, यह बताया गया है, 'जिसको यह आत्मा वरण करती है, उसीको ब्रह प्राप्त होती है।' जो अत्यन्त प्रिय है, उसीको वरण किया जाता हैं; जो इस आत्मा से अत्यन्त प्रेम करता है, वही आत्मा का सबसे बड़ा प्रिय पात्र है। यह प्रिय पात्र जिससे आत्मा की प्राप्ति कर सके, उसके लिए स्वयं भगवान् सहायता देता है; क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है, 'जो मुझमें सतत युक्त हैं और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।' इसीलिए कहा गया है कि जिसे यह प्रत्यक्ष अनुभवात्मक स्मृति अत्यन्त प्रिय है, उसीको परमात्मा वरण करते हैं, वही परमात्मा की प्राप्ति करता है; क्योंकि जिसका स्मरण किया जाता है, उस परमात्मा को यह स्मृति अत्यन्त प्रिय है। यह निरन्तर स्मृति ही 'भक्ति' शब्द द्वारा अभिहित हुई है।"[2] यह अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान् रामानुज ने कहा है।

पतंजलि के ईश्वरप्रणिधानाद्वा सूत्र की व्याख्या करते हुए भोज कहते हैं, "प्रणिधान वह भक्ति है, जिसमें इन्द्रिय-भोग आदि समस्त फलाकांक्षाओं का त्याग कर सारे कर्म उन परम गुरु को समर्पित कर दिये जाते हैं।"[3] भगवान् व्यास ने भी

---

१. मुंडकोपनिषद् ॥२।२।९॥

२. ब्रह्मसूत्र, रामानुज भाष्य ॥१।१।१॥

३. प्रणिधानं तत्र भक्तिविशेषविशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि तत्रार्पणम्। विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परमगुरावर्पयति।—पातंजल योगसूत्र, प्रथम अध्याय, समाधिपाद, २३ वें सूत्र की भोजवृत्ति।

इसकी व्याख्या करते हुए कहा है, "प्रणिधान वह भक्ति है, जिससे उस योगी पर परमेश्वर का अनुग्रह होता है और उसकी सारी आकांक्षाएँ पूर्ण हो जाती हैं।"[1] शाण्डिल्य के मतानुसार 'ईश्वर में परमानुरक्ति ही भक्ति है।'[2] पर भक्ति की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या तो वह है, जो भक्तराज प्रह्लाद ने दी है—'जैसी तीव्र आसक्ति अविवेकी पुरुषों की इन्द्रिय-विषयों में होती है, (तुम्हारे प्रति) उसी प्रकार की (तीव्र) आसक्ति तुम्हारा स्मरण करते समय कहीं मेरे हृदय से चली न जाय!'[3] यह आसक्ति किसके प्रति? उसी परम प्रभु ईश्वर के प्रति। किसी अन्य पुरुष (चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो) के प्रति आसक्ति को कभी भक्ति नहीं कह सकते। इसके समर्थन में एक प्राचीन आचार्य को उद्धृत करते हुए अपने श्रीभाष्य में रामानुज कहते हैं, "ब्रह्मा से लेकर एक तृणपर्यन्त संसार के समस्त प्राणी कर्मजनित जन्म-मृत्यु के वश में हैं, अतएव अविद्यायुक्त और परिवर्तनशील होने के कारण वे इस योग्य नहीं कि ध्येय-विषय के रूप में वे साधक के ध्यान में सहायक हों।"[4] शाण्डिल्य के 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार स्वप्नेश्वर कहते हैं, उसका अर्थ है—'अनु' यानी पश्चात्, और 'रक्ति' यानी आसक्ति, अर्थात् वह आसक्ति जो भगवान् के स्वरूप और उसकी महिमा के ज्ञान के पश्चात् आती है।[5] अन्यथा स्त्री, पुत्र आदि किसी भी व्यक्ति के प्रति अन्ध आसक्ति को ही हम 'भक्ति' कहने लगें! अतः हम स्पष्ट देखते हैं कि आध्यात्मिक अनुभूति के निमित्त किये जानेवाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा या क्रम ही भक्ति है, जिसका प्रारम्भ साधारण पूजा-पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में।

---

१. प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण इत्यादि—पातंजल योगसूत्र, प्रथम अध्याय, समाधिपाद, २३वाँ सूत्र, व्यासभाष्य।

२. सा परानुरक्तिरीश्वरे॥ शाण्डिल्यसूत्र॥१।२॥

३. या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥विष्णुपुराण॥१।२०।१९॥

४. आब्रह्मस्तंबपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः॥

५. भगवन्महिमादिज्ञानादनु पश्चाज्जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम्।
—शाण्डिल्यसूत्र, स्वप्नेश्वर टीका॥१।२॥

ईश्वर का दार्शनिक विवेचन

ईश्वर कौन है? 'जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है',[१] वही ईश्वर है। वह 'अनन्त, शुद्ध, नित्य मुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक और गुरुओं का भी गुरु है,' और सर्वोपरि, 'वह ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है।'[२] ये सारी परिभाषाएँ निश्चय ही सगुण ईश्वर की हैं। तो क्या ईश्वर दो हैं? एक सच्चिदानन्दस्वरूप, जिसे ज्ञानी 'नेति नेति' करके प्राप्त करता है और दूसरा, भक्त का यह प्रेममय भगवान्? नहीं, वह सच्चिदानन्द ही यह प्रेममय भगवान् है, वह सगुण और निर्गुण, दोनों है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर, ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक् नहीं है। सब कुछ वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। पर हाँ, ब्रह्म का यह निर्गुण निरपेक्ष स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम एवं उपासना के योग्य नहीं। इसीलिए भक्त ब्रह्म के सापेक्ष भाव अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, ब्रह्म मानो मिट्टी या उपादान के सदृश है, जिससे नाना प्रकार की वस्तुएँ निर्मित हुई हैं। मिट्टी के रूप में तो वे सब एक हैं, पर उनका आकार या अभिव्यक्ति उन्हें भिन्न कर देती है। उत्पत्ति के पूर्व वे सबकी सब मिट्टी में अव्यक्त भाव से विद्यमान थीं। उपादान की दृष्टि से अवश्य वे सब एक हैं, पर जब वे भिन्न भिन्न आकार धारण कर लेती हैं और जब तक वह आकार बना रहता है, तब तक वे पृथक् पृथक् ही प्रतीत होती हैं। एक मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी का हाथी नहीं हो सकता, क्योंकि गढ़ जाने के बाद उनकी आकृति ही उनमें विशेषत्व पैदा कर देती है, यद्यपि आकृतिहीन मिट्टी की दशा में वे दोनों एक ही थे। ईश्वर उस निरपेक्ष सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति है, या दूसरे शब्दों में मानव-मन निरपेक्ष सत्य की जो उच्चतम धारणा कर सकता है, वही ईश्वर है। सृष्टि अनादि है, और उसी प्रकार ईश्वर भी अनादि है।

वेदान्त-सूत्र के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में यह वर्णन करने के पश्चात् कि मुक्ति-लाभ के उपरान्त मुक्तात्मा एक प्रकार से अनन्त शक्ति और ज्ञान प्राप्त करती है, व्यासदेव एक दूसरे सूत्र में कहते हैं, "पर किसीको सृष्टि, स्थिति और

---

१. जन्माद्यस्य यतः ।।ब्रह्मसूत्र ।।१।१।२।।

२. स ईश्वर अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः ।

प्रलय की शक्ति प्राप्त नहीं होगी", क्योंकि यह शक्ति केवल ईश्वर की ही है।[१] इस सूत्र की व्याख्या करते समय द्वैतवादी भाष्यकारों के लिए यह दर्शाना सरल है कि परतंत्र जीव के लिए ईश्वर की अनन्त शक्ति और पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना नितान्त असम्भव है। कट्टर द्वैतवादी भाष्यकार मध्वाचार्य ने वराहपुराण से एक श्लोक लेकर इस श्लोक की व्याख्या अपनी पूर्व परिचित संक्षिप्त शैली में की है।

इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार रामानुज कहते हैं, "ऐसा संशय उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा को जो शक्ति प्राप्त होती है, उसमें क्या परम पुरुष की जगत्सृष्टि आदि रूप असाधारण शक्ति और सर्वनियन्तृत्व भी अन्तर्भूत हैं? या कि, उसे यह शक्ति नहीं मिलती, और उसका गौरव केवल परम पुरुष का साक्षात् दर्शन भर प्राप्त करना है? तो इस पर पूर्व पक्ष यह उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा का जगन्नियन्तृत्व प्राप्त करना युक्तियुक्त है; क्योंकि शास्त्र का कथन है, 'वह शुद्धरूप होकर (परम पुरुष के साथ) परम एकत्व प्राप्त कर लेता है' (मुण्डकोपनिषद्, ३।१।३)। अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि उसकी समस्त वासना पूर्ण हो जाती है। अब बात यह है कि परम एकत्व और सारी वासनाओं की पूर्ति परम पुरुष की असाधारण शक्ति जगन्नियन्तृत्व बिना सम्भव नहीं। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि उसकी सब वासनाओं की पूर्ति हो जाती है तथा उसे परम एकत्व प्राप्त हो जाता हैं, तो हमें यह मानना ही चाहिए कि उस मुक्तात्मा को जगन्नियन्तृत्व की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में हमारा उत्तर यह है कि मुक्तात्मा को जगन्नियन्तृत्व के अतिरिक्त अन्य सब शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जगन्नियन्तृत्व का अर्थ है—विश्व के सारे स्थावर और जंगम के रूप, उनकी स्थिति और वासनाओं का नियन्तृत्व। पर मुक्तात्माओं में यह जगन्नियन्तृत्व की शक्ति नहीं रहती, उनकी परमात्मदृष्टि का आवरण अवश्य दूर हो जाता है और उन्हें ब्रह्म की अबाध अनुभूति हो जाती है। यह शास्त्र द्वारा सिद्ध होता है। शास्त्र कहते हैं, "जिससे यह समुदय उत्पन्न होता है, जिसमें यह समुदय स्थित रहता है और जिसमें प्रलय काल में यह समुदय लीन हो जाता है, तू उसीको जानने की इच्छा कर—वही ब्रह्म है।' यदि यह जगन्नियन्तृत्व-शक्ति मुक्तात्माओं का भी एक साधारण गुण होता, तो उपर्युक्त श्लोक फिर ब्रह्म की परिभाषा नहीं हो सकता, क्योंकि उसके जगन्नियन्तृत्व-गुण से ही उसका लक्षण प्रतिपादित हुआ है। असाधारण गुणों के द्वारा ही किसी वस्तु की परिभाषा होती है। अतः इस प्रकार के वाक्यों द्वारा ही उसकी परिभाषा होती है—'वत्स, आदि में एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही था। उसमें

---

१. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।।ब्रह्मसूत्र ।।४।४।१७।।

इस विचार का स्फुरण हुआ कि मैं बहु सृजन करूँगा। उसने तेज की सृष्टि की।' 'आदि में केवल एक ब्रह्म ही था। वह एक विकसित होने लगा। उससे क्षत्र नामक एक सुन्दर रूप प्रकट हुआ। वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान—ये सब देवता क्षत्र हैं।' 'पहले आत्मा ही थी; अन्य कुछ भी स्पंदमान नहीं था। उसे सृष्टि-सृजन का विचार आया और फिर उसने सृष्टि कर डाली।' 'एकमात्र नारायण ही था, न ब्रह्मा, न ईशान, न द्यावा-पृथ्वी, नक्षत्र, जल, अग्नि, सोम और न सूर्य। अकेले उसे आनन्द न आया। ध्यान के अनन्तर उसके एक कन्या हुई—दश-इन्द्रिय।' 'जो पृथ्वी में वास करते हुए भी पृथ्वी से अलग हैं, . . . जो आत्मा में रहते हुए . . . इत्यादि।' इनमें श्रुतियों ने परम पुरुष को जगत् के नियंतृत्व का कर्ता माना है। जगत् के नियंतृत्व के इन वर्णनों में मुक्तात्मा का ऐसा कोई स्थान नहीं है, जिससे जगन्नियंतृत्व का कार्य उसमें स्थापित हो सके।"[१]

दूसरे सूत्र की व्याख्या करते हुए रामानुज कहते हैं, "यदि तुम कहो कि ऐसा नहीं है, वेदों में तो ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो इसका खण्डन करते हैं, तो, वास्तव में वेदों के उन उन स्थानों पर केवल निम्न देवलोकों के सम्बन्ध में ही मुक्तात्मा का ऐश्वर्य वर्णित है।"[२] यह भी एक सरल समाधान है। यद्यपि रामानुज समष्टि की एकता स्वीकार करते हैं, तथापि उनके मतानुसार इस समष्टि के भीतर नित्य भेद हैं। अतएव, यह मत भी लगभग द्वैतभावात्मक होने के कारण, जीवात्मा और सगुण ब्रह्म (ईश्वर) में भेद बनाये रखना रामानुज के लिए सरल था।

अब इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध अद्वैतवादी का क्या कहना है, यह समझने का प्रयत्न करें। हम देखेंगे कि अद्वैत मत द्वैत की समस्त आशाओं और स्पृहाओं को किस प्रकार अक्षुण्ण रखता है, और दिव्य मानवता के परमोच्च भविष्य के साथ सामंजस्य रखते हुए समस्या का अपना समाधान प्रस्तुत करता है। जो व्यक्ति मुक्ति-लाभ के बाद भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा के इच्छुक हैं—उन्हें अपनी आकांक्षा को चरितार्थ करने और सगुण ब्रह्म का आनन्द प्राप्त करने का यथेष्ट अवसर मिलेगा। ऐसे लोगों के बारे में भागवत पुराण में कहा है, "हे राजन्, हरि के गुण ही ऐसे हैं कि समस्त बन्धनों से मुक्त आत्माराम ऋषि-मुनि भी भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं।"[३] सांख्य में इन्हीं लोगों को इस कल्प में प्रकृतिलीन

---

१. ब्रह्मसूत्र, रामानुज भाष्य ॥४।४।१७॥
२. द्र० ब्रह्मसूत्र ४।४।१८ का रामानुज भाष्य।
३. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति इत्थंभूतगुणो हरिः ॥श्रीमद्भागवत ॥१।७।१०॥

कहा गया है; सिद्धि-लाभ के अनन्तर ये ही दूसरे कल्प में विभिन्न जगतों के प्रभुओं के रूप में प्रकट होते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी कभी ईश्वर-तुल्य नहीं हो पाता। जो ऐसी अवस्था को प्राप्त हो गये हैं, जहाँ न सृष्टि है, न सृष्ट, न स्रष्टा, जहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान और न ज्ञेय, जहाँ न 'मैं' है, न 'तुम' और न 'वह', जहाँ न प्रमाता है, न प्रमेय और न प्रमाण, जहाँ 'कौन किसको देखे'—वे पुरुष सबसे अतीत हो गये हैं और वहाँ पहुँच गये हैं, जहाँ 'न वाणी पहुँच सकती है, न मन' और जिसे श्रुति 'नेति, नेति' कहकर पुकारती है। परन्तु जो इस अवस्था की प्राप्ति नहीं कर सकते, अथवा जो उसकी इच्छा नहीं करते, वे उस एक अविभक्त ब्रह्म को प्रकृति, आत्मा और इन दोनों में ओतप्रोत एवं इनके आश्रयस्वरूप ईश्वर—इस त्रिधा विभक्त रूप में देखेंगे। जब प्रह्लाद अपने आपको भूल गये, तो उनके लिए न तो सृष्टि रही और न उसका कारण; रह गया केवल नाम-रूप से अविभक्त एक अनन्त तत्त्व। पर ज्यों ही उन्हें यह बोध हुआ कि मैं प्रह्लाद हूँ, त्यों ही उनके सम्मुख जगत् और कल्याणमय अनन्त गुणागार जगदीश्वर प्रकाशित हो गये। यही अवस्था बड़भागी गोपियों की भी हुई थी। जब तक वे 'अहं'-ज्ञान से शून्य थीं, तब तक वे सभी कृष्ण हो गयी थीं। पर जैसे ही उन्होंने कृष्ण को उपास्य-रूप में देखा, वे फिर से गोपी की गोपी हो गयीं, और तब तत्काल 'उनके सम्मुख पीताम्बरधारी, माल्यविभूषित, साक्षात् मन्मथ के भी मन को मथ देनेवाले मृदु हास्यरंजित कमलमुख श्री कृष्ण प्रकट हो गये।'[1]

अब हम आचार्य शंकर की ओर फिर आते हैं। वे कहते हैं, "अच्छा, जो लोग सगुण ब्रह्मोपासना के बल से परमेश्वर के साथ एक हो जाते हैं, पर साथ ही जिनका मन अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखता है, उनका ऐश्वर्य ससीम होता है या असीम? यह संशय आने पर पूर्व पक्ष उपस्थित होता है कि उनका ऐश्वर्य असीम है, क्योंकि शास्त्रों का कथन है, 'उन्हें स्वराज्य प्राप्त हो जाता है', 'सब देवता उनकी पूजा करते हैं,' 'सारे लोकों में उनकी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।' इसके उत्तर में व्यास कहते हैं, 'हाँ, जगत् के नियंत्रण की शक्ति को छोड़कर।' मुक्तात्मा को सृष्टि, स्थिति और प्रलय की शक्ति के अतिरिक्त अन्य सब अणिमादि शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। रहा जगत् का नियन्तृत्व, वह तो केवल नित्य सिद्ध ईश्वर का होता है। कारण कि शास्त्रों में जहाँ जहाँ पर सृष्टि आदि का प्रसंग आया है, उन सभी स्थानों में ईश्वर की ही बात कही गयी है। वहाँ पर मुक्तात्माओं की कोई चर्चा

---

१. तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षात् मन्मथमन्मथः।। श्रीमद्भागवत ।।१०।३२।२।।

नहीं है। जगत् के परिचालन में केवल उसी परमेश्वर का हाथ है। सृष्टि आदि सम्बन्धी सारे श्लोक उसीका निर्देश करते हैं। फिर 'नित्य सिद्ध' विशेषण भी दिया गया है। शास्त्र यह भी कहते हैं कि अन्य जनों की अणिमादि शक्तियाँ ईश्वर की उपासना तथा ईश्वर के अन्वेषण से ही प्राप्त होती हैं। अतएव, जगन्नियन्तृत्व में उन लोगों का कोई स्थान नहीं। इसके अतिरिक्त वे अपने अपने चित्त से युक्त रहते हैं, इसलिए यह सम्भव है कि उनकी इच्छाएँ अलग अलग हों। हो सकता है कि एक सृष्टि की इच्छा करे, तो दूसरा प्रलय की। यह द्वन्द्व दूर करने का एकमात्र उपाय यही है कि वे सब इच्छाएँ अन्य किसी एक इच्छा के अधीन कर दी जायँ। अतः निष्कर्ष यह निकला कि मुक्तात्माओं की इच्छाएँ परमेश्वर की इच्छा के अधीन हैं।"[१]

अतएव भक्ति केवल सगुण ब्रह्म के प्रति की जा सकती है। 'जिनका मन अव्यक्त में आसक्त है, उनके लिए मार्ग अधिक कठिन होता है।'[२] हमारी प्रकृति के प्रवाह पर ही भक्ति निर्विघ्न संतरण करती रह सकती है। यह सत्य है कि हम ब्रह्म के संबंध में कोई ऐसी धारणा नहीं बना सकते, जो मानवीय लक्षणों से युक्त न हो। पर क्या यही बात हमारे द्वारा ज्ञात प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में भी सत्य नहीं है? संसार के सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक भगवान् कपिल ने युगों पूर्व यह सिद्ध कर दिया था कि हमारे समस्त बाह्य और आन्तरिक विषय-ज्ञानों और धारणाओं में मानवीय चेतना एक उपादान है। अपने शरीर से लेकर ईश्वर तक यदि हम विचार करें, तो प्रतीत होगा कि हमारी प्रत्यक्षानुभूति की प्रत्येक वस्तु दो बातों का मिश्रण है—एक है यह मानवीय चेतना और दूसरी है एक अन्य वस्तु—यह अन्य वस्तु जो भी हो। इस अनिवार्य मिश्रण को ही हम साधारणतया 'सत्य' समझा करते हैं। और सचमुच, आज या भविष्य में, मानव-मन के लिए सत्य का ज्ञान जहाँ तक सम्भव है, वह इसके अतिरिक्त और अधिक कुछ नहीं। अतएव यह कहना कि ईश्वर मानव धर्मवाला होने के कारण असत्य है, निरी मूर्खता है। यह बहुत कुछ पाश्चात्य आदर्शवाद (idealism) और यथार्थवाद (realism) के झगड़े के सदृश है। यह सारा झगड़ा केवल इस 'सत्य' शब्द के उलट-फेर पर आधारित है। 'सत्य' शब्द से जितने भाव सूचित होते हैं, वे समस्त भाव 'ईश्वरभाव' में आ जाते हैं। ईश्वर उतना ही सत्य है, जितनी विश्व की अन्य कोई वस्तु। और वास्तव में, 'सत्य' शब्द यहाँ पर जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उससे अधिक 'सत्य' शब्द का और कोई अर्थ नहीं। यही हमारी ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक धारणा है।

---

१. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य ।।४।४।१७।।

२. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।। गीता ।।१२।५।।

भक्तियोग का ध्येय--आत्मानुभूति

भक्त के लिए इन सब शुष्क विषयों की जानकारी केवल इसलिए आवश्यक है कि वह अपनी इच्छा-शक्ति दृढ़ बना सके; इससे अधिक उसकी और कोई उपयोगिता नहीं। कारण, वह एक ऐसे पथ पर चल रहा है, जो शीघ्र ही उसे बुद्धि के धुँधले और अशान्तिमय राज्य की सीमा से बाहर निकालकर साक्षात्कार के राज्य में ले जायगा। ईश्वर की कृपा से वह शीघ्र एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ पाण्डित्य-प्रदर्शक बुद्धि बहुत पीछे छूट जाती है। वहाँ बुद्धि के सहारे अँधेरे में टटोलना नहीं पड़ता, वहाँ तो प्रत्यक्ष-अनुभव के दिवालोक से सब कुछ आलोकित हो जाता है। तब वह तर्क करके विश्वास नहीं करता, वरन् प्रायः प्रत्यक्ष देखता है। वह और युक्ति-तर्क नहीं करता, वरन् प्रत्यक्ष अनुभव करता है। और क्या ईश्वर का यह साक्षात्कार, यह अनुभव, यह उपभोग अन्यान्य विषयों से कहीं श्रेष्ठ नहीं है ? यही नहीं, बल्कि ऐसे भी भक्त हैं, जिन्होंने घोषणा की है कि वह तो मुक्ति से भी श्रेष्ठ है। और क्या यह हमारे जीवन की सर्वोच्च उपयोगिता भी नहीं है ? संसार में ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनकी यह पक्की धारणा है कि केवल वही चीज़ उपयोगी है, जिससे मनुष्य को पाशविक सुख प्राप्त होते हैं ; यहाँ तक कि धर्म, ईश्वर, परलोक, आत्मा आदि भी उनके किसी काम के नहीं, क्योंकि उन्हें उनसे धन या शारीरिक सुख प्राप्त नहीं होते। उनके लिए ऐसी सारी वस्तुएँ, जो इन्द्रियों को परितुष्ट और वासनाओं को तृप्त नहीं करतीं, किसी काम की नहीं। फिर, प्रत्येक मन की विशिष्ट आकांक्षाओं के अनुसार उपयोगिता का रूप भी बदलता रहता है। जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसे वही सबसे उपयोगी जान पड़ती है। अतः उन लोगों के लिए, जो खाने-पीने, वंश-वृद्धि करने और फिर मर जाने के सिवा और कुछ नहीं जानते, इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य वस्तु है ! ऐसे लोगों के हृदय में उच्चतर विषय के लिए थोड़ी सी भी स्पृहा जगने के लिए अनेक जन्म लग जायेंगे। पर जिनके लिए आत्मोन्नति के साधन ऐहिक जीवन के क्षणिक सुख-भोगों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी दृष्टि में इन्द्रियों की तुष्टि केवल एक नासमझ बच्चे के खिलवाड़ के समान है, उनके लिए भगवान् और भगवत्प्रेम ही मानव जीवन का सर्वोच्च एवं एकमात्र प्रयोजन है।

ईश्वर को धन्यवाद है कि आज भी यह घोर भोग-लिप्सापूर्ण संसार ऐसे महात्माओं से बिल्कुल शून्य नहीं हो गया है।

पहले कहा जा चुका है कि भक्ति दो प्रकार की होती है, 'गौणी' और 'परा'। 'गौणी' का अर्थ है साधन-भक्ति, अर्थात् जिसमें हम भक्ति को एक साधन के रूप में लेते हैं, और 'परा' इसीकी परिपक्वावस्था है। क्रमशः हम समझ सकेंगे कि इस भक्तिमार्ग में अग्रसर होने के लिए साधनावस्था में कुछ स्थूल सहायकों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। और वास्तव में सभी धर्मों के पौराणिक और प्रतीकात्मक अंश स्वाभाविक विकास के स्तर हैं और उन्नतिकामी आत्मा की प्रारम्भिक अवस्था में उसे ईश्वर की ओर बढ़ने में सहायता देते हैं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि दिग्गज महात्मा उन्हीं धर्म-सम्प्रदायों में हुए हैं, जिनमें पौराणिक भावों और क्रिया-अनुष्ठानों की प्रचुरता है। धर्म के जो शुष्क और मतान्ध रूप इस बात का प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ कवित्वमय, सुन्दर और महान् है, जो कुछ भगवत्प्राप्ति के मार्ग में गिरते-पड़ते अग्रसर होनेवाले सुकुमार मन के लिए अवलम्बनस्वरूप है, उस सबको नष्ट कर दें; जो धर्म-प्रासाद के आधारस्वरूप स्तम्भों को ही ढहा देने का प्रयत्न करते हैं; जो सत्य के सम्बन्ध में अज्ञान और भ्रमपूर्ण धारणा लेकर इस बात के लिए यत्नशील हैं कि जो कुछ जीवन के लिए संजीवनीस्वरूप है, जो कुछ मानवात्मारूपी क्षेत्र में लहलहाती हुई धर्म-लता के लिए पालक एवं पोषक है, वह सब नष्ट हो जाय—धर्म के ऐसे रूपों को यह शीघ्र अनुभव हो जाता है कि उनमें जो कुछ रह गया है, वह है केवल एक खोखलापन—अनन्त शब्दराशि और कोरे तर्क-वितर्कों का एक स्तूप मात्र, जिसमें शायद एक प्रकार की सामाजिक सफ़ाई या तथाकथित सुधारवाद की थोड़ी सी गंध भर बच रही है।

जिनका धर्म इस प्रकार का है, उनमें से अधिकतर लोग जानते या न जानते हुए जड़वादी हैं; उनके ऐहिक एवं पारलौकिक जीवन का ध्येय केवल भोग है; वही उनकी दृष्टि में मानव जीवन का सर्वस्व है, वही उनका इष्टापूर्त है। मनुष्य के भौतिक सुख-स्वाच्छन्द्य के लिए रास्ता साफ़ कर देना आदि कार्य ही उनके मत में मानव जीवन का सर्वस्व है। अज्ञान और मतान्धता के इस विचित्र मिश्रण में रँगे हुए ये लोग जितने शीघ्र अपने असली रंग में आ जायें और जितनी जल्दी नास्तिकों और जड़वादियों के दल में जाकर शामिल हो जायें, क्योंकि असल में वे हैं उसीके योग्य, संसार का उतना ही मंगल है। धर्मानुष्ठान और आध्यात्मिक अनुभूति का एक छोटा सा कण भी टनों थोथी बकवासों और अन्धी भावुकता से कहीं बढ़कर है। हमें कहीं एक, एक भी तो ऐसा आध्यात्मिक दिग्गज दिखा दो, जो अज्ञान और मतान्धता की इस ऊसर भूमि से उपजा हो। यदि यह न कर सको, तो बन्द कर लो अपना

मुँह ; खोल दो अपने हृदय के कपाट, जिससे सत्य की शुभ्रोज्ज्वल किरणें भीतर प्रवेश कर सकें, और जाकर वालकों के सदृश भारत के उन ऋषि-मुनियों के चरणों में बैठो, जिनके प्रत्येक शब्द के पीछे प्रत्यक्ष अनुभूति का बल है। आओ, हम ध्यान-पूर्वक सुनें कि वे क्या कहते हैं।

गुरु की आवश्यकता

प्रत्येक जीवात्मा का पूर्णत्व प्राप्त कर लेना बिल्कुल निश्चित है और अन्त में सभी इस पूर्णावस्था की प्राप्ति कर लेंगे। हम वर्तमान जीवन में जो कुछ हैं, वह हमारे पूर्व जीवन के कर्मों और विचारों का फल है, और हम जो कुछ भविष्य में होंगे, वह हमारे अभी के कर्मों और विचारों का फल होगा। पर, हम स्वयं ही अपना भाग्य निर्णय कर रहे हैं, इससे यह न समझ बैठना चाहिए कि हमें किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं; बल्कि अधिकतर स्थलों में तो इस प्रकार की सहायता नितान्त आवश्यक होती है। जब ऐसी सहायता प्राप्त होती है, तो आत्मा की उच्चतर शक्तियाँ और संभावनाएँ उद्दीप्त हो जाती हैं, आध्यात्मिक जीवन जाग्रत हो जाता है, उसकी उन्नति वेगवती हो जाती है और अन्त में साधक पवित्र और सिद्ध हो जाता है।

यह संजीवनी-शक्ति पुस्तकों से नहीं मिल सकती। इस शक्ति की प्राप्ति तो एक आत्मा एक दूसरी आत्मा से ही कर सकती है—अन्य किसीसे नहीं। हम भले ही सारा जीवन पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक हो जायें, पर अन्त में हम देखेंगे कि हमारी तनिक भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई है। यह बात सत्य नहीं कि उच्च स्तर के बौद्धिक विकास के साथ-साथ मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष की भी उतनी ही उन्नति होगी। पुस्तकों का अध्ययन करते समय हमें कभी कभी यह भ्रम हो जाता है कि इससे हमें आध्यात्मिक सहायता मिल रही है; पर यदि हम ऐसे अध्ययन से अपने में होनेवाले फल का विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि उससे, अधिक से अधिक हमारी बुद्धि को ही कुछ लाभ होता है, हमारी अन्तरात्मा को नहीं। पुस्तकों का अध्ययन हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। यही कारण है कि यद्यपि लगभग हम सब आध्यात्मिक विषयों पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण बातें कर सकते हैं, पर जब उन बातों को कार्यरूप में परिणत करने का—यथार्थ आध्यात्मिक जीवन बिताने का अवसर आता है, तो हम अपने को सर्वथा अयोग्य पाते हैं। जीवात्मा की शक्ति को जाग्रत करने के लिए किसी दूसरी आत्मा से ही शक्ति का संचार होना चाहिए।

जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति का संचार होता है, वह गुरु कहलाता है और जिसकी आत्मा में यह शक्ति संचारित होती है, उसे शिष्य कहते

हैं। किसी भी आत्मा में इस प्रकार शक्ति-संचार करने के लिए आवश्यक है कि पहले तो, जिस आत्मा से यह संचार होता हो, उसमें स्वयं इस संचार की शक्ति मौजूद रहे, और दूसरे, जिस आत्मा में यह शक्ति संचारित की जाय, वह इसे ग्रहण करने योग्य हो। बीज सजीव हो एवं भूमि भी अच्छी जुती हुई हो, और जब ये दोनों बातें मिल जाती हैं, तो वहाँ वास्तविक धर्म का अपूर्व विकास होता है। 'यथार्थ धर्म-गुरु में अपूर्व योग्यता होनी चाहिए, और उसके शिष्य को भी कुशल होना चाहिए।'[1] जब दोनों ही अद्भुत और असाधारण होते हैं, तभी अद्भुत आध्यात्मिक जागृति होती है, अन्यथा नहीं। ऐसे ही पुरुष वास्तव में सच्चे गुरु होते हैं, और ऐसे ही व्यक्ति सच्चे शिष्य या मुमुक्षु या आदर्श साधक कहे जाते हैं। अन्य सब लोग तो आध्यात्मिकता से खेल मात्र करते हैं। उनमें बस, थोड़ा सा कौतूहल भर उत्पन्न हो गया है, थोड़ी सी बौद्धिक स्पृहा भर जग गयी है, पर वे अभी धर्म-क्षितिज की बाहरी सीमा पर ही खड़े हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसका भी कुछ महत्त्व अवश्य है, क्योंकि हो सकता है, कुछ समय बाद यही भाव सच्ची धर्म-पिपासा में परिवर्तित हो जाय। और यह भी प्रकृति का एक बड़ा अद्भुत नियम है कि ज्यों ही भूमि तैयार हो जाती है, त्यों ही बीज भी आ ही जाता है, और वह आता भी है। ज्यों ही आत्मा की धर्म-पिपासा प्रबल होती है, त्यों ही धर्मशक्ति-संचारक पुरुष को उस आत्मा की सहायता के लिए आना ही चाहिए, और वे आते भी हैं। जब ग्रहीता की आत्मा में धर्म के प्रकाश की आकर्षण-शक्ति पूर्ण और प्रबल हो जाती है, तो इस आकर्षण से आकृष्ट प्रकाशदायिनी शक्ति स्वयं ही आ जाती है।

परन्तु इस मार्ग में कुछ खतरे भी हैं। उदाहरणार्थ, इस बात का डर है कि ग्रहीता आत्मा क्षणिक भावुकता को कहीं वास्तविक धर्म-पिपासा न समझ बैठे। हम अपने जीवन में ही इसका परीक्षण कर सकते हैं। हमारे जीवन-काल में प्रायः ऐसा होता है कि हमारे एक अत्यन्त प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है और उससे हमें बड़ा आघात लगता है, हमें लगता है कि जगत् हमारी अँगुलियों के बाहर निकला जा रहा है, हमें किसी दृढ़तर और उच्चतर आश्रय की आवश्यकता अनुभव होती है और हम सोचते हैं कि अब हमें अवश्य धार्मिक हो जाना चाहिए। कुछ दिनों बाद वह भाव-तरंग नष्ट हो जाती है और हम जहाँ थे, वहीं के वहीं रह जाते हैं। हममें से सभी बहुधा ऐसी भाव-तरंगों को वास्तविक धर्म-पिपासा समझ बैठते हैं। और जब तक हम उन क्षणिक आवेशों के धोखे में रहेंगे, तब तक धर्म के लिए सच्ची और स्थायी, व्याकुलता नहीं आयेगी, तब तक हमें ऐसा पुरुष नहीं मिलेगा, जो हममें

---

१. आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा ।। कठोपनिषद् ।।१।२।७।।

धर्म-संचार कर सके। अतएव जब कभी हममें यह भावना उदित हो कि 'अरे! मैंने सत्य की प्राप्ति के लिए इतना प्रयत्न किया, फिर भी कुछ न हुआ ; मेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ ही हुए!'—तो उस समय ऐसी शिकायत करने के बदले हमारा प्रथम कर्तव्य यह होगा कि हम अपने आपसे ही पूछें, अपने हृदय को टटोलें और देखें कि हमारी वह स्पृहा यथार्थ है अथवा नहीं। ऐसा करने पर पता चलेगा कि अधिकतर स्थलों पर हम सत्य को ग्रहण करने के उपयुक्त नहीं थे, हममें धर्म के लिए सच्ची पिपासा नहीं थी।

फिर, शक्तिसंचारक गुरु के सम्बन्ध में तो और भी बड़े ख़तरों की सम्भावना है। बहुत से लोग ऐसे हैं, जो स्वयं तो बड़े अज्ञानी हैं, परन्तु फिर भी अहंकारवश अपने को सर्वज्ञ समझते हैं ; इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी अपने कंधों पर ले जाने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार अन्धा अन्धे का अगुआ बन जाता है, फलतः दोनों ही गड्ढे में गिर पड़ते हैं। 'अज्ञान से घिरे हुए, अत्यन्त निर्बुद्धि होने पर भी अपने को महापण्डित समझनेवाले मूढ़ व्यक्ति, अन्धे के नेतृत्व में चलनेवाले अन्धों के समान चारों ओर ठोकरें खाते हुए भटकते फिरते हैं।'[1] संसार ऐसे लोगों से भरा पड़ा है। हर एक आदमी गुरु होना चाहता है। एक भिखारी भी चाहता है कि वह लाखों का दान कर डाले! जैसे हास्यास्पद ये भिखारी हैं, वैसे ही ये गुरु भी!

---

१. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ॥
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः ॥
—मुण्डकोपनिषद् ॥१।२।८॥

गुरु और शिष्य के लक्षण

तो फिर गुरु की पहचान क्या है ? सूर्य को प्रकाश में लाने के लिए मशाल की आवश्यकता नहीं होती। उसे देखने के लिए हमें दिया नहीं जलाना पड़ता। जब सूर्योदय होता है, तो हम अपने आप जान जाते हैं कि सूरज उग आया। इसी प्रकार जब हमारी सहायता के लिए गुरु का आगमन होता है, तो आत्मा अपने आप जान लेती है कि उस पर अब सत्य के सूर्य की किरणें पड़ने लगी हैं। सत्य स्वयं ही प्रमाण है—उसे प्रमाणित करने के लिए किसी दूसरे साक्षी की आवश्यकता नहीं, वह स्वप्रकाश है। वह हमारी प्रकृति के अन्तस्तल तक प्रवेश कर जाता है और उसके समक्ष सारी दुनिया उठ खड़ी होती है और कहती है, "यही सत्य है।" जिन आचार्यों का सत्य और ज्ञान सूर्य के समान भास्वर होता है, वे संसार में सर्वोच्च महापुरुष हैं और अधिकांश मानवता उनकी उपासना ईश्वर के रूप में करती है। परन्तु हम उनसे अपेक्षाकृत लघुतर व्यक्तियों से भी आध्यात्मिक सहायता ले सकते हैं। पर हममें वह अन्तर्दृष्टि नहीं है, जिससे हम गुरु के सम्बन्ध में यथार्थ विचार कर सकें। अतएव गुरु और शिष्य, दोनों के सम्बन्ध में कुछ कसौटियाँ और शर्तें आवश्यक हैं।

शिष्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञान-पिपासा और अध्यवसाय हो। अपवित्र आत्मा कभी यथार्थ धार्मिक नहीं हो सकती। धार्मिक होने के लिए तन, मन और वचन की शुद्धता नितान्त आवश्यक है। रही ज्ञान-पिपासा की बात ; तो इस सम्बन्ध में यह एक सनातन सत्य है कि 'जाकर जापर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू'—हम जो चाहते हैं, वही पाते हैं। जिस वस्तु की अन्तःकरण से चाह नहीं करते, वह हमें प्राप्त नहीं होती। धर्म के लिए सच्ची व्याकुलता होनी बड़ी कठिन बात है। वह उतनी सरल नहीं, जितना कि हम बहुधा अनुमान करते हैं। धर्म सम्बन्धी बातें सुनना, धार्मिक पुस्तकें पढ़ना—केवल इतने से ही यह न सोच लेना चाहिए कि हृदय में सच्ची पिपासा है। उसके लिए तो हमें अपनी पाशविक प्रकृति के साथ निरन्तर जूझते रहना होगा, सतत युद्ध करना होगा और उसे अपने वश में लाने के लिए अविराम संघर्ष करना होगा। कब तक ? जब तक हमारे हृदय में धर्म के लिए सच्ची व्याकुलता उत्पन्न न हो जाय, जब तक विजयश्री हमारे हाथ न लग जाय। यह कोई एक या दो दिन की बात तो है

नहीं—कुछ वर्ष या कुछ जन्म की भी बात नहीं ; इसके लिए, सम्भव है, हमें सैकड़ों जन्मों तक इसी प्रकार संग्राम करना पड़े । हो सकता है, किसीको सिद्धि थोड़े समय में ही प्राप्त हो जाय ; पर यदि उसके लिए अनन्त काल तक भी बाट जोहनी पड़े, तो भी हमें तैयार रहना चाहिए । जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसाय के साथ साधना में प्रवृत्त होता है, उसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है ।

गुरु के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें धर्मशास्त्रों का मर्म ज्ञात हो । वैसे तो सारा संसार ही बाइबिल, वेद और क़ुरान पढ़ता है ; पर वे तो केवल शब्द हैं, विन्यास, व्युत्पत्ति, भाषाविज्ञान—धर्म की शुष्क अस्थियाँ मात्र । जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते हैं, जिनका मन शब्दों की शक्ति में बह जाता है, वे भीतर का मर्म खो बैठते हैं । शास्त्रों की वास्तविक आत्मा के ज्ञान से ही सच्चे गुरु का निर्माण होता है । शास्त्रों का शब्दजाल एक सघन वन के सदृश है, जिसमें मनुष्य का मन भटक जाता है, और रास्ता ढूँढ़े भी नहीं पाता । 'शब्दजाल तो चित्त को भटकानेवाला एक महावन है ।'[1] 'विभिन्न प्रकार की शब्द-रचना, सुन्दर भाषा में बोलने के विभिन्न ढंग और शास्त्र-मर्म की नाना प्रकार से व्याख्या करना—ये सब पण्डितों के भोग के लिए ही हैं ; इनसे अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं होता ।'[2] जो लोग इन उपायों से दूसरों को धर्म की शिक्षा देते हैं, वे केवल अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करना चाहते हैं । उनकी यही इच्छा रहती है कि संसार उन्हें बहुत बड़ा विद्वान् मानकर उनका सम्मान करे । संसार के प्रधान आचार्यों में से कोई भी शास्त्रों की इस प्रकार नानाविध व्याख्या करने के झमेले में नहीं पड़ा । उन्होंने श्लोकों के अर्थ में खींचातानी नहीं की । वे शब्दार्थ और धात्वर्थ के फेर में नहीं पड़े । फिर भी उन्होंने संसार को बड़ी सुन्दर शिक्षा दी । इसके विपरीत, उन लोगों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ भी नहीं, कभी एकाध शब्द को ही पकड़ लिया और उस पर तीन भागों की एक मोटी पुस्तक लिख डाली, जिसमें, उस शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, किसने उस शब्द का सबसे पहले उपयोग किया, वह क्या खाता था, वह कितनी देर सोता था, आदि आदि का वर्णन रहता है ।

भगवान् श्री रामकृष्ण एक कहानी कहा करते थे—"एक बार दो आदमी किसी बगीचे में घूमने गये । उनमें से एक, जिसकी विषय-बुद्धि ज़रा तेज़ थी, बगीचे में घुसते ही हिसाब लगाने लगा—'यहाँ कितने पेड़ आम के हैं, किस पेड़

---

१. शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।। विवेकचूड़ामणि ।।६०।।

२. वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ।। विवेकचूड़ामणि ।।५८।।

में कितने आम हैं, एक एक डाली में कितनी पत्तियाँ हैं, वगीचे की कीमत कितनी हो सकती है—आदि आदि।' पर दूसरा आदमी वगीचे के मालिक से भेंट करके, एक पेड़ के नीचे वैठ गया और मज़े से एक एक आम गिराकर खाने लगा। अब बताओ तो सही, इन दोनों में कौन ज्यादा वुद्धिमान है? आम खाओ, तो पेट भी भरे, केवल पत्ते गिनने और यह सब हिसाब लगाने से क्या लाभ?" ये पत्तियाँ और डालें गिनना तथा दूसरां को यह सब वताने का भाव विल्कुल छोड़ दो। यह वात नहीं कि इन सवकी कोई उपयोगिता नहीं; है—पर धर्म के क्षेत्र में नहीं। इन 'पत्तियाँ गिननेवालों' में तुम एक भी आध्यात्मिक महापुरुष नहीं पाओगे। मानव जीवन के सर्वोच्च ध्येय—मानव की महत्तम गरिमा—धर्म के लिए इतनी 'पत्तियाँ गिनने' के श्रम की आवश्यकता नहीं। यदि तुम भक्त होना चाहते हो, तो तुम्हारे लिए यह जानना विल्कुल आवश्यक नहीं कि भगवान् श्री कृष्ण ने मथुरा में जन्म लिया था या व्रज में, वे करते क्या थे, और जव उन्होंने गीता की शिक्षा दी, तो उस दिन ठीक ठीक तिथि क्या थी। गीता में कर्तव्य और प्रेम सम्वन्धी जो उदात्त उपदेश दिये गये हैं, उनको अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करो—उनकी आवश्यकता हृदय से अनुभव करो। उसके तथा उसके प्रणेता के सम्वन्ध में अन्य सब विचार तो केवल विद्वानों के आमोद के लिए हैं। वे जो चाहते हैं, करने दो। हम तो उनके पाण्डित्यपूर्ण विवाद पर केवल 'शान्तिः शान्तिः' कहेंगे और वस 'आम खायेंगे'।

गुरु के लिए दूसरी आवश्यक वात है—निष्पापता। वहुधा प्रश्न पूछा जाता है, "हम गुरु के चरित्र और व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यों दें? हमें तो यही देखना चाहिए कि वे क्या कहते हैं, और वस, उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।" पर यह वात ठीक नहीं। यदि कोई मनुष्य मुझे गति-विज्ञान, रसायनशास्त्र अथवा अन्य कोई भौतिक विज्ञान सिखाना चाहे, तो वह जैसा होना चाहे, हो सकता है, क्योंकि भौतिक विज्ञानों के लिए केवल वौद्धिक साधनों की ही आवश्यकता होती है; परन्तु अध्यात्मविज्ञानों में अपवित्र आत्मा में लेशमात्र भी धर्म का प्रकाश रह सकना असंभव है। एक अपवित्र व्यक्ति हमें क्या धर्म सिखायेगा? स्वयं आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करने और दूसरों में उसका संचार करने का एकमात्र उपाय है—हृदय और मन की पवित्रता। जव तक चित्तशुद्धि नहीं होती, तव तक भगवद्दर्शन अथवा उस अतीन्द्रिय सत्ता का आभास तक नहीं मिलता। अतएव गुरु के सम्वन्ध में हमें पहले यह जान लेना होगा कि उनका चरित्र कैसा है; और तव फिर देखना होगा कि वे कहते क्या हैं। उन्हें पूर्ण रूप से शुद्धचित्त होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा, क्योंकि केवल तभी वे सच्चे संचारक हो सकते हैं। यदि स्वयं उनमें आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वे संचार ही क्या करेंगे? उनके

मन में आध्यात्मिकता का इतना प्रबल स्पन्दन होना चाहिए, जिससे वह सहज रूप से शिष्य के मन में संचरित हो जाय। वास्तव में गुरु का काम ही यह है कि वे शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर दें, न कि शिष्य की बुद्धिवृत्ति अथवा अन्य किसी शक्ति को उत्तेजित मात्र करें। यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि गुरु से शिष्य में सचमुच एक शक्ति आ रही है। अतः गुरु का पवित्र होना आवश्यक है।

गुरु के लिए तीसरी आवश्यक बात है—उद्देश्य। गुरु को धन, नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु धर्म-शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनके कार्य तो केवल प्रेम से, सारी मानव जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हों। आध्यात्मिक शक्ति का संचार केवल शुद्ध प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है। किसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण भाव, जैसे कि लाभ अथवा यश की इच्छा, फ़ौरन ही इस प्रेमरूपी माध्यम को नष्ट कर देगा। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं, और जिन्होंने इस तत्त्व की उपलब्धि कर ली है, वे ही मनुष्य को शुद्धसत्त्व होने और ईश्वर को जानने की शिक्षा दे सकते हैं।

जब देखो कि तुम्हारे गुरु में ये सब लक्षण मौजूद हैं, तो फिर तुम्हें कोई आशंका नहीं। अन्यथा उनसे शिक्षा ग्रहण करना ठीक नहीं ; क्योंकि तब साधु-भाव संचारित होने के बदले असाधु-भाव के संचारित हो जाने का बड़ा भय रहता है। अतः इस प्रकार के खतरे से हमें सब प्रकार से बचना चाहिए। केवल वही 'जो शास्त्रज्ञ, निष्पाप, कामगन्धहीन और श्रेष्ठ ब्रह्मवित् है'[1] सच्चा गुरु है।

जो कुछ कहा गया, उससे यह सहज ही मालूम हो जायगा कि धर्म में अनुराग लाने के लिए, धर्म की बातें समझने के लिए और उन्हें अपने जीवन में उतारने के लिए उपयोगी शिक्षा हम यत्र-तत्र और हर किसीसे नहीं प्राप्त कर सकते। 'पर्वत उपदेश देते हैं, कलकल बहनेवाले झरने विद्या बिखेरते जाते हैं और सर्वत्र शुभ ही शुभ है'[2]—ये सब बातें कवित्व की दृष्टि से भले ही बड़ी सुन्दर हों ; पर जब तक स्वयं मनुष्य में सत्य के बीजाणु अपरिस्फुट रूप में विद्यमान न हों, तब तक दुनिया की कोई भी चीज उसे सत्य का एक कण तक नहीं दे सकती। पर्वत और झरने किसे उपदेश

---

१. श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ।। विवेकचूड़ामणि ।।३३।।

२. And this our life exempt from public haunt,
Finds tongues in trees, books in the running brooks,
Sermons in stones and good in everything.
—Shakespeare's 'As you like it.' Act II. Sc. I.

देते हैं ?—उसी मानवात्मा को, जिसके पवित्र हृदय-मन्दिर का कमल खिल चुका है। और उसे इस प्रकार सुन्दर रूप से विकसित करनेवाला ज्ञान-प्रकाश सद्गुरु से ही आता है। जब हृदय-कमल इस प्रकार खिल जाता है, तब वह पर्वत, झरने, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र अथवा इस ब्रह्ममय विश्व में जो कुछ है, सभी से शिक्षा ग्रहण कर सकता है। परन्तु जिसका हृदय-कमल अभी तक खिला नहीं, वह तो इन सबमें पर्वत आदि के सिवा और कुछ न देख पायेगा। एक अन्धा यदि अजायबघर में जाय, तो उससे क्या होगा? पहले उसे आँखें दो, तब कहीं वह समझ सकेगा कि वहाँ की भिन्न भिन्न वस्तुओं से क्या शिक्षा मिल सकती है?

गुरु ही धर्म-पिपासु की आँखें खोलनेवाले होते हैं। अतः गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसा पूर्वज के साथ उसके वंशज का। गुरु के प्रति श्रद्धा, नम्रता, विनय और आदर के बिना हममें धर्म-भाव पनप ही नहीं सकता। और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जिन देशों में गुरु और शिष्य में इस प्रकार का सम्बन्ध विद्यमान है, केवल वही असाधारण आध्यात्मिक पुरुष उत्पन्न हुए हैं; और जिन देशों में इस प्रकार के गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की उपेक्षा हुई है, वहाँ धर्मगुरु एक वक्ता मात्र रह गया है—गुरु को मतलब रहता है अपनी 'दक्षिणा' से और शिष्य को मतलब रहता है गुरु के शब्दों से, जिन्हें वह अपने मस्तिष्क में ठूँस लेना चाहता है। यह हो गया कि बस, दोनों अपना अपना रास्ता नापते हैं। ऐसी परिस्थिति में आध्यात्मिकता बिल्कुल नहीं के बराबर ही रहती है—न कोई शक्ति-संचार करनेवाला होता है और न कोई उसका ग्रहण करनेवाला। ऐसे लोगों के लिए धर्म एक व्यापार हो जाता है। वे सोचते हैं कि वे उसे अपने धन से ख़रीद सकते हैं। ईश्वर करता, धर्म इतना सुलभ हो जाता! पर दुर्भाग्य, ऐसा हो नहीं सकता।

धर्म ही सर्वोच्च ज्ञान है—वही सर्वोच्च विद्या है। वह न पैसों से ख़रीदा जा सकता है और न पुस्तकों से ही प्राप्त किया जा सकता है। तुम भले ही संसार का कोना कोना छान डालो, हिमालय, आल्प्स और काकेशस के शिखर पर चढ़ जाओ, अथाह समुद्र का तल भी नाप डालो, तिब्बत और गोबी-मरुभूमि की धूल छान डालो, पर जब तक तुम्हारा हृदय धर्म को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं हो जाता और जब तक गुरु का आगमन नहीं होता, तब तक तुम धर्म को कहीं न पाओगे। और जब ये विधातानिर्दिष्ट गुरु प्राप्त हो जायँ, तो उनके निकट बालकवत् विश्वास और सरलता के साथ अपना हृदय खोल दो, और उनमें साक्षात् ईश्वर के दर्शन करो। जो लोग इस प्रकार प्रेम और श्रद्धासम्पन्न होकर सत्य की खोज करते हैं, उनके निकट सत्यस्वरूप भगवान् सत्य, शिव और सौन्दर्य के अलौकिक तत्त्वों को प्रकट करते हैं।

गुरु और अवतार

जहाँ कहीं प्रभु का गुणगान होता हो, वही स्थान पवित्र है। तो फिर जो मनुष्य प्रभु का गुणगान करता है, वह कितना पवित्र होगा! अतएव जिनसे हमें आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त होती है, उनके समीप हमें कितनी भक्ति के साथ जाना चाहिए! यह सत्य है कि संसार में ऐसे धर्मगुरुओं की संख्या बहुत थोड़ी है, पर संसार ऐसे महापुरुषों से कभी शून्य नहीं हो जाता। वे मानव जीवन के सुन्दरतम पुष्प हैं और 'अहैतुक दयासिन्धु'[१] हैं। श्री कृष्ण भागवत में कहते हैं, "मुझे ही आचार्य जानो।"[२] यह संसार ज्यों ही इन आचार्यों से बिल्कुल रहित हो जाता है, त्यों ही यह एक भयंकर नरककुण्ड बन जाता है और नाश की ओर तीव्र वेग से बढ़ने लगता है।

साधारण गुरुओं से श्रेष्ठ एक और श्रेणी के गुरु होते हैं, और वे हैं—इस संसार में ईश्वर के अवतार। वे केवल स्पर्श से, यहाँ तक कि इच्छा मात्र से ही आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते हैं। उनकी इच्छा से पतित से पतित व्यक्ति भी क्षण भर में साधु हो जाता है। वे गुरुओं के भी गुरु हैं—मनुष्य के माध्यम से ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। उनके माध्यम के अतिरिक्त हम अन्य किसी भी उपाय से भगवान् को नहीं देख सकते। हम उनकी उपासना किये बिना रह नहीं सकते, वास्तव में वे ही एकमात्र ऐसे हैं, जिनकी उपासना करने के लिए हम विवश हैं।

इन मानवीय अभिव्यक्तियों के माध्यम बिना कोई मनुष्य ईश्वर-दर्शन नहीं कर सकता। जब हम अन्य किसी साधन द्वारा ईश्वर-दर्शन का यत्न करते हैं, तो हम अपने मन में ईश्वर का एक भीषण व्यंग्य-रूप गढ़ लेते हैं और सोचते हैं कि यह व्यंग्य-रूप ईश्वर के प्रकृत स्वरूप से निम्नतर नहीं है। एक बार एक अनाड़ी आदमी से भगवान् शिव की मूर्त्ति बनाने को कहा गया। कई दिनों के घोर परिश्रम के बाद उसने एक मूर्ति तैयार तो की, पर वह बन्दर की थी! इसी प्रकार जब हम ईश्वर को तत्त्वतः, उसके निर्गुण, पूर्ण स्वरूप में सोचने का प्रयत्न करते हैं, तो हम

---

१. विवेकचूड़ामणि ।।३७।।

२. आचार्यं मां विजानीयात् ।। श्रीमदभागवत ।।११।१७।२६।।

अनिवार्य रूप से उसमें बुरी तरह असफल होते हैं ; क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक मनुष्य से उच्चतर रूप में हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते। एक समय ऐसा आयेगा, जब हम अपनी मानवीय प्रकृति के परे चले जायँगे, और तब हम उसे उसके असली स्वरूप में देख सकेंगे। पर जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें उसकी उपासना मनुष्य में और मनुष्य के रूप में ही करनी होगी। तुम चाहे कितनी ही लम्बी-चौड़ी बातें क्यों न करो, कितना भी प्रयत्न क्यों न करो, पर तुम ईश्वर को मनुष्य के सिवा और कुछ सोच ही नहीं सकते। तुम भले ही ईश्वर और संसार की सारी वस्तुओं पर विद्वत्तापूर्ण लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ दे डालो, बड़े युक्तिवादी बन जाओ और अपने मन को समझा लो कि ईश्वरावतार की ये सब बातें अर्थहीन और व्यर्थ हैं, पर क्षण भर के लिए सहज बुद्धि से विचार तो करो। इस प्रकार की अद्‌भुत विचार-बुद्धि से क्या प्राप्त होता है? कुछ नहीं—शून्य, केवल कुछ शब्दों का ढेर! अब भविष्य में जब कभी तुम किसी मनुष्य को अवतार-पूजा के विरुद्ध बड़ा विद्वत्तापूर्ण भाषण देते हुए सुनो, तो सीधे उसके पास चले जाना और पूछना कि उसकी ईश्वर सम्बन्धी अपनी धारणा क्या है, 'सर्वशक्तिमान', 'सर्वव्यापी' आदि शब्दों का उच्चारण करने से वह शब्द-ध्वनि के अतिरिक्त और क्या समझता है?—तो देखोगे, वास्तव में वह कुछ नहीं समझता। वह उनका ऐसा कोई अर्थ नहीं लगा सकता, जो उसकी अपनी मानवी प्रकृति से प्रभावित न हो। इस बात में तो उसमें और रास्ता चलनेवाले एक अपढ़ गँवार में कोई अन्तर नहीं। फिर भी यह अपढ़ व्यक्ति कहीं अच्छा है, क्योंकि कम से कम वह शान्त तो रहता है, वह संसार की शान्ति को तो भंग नहीं करता ; पर यह लम्बी-लम्बी बातें करनेवाला व्यक्ति मनुष्य-जाति में अशान्ति और दुःख पैदा कर देता है। धर्म का अर्थ है प्रत्यक्ष अनुभूति। अतएव इस अपरोक्ष अनुभूति और थोथी बात के बीच जो विशेष भेद है, उसे हमें अच्छी तरह पकड़ लेना चाहिए। आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश में हम जो अनुभव करते हैं, वही प्रत्यक्षानुभूति है। इस सम्बन्ध में सहज बुद्धि जितनी अ-सहज (दुर्लभ) है, उतनी और कोई वस्तु नहीं।

हम अपनी वर्तमान प्रकृति से सीमित हो ईश्वर को केवल मनुष्य-रूप में ही देख सकते हैं। मान लो, भैंसों की इच्छा भगवान् की उपासना करने की हो—तो वे अपने स्वभाव के अनुसार भगवान् को एक बड़े भैंसे के रूप में देखेंगे। यदि एक मछली भगवान् की उपासना करनी चाहे, तो उसे भगवान् को एक बड़ी मछली के रूप में सोचना होगा। इसी प्रकार मनुष्य भी भगवान् को मनुष्य-रूप में ही देखता है। यह न सोचना कि ये सब विभिन्न धारणाएँ केवल विकृत कल्पनाओं से उत्पन्न हुई हैं। मनुष्य, भैंसा, मछली—ये सब मानो भिन्न-भिन्न बरतन हैं ; ये सब

बरतन अपनी अपनी आकृति और जल-धारण-शक्ति के अनुसार ईश्वररूपी समुद्र के पास अपने को भरने के लिए जाते हैं। पानी मनुष्य में मनुष्य का रूप ले लेता है, भैंसे में भैंसे का और मछली में मछली का। प्रत्येक बरतन में वही ईश्वररूपी समुद्र का जल है। जब मनुष्य ईश्वर को देखता है, तो वह उसे मनुष्य-रूप में देखता है। और यदि पशुओं में ईश्वर सम्बन्धी कोई ज्ञान हो, तो वे उन्हें अपनी अपनी धारणा के अनुसार पशु के रूप में देखेंगे। अतः हम ईश्वर को मनुष्य-रूप के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में देख ही नहीं सकते और इसलिए हमें मनुष्य-रूप में ही उसकी उपासना करनी पड़ेगी। इसके सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं है।

दो प्रकार के लोग ईश्वर की मनुष्य-रूप में उपासना नहीं करते। एक तो नरपशु, जिसे धर्म का कोई ज्ञान नहीं और दूसरे परमहंस, जो मानव जाति की सारी दुर्बलताओं के ऊपर उठ चुके हैं और जो अपनी मानवीय प्रकृति की सीमा के परे चले गये हैं। उनके लिए सारी प्रकृति आत्मस्वरूप हो गयी है। वे ही ईश्वर को उसके वास्तविक स्वरूप में भज सकते हैं। अन्य विषयों के समान यहाँ भी दोनों चरम भाव एक से ही दिखते हैं। अतिशय अज्ञानी और परम ज्ञानी, दोनों ही उपासना नहीं करते। नरपशु अज्ञानवश उपासना नहीं करता, और जीवन्मुक्त अपनी आत्मा में परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने के कारण। इन दो चरम भावों के बीच में रहनेवाला कोई मनुष्य यदि आकर तुमसे कहे कि वह भगवान् को मनुष्य-रूप में भजनेवाला नहीं है, तो उस पर रहम करना। उसे अधिक क्या कहें, वह बस, थोथी बकवास करनेवाला है। उसका धर्म अविकसित और खोखली बुद्धिवालों के लिए है।

ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को समझता है और मानवता के कल्याण के लिए नरदेह धारण करता है। श्री कृष्ण ने अवतार के सम्बन्ध में गीता में कहा है, "जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिए तथा धर्म-संस्थापनार्थ मैं युग युग में अवतीर्ण होता हूँ।"[१] "मूर्ख लोग मुझ जगदीश्वर के यथार्थ स्वरूप को

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
—गीता॥४।७-८॥

न जानने के कारण मुझ नरदेहधारी की अवहेलना करते हैं ।"[१] भगवान् श्री रामकृष्ण कहते थे, "जब एक बहुत बड़ी लहर आती है, तो छोटे छोटे नाले और गड्ढे अपने आप ही लबालब भर जाते हैं। इसी प्रकार जब एक अवतार जन्म लेता है, तो समस्त संसार में आध्यात्मिकता की एक बड़ी बाढ़ आ जाती है और लोग वायु के कण कण में धर्मभाव का अनुभव करने लगते हैं ।"

---

१. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।गीता।।९।११।।

मंत्र : ॐ : शब्द और ज्ञान

इन अवतारी महापुरुषों के वर्णन के बाद अब हम सिद्ध गुरुओं की चर्चा करेंगे। उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान का बीज शिष्य में शब्दों (मन्त्र) के द्वारा संप्रेषित करना होता है, और इन शब्दों का ध्यान किया जाता है। ये मन्त्र क्या हैं? भारतीय दर्शन के अनुसार नाम और रूप ही इस जगत् की अभिव्यक्ति के कारण हैं। मानवीय अन्तर्जगत् में एक भी ऐसी चित्तवृत्ति नहीं रह सकती, जो नाम-रूपात्मक न हो। यदि यह सत्य हो कि प्रकृति सर्वत्र एक ही नियम से निर्मित है, तो फिर इस नाम-रूपात्मकता को समस्त ब्रह्माण्ड का नियम कहना होगा। 'जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जान लेने से मिट्टी की सब चीजों का ज्ञान हो जाता है',[1] उसी प्रकार इस देहपिण्ड को जान लेने से समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। रूप, वस्तु का मानो छिलका है और नाम या भाव भीतर का गूदा। शरीर है रूप और मन या अन्तःकरण है नाम; और वाक्शक्तियुक्त समस्त प्राणियों में इस नाम के साथ उसके वाचक शब्दों का अभेद्य योग रहता है। व्यष्टि-मानव के परिच्छिन्न महत् या चित्त में विचार-तरंगें पहले 'शब्द' के रूप में उठती हैं और फिर बाद में तदपेक्षा स्थूलतर 'रूप' धारण कर लेती हैं।

वृहत् ब्रह्माण्ड में भी ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ या समष्टि-महत् ने पहले अपने को नाम के, और फिर बाद में रूप के आकार में अर्थात् इस परिदृश्यमान जगत् के आकार में अभिव्यक्त किया। यह सारा व्यक्त इन्द्रियग्राह्य जगत् रूप है, और इसके पीछे है अनन्त अव्यक्त स्फोट। स्फोट का अर्थ है—समस्त जगत् की अभिव्यक्ति का कारण शब्द-ब्रह्म'। समस्त नामों अर्थात् भावों का नित्य-समवायी उपादानस्वरूप यह नित्य स्फोट ही वह शक्ति है, जिससे ईश्वर इस विश्व की सृष्टि करता है। यही नहीं, ईश्वर पहले स्फोट-रूप में परिणत हो जाता है और तत्पश्चात् अपने को उससे भी स्थूल इस इन्द्रियग्राह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। इस स्फोट का एकमात्र वाचक शब्द है 'ॐ'। और चूंकि हम किसी भी उपाय से शब्द को भाव से अलग नहीं कर सकते, इसलिए यह 'ॐ' भी इस नित्य स्फोट से नित्य-

---

१. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्।
—छान्दोग्योपनिषद् ।।६।१।४।।

४—३

संयुक्त है। अतएव समस्त विश्व की उत्पत्ति सारे नाम-रूपों की जननीस्वरूप इस ओंकार-रूप पवित्रतम शब्द से ही मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि यद्यपि शब्द और भाव में नित्य सम्बन्ध है, तथापि एक ही भाव के अनेक वाचक शब्द हो सकते हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि यह 'ॐ' नामक शब्दविशेष ही सारे जगत् की अभिव्यक्ति के कारणस्वरूप भाव का वाचक हो। तो इस पर हमारा उत्तर यह है कि एकमेव यह 'ॐ' ही इस प्रकार सर्वभाव-व्यापी वाचक शब्द है, अन्य कोई भी उसके समान नहीं। स्फोट ही सारे शब्दों का उपादान है, फिर भी वह स्वयं पूर्ण रूप से विकसित कोई विशिष्ट शब्द नहीं है। अर्थात् यदि उन सब भेदों को, जो एक भाव को दूसरे से अलग करते हैं, निकाल दिया जाय, तो जो कुछ बच रहता है, वही स्फोट है। इसीलिए इस स्फोट को 'नादब्रह्म' कहते हैं।

अब इस अव्यक्त स्फोट को प्रकाशित करने के लिए यदि किसी वाचक शब्द का उपयोग किया जाय, तो वह शब्द उसे इतना विशिष्टीकृत कर देता है कि उसका फिर स्फोटत्व ही नहीं रह जाता। इसीलिए जो वाचक शब्द उसे सबसे कम विशिष्टीकृत करेगा, पर साथ ही उसके स्वरूप को यथासम्भव पूरी तरह प्रकाशित करेगा, वही उनका सबसे सच्चा वाचक होगा। और यह वाचक शब्द है एकमात्र 'ॐ'; क्योंकि ये तीनों अक्षर अ, उ और म, जिनका एक साथ उच्चारण करने से 'ॐ' होता है, समस्त ध्वनियों के साधारण वाचक के तौर पर लिये जा सकते हैं। अक्षर 'अ' सारी ध्वनियों में सबसे कम विशिष्टीकृत है। इसीलिए कृष्ण गीता में कहते हैं—"अक्षरों में मैं 'अ' कार हूँ।"[१] स्पष्ट रूप से उच्चरित जितनी भी ध्वनियाँ हैं, उनकी उच्चारण-क्रिया मुख में जिह्वा के मूल से आरम्भ होती है और ओठों में आकर समाप्त हो जाती है—'अ' ध्वनि कण्ठ से उच्चरित होती है, और 'म्' अन्तिम ओष्ठ्य ध्वनि है। और 'उ' उस शक्ति की सूचक है, जो जिह्वामूल से आरम्भ होकर मुँह भर में लुढ़कती हुई ओठों में आकर समाप्त होती है। यदि इस 'ॐ' का उच्चारण ठीक ढंग से किया जाय, तो इससे शब्दोच्चारण की सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न हो जाती है—दूसरे किसी भी शब्द में यह शक्ति नहीं। अतएव यह 'ॐ' ही स्फोट का सबसे उपयुक्त वाचक शब्द है—और यह स्फोट ही 'ॐ' का प्रकृत वाच्य है। और चूंकि वाचक वाच्य से कभी अलग नहीं हो सकता, इसलिए 'ॐ' और स्फोट अभिन्न हैं। फिर, यह स्फोट इस व्यक्त जगत् का सूक्ष्मतम अंश होने के कारण ईश्वर के अत्यन्त निकटवर्ती है तथा ईश्वरीय ज्ञान की प्रथम

---

१. अक्षराणामकारोऽस्मि ।। गीता ।।१०।३३।।

अभिव्यक्ति है ; इसलिए 'ॐ' ही ईश्वर का सच्चा वाचक है। और जिस प्रकार अपूर्ण जीवात्मागण एकमेव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का चिन्तन विशेष विशेष भाव से और विशेष विशेष गुणों से युक्त रूप में ही कर सकते हैं, उसी प्रकार उसके देहरूप इस अखिल ब्रह्माण्ड का चिन्तन भी, साधक के मनोभाव के अनुसार, विभिन्न रूप से करना पड़ता है।

उपासक के मन का दिशा-निर्धारण तत्त्वों की प्रबलता के अनुसार होता है। परिणामत: एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूप में भिन्न भिन्न गुणों की प्रधानता से युक्त दीख पड़ता है और वही एक विश्व विभिन्न रूपों में प्रतिभात होता है। जिस प्रकार अल्पतम विशिष्टीकृत तथा सार्वभौमिक वाचक शब्द 'ॐ' के सम्बन्ध में, वाच्य और वाचक परस्पर समवायी रूप से सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार वाच्य और वाचक का यह अविच्छिन्न सम्बन्ध ईश्वर और विश्व के विभिन्न खण्ड भावों पर भी लागू है। अतएव उनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट वाचक शब्द होना आवश्यक है। ये वाचक शब्द ऋषियों की गम्भीरतम आध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न हुए हैं, और वे ईश्वर तथा विश्व के जिन विशेष विशेष खण्ड भावों के वाचक हैं, उन विशेष भावों को यथासम्भव प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार 'ॐ' अखण्ड ब्रह्म का वाचक है, उसी प्रकार अन्यान्य मन्त्र भी उसी परम पुरुष के खण्ड खण्ड भावों के वाचक हैं। ये सभी ईश्वर के ध्यान और सत्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं।

प्रतीक तथा प्रतिमा-उपासना

अब हम प्रतीकोपासना तथा प्रतिमा-पूजन का विवेचन करेंगे। प्रतीक का अर्थ है वे वस्तुएँ, जो थोड़े-बहुत अंश में ब्रह्म के स्थान में उपास्य-रूप से ली जा सकती हैं। प्रतीक द्वारा ईश्वरोपासना का क्या अर्थ है? इस सम्बन्ध में भगवान् रामानुज कहते हैं, "जो वस्तु ब्रह्म नहीं है, उसमें ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्म का अनुसन्धान (प्रतीकोपासना कहलाता है)।"[1] भगवान् शंकराचार्य कहते हैं, "मन की ब्रह्म-रूप से उपासना करो, यह आभ्यंतर उपासना है; और आकाश की ब्रह्म-रूप से उपासना आधिदैविक है।" मन आभ्यन्तरिक प्रतीक है और आकाश बाह्य। इन दोनों की ही उपासना ब्रह्म के रूप में करनी होगी। वे कहते हैं, "इसी प्रकार—'आदित्य ही ब्रह्म है, यह आदेश है'...'जो नाम को ब्रह्म के रूप में भजता है'—इन सब वाक्यों से प्रतीकोपासना के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होता है...।"[2] प्रतीक शब्द का अर्थ है—बाहर की ओर जाना, और प्रतीकोपासना का अर्थ है—ब्रह्म के स्थान में ऐसी किसी वस्तु की उपासना करना, जो कुछ या अधिक अंशों में ब्रह्म के सदृश हो, पर स्वयं ब्रह्म न हो। श्रुतियों में वर्णित प्रतीकों के अतिरिक्त पुराणों और तन्त्रशास्त्रों में भी प्रतीकों का उल्लेख है। सब प्रकार की पितृ-उपासना और देवोपासना इस प्रतीकोपासना में समाविष्ट की जा सकती है।

अब बात यह है कि एकमात्र ईश्वर की उपासना ही भक्ति है। देव, पितर या अन्य किसीकी उपासना भक्ति नहीं कही जा सकती। विभिन्न देवताओं की जो विभिन्न उपासना-पद्धतियाँ हैं, उनकी गणना कर्मकाण्ड में ही की जाती है। उसके द्वारा उपासक को किसी प्रकार के स्वर्ग-भोग के रूप में एक विशिष्ट फल ही मिलता है, उससे न भक्ति होती है, न मुक्ति। इसलिए हमें एक बात विशेष रूप से ध्यान

---

१. अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टयाऽनुसन्धानम् ।। ब्रह्मसूत्र, रामानुजभाष्य ।।४।१।५।।

२. 'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम् ।'
'अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति ।'
तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ।'
'स य नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्येवमादिषु प्रतीकोपसनेषु संशयः ।
—ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य ।।४।१।५।।

में रखनी चाहिए कि जब कभी दर्शनशास्त्रों के उच्चतम आदर्श परब्रह्म को उपासक प्रतीकोपासना द्वारा प्रतीक के स्तर पर नीचे खींच लाता है और स्वयं प्रतीक को ही अपनी आत्मा—अपना अन्तर्यामी समझ बैठता है, तो वह सम्पूर्ण रूप से लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है; क्योंकि प्रतीक वास्तव में कभी भी उपासक की आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु जहाँ स्वयं ब्रह्म ही उपास्य होता है और प्रतीक उसका केवल प्रतिनिधिस्वरूप अथवा उसके संकेत का कारण मात्र होता है—अर्थात् जहाँ प्रतीक के सहारे सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना की जाती है और प्रतीक को प्रतीक मात्र न देखकर उसका जगत्-कारण ब्रह्म के रूप में चिन्तन किया जाता है, वहाँ उपासना निश्चित रूप से फलवती होती है। इतना ही नहीं, जब तक उपासना की प्रारम्भिक या गौणी अवस्था पार नहीं कर ली जाती, तब तक समस्त मानवता के लिए यह अनिवार्य है। अतएव जब किसी देवता या अन्य पुरुष की उपासना उन्हींके निमित्त और उन्हीं के रूप में की जाती है, तो वह एक कर्मानुष्ठान मात्र है। और वह एक विद्या होने के कारण, उस विशेष विद्या का फल भी प्रदान करती है। परन्तु जब उस देवता या उस पुरुष को ब्रह्मरूप मानकर उसकी उपासना की जाती है, तो उससे वही फल प्राप्त होता है, जो ईश्वरोपासना से। इसीसे यह स्पष्ट है कि श्रुतियों और स्मृतियों के अनेक स्थलों में किस प्रकार किसी देवता, महापुरुष अथवा अन्य किसी अलौकिक पुरुष को लिया गया है, और उन्हें उनके स्वभाव से ऊपर उठा, उनकी ब्रह्मरूप से उपासना की गयी है। अद्वैतवादी कहते हैं, "नाम-रूप को अलग कर लेने पर क्या प्रत्येक वस्तु ब्रह्म नहीं है?" विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, "वह प्रभु क्या सबकी अन्तरात्मा नहीं है?" शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहते हैं, "आदित्य आदि की उपासना का फल वह ब्रह्म ही देता है, क्योंकि वही सबका नियन्ता है। जिस प्रकार प्रतिमा में विष्णु-दृष्टि आदि करनी पड़ती है, उसी प्रकार प्रतीकों में भी ब्रह्म-दृष्टि करनी पड़ती है। अतएव समझना होगा कि यहाँ पर वास्तव में ब्रह्म की ही उपासना की जा रही है।"[१]

प्रतीक के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं, वे सब प्रतिमा के सम्बन्ध में भी सत्य हैं—अर्थात् यदि प्रतिमा किसी देवता या किसी महापुरुष की सूचक हो, तो ऐसी उपासना भक्तिप्रसूत नहीं है और वह हमें मुक्ति नहीं दे सकती। पर यदि वह उसी एक परमेश्वर की सूचक हो, तो उस उपासना से भक्ति और मुक्ति, दोनों

---

१. फलमादित्याद्युपासनेषु ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात्। ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यतः प्रतीकेषु तद्दृष्ट्याध्यारोपणं प्रतिमादिषु इव विष्ण्वादीनाम्।
—ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य ।।४।१।५।।

प्राप्त हो सकती हैं। संसार के मुख्य धर्मों में से वेदान्त, बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदाय बिना किसी आपत्ति के प्रतिमाओं का उपयोग करते हैं। केवल इस्लाम और प्रोटेस्टेण्ट, ये ही दो ऐसे धर्म हैं, जो इस सहायता की आवश्यकता नहीं मानते। फिर भी, मुसलमान प्रतिमा के स्थान में अपने पीरों और शहीदों की क़ब्रों का उपयोग करते हैं। और प्रोटेस्टेण्ट लोग धर्म में सब प्रकार की वाह्य सहायता का तिरस्कार कर धीरे धीरे वर्ष-प्रतिवर्ष आध्यात्मिकता से दूर हटते चले जा रहे हैं, यहाँ तक कि आजकल, अग्रगण्य प्रोटेस्टेण्टों और केवल नीतिवादी ऑगस्ट काँते के शिष्यों तथा अज्ञेयवादियों में कोई भेद नहीं रह गया है। फिर, ईसाई और इस्लाम धर्म में जो कुछ प्रतिमा-उपासना विद्यमान है, वह उसी श्रेणी की है, जिसमें प्रतीक या प्रतिमा की उपासना केवल प्रतीक या प्रतिमा-रूप से होती है—ईश्वर दर्शन में सहायक—दृष्टि-सौकर्य—के रूप में नहीं, अतएव वह कर्मानुष्ठान के ही समान है—उससे न भक्ति मिल सकती है, न मुक्ति। इस प्रकार की प्रतिमा-पूजा में उपासक ईश्वर को छोड़ अन्य वस्तुओं में आत्मसमर्पण कर देता है और इसलिए प्रतिमा, क़ब्र, मन्दिर, समाधि के इस प्रकार के उपयोग को ही सच्ची मूर्ति-पूजा कहा जा सकता है। पर वह न तो कोई पाप-कर्म है और न कोई अन्याय—वह तो एक कर्म है, और उपासकों को उसका फल अवश्य ही प्राप्त होता है और होगा।

इष्टनिष्ठा

अब हम इष्टनिष्ठा के सम्बन्ध में विचार करेंगे। जो भक्त होना चाहता है, उसे यह जान लेना चाहिए कि 'जितने मत हैं, उतने ही पथ।' उसे यह अवश्य जान लेना चाहिए कि विभिन्न धर्मों के विविध सम्प्रदाय उसी प्रभु की महिमा की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। 'लोग तुम्हें कितने नामों से पुकारते हैं। लोगों ने विभिन्न नामों से तुम्हें विभाजित सा कर दिया है। परन्तु फिर भी प्रत्येक नाम में तुम्हारी पूर्ण शक्ति वर्तमान है। इन सभी नामों से तुम उपासक को प्राप्त हो जाते हो। यदि हृदय में तुम्हारे प्रति ऐकान्तिक अनुराग रहे, तो तुम्हें पुकारने का कोई निर्दिष्ट समय भी नहीं। तुम्हें पाना इतना सहज होते हुए भी, मेरे प्रभु, यह मेरा दुर्भाग्य ही है, जो तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग नहीं हुआ!'[१] इतना ही नहीं, भक्त को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य धर्म-सम्प्रदायों के तेजस्वी प्रवर्तकों के प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न न हो, वह उनकी निन्दा न करे और न कभी उनकी निन्दा सुने ही। ऐसे लोग वास्तव में बहुत कम होते हैं, जो महान् उदार तथा दूसरों के गुण परखने में समर्थ हों और साथ ही प्रगाढ़ प्रेमसम्पन्न भी हों। बहुधा हम देखते हैं कि उदार-भावापन्न सम्प्रदाय धार्मिक भाव की प्रखरता खो देते हैं, उनके लिए धर्म एक प्रकार से सामाजिक-राजनीतिक क्लब जैसा रह जाता है। दूसरी ओर बड़े ही संकीर्ण सम्प्रदायवादी हैं, जो अपने अपने इष्ट के प्रति तो बड़ी भक्ति प्रदर्शित करते हैं, पर जिन्हें इस भक्ति का प्रत्येक कण अपने से भिन्न मतवालों के प्रति केवल घृणा करने से प्राप्त हुआ है। कैसा अच्छा होता, यदि भगवान् की दया से यह संसार ऐसे लोगों से भरा होता, जो परम उदार और साथ ही गम्भीर प्रेमसम्पन्न हों! पर खेद है, ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं! फिर भी हम जानते हैं कि बहुत से लोगों को ऐसे आदर्श में शिक्षित कर सकना सम्भव है, जिसमें प्रेम की तीव्रता और उदारता का अपूर्व सामंजस्य हो। और ऐसा करने का उपाय है यह इष्टनिष्ठा। भिन्न भिन्न

---

१. नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता, नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥ शिक्षाष्टकम् ॥२॥

धर्मों के भिन्न भिन्न सम्प्रदाय मनुष्य-जाति के सम्मुख केवल एक एक आदर्श रखते हैं, परन्तु सनातन वेदान्त धर्म ने तो भगवान् के मन्दिर में प्रवेश करने के लिए अनेकानेक मार्ग खोल दिये हैं और मनुष्य-जाति के सम्मुख असंख्य आदर्श उपस्थित कर दिये हैं। इन आदर्शों में से प्रत्येक उस अनन्तस्वरूप ईश्वर की एक एक अभिव्यक्ति है। परम करुणा के वश हो वेदान्त मुमुक्षु नर-नारियों को वे सब विभिन्न मार्ग दिखा देता है, जो अतीत और वर्तमान में तेजस्वी ईश्वर-तनयों या ईश्वरावतारों द्वारा मानव जीवन की वास्तविकताओं की कठोर चट्टानों से काटे गये हैं; और वह हाथ बढ़ाकर सब का, यहाँ तक कि भविष्य में होनेवाले लोगों का भी, उस सत्य और आनन्द के धाम में स्वागत करता है, जहाँ मनुष्य की आत्मा मायाजाल से मुक्त हो सम्पूर्ण स्वाधीनता और अनन्त आनन्द में विभोर होकर रहती है।

अतः भक्तियोग हमें इस बात का आदेश देता है कि हम भगवत्प्राप्ति के विभिन्न मार्गों में से किसीके भी प्रति घृणा न करें, किसीको भी अस्वीकार न करें। फिर भी, जब तक पौधा छोटा रहे, जब तक वह बढ़कर एक बड़ा पेड़ न हो जाय, तब तक उसे चारों ओर से रूँध रखना आवश्यक है। आध्यात्मिकता का यह छोटा पौधा यदि आरम्भिक, अपरिपक्व दशा में ही भावों और आदर्शों के सतत परिवर्तन के लिए खुला रहे, तो वह मर जायगा। बहुत से लोग 'धार्मिक उदारता' के नाम पर अपने आदर्शों को अनवरत बदलते रहते हैं और इस प्रकार अपनी निरर्थक उत्सुकता तृप्त करते रहते हैं। सदा नयी बातें सुनने के लिए लालायित रहना उनके लिए एक बीमारी सा, एक नशा सा हो जाता है। क्षणिक स्नायविक उत्तेजना के लिए ही वे नयी नयी बातें सुननी चाहते हैं, और जब इस प्रकार की उत्तेजना देनेवाली एक बात का असर उनके मन पर से चला जाता है, तब वे दूसरी बात सुनने को तैयार हो जाते हैं। उनके लिए धर्म एक प्रकार से अफ़ीम के नशे के समान है और बस, उसका वहीं अन्त हो जाता है। भगवान् श्री रामकृष्ण कहते थे, "एक दूसरे भी प्रकार का मनुष्य है जिसकी उपमा जनश्रुति की सीपी से दी जा सकती है। सीपी समुद्र की तह छोड़कर स्वाति नक्षत्र के पानी की एक बूंद लेने के लिए ऊपर उठ आती है और मुंह खोले हुए सतह पर तैरती रहती है। ज्यों ही उसमें उस नक्षत्र का एक बूंद पानी पड़ता है, त्यों ही वह मुंह बन्द करके एकदम समुद्र की तह में चली जाती है और जब तक उस बूंद से एक सुन्दर मोती का निर्माण नहीं कर लेती, तब तक वहीं विश्राम करती रहती है।"

इष्टनिष्ठा का भाव प्रकट करने के लिए यह एक अत्यन्त काव्यात्मक और सशक्त उदाहरण है, और इतनी सुन्दर उपमा शायद ही पहले कभी दी गयी हो।

साधक के लिए आरम्भिक दशा में यह एकनिष्ठा नितान्त आवश्यक है। हनुमान जी के समान उसे भी यह भाव रखना चाहिए, 'यद्यपि परमात्मदृष्टि से लक्ष्मीपति और सीतापति दोनों एक हैं, तथापि मेरे सर्वस्व तो वे ही कमललोचन श्री राम हैं।'[1] अथवा तुलसीदास जी ने जैसा कहा है, "सबके साथ बैठो, सबके साथ मिष्ट भाषण करो, सबका नाम लो और सबसे 'हाँ हाँ' कहते रहो, पर अपना स्थान मत छोड़ो—अर्थात् अपना भाव दृढ़ रखो"[2], उसे भी ऐसा ही करना चाहिए। तब, यदि साधक सच्चे, निष्कपट भाव से साधना करे, तो इस बीज से भारत के बटवृक्ष की तरह एक विशाल विटप उत्पन्न होकर, सब दिशाओं में अपनी शाखाएँ और जड़ें फैलाता हुआ धर्म के सम्पूर्ण क्षेत्र को आच्छादित कर लेगा। तभी सच्चे भक्त को यह अनुभव होगा कि उसका अपना ही इष्टदेवता विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न नामों और विभिन्न रूपों से पूजित हो रहा है।

---

१. श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥

२. सबसे बसिए सबसे रसिए, सबका लीजिए नाम।
हाँ जी हाँ जी करते रहिए, बैठिए अपने ठाम॥

उपाय और साधन

भक्तियोग के उपायों तथा साधनों के सम्बन्ध में भगवान् रामानुज वेदान्त-सूत्रों का भाष्य करते हुए कहते हैं, "भक्ति की प्राप्ति विवेक, विमोक (दमन), अभ्यास, क्रिया (यज्ञादि), कल्याण (पवित्रता), अनवसाद (बल) और अनुद्धर्ष (उल्लास के निरोध) से होती है।" उनके मतानुसार 'विवेक' का अर्थ यह है कि अन्य बातों के विवेक के साथ हमें खाद्याखाद्य का भी विचार रखना चाहिए। उनके मत से, खाद्य वस्तु के अशुद्ध होने के तीन कारण होते हैं—(१) जातिदोष अर्थात् खाद्य वस्तु का प्रकृतिगत दोष, जैसे लहसुन, प्याज़ आदि; (२) आश्रयदोष अर्थात् दुष्ट और पापी व्यक्तियों के पास से आने में दोष; और (३) निमित्तदोष अर्थात् किसी अपवित्र वस्तु, जैसे धूल, केश आदि के संस्पर्श से होनेवाला दोष। श्रुति कहती है, 'आहार शुद्ध होने से चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्ध होने से भगवान् का निरन्तर स्मरण होता है।'[1] यह वाक्य रामानुज ने छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धृत किया है।

भक्तों के लिए खाद्याखाद्य का यह प्रश्न सदा ही बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। यद्यपि अनेक भक्त-सम्प्रदाय के लोगों ने इस विषय में क़ाफी तिल का ताड़ भी किया है, पर तो भी इसमें एक बहुत बड़ा सत्य है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सांख्य दर्शन के अनुसार सत्त्व, रज और तम—जिनकी साम्यावस्था प्रकृति है और जिनकी वैषम्यावस्था से यह जगत् उत्पन्न होता है—प्रकृति के गुण और उपादान, दोनों हैं। अतएव इन्हीं उपादानों से समस्त मानव-देह बनी है। इनमें से सत्त्व पदार्थ की प्रधानता ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए सबसे आवश्यक है। हम भोजन के द्वारा अपने शरीर में जिन उपादानों को लेते हैं वे हमारी मानसिक गठन पर विशेष प्रभाव डालते हैं। इसलिए हमें खाद्याखाद्य के विषय में विशेष सावधान रहना चाहिए। यह कह देना आवश्यक है कि अन्य विषयों के सदृश इस सम्बन्ध में भी जो कट्टरता शिष्यों द्वारा उपस्थित कर दी जाती है, उसका उत्तरदायित्व आचार्यों पर नहीं है।

---

१. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
—छान्दोग्योपनिषद् ॥७।२६।२॥

वास्तव में खाद्य के सम्बन्ध में यह शुद्धाशुद्ध-विचार गौण है। श्री शंकराचार्य अपने उपनिषद्-भाष्य में इसी बात का दूसरे प्रकार से विवेचन करते हैं। उन्होंने 'आहार' शब्द की, जिसका अर्थ हम बहुधा भोजन लगाते हैं, एक दूसरे ही प्रकार से व्याख्या की है। उनके मतानुसार "जो कुछ आहृत हो, वही आहार है। शब्दादि विषयों का ज्ञान भोक्ता अर्थात् आत्मा के उपभोग के लिए भीतर आहृत होता है। इस विषयानुभूतिरूप ज्ञान की शुद्धि को आहार-शुद्धि कहते हैं। इसलिए आहार-शुद्धि का अर्थ है—राग, द्वेष और मोह से रहित होकर विषय का ज्ञान प्राप्त करना। अतएव यह ज्ञान या 'आहार' शुद्ध हो जाने से उस व्यक्ति का सत्त्व पदार्थ अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और सत्त्वशुद्धि हो जाने से अनन्त पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और अविच्छिन्न स्मृति प्राप्त हो जाती है।"[१]

ये दो व्याख्याएँ ऊपर से विरोधी अवश्य प्रतीत होती हैं, परन्तु फिर भी दोनों सत्य और आवश्यक हैं। सूक्ष्म शरीर अथवा मन का नियंत्रण और संयम करना स्थूल शरीर के संयम से निश्चय ही श्रेष्ठ है, परन्तु साथ ही साथ सूक्ष्म के संयम के लिए स्थूल का भी संयम परमावश्यक है। इसलिए आरम्भिक दशा में साधक को आहार सम्बन्धी उन सब नियमों का विशेष रूप से पालन करना चाहिए, जो उसकी गुरु-परम्परा से चले आ रहे हैं। परन्तु आजकल हमारे अनेक सम्प्रदायों में इस आहारादि विचार की इतनी बढ़ा-चढ़ी है, अर्थहीन नियमों की इतनी पाबन्दी है कि उन सम्प्रदायों ने मानो धर्म को रसोईघर में ही सीमित कर रखा है। उस धर्म के महान् सत्य वहाँ से बाहर निकलकर कभी आध्यात्मिकता के सूर्यालोक में जगमगा सकेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं। इस प्रकार का धर्म एक विशेष प्रकार का कोरा जड़वाद मात्र है। वह न तो ज्ञान है, न भक्ति और न कर्म, वह एक विशेष प्रकार का पागलपन है। जो लोग खाद्याखाद्य के इस विचार को ही जीवन का सार कर्तव्य समझे बैठे हैं, उनकी गति ब्रह्मलोक में न होकर पागल-ख़ाने में होनी ही अधिक सम्भव है। अतएव यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि खाद्याखाद्य का विचार मन की स्थिरतारूप उच्चावस्था लाने में विशेष रूप से आवश्यक है। अन्य किसी भी तरह यह स्थिरता इतने सहज ढंग से नहीं प्राप्त हो सकती।

उसके बाद है 'विमोक' अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह—इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना और उनको वश में लाकर अपनी इच्छा के अधीन रखना। इसे धार्मिक साधना की नींव ही कह सकते हैं। फिर आता है 'अभ्यास', अर्थात्

---

१. द्र० छान्दोग्योपनिषद्, शांकर भाष्य ।।७।२६।२।।

आत्मसंयम और आत्मत्याग का अभ्यास। आत्मा में दिव्य साक्षात्कार की असीम संभावनाओं को भक्त संघर्ष और ऐसे अभ्यास के बिना सिद्ध नहीं कर सकता। पर साधक के प्राणपण से प्रयत्न और प्रबल संयम के अभ्यास बिना यह किसी भी तरह कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता। 'मन में सदा प्रभु का ही चिन्तन चलता रहे।' पहले यह बात बहुत कठिन मालूम होती है। पर अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर इस प्रकार के चिन्तन की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती जाती है। भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं, "हे कौन्तेय, अभ्यास और वैराग्य से यह प्राप्त होता है।"[1] उसके बाद है 'क्रिया' अर्थात् यज्ञ। पंच महायज्ञों का नियमित रूप से अनुष्ठान करना होगा।

'कल्याण' अर्थात् पवित्रता ही एकमात्र ऐसी भित्ति है, जिस पर सारा भक्ति-प्रासाद खड़ा है। बाह्य शौच और खाद्याखाद्य-विचार, ये दोनों सरल हैं, पर आंतरिक शौच एवं पवित्रता के बिना उनका कोई मूल्य नहीं। रामानुज ने आंतरिक शौच के लिए निम्नलिखित गुणों को उपायस्वरूप बतलाया है—(१) सत्य, (२) आर्जव अर्थात् सरलता, (३) दया अर्थात् निःस्वार्थ परोपकार, (४) दान, (५) अहिंसा अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसीकी हिंसा न करना, (६) अनभिध्या अर्थात् परद्रव्य में लोभ न करना, वृथा चिन्तन और दूसरे द्वारा किये गये अनिष्ट आचरण के निरन्तर चिन्तन का त्याग। इन गुणों में से अहिंसा विशेष ध्यान देने योग्य है। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव हमारे लिए परमावश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम केवल मनुष्यों के प्रति दया का भाव रखें और छोटे जानवरों को निर्दयता से मारते रहें, और न यही—जैसा कुछ लोग समझते हैं—कि हम कुत्ते और बिल्लियों की तो रक्षा करते रहें, चीटियों को शक्कर खिलाते रहें, पर इधर, जैसा बने वैसा, अपने मानव-बन्धुओं का गला काटने के लिए बिना किसी झिझक के तैयार रहें। यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस संसार में प्रायः प्रत्येक शुभ विचार बीभत्सता की चरम सीमा तक ले जाये जा सकते हैं। केवल अक्षरार्थ ग्रहण करके, अति की सीमा तक पहुँचायी अच्छी साधना भी दोष बन जाती है। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के मैले-कुचैले साधु इस विचार से कि कहीं उनके शरीर के जुएँ आदि मर न जायँ, नहाते तक नहीं। परन्तु उन्हें इस बात का कभी ध्यान भी नहीं आता कि ऐसा करने से वे दूसरों को कितना कष्ट देते हैं और कितनी बीमारियाँ फैलाते हैं! वे जो भी हों, पर कम से कम वैदिक धर्मावलम्वी तो नहीं हैं।

---

१. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।गीता।।६।३५ ।।

अहिंसा की कसौटी है—ईर्ष्या का अभाव। कोई व्यक्ति भले ही क्षणिक आवेश में आकर अथवा किसी अन्धविश्वास से प्रेरित हो या पुरोहितों के छक्के-पंजे में पड़कर कोई भला काम कर डाले, अथवा ख़ासा दान दे डाले, पर मानव जाति-का सच्चा प्रेमी वह है, जो किसीके प्रति ईर्ष्या-भाव नहीं रखता। बहुधा देखा जाता है कि संसार में जो बड़े मनुष्य कहे जाते हैं, वे अक्सर एक दूसरे के प्रति केवल थोड़े से नाम, कीर्ति या चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए ईर्ष्या करने लगते हैं। जब तक यह ईर्ष्या-भाव मन में रहता है, तब तक अहिंसा-भाव में प्रतिष्ठित होना बहुत दूर की बात है। गाय मांस नहीं खाती, और न भेड़ ही; तो क्या वे बहुत बड़े योगी हो गये, अहिंसक हो गये? ऐरा-ग़ैरा कोई भी कोई विशेष चीज़ खाना छोड़ दे सकता है, पर उससे वह घासाहारी पशुओं की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं प्राप्त करता। जो मनुष्य निर्दयता के साथ विधवाओं और अनाथ बालक-बालिकाओं को ठग सकता है और जो थोड़े से धन के लिए जघन्य से जघन्य कृत्य करने में भी नहीं हिचकता, वह तो पशु से भी गया-बीता है—फिर चाहे वह घास खाकर ही क्यों न रहता हो। जिसके हृदय में कभी भी किसीके प्रति अनिष्ट विचार तक नहीं आता, जो अपने बड़े से बड़े शत्रु की भी उन्नति पर आनन्द मनाता है, वही वास्तव में भक्त है, वही योगी है और वही सबका गुरु है—फिर भले ही वह प्रतिदिन शूकर-मांस ही क्यों न खाता हो। अतएव हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि बाह्य क्रियाएँ आन्तरिक शुद्धि के लिए सहायक मात्र हैं। जब बाह्य कर्मों के साधन में छोटी छोटी बातों का पालन करना सम्भव न हो, तो उस समय केवल अन्तःशौच का अवलम्बन करना श्रेयस्कर है। पर धिक्कार है उस व्यक्ति को, धिक्कार है उस राष्ट्र को, जो धर्म के सार को तो भूल जाता है और अभ्यासवश बाह्य अनुष्ठानों को ही कसकर पकड़े रहता है तथा उन्हें किसी तरह छोड़ता नहीं! इन बाह्य अनुष्ठानों की उपयोगिता बस वहीं तक है, जब तक वे आध्यात्मिक जीवन के द्योतक हैं। और जब वे प्राणशून्य हो जाते हैं, जब वे आध्यात्मिक जीवन के द्योतक नहीं रह जाते, तो निर्ममतापूर्वक उनको नष्ट कर देना चाहिए।

भक्तियोग की प्राप्ति का एक और साधन है 'अनवसाद' अर्थात् बल। श्रुति कहती है, 'बलहीन व्यक्ति आत्मलाभ नहीं कर सकता।'[१] इस दुर्बलता का तात्पर्य है—शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार की दुर्बलताएँ। 'बलिष्ठ, द्रढिष्ठ' व्यक्ति ही ठीक ठीक साधक होने योग्य है। दुर्बल, कृश-शरीर तथा जरा-

---

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।। मुण्डकोपनिषद् ।।३।२।४।।

जीर्ण व्यक्ति क्या साधन करेगा ? शरीर और मन में जो अद्‌भुत शक्तियाँ निहित हैं, किसी योगाभ्यास के द्वारा यदि वे थोड़ी सी भी जाग्रत हो गयीं, तो दुर्बल व्यक्ति तो बिल्कुल नष्ट हो जायगा। 'युवा, स्वस्थकाय, सबल' व्यक्ति ही सिद्ध हो सकता है। अतएव शारीरिक बल नितान्त आवश्यक है। स्वस्थ शरीर ही इन्द्रिय-संयम की प्रतिक्रिया को सह सकता है। अतः जो भक्त होने का इच्छुक है, उसे सबल और स्वस्थ होना चाहिए। अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति यदि कोई योगाभ्यास आरम्भ कर दे, तो सम्भव है, वह किसी असाध्य व्याधि से ग्रस्त हो जाय, अथवा अपना मानसिक वल ही खो वैठे। जान-बूझकर शरीर को दुर्वल कर लेना आध्यात्मिक अनुभूति के लिए कोई अनुकूल व्यवस्था नहीं है।

दुर्बलचित्त व्यक्ति भी आत्मलाभ नहीं कर सकता। जो मनुष्य भक्त होने का इच्छुक है, उसे सदैव प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। पाश्चात्य देशों में धार्मिक व्यक्ति वह माना जाता है, जो कभी मुस्कराता नहीं, जिसके मुख पर सर्वदा विषाद की रेखा बनी रहती है और जिसकी सूरत लम्बी और जबड़े बैठे से होते हैं। ऐसे कृश शरीर और लम्बी सूरतवाले लोग तो किसी हकीम की देख-भाल की चीजें हैं, वे योगी नहीं हैं। प्रसन्नचित व्यक्ति ही अध्यवसायशील हो सकता है। दृढ़ संकल्पवाला व्यक्ति हजारों कठिनाइयों में से भी अपना रास्ता निकाल लेता है। इस माया-जाल को काटकर अपना रास्ता वना लेना सबसे कठिन कार्य है, और यह केवल प्रबल इच्छा-शक्तिसम्पन्न पुरुष ही कर सकते हैं।

परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य कहीं अत्यधिक आमोद में मत्त न हो जाय। यही 'अनुद्धर्ष' है। अत्यन्त हास्य-कौतुक हमें गम्भीर चिन्तन के अयोग्य बना देता है। उससे मानसिक शक्ति व्यर्थ ही क्षीण हो जाती है। इच्छा-शक्ति जितनी दृढ़ होगी, मनुष्य विभिन्न भावों के उतना ही कम वशीभूत होगा। अत्यधिक आमोद उतना ही बुरा है, जितना गम्भीर उदासी का भाव। जब मन सामंजस्यपूर्ण, स्थिर और शान्त रहता है, तभी सब प्रकार की आध्यात्मिक अनुभुति सम्भव होती है।

इन्हीं सब साधनों द्वारा क्रमशः ईश्वर-भक्ति का उदय होता है।

पराभक्ति

प्रारंभिक त्याग

अब तक हमने गौणी भक्ति के बारे में चर्चा की। अब हम पराभक्ति का विवेचन करेंगे। इस पराभक्ति के अभ्यास में लगने के लिए एक विशेष साधन की बात बतलानी है। सब प्रकार की साधनाओं का उद्देश्य है—आत्मशुद्धि। नाम-जप, कर्मकाण्ड, प्रतीक, प्रतिमा आदि केवल आत्मशुद्धि के लिए हैं। पर शुद्धि की इन सब साधनाओं में त्याग ही सबसे श्रेष्ठ है। इसके बिना कोई भी पराभक्ति के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। त्याग की बात सुनते ही बहुत से लोग डर जाते हैं; पर इसके बिना किसी प्रकार की आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं। सभी प्रकार के योगों में यह त्याग आवश्यक है। यह त्याग ही सारी आध्यात्मिकता का प्रथम सोपान है, उसका यथार्थ केन्द्र, उसका सार है। यह त्याग ही वास्तविक धर्म है।

जब मानवात्मा संसार की समस्त वस्तुओं से विमुख होकर गम्भीर तत्त्वों के अनुसन्धान में लग जाती है, जब वह समझ लेती है कि मैं देहरूप जड़ में बद्ध होकर स्वयं जड़ हुई जा रही हूँ और क्रमशः विनाश की ओर ही बढ़ रही हूँ,—और ऐसा समझकर जब वह जड़ पदार्थ से अपना मुँह मोड़ लेती है, तभी त्याग आरम्भ होता है, तभी वास्तविक आध्यात्मिकता का विकास प्रारम्भ होता है। कर्मयोगी सारे कर्मफलों का त्याग करता है; वह जो कुछ कर्म करता है, उसके फल में वह आसक्त नहीं होता। वह ऐहिक अथवा पारत्रिक किसी प्रकार के फलोपभोग की चिंता नहीं करता। राजयोगी जानता है कि सारी प्रकृति का लक्ष्य आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार का सुख-दुःखात्मक अनुभव प्राप्त कराना है, जिसके फलस्वरूप आत्मा यह जान ले कि वह प्रकृति से नित्य पृथक् और स्वतंत्र है। मानवात्मा को यह भलीभाँति जान लेना होगा कि वह नित्य आत्मस्वरूप है और भूतों के साथ उसका संयोग केवल सामयिक है, क्षणिक है। राजयोगी प्रकृति के अपने अनुभवों से वैराग्य की शिक्षा पाता है। ज्ञानयोगी का वैराग्य सबसे कठिन है, क्योंकि आरम्भ से ही उसे यह जान लेना पड़ता है कि यह ठोस दिखनेवाली प्रकृति पूर्णतया भ्रम है। उसे यह समझ लेना पड़ता है कि प्रकृति में जहाँ भी शक्ति की अभिव्यक्ति है, वह सब आत्मा की ही शक्ति है, प्रकृति की नहीं। उसे आरम्भ से ही यह जान लेना पड़ता है कि सारा ज्ञान और अनुभव आत्मा में ही

है, प्रकृति में नहीं, और इसलिए उसे केवल विचारजन्य धारणा के बल से एकदम प्रकृति के सारे बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर डालना पड़ता है। प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों की ओर वह देखता तक नहीं, वे सब उड़ते दृश्यों के समान उसके सामने गायब से हो जाते हैं। वह स्वयं कैवल्यपद में अवस्थित होने का प्रयत्न करता है।

सब प्रकार के वैराग्यों में भक्तियोगी का वैराग्य सबसे स्वाभाविक है। उसमें न कोई कठोरता है, न कुछ छोड़ना पड़ता है, न हमें अपने आपसे कोई चीज़ छीननी पड़ती है, और न बलपूर्वक किसी चीज़ से हमें अपने आपको अलग ही करना पड़ता है। भक्ति का त्याग तो अत्यन्त सहज और हमारे आसपास की वस्तुओं की तरह स्वाभाविक होता है। इस प्रकार का त्याग, बहुत कुछ विकृत रूप में, हम प्रतिदिन अपने चारों ओर देखते हैं। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य एक स्त्री से प्रेम करता है। कुछ समय बाद वह दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगता है और पहली स्त्री को छोड़ देता है। वह पहली स्त्री धीरे धीरे उसके मन से पूर्णतया चली जाती है और उस मनुष्य को उसकी याद तक नहीं आती—उस स्त्री का अभाव तक उसे अब महसूस नहीं होता। एक स्त्री एक मनुष्य से प्रेम करती है; कुछ दिनों बाद वह दूसरे मनुष्य से प्रेम करने लगती है और पहला आदमी उसके मन से सहज ही उतर जाता है। किसी व्यक्ति को अपने शहर से प्यार होता है। फिर वह अपने देश को प्यार करने लगता है और तब उसका अपने उस छोटे से शहर के प्रति उत्कट प्रेम धीरे धीरे, स्वाभाविक रूप से चला जाता है। फिर जब वही मनुष्य सारे संसार को प्यार करने लगता है, तब उसकी कट्टर देशभक्ति, अपने देश के प्रति प्रबल और उन्मत्त प्रेम धीरे धीरे चला जाता है। इससे उसे कोई कष्ट नहीं होता। यह भाव दूर करने के लिए उसे किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती नहीं करनी पड़ती। एक असंस्कृत मनुष्य इन्द्रिय-सुखों में उन्मत्त रहता है। जैसे जैसे वह संस्कृत होता जाता है, वैसे वैसे बौद्धिक विषयों में उसे अधिक सुख मिलने लगता है और उसके विषय-भोग भी धीरे धीरे कम होते जाते हैं। एक कुत्ता अथवा भेड़िया जितनी रुचि से अपना भोजन करता है, उतना आनन्द किसी मनुष्य को अपने भोजन में नहीं आता। परन्तु जो आनन्द मनुष्य को बुद्धि और बौद्धिक कार्यों से प्राप्त होता है, उसका अनुभव एक कुत्ता कभी नहीं कर सकता। पहले-पहल इन्द्रियों से सुख होता है; परन्तु ज्यों ज्यों प्राणी उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त होता जाता है, त्यों त्यों इन्द्रियजन्य सुखों में उसकी आसक्ति कम होती जाती है। मानव-समाज में भी देखा जाता है कि मनुष्य की प्रवृत्ति जितनी पशुवत् होती है, वह उतनी ही तीव्रता से इन्द्रियों में सुख का अनुभव करता है। पर वह जितना ही संस्कृत और उच्च होता जाता है, उतना ही उसे बुद्धि सम्बन्धी तथा

इसी प्रकार की अन्य सूक्ष्मतर बातों में आनन्द मिलने लगता है। इसी तरह, जब मनुष्य बुद्धि और मनोवृत्ति के भी अतीत हो जाता है और आध्यात्मिकता तथा ईश्वरानुभूति के क्षेत्र में विचरता है, तो उसे वहाँ ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि उसकी तुलना में सारा इन्द्रियजन्य सुख, यहाँ तक कि बुद्धि से मिलनेवाला सुख भी बिल्कुल तुच्छ प्रतीत होता है। जब चन्द्रमा चारों ओर अपनी शुभ्रोज्ज्वल किरणें बिखेरता है, तो तारे धुँधले पड़ जाते हैं, परन्तु सूर्य के प्रकट होने से चन्द्रमा स्वयं ही निष्प्रभ हो जाता है। भक्ति के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता होती है, उसको प्राप्त करने के लिए किसीका नाश करने की आवश्यकता नहीं होती। वह वैराग्य तो स्वभावतः ही आ जाता है। जैसे बढ़ते हुए तेज प्रकाश के सामने मन्द प्रकाश धीरे धीरे स्वयं ही धुँधला होता जाता है और अन्त में बिल्कुल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य तथा बुद्धिजन्य सुख ईश्वर-प्रेम के समक्ष आप ही आप धीरे धीरे धुँधले होकर अन्त में विलीन हो जाते हैं।

यही ईश्वर-प्रेम क्रमशः बढ़ते हुए एक ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिसे पराभक्ति कहते हैं। तब तो इस प्रेमिक पुरुष के लिए अनुष्ठान की और आवश्यकता नहीं रह जाती, शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता; प्रतिमा, मन्दिर, गिरजे, विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय, देश, राष्ट्र—ये सब छोटे छोटे सीमित भाव और बन्धन अपने आप ही चले जाते हैं। तब संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं बच रहती, जो उसको बाँध सके, जो उसकी स्वाधीनता को नष्ट कर सके। जिस प्रकार किसी चुम्बक की चट्टान के पास एक जहाज़ के आ जाने से, उस जहाज़ की सारी कीलें तथा लोहे की छड़ें खिचकर निकल आती हैं और जहाज़ के तख्ते आदि खुलकर पानी पर तैरने लगते हैं, उसी प्रकार प्रभु की कृपा से आत्मा के सारे बन्धन दूर हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाती है। अतएव भक्ति-लाभ के उपाय-स्वरूप इस वैराग्य-साधन में न तो किसी प्रकार की कठोरता है, न शुष्कता और न किसी प्रकार की ज़बरदस्ती ही। भक्त को अपने किसी भी भाव का दमन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह तो सब भावों को प्रबल करके भगवान् की ओर लगा देता है।

भक्त का वैराग्य--प्रेमजन्य

प्रकृति में हम सर्वत्र प्रेम ही देखते हैं। मानव-समाज में जो कुछ सुन्दर और महान् और उदात्त है, वह समस्त प्रेमप्रसूत है; फिर जो कुछ ख़राब, यही नहीं, बल्कि पैशाचिक है, वह भी उसी प्रेम-भाव का विकृत रूप है। पति-पत्नी का विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम और अति नीच कामवृत्ति, दोनों उस प्रेम के ही दो रूप हैं। भाव एक ही है, पर भिन्न भिन्न अवस्था में उसके भिन्न भिन्न रूप होते हैं। यह एक ही प्रेम एक ओर तो मनुष्य को भलाई करने और अपना सब कुछ गरीबों को बाँट देने के लिए प्रेरित करता है, फिर दूसरी ओर वही एक दूसरे मनुष्य को अपने बन्धु-बान्धवों का गला काटने और उनका सर्वस्व अपहरण कर लेने की प्रेरणा देता है। यह दूसरा व्यक्ति जिस प्रकार अपने आपसे प्यार करता है, पहला व्यक्ति उसी प्रकार दूसरों से प्यार करता है। पहली दशा में प्रेम की गति ठीक और उचित दिशा में है, पर दूसरी दशा में वही बुरी दिशा में। जो आग हमारे लिए भोजन पकाती है, वह एक बच्चे को जला भी सकती है। किन्तु इसमें आग का कोई दोष नहीं। उसका जैसा व्यवहार किया जायगा, वैसा फल मिलेगा। अतएव यह प्रेम, यह प्रबल आसंग-स्पृहा, दो व्यक्तियों के एकप्राण हो जाने की यह तीव्र आकांक्षा, और संभवतः, अन्त में सबकी उस एकस्वरूप में विलीन हो जाने की इच्छा, उत्तम या अधम रूप से सर्वत्र प्रकाशित है।

भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। वह हमें दर्शाता है कि हम प्रेम को ठीक रास्ते से कैसे लगायें, कैसे उसे वश में लायें, उसका सद्व्यवहार किस प्रकार करें, किस प्रकार एक नये मार्ग में उसे मोड़ दें और उससे श्रेष्ठ और महत्तम फल अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त करें। भक्तियोग कुछ छोड़ने-छाड़ने की शिक्षा नहीं देता; वह केवल कहता है, "परमेश्वर में आसक्त होओ।" और जो परमेश्वर के प्रेम में उन्मत्त हो गया है, उसकी, स्वभावतः निम्न विषयों में कोई प्रवृत्ति नहीं रह सकती।

'प्रभो, मैं तेरे बारे में और कुछ नहीं जानता, केवल इतना जानता हूँ कि तू मेरा है। तू सुन्दर है! अहा, तू सुन्दर है! तू स्वयं सौन्दर्यस्वरूप है!' हम सभी में सौन्दर्य-पिपासा विद्यमान है। भक्तियोग केवल इतना कहता है कि इस सौन्दर्य-पिपासा की गति भगवान् की ओर फेर दो। मानव मुख में, आकाश, तारा या

चन्द्रमा में जो सौन्दर्य दिखता है, वह आया कहाँ से ? वह भगवान् के उस सर्वतोमुखी प्रकृत सौन्दर्य का ही आंशिक प्रकाश मात्र है। 'उसीके प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं।'[१] उसीका तेज सव वस्तुओं में है। भक्ति की इस उच्च अवस्था को प्राप्त करो। उससे तुम अपने समस्त क्षुद्र अहं-भावों को भूल जाओगे। छोटे छोटे सांसारिक स्वार्थों का त्याग कर दो। मानवता को ही अपने समस्त मानवी और उससे उच्चतर ध्येयों का भी केन्द्र न समझ वैठना। तुम केवल एक साक्षी की तरह, एक जिज्ञासु की तरह खड़े रहो और प्रकृति की लीलाएँ देखते जाओ। मनुष्य के प्रति आसक्तिरहित होओ और देखो, यह प्रबल प्रेम-प्रवाह जगत् में किस प्रकार कार्य कर रहा है! हो सकता है, कभी कभी एकाध धक्का भी लगे, परन्तु वह परम प्रेम की प्राप्ति के मार्ग में होनेवाली एक घटना मात्र है। सम्भव है, कहीं थोड़ा द्वन्द्व छिड़े, अथवा कोई थोड़ा फिसल जाय, पर ये सब उस प्रेम में आरोहण के सोपान मात्र हैं। चाहे जितने द्वन्द्व छिड़ें, चाहे जितने संघर्ष आयें, पर तुम साक्षी होकर वस एक ओर खड़े रहो। ये द्वन्द्व तुम्हें तभी खटकेंगे, जब तुम संसार-प्रवाह में पड़े होगे। परन्तु जब तुम उसके बाहर निकल आओगे और केवल एक द्रष्टा के रूप में खड़े रहोगे, तो देखोगे कि प्रेमस्वरूप भगवान् अपने आपको अनन्त प्रकार से प्रकाशित कर रहा है।

'जहाँ कहीं थोड़ा सा भी आनन्द है, चाहे वह घोर विषय-भोग का ही क्यों न हो, वहाँ उस अनन्त आनन्दस्वरूप भगवान् का ही अंश है।' निम्नतम आकर्षण में भी ईश्वरीय प्रेम का वीज निहित है। संस्कृत भाषा में प्रभु का एक नाम 'हरि' है। उसका अर्थ यह है कि वह सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है। असल में वही हमारे प्रेम का एकमात्र उपयुक्त पात्र है। यह जो हम लोग नाना दिशाओं में आकृष्ट हो रहे हैं, तो हम लोगों को खींच कौन रहा है ? वही!—वही हमें अपनी गोद में लगातार खींच रहा है। निर्जीव जड़ क्या कभी चेतन आत्मा को खींच सकता है ? नहीं—कभी नहीं। मान लो, एक सुन्दर मुखड़ा देखकर कोई उन्मत्त हो गया। तो क्या कुछ जड़ परमाणुओं की समष्टि ने उसे पागल कर दिया है ? नहीं, कभी नहीं। इन जड़ परमाणुओं के पीछे अवश्य ईश्वरीय शक्ति और ईश्वरीय प्रेम का खेल चल रहा है। अज्ञ मनुष्य यह नहीं जानता। परन्तु फिर भी, जाने या अनजाने, वह उसीके द्वारा आकृष्ट हो रहा है। अतएव यहाँ तक कि निम्नतम प्रकार के आकर्षण भी अपनी शक्तियाँ स्वयं भगवान् से ही पाती हैं। 'हे प्रिये, कोई स्त्री अपने पति को पति के निमित्त प्यार नहीं करती; पति की अन्तरस्थ

---

१. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठोपनिषद् ॥२।२।१५ ॥

आत्मा के निमित्त ही पत्नी उसे प्यार करती है।'[१] प्रेमिका पत्नियाँ चाहे यह जानती हों अथवा नहीं, पर है यह सत्य। 'हे प्रिये, पत्नी के लिए पत्नी को कोई प्यार नहीं करता, परन्तु पत्नी की अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही पति उसे प्यार करता है।'[२] इसी प्रकार, संसार में जब कोई अपने बच्चे अथवा अन्य किसीसे प्रेम करता है, तो वह वास्तव में उसकी अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही उससे प्रेम करता है। भगवान् मानो एक बड़ा चुम्बक है और हम सब लोहे के कण के समान हैं। हम लोग उसके द्वारा सतत खींचे जा रहे हैं। हम सभी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। संसार में हम जो नानाविध प्रयत्न करते हैं, वे सब केवल स्वार्थ के लिए नहीं हो सकते। अज्ञानी लोग जानते नहीं कि उनके जीवन का उद्देश्य क्या है। वास्तव में वे लगातार परमात्मारूप उस बड़े चुम्बक की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं। हमारे इस अविराम, कठोर जीवन-संग्राम का लक्ष्य है—अन्त में उनके निकट पहुँचकर उनके साथ एकीभूत हो जाना।

भक्तियोगी इस जीवन-संग्राम का अर्थ भलीभाँति जानता है। वह ऐसे संग्रामों की एक लम्बी श्रृंखला में से पार हो चुका है और वह जानता है कि उनका लक्ष्य क्या है। उनसे होनेवाले द्वन्द्वों से छुटकारा पाने की उसकी तीव्र आकांक्षा रहती है। वह संघर्षों से दूर ही रहना चाहता है और सीधे समस्त आकर्षणों के मूल कारणस्वरूप 'हरि' के निकट चला जाना चाहता है। यही भक्त का त्याग है। भगवान् के प्रति इस प्रबल आकर्षण से उसके अन्य सब आकर्षण नष्ट हो जाते हैं। उसके हृदय में इस प्रबल अनन्त ईश्वर-प्रेम के प्रवेश कर जाने से फिर वहाँ अन्य किसी प्रेम की तिल मात्र भी गुंजाइश नहीं रह जाती। और रहे भी कैसे? भक्ति उसके हृदय को ईश्वररूपी प्रेम-सागर के दैवी सलिल से भर देती है और इस प्रकार उसमें फिर क्षुद्र प्रेमों के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। तात्पर्य यह कि भक्त का वैराग्य अर्थात् भगवान् को छोड़ समस्त विषयों में अनासक्ति भगवान् के प्रति परम अनुराग से उत्पन्न होती है।

पराभक्ति की प्राप्ति के लिए यही सर्वोच्च साधन है—यही आदर्श तैयारी है। जब यह वैराग्य आता है, तो पराभक्ति के राज्य का प्रवेश-द्वार खुल जाता है, जिससे आत्मा पराभक्ति के गम्भीरतम प्रदेशों में पहुँच सके। तभी हम यह समझने

---

१. न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।। बृहदारण्यकोपनिषद् ।।२।४।५।।

२. न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।। बृहदारण्यकोपनिषद् ।।२।४।५।।

लगते हैं कि पराभक्ति क्या है। और जिसने पराभक्ति के राज्य में प्रवेश किया है, उसीको यह कहने का अधिकार है कि प्रतिमा-पूजन अथवा बाह्य अनुष्ठान आदि अब आवश्यक नहीं हैं। उसीने प्रेम की उस परम अवस्था की प्राप्ति कर ली है, जिसे हम साधारणतया विश्वबन्धुत्व कहते हैं; दूसरे लोग तो विश्वबन्धुत्व की कोरी बातें ही करते हैं। उसमें फिर भेदभाव नहीं रह जाता। अथाह प्रेमसिन्धु उसमें समा जाता है। तब उसे मनुष्य में मनुष्य नहीं दिखता, वरन् सर्वत्र उसे अपना प्रियतम ही दिखायी देता है। प्रत्येक मुख में उसे 'हरि' ही दिखायी देता है। सूर्य अथवा चन्द्र का प्रकाश उसीकी अभिव्यक्ति है। जहाँ कहीं सौन्दर्य और महानता दिखायी देती है, उसकी दृष्टि में वह सब भगवान् का ही है। ऐसे भक्त आज भी इस संसार में विद्यमान हैं। संसार उनसे कभी रिक्त नहीं होता। ऐसे भक्तों को यदि साँप भी काट ले, तो वे कहते हैं, "मेरे प्रियतम का एक दूत आया था।" ऐसे ही पुरुषों को विश्वबन्धुत्व की बातें करने का अधिकार है। उनके हृदय में क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या कभी प्रवेश नहीं कर पाती। सारा बाह्य, इन्द्रियग्राह्य जगत् उनके लिए सदा के लिए लुप्त हो जाता है। वे तो अपने प्रेम के द्वारा बाह्य दृश्यावली के पीछे स्थित सत्य को सारे समय देखते रहते हैं। वे कभी क्रोधित कैसे हो सकते हैं?

भक्तियोग की स्वाभाविकता और केन्द्रीय रहस्य

भगवान् श्री कृष्ण से अर्जुन पूछते हैं, "हे प्रभो, जो सतत युक्त हो तुम्हें भजते हैं, और जो अव्यक्त, निर्गुण के उपासक हैं, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?" कृष्ण उत्तर देते हैं, "हे अर्जुन, मुझमें मन को एकाग्र करके जो नित्य युक्त हो परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करता है, वही मेरा श्रेष्ठ उपासक है, वही श्रेष्ठ योगी है। और जो इन्द्रिय-समुदाय को पूर्ण वश में करके, मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अव्यक्त और सदा एकरस रहनेवाले नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म की, निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, वे समस्त भूतों के हित में रत हुए और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के लिए (साधन में) क्लेश अर्थात् परिश्रम अधिक है, क्योंकि देहाभिमानी व्यक्तियों द्वारा यह अव्यक्त गति बहुत दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है, तब तक निराकार ब्रह्म में स्थिति होनी कठिन है। और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पित कर, मुझे अनन्य ध्यान और योग्य से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्र से उद्धार करता हूँ।"[१]

उपर्युक्त कथन में ज्ञानयोग और भक्तियोग, दोनों का दिग्दर्शन कराया गया है। कह सकते हैं कि उसमें दोनों की व्याख्या कर दी गयी है। ज्ञानयोग अवश्य अति श्रेष्ठ मार्ग है। तत्त्व-विचार उसका प्राण है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी सोचते हैं कि वे ज्ञानयोग के आदर्शानुसार चलने में समर्थ हैं। परन्तु वास्तव में ज्ञानयोग-साधना बड़ी कठिन है। उसमें गिर जाने की बड़ी आशंका रहती है। संसार में हम दो प्रकार के मनुष्य देखते हैं। एक तो आसुरी प्रकृतिवाले, जिनकी दृष्टि में शरीर का पालन-पोषण ही सर्वस्व है, और दूसरे दैवी प्रकृतिवाले, जिनको यह धारणा रहती है कि शरीर किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति का— आत्मोन्नति का एक साधन मात्र है। शैतान भी अपनी कार्य-सिद्धि के लिए शास्त्रों को उद्धृत कर सकता है और करता भी है। और इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. गीता ॥१२।१-७॥

ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्तियों के सत्कार्य का प्रबल प्रेरक है, उसी प्रकार असाधु व्यक्तियों के भी कार्य का समर्थक है। ज्ञानयोग में यही एक बड़े ख़तरे की बात है। परन्तु भक्तियोग बिल्कुल स्वाभाविक और मधुर है। भक्त उतनी ऊँची उड़ान नहीं उड़ता, जितनी कि एक ज्ञानयोगी, और इसीलिए उसके बड़े खड्डों में गिरने की आशंका भी नहीं रहती। पर हाँ, इतना समझ लेना होगा कि साधक किसी भी पथ पर क्यों न चले, जब तक आत्मा के सारे बन्धन छूट नहीं जाते, तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता।

निम्नोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार एक भाग्यशालिनी गोपी पाप और पुण्य के बन्धनों से मुक्त हो गयी थी। 'भगवान् के ध्यान से उत्पन्न तीव्र आनन्द ने उसके समस्त पुण्य कर्मजनित बन्धनों को काट दिया। फिर भगवान् की प्राप्ति न होने की परम आकुलता से उसके समस्त पाप धुल गये और वह मुक्त हो गयी।'[1] अतएव भक्तियोग का रहस्य यह है कि मनुष्य के हृदय में जितने प्रकार की वासनाएँ और भाव हैं, उनमें से कोई भी स्वरूपतः अधम नहीं हैं; उन्हें धीरे धीरे अपने वश में लाकर उनको उत्तरोत्तर उच्च दिशा में उन्मुख करना होगा, जिससे वे अन्ततः परमोच्च दशा को प्राप्त हो जायँ। उनकी सर्वोच्च दिशा है वह, जो ईश्वर की ओर ले जाती है, और शेष सब दिशाएँ निम्नाभिमुखी हैं। हम देखते हैं कि हमारे जीवन में सुख और दुःख सर्वदा लगे ही रहते हैं। जब कोई मनुष्य धन अथवा अन्य किसी सांसारिक वस्तु के अभाव से दुःख अनुभव करता है, तो वह अपनी भावनाओं को ग़लत मार्ग पर ले जा रहा है। फिर भी, दुःख की भी उपयोगिता है। यदि मनुष्य इस बात के लिए दुःख करने लगे कि अब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं हुई, तो वह दुःख उसकी मुक्ति का हेतु बन जायगा। जब कभी तुम्हें इस बात का आनन्द होता है कि तुम्हारे पास चाँदी के कुछ टुकड़े हैं, तो समझना कि तुम्हारी आनन्द-वृत्ति गलत रास्ते पर जा रही है। उसे उच्चतर दिशा की ओर ले जाना होगा, हमें अपने सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर के चिन्तन में आनन्द अनुभव करना होगा। हमारी अन्य सब भावनाओं के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसी ही बात है। भक्त की दृष्टि में उनमें से कोई भी ख़राब नहीं है; वह उन सबको लेकर केवल भगवान् की ओर उन्मुख कर देता है।

---

१. तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहद्दुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥
—विष्णुपुराण ॥५।१३।२१-२॥

भक्तियोग की स्वाभाविकता और केन्द्रीय रहस्य

भगवान् श्री कृष्ण से अर्जुन पूछते हैं, "हे प्रभो, जो सतत युक्त हो तुम्हें भजते हैं, और जो अव्यक्त, निर्गुण के उपासक हैं, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?" कृष्ण उत्तर देते हैं, "हे अर्जुन, मुझमें मन को एकाग्र करके जो नित्य युक्त हो परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करता है, वही मेरा श्रेष्ठ उपासक है, वही श्रेष्ठ योगी है। और जो इन्द्रिय-समुदाय को पूर्ण वश में करके, मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी, अव्यक्त और सदा एकरस रहनेवाले नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म की, निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, वे समस्त भूतों के हित में रत हुए और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के लिए (साधन में) क्लेश अर्थात् परिश्रम अधिक है, क्योंकि देहाभिमानी व्यक्तियों द्वारा यह अव्यक्त गति बहुत दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है, तब तक निराकार ब्रह्म में स्थिति होनी कठिन है। और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पित कर, मुझे अनन्य ध्यान और योग्य से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्र से उद्धार करता हूँ।"[१]

उपर्युक्त कथन में ज्ञानयोग और भक्तियोग, दोनों का दिग्दर्शन कराया गया है। कह सकते हैं कि उसमें दोनों की व्याख्या कर दी गयी है। ज्ञानयोग अवश्य अति श्रेष्ठ मार्ग है। तत्त्व-विचार उसका प्राण है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी सोचते हैं कि वे ज्ञानयोग के आदर्शानुसार चलने में समर्थ हैं। परन्तु वास्तव में ज्ञानयोग-साधना बड़ी कठिन है। उसमें गिर जाने की बड़ी आशंका रहती है। संसार में हम दो प्रकार के मनुष्य देखते हैं। एक तो आसुरी प्रकृतिवाले, जिनकी दृष्टि में शरीर का पालन-पोषण ही सर्वस्व है, और दूसरे दैवी प्रकृतिवाले, जिनकी यह धारणा रहती है कि शरीर किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति का—आत्मोन्नति का एक साधन मात्र है। शैतान भी अपनी कार्य-सिद्धि के लिए शास्त्रों को उद्धृत कर सकता है और करता भी है। और इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. गीता ।।१२।१-७।।

ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्तियों के सत्कार्य का प्रबल प्रेरक है, उसी प्रकार असाधु व्यक्तियों के भी कार्य का समर्थक है। ज्ञानयोग में यही एक बड़े ख़तरे की बात है। परन्तु भक्तियोग बिल्कुल स्वाभाविक और मधुर है। भक्त उतनी ऊँची उड़ान नहीं उड़ता, जितनी कि एक ज्ञानयोगी, और इसीलिए उसके बड़े खड्डों में गिरने की आशंका भी नहीं रहती। पर हाँ, इतना समझ लेना होगा कि साधक किसी भी पथ पर क्यों न चले, जब तक आत्मा के सारे बन्धन छूट नहीं जाते, तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता।

निम्नोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार एक भाग्यशालिनी गोपी पाप और पुण्य के बन्धनों से मुक्त हो गयी थी। 'भगवान् के ध्यान से उत्पन्न तीव्र आनन्द ने उसके समस्त पुण्य कर्मजनित बन्धनों को काट दिया। फिर भगवान् की प्राप्ति न होने की परम आकुलता से उसके समस्त पाप धुल गये और वह मुक्त हो गयी।'[१] अतएव भक्तियोग का रहस्य यह है कि मनुष्य के हृदय में जितने प्रकार की वासनाएँ और भाव हैं, उनमें से कोई भी स्वरूपतः अधम नहीं है; उन्हें धीरे धीरे अपने वश में लाकर उनको उत्तरोत्तर उच्च दिशा में उन्मुख करना होगा, जिससे वे अन्ततः परमोच्च दशा को प्राप्त हो जायँ। उनकी सर्वोच्च दिशा है वह, जो ईश्वर की ओर ले जाती है, और शेष सब दिशाएँ निम्नाभिमुखी हैं। हम देखते हैं कि हमारे जीवन में सुख और दुःख सर्वदा लगे ही रहते हैं। जब कोई मनुष्य धन अथवा अन्य किसी सांसारिक वस्तु के अभाव से दुःख अनुभव करता है, तो वह अपनी भावनाओं को ग़लत मार्ग पर ले जा रहा है। फिर भी, दुःख की भी उपयोगिता है। यदि मनुष्य इस बात के लिए दुःख करने लगे कि अब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं हुई, तो वह दुःख उसकी मुक्ति का हेतु बन जायगा। जब कभी तुम्हें इस बात का आनन्द होता है कि तुम्हारे पास चाँदी के कुछ टुकड़े हैं, तो समझना कि तुम्हारी आनन्द-वृत्ति गलत रास्ते पर जा रही है। उसे उच्चतर दिशा की ओर ले जाना होगा, हमें अपने सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर के चिन्तन में आनन्द अनुभव करना होगा। हमारी अन्य सब भावनाओं के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसी ही बात है। भक्त की दृष्टि में उनमें से कोई भी ख़राब नहीं है; वह उन सबको लेकर केवल भगवान् की ओर उन्मुख कर देता है।

---

१. तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहद्दुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥
—विष्णुपुराण ॥५।१३।२१-२॥

भक्ति की अभिव्यक्ति के रूप

भक्ति जिन विविध रूपों[1] में प्रकाशित होती है, उनमें से कुछ ये हैं: पहला है—'श्रद्धा'। लोग मन्दिरों और पवित्र स्थानों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? इसलिए कि वहाँ भगवान् की पूजा होती है, ऐसे सभी स्थानों से उनकी सत्ता अधिक सम्बद्ध होती है। प्रत्येक देश में लोग धर्म के आचार्यों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? इसलिए कि ऐसा करना मानव-हृदय के लिए नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि ये सब आचार्य उन्हीं भगवान् की महिमा का उपदेश देते हैं। इस श्रद्धा का मूल है प्रेम। हम जिससे प्रेम नहीं करते, उसके प्रति कभी भी श्रद्धालु नहीं हो सकते। इसके बाद है—'प्रीति' अर्थात् ईश्वर-चिन्तन में आनन्द। मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में कितना तीव्र आनन्द अनुभव करता है! इन्द्रियों को अच्छी लगनेवाली चीज़ों के लिए वह कहाँ कहाँ भटकता फिरता है और बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने को तैयार रहता है। भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के प्रति इसी प्रकार का तीव्र प्रेम रखे। इसके उपरान्त आता है 'विरह'—प्रेमास्पद के अभाव में उत्पन्न होनेवाला तीव्र दुःख। यह दुःख संसार के समस्त दुःखों में सबसे मधुर है—अत्यन्त मधुर है। जब मनुष्य भगवान् को न पा सकने के कारण, संसार में एकमात्र जानने योग्य वस्तु को न जान सकने के कारण भीतर तीव्र वेदना अनुभव करने लगता है और फलस्वरूप अत्यन्त व्याकुल हो बिल्कुल पागल सा हो जाता है, तो उस दशा को विरह कहते हैं। मन की ऐसी दशा में प्रेमास्पद को छोड़ उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता (एकरतिविचिकित्सा)। बहुधा यह विरह सांसारिक प्रणय में देखा जाता है। जब स्त्री और पुरुष में यथार्थ और प्रगाढ़ प्रेम होता है, तो उन्हें ऐसे किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति अच्छी नहीं लगती, जो उनके मन का नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब पराभक्ति हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेती है, तो अन्य अप्रिय विषयों की उपस्थिति हमें खटकने लगती है, यहाँ तक कि प्रेमास्पद भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर बातचीत तक करना हमारे लिए

---

१. सम्मान-बहुमान-प्रीति-विरह-इतरविचिकित्सा-महिमख्याति-तदर्थ-प्राण-संस्थान-तदीयता-सर्वतद्भाव-अप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्।
—शाण्डिल्यसूत्र ।।२।१।४४।।

अरुचिकर हो जाता है। 'उसका, केवल उसका ध्यान करो और अन्य सब बातें त्याग दो।'[1] जो लोग केवल उन्हींकी चर्चा करते हैं, वे भक्त को मित्र के समान प्रतीत होते हैं, और जो लोग अन्य विषयों की चर्चा करते हैं, वे उसको शत्रु के समान लगते हैं। प्रेम की इससे भी उच्च अवस्था तो वह है, जब उस प्रेमास्पद भगवान् के लिए ही जीवन धारण किया जाता है, जब उस प्रेमस्वरूप के निमित्त ही प्राण धारण करना सुन्दर और सार्थक समझा जाता है। ऐसे प्रेमी के लिए उस परम प्रेमास्पद भगवान् बिना एक क्षण भी रहना असम्भव हो उठता है। उस प्रियतम का चिन्तन हृदय में सदैव बने रहने के कारण ही उसे जीवन इतना मधुर प्रतीत होता है। शास्त्रों में इसी अवस्था को **तदर्थप्राणसंस्थान** कहा है। 'तदीयता' तब आती है, जब साधक भक्ति-मत के अनुसार पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है, जब वह श्री भगवान् के चरणारविन्दों का स्पर्श कर लेता है, तब उसकी प्रकृति विशुद्ध हो जाती है—सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाती है। तब उसके जीवन की सारी साध पूरी हो जाती है। फिर भी, इस प्रकार के बहुत से भक्त उसकी उपासना के निमित्त ही जीवन धारण किये रहते हैं। इस जीवन के इसी एकमात्र सुख को वे छोड़ना नहीं चाहते। 'हे राजन्! हरि के ऐसे मनोहर गुण हैं कि जो लोग उनको प्राप्त कर संसार की सारी वस्तुओं से तृप्त हो गये हैं, जिनके हृदय की सब ग्रन्थियाँ खुल गयी हैं, वे भी भगवान् की निष्काम भक्ति करते हैं।'[2]—'जिस भगवान् की उपासना सारे देवता, मुमुक्षु और ब्रह्मवादीगण करते हैं।'[3] ऐसा है प्रेम का प्रभाव! जब मनुष्य अपने आपको बिल्कुल भूल जाता है और जब उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि कोई चीज़ अपनी है, तभी उसे यह 'तदीयता' की अवस्था प्राप्त होती है। तब सब कुछ उसके लिए पवित्र हो जाता है, क्योंकि वह सब उसके प्रेमास्पद का ही तो है। सांसारिक प्रेम में भी, प्रेमी अपनी प्रेमिका की प्रत्येक वस्तु को बड़ी प्रिय और पवित्र मानता है। अपनी प्रणयिनी के कपड़े के एक छोटे से टुकड़े को भी वह प्यार करता है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् से प्रेम करता है, उसके लिए सारा संसार प्रिय हो जाता है, क्योंकि यह संसार आखिर उसीका तो है।

---

१. तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।
—मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।५॥

२. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ श्रीमद्भागवत ॥१।७।१०॥

३. यं सर्वेदेवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
—नृसिंहतापनी उपनिषद् ॥५।२।१५॥

विश्वप्रेम और उससे आत्मसमर्पण का उदय

समष्टि से प्रेम किये बिना हम व्यष्टि से कैसे प्रेम कर सकते हैं? ईश्वर ही वह समष्टि है, सारे विश्व का यदि एक अखण्ड रूप से चिन्तन किया जाय, तो वही ईश्वर है, और उसे पृथक् पृथक् रूप से देखने पर वही यह दृश्यमान संसार है—व्यष्टि है। समष्टि वह इकाई है, जिसमें लाखों छोटी छोटी इकाईयों का योग है। इस समष्टि के माध्यम से ही सारे विश्व को प्रेम करना सम्भव है। भारतीय दार्शनिक व्यष्टि पर ही नहीं रुक जाते; वे तो व्यष्टि पर एक सरसरी दृष्टि डालकर तुरन्त एक ऐसे व्यापक या समष्टि भाव की खोज में लग जाते हैं, जिसमें सब व्यष्टियों या विशेषों का अन्तर्भाव हो। इस समष्टि की खोज ही भारतीय दर्शन और धर्म का लक्ष्य है। ज्ञानी पुरुष ऐसी एक समष्टि की, ऐसे एक निरपेक्ष और व्यापक तत्त्व की कामना करता है, जिसे जानने से वह सब कुछ जान सके। भक्त उस एक सर्वव्यापी पुरुष की साक्षात् उपलब्धि कर लेना चाहता है, जिससे प्रेम करने से वह सारे विश्व से प्रेम कर सके। योगी उस मूलभूत शक्ति को अपने अधिकार में लाना चाहता है, जिसके नियमन से वह इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन कर सके। यदि हम भारतीय विचार-धारा के इतिहास का अध्ययन करें,तो देखेंगे कि भारतीय मन सदा से हर विषय में—भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, भक्तितत्त्व, दर्शन आदि सभी में—एक समष्टि या व्यापक तत्त्व की इस अपूर्व खोज में लगा रहा है। अतएव भक्त इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि तुम केवल एक के बाद दूसरे व्यक्ति से प्रेम करते चले जाओ, तो भी अनन्त काल में भी संसार को एक समष्टि के रूप में प्यार करने में समर्थ न हो सकोगे। पर अन्त में जब यह मूल सत्य ज्ञात हो जाता है कि समस्त प्रेम की समष्टि ईश्वर है, संसार के मुक्त, बद्ध या मुमुक्षु सारे जीवात्माओं की आदर्श-समष्टि ही ईश्वर है, तभी यह विश्वप्रेम सम्भव होता है। ईश्वर ही समष्टि है और यह परिदृश्यमान जगत् उसीका परिच्छिन्न भाव है—उसीकी अभिव्यक्ति है। यदि हम इस समष्टि को प्यार करें, तो इससे सभी को प्यार करना हो जाता है। तब जगत् को प्यार करना और उसकी भलाई करना सहज हो जाता है। पर पहले भगवत्प्रेम के द्वारा हमें यह शक्ति प्राप्त कर लेनी होगी, अन्यथा संसार की भलाई करना कोई हँसी-खेल नहीं है। भक्त कहता है, "सब कुछ उसीका है, वह मेरा प्रियतम है, मैं उससे प्रेम करता हूँ।" इस प्रकार भक्त को सब

कुछ पवित्र प्रतीत होने लगता है, क्योंकि वह सब आख़िर उसीका तो है। सभी उसकी सन्तान हैं, उसके अंगस्वरूप हैं, उसके रूप हैं। तब फिर हम किसीको कैसे चोट पहुँचा सकते हैं? दूसरों को बिना प्यार किये हम कैसे रह सकते हैं? भगवान् के प्रति प्रेम के साथ ही, उसके निश्चित फलस्वरूप, सर्व भूतों के भी प्रति प्रेम अवश्य आयेगा। हम ईश्वर के जितने समीप आते जाते हैं, उतने ही अधिक स्पष्ट रूप से देखते हैं कि सब कुछ उसीमें है। जब जीवात्मा इस परम प्रेमानन्द को आत्मसात करने में सफल होती है, तब वह ईश्वर को सर्व भूतों में देखने लगती है। इस प्रकार हमारा हृदय प्रेम का एक अनन्त स्रोत बन जाता है। और जब हम इस प्रेम की और भी उच्चतर अवस्थाओं में पदार्पण करते हैं, तब संसार की वस्तुओं में क्षुद्र भेद की भावनाएँ हमारे हृदय से सर्वथा लुप्त हो जाती हैं। तब मनुष्य मनुष्य के रूप में नहीं दीखता, वरन् साक्षात् ईश्वर के रूप में ही दीख पड़ता है; पशु में पशु-रूप नहीं दिखायी पड़ता, वरन् उसमें स्वयं भगवान् ही दीख पड़ते हैं; यहाँ तक कि ऐसे प्रेमी की आँखों से बाघ का भी बाघ-रूप लुप्त हो जाता है और उसमें स्वयं भगवान् प्रकाशमान दीख पड़ता है। इस प्रकार, भक्ति की इस प्रगाढ़ अवस्था में सभी प्राणी हमारे लिए उपास्य हो जाते हैं। 'हरि को सब भूतों में अवस्थित जानकर ज्ञानी को सब प्राणियों के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखनी चाहिए।'[1]

इस प्रगाढ़, सर्वग्राही प्रेम के फलस्वरूप पूर्ण आत्मसमर्पण की अवस्था उपस्थित होती है। तब यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि संसार में भला-बुरा जो कुछ होता है, कुछ भी हमारे लिए अनिष्टकर नहीं। शास्त्रों ने इसीको 'अप्रातिकूल्य' कहा है। ऐसा प्रेमी जीव दुःख उपस्थित होने पर कहता है, "दुःख! स्वागत है तुम्हारा।" यदि कष्ट आये, तो कहेगा, "आओ कष्ट! स्वागत है तुम्हारा। तुम भी तो मेरे प्रियतम के पास से ही आये हो।" यदि सर्प आये, तो कहेगा, "विराजो, सर्प!" यहाँ तक कि यदि मृत्यु भी आये, तो वह अधरों पर मुस्कान लिये उसका स्वागत करेगा। "धन्य हूँ मैं, जो ये सब मेरे पास आते हैं; इन सबका स्वागत है।" भगवान् और जो कुछ भगवान् का है, उस सबके प्रति प्रगाढ़ प्रेम से उत्पन्न होनेवाली इस पूर्ण निर्भरता की अवस्था में भक्त अपने को प्रभावित करनेवाले सुख और दुःख का भेद भूल जाता है। दुःख-कष्ट आने पर वह तनिक भी विचलित नहीं होता। और प्रेमस्वरूप ईश्वर की इच्छा पर यह जो स्थिर, खेदशून्य निर्भरता

---

१. एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्॥

है, वह तो सचमुच महान् वीरतापूर्ण क्रिया-कलापों से मिलनेवाले नाम-यश की अपेक्षा कहीं अधिक वांछनीय है।

अधिकतर मनुष्यों के लिए देह ही सब कुछ है; देह ही उनकी सारी दुनिया है; दैहिक सुख-भोग ही उनका सर्वस्व है। देह और देह से सम्बन्धित वस्तुओं की उपासना करने का भूत हम सबमें प्रविष्ट हो गया है। भले ही हम लम्बी-चौड़ी बातें करें, बड़ी ऊँची ऊँची उड़ानें लें, पर आख़िर हैं हम गिद्धों के ही समान; हमारा मन सदा नीचे पड़े हुए सड़े-गले मांस के टुकड़े में ही पड़ा रहता है। हम शेर से अपने शरीर की रक्षा क्यों करें? हम उसे शेर को क्यों न दे दें? कम से कम उससे शेर की तो तृप्ति होगी, और यह कार्य आत्मत्याग और उपासना से अधिक भिन्न न होगा। क्या तुम ऐसे एक भाव की उपलब्धि कर सकते हो, जिसमें स्वार्थ की तनिक भी गन्ध न हो? क्या तुम अपना अहं-भाव सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर सकते हो? यह प्रेम-धर्म के शिखर की यह सिर चकरा देनेवाली ऊँचाई है, और बहुत थोड़े लोग ही उस तक पहुँच सके हैं। पर जब तक मनुष्य इस प्रकार के आत्मत्याग के लिए सारे समय, पूरे हृदय के साथ, प्रस्तुत नहीं रहता, तब तक वह पूर्ण भक्त नहीं हो सकता। हम अपने इस शरीर को अल्प अथवा अधिक समय तक के लिए भले ही बनाये रख लें, पर उससे क्या? हमारे शरीर का एक न एक दिन नाश होना तो अवश्यम्भावी है। उसका अस्तित्व चिरस्थायी नहीं है। वे धन्य हैं, जिनका शरीर दूसरों की सेवा में अर्पित हो जाता है। 'एक साधु पुरुष केवल अपनी सम्पत्ति ही नहीं, वरन् अपने प्राण भी दूसरों की सेवा में उत्सर्ग कर देने के लिए सदैव उद्यत रहता है। इस संसार में जब मृत्यु निश्चित है, तो श्रेष्ठ यही है कि यह शरीर नीच कार्य की अपेक्षा किसी उत्तम कार्य में ही अर्पित हो जाय।' हम भले ही अपने जीवन को पचास वर्ष, या बहुत हुआ, तो सौ वर्ष तक खींच ले जायँ, पर उसके बाद? उसके बाद क्या होता है? जो वस्तु संघात से उत्पन्न होती है, वह विघटित होकर नष्ट भी होती है। ऐसा समय अवश्य आता है, जब उसे विघटित होना पड़ता है। ईसा, बुद्ध और मुहम्मद सभी दिवंगत हो गये। संसार के सारे महापुरुष और आचार्यगण आज इस धरती से उठ गये हैं।

भक्त कहता है, "इस क्षणभंगुर संसार में, जहाँ प्रत्येक वस्तु टुकड़े टुकड़े हो धूल में मिली जा रही है, हमें अपने समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए।" और वास्तव में जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे सर्वभूतों की सेवा में लगा दिया जाय। हमारा सबसे बड़ा भ्रम यह है कि हमारा यह शरीर ही हम हैं और जिस किसी प्रकार से हो, इसकी रक्षा करनी होगी, इसे सुखी रखना होगा। और यह भयानक देहात्म-बुद्धि ही संसार में सब प्रकार की स्वार्थपरता की जड़ है। यदि तुम यह निश्चित

रूप से जान सको कि तुम शरीर से बिल्कुल पृथक् हो, तो फिर इस दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं रह जायगा, जिसके साथ तुम्हारा विरोध हो सके। तब तुम सब प्रकार की स्वार्थपरता के अतीत हो जाओगे। इसीलिए भक्त कहता है कि हमें ऐसा रहना चाहिए, मानो हम दुनिया की सारी चीज़ों के लिए मर से गये हों। और वास्तव में यही यथार्थ आत्मसमर्पण है—यही सच्ची शरणागति है—'जो होने का है, हो।' यही 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' का तात्पर्य है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि हम यत्र-तत्र लड़ाई-झगड़ा करते फिरें और सारे समय यही सोचते रहें कि हमारी ये सारी कमज़ोरियाँ और सांसारिक आकांक्षाएँ भगवान् की इच्छा से हो रही हैं। हो सकता है कि हमारे स्वार्थपूर्ण प्रयत्नों से भी कुछ भला हो जाय; पर वह ईश्वर देखेगा, उसमें हमारा-तुम्हारा कोई हाथ नहीं। यथार्थ भक्त अपने लिए कभी कोई इच्छा या कार्य नहीं करता। उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश से तो बस यही प्रार्थना निकलती है, "प्रभो, लोग तुम्हारे नाम पर बड़े बड़े मन्दिर बनवाते हैं, बड़े बड़े दान देते हैं; पर मैं तो निर्धन हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है। अतः मैं अपने इस शरीर को ही तुम्हारे चरणों में अर्पित करता हूँ। मेरा परित्याग न करना, मेरे प्रभो!" जिसने एक बार इस अवस्था का आस्वादन कर लिया है, उसके लिए प्रेमास्पद भगवान् के चरणों में यह चिर आत्मसमर्पण कुबेर के धन और इन्द्र के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है, नाम-यश और सुख-सम्पदा की महान् आकांक्षा से भी महत्तर है। भक्त के शान्त आत्मसमर्पण से हृदय में जो शान्ति आती है, उसकी तुलना नहीं हो सकती, वह बुद्धि के लिए अगोचर है। इस अप्रातिकूल्य अवस्था की प्राप्ति होने पर उसका किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं रह जाता; और तब फिर स्वार्थ में बाधा देनेवाली कोई वस्तु भी संसार में नहीं रह जाती। इस परम शरणागति की अवस्था में सब प्रकार की आसक्ति समूल नष्ट हो जाती है और रह जाती है सर्वभूतों की अन्तरात्मा और आधारस्वरूप उस भगवान् के प्रति सर्वावगाहिनी प्रेमात्मिका भक्ति। भगवान् के प्रति प्रेम की यह आसक्ति ही सचमुच ऐसी है, जो जीवात्मा को नहीं बाँधती, प्रत्युत उसके समस्त बन्धन सार्थक रूप से छिन्न कर देती है।

सच्चे भक्त के लिए पराविद्या और पराभक्ति एक हैं

उपनिषदों में परा और अपरा विद्या में भेद बतलाया गया है। भक्त के लिए पराविद्या और पराभक्ति दोनों एक ही हैं। मुण्डक उपनिषद् में कहा है, 'ब्रह्मज्ञानी के मतानुसार परा और अपरा, ये दो प्रकार की विद्याएँ जानने योग्य हैं। अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा (उच्चारणादि की विद्या), कल्प (यज्ञपद्धति), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ बतानेवाला शास्त्र), छन्द और ज्योतिष आदि हैं; तथा पराविद्या द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है।'[1] इस प्रकार पराविद्या स्पष्टतः ब्रह्मविद्या है।

देवीभागवत में पराभक्ति की निम्नलिखित व्याख्या है—'एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल डालने पर जिस प्रकार एक अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित होता है, उसी प्रकार जब मन भगवान् के सतत चिन्तन में लग जाता है, तो पराभक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।'[2] भगवान् के प्रति अविच्छिन्न आसक्ति के साथ हृदय और मन का इस प्रकार अविरत और नित्य स्थिर भाव ही मनुष्य के हृदय में भगवत्प्रेम का सर्वोच्च प्रकाश है। अन्य सब प्रकार की भक्ति इस पराभक्ति अर्थात् रागानुगा भक्ति की प्राप्ति के लिए केवल सोपानस्वरूप है। जब इस प्रकार का अपार अनुराग मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो जाता है, तो उसका मन निरन्तर भगवान् के स्मरण में ही लगा रहता है, उसे और किसीका ध्यान ही नहीं आता। भगवान् के अतिरिक्त वह अपने मन में अन्य विचारों को स्थान तक नहीं देता और फलस्वरूप उसकी आत्मा पवित्रता के अभेद्य कवच से रक्षित हो जाती है तथा मानसिक एवं भौतिक समस्त बन्धनों को तोड़कर शान्त और मुक्त भाव धारण कर लेती है। ऐसा ही व्यक्ति अपने हृदय में भगवान् की उपासना कर सकता है। उसके

---

१. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते ।। मुण्डकोपनिषद् ।।१।१।४-५।।

२. चेतसो वर्तनञ्चैव तैलधारासमं सदा ।। देवीभागवत ।।७।३७।११।।

लिए अनुष्ठान-पद्धति, प्रतिमा, शास्त्र और मत-मतान्तर आदि अनावश्यक हो जाते हैं; उनके द्वारा उसे और कोई लाभ नहीं होता। भगवान् की इस प्रकार उपासना करना सहज नहीं है। साधारणतया मानवी प्रेम वहीं लहलहाते देखा जाता है, जहाँ उसे दूसरी ओर से बदले में प्रेम मिलता है, और जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ उदासीनता आकर अपना अधिकार जमा लेती है। ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, जहाँ बदले में प्रेम न मिलते हुए भी प्रेम का प्रकाश होता हो। उदाहरणार्थ, हम दीपक के प्रति पतिंगे के प्रेम को ले सकते हैं। पतिंगा दीपक से प्रेम करता है और उसमें गिरकर अपने प्राण दे देता है। असल में इस प्रकार प्रेम करना उसका स्वभाव ही है। केवल प्रेम के लिए प्रेम करना संसार में निस्सन्देह प्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है और यही पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम है। इस प्रकार का प्रेम जब आध्यात्मिकता के क्षेत्र में कार्य करने लगता है, तो वही हमें पराभक्ति की उपलब्धि कराता है।

प्रेम का त्रिकोण

प्रेम की उपमा एक त्रिकोण से दी जा सकती है, जिसका प्रत्येक कोण प्रेम के एक एक अविभाज्य गुण का सूचक है। जिस प्रकार बिना तीनों कोणों के त्रिकोण नहीं बन सकता, उसी प्रकार निम्नलिखित तीन गुणों के बिना यथार्थ प्रेम का होना असम्भव है। इस प्रेमरूपी त्रिकोण का पहला कोण तो यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का क्रय-विक्रय नहीं होता। जहाँ कहीं किसी बदले की आशा रहती है, वहाँ यथार्थ प्रेम कभी नहीं हो सकता; वह तो एक प्रकार की दूकानदारी सी हो जाती है। जब तक हमारे हृदय में इस प्रकार की थोड़ी सी भी भावना रहती है कि भगवान् की आराधना के बदले में हमें उससे कुछ मिले, तब तक हमारे हृदय में यथार्थ प्रेम का संचार नहीं हो सकता। जो लोग किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते हैं, उन्हें यदि वह चीज़ न मिले, तो निश्चय ही वे उसकी आराधना करना छोड़ देंगे। भक्त भगवान् से इसलिए प्रेम करता है कि वह प्रेमास्पद है; सच्चे भक्त के इस दैवी प्रेम का और कोई हेतु नहीं रहता।

एक बार एक राजा किसी वन में गया। वहाँ उसे एक साधु मिले। साधु से थोड़ी देर बातचीत करके राजा उनकी पवित्रता और ज्ञान पर बड़ा मुग्ध हो गया। राजा ने उनसे प्रार्थना की, "महाराज, यदि आप मुझसे कोई भेंट ग्रहण करने की कृपा करें, तो धन्य हो जाऊँ।" पर साधु ने इन्कार कर दिया और कहा, "इस जंगल के फल मेरे लिए पर्याप्त हैं, पहाड़ों से निकले हुए शुद्ध पानी के झरने पीने को पर्याप्त जल दे देते हैं, वृक्षों की छालें मेरे शरीर को ढकने के लिए काफ़ी हैं और पर्वतों की कन्दराएँ सुन्दर घर का काम देती हैं। मैं तुमसे अथवा अन्य किसीसे कोई भेंट क्यों लूँ?" राजा ने कहा, "महाराज, केवल मुझे कृतार्थ करने के लिए कृपया कुछ अवश्य स्वीकार कर लीजिए, और दया कर मेरे साथ चलकर मेरी राजधानी तथा महल को पवित्र कीजिए।" विशेष आग्रह के बाद साधु ने अन्त में राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसके साथ उसके महल को गये। साधु को भेंट देने के पहले राजा नियमानुसार अपनी दैनिक प्रार्थना करने लगा। उसने कहा, "हे ईश्वर, मुझे और अधिक सन्तान दो, मेरा धन और भी बढ़े, मेरा राज्य अधिकाधिक फैल जाय, मेरा शरीर स्वस्थ और नीरोग रहे," आदि आदि। राजा अपनी प्रार्थना समाप्त भी न कर पाया था कि साधु उठ खड़े हुए

और चुपके से कमरे के बाहर चल दिये। यह देखकर राजा बड़े असमंजस में पड़ गया और चिल्लाता हुआ साधु के पीछे भागा, "महाराज, आप कहाँ जा रहे हैं, आपने तो मुझसे कोई भी भेंट ग्रहण नहीं की।" यह सुनकर वे पीछे घूमकर राजा से बोले, "अरे भिखारी, मैं भिखारियों से भिक्षा नहीं माँगता। तू तो स्वयं एक भिखारी है, मुझे किस प्रकार भिक्षा दे सकता है! मैं इतना मूर्ख नहीं कि तुझ जैसे भिखारी से कुछ लूँ। जा, भाग जा, मेरे पीछे मत आ।"

इस कथा से ईश्वर के सच्चे प्रेमियों और साधारण भिखारियों में भेद बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट हुआ है। भिखारी की भाँति गिड़गिड़ाना प्रेम की भाषा नहीं है। यहाँ तक कि, मुक्ति के लिए भगवान् की उपासना करना भी अधम उपासना में गिना जाता है। प्रेम कोई पुरस्कार नहीं चाहता। प्रेम सर्वदा प्रेम के लिए ही होता है। भक्त इसलिए प्रेम करता है कि बिना प्रेम किये वह रह ही नहीं सकता। जब तुम किसी मनोहर प्राकृतिक दृश्य को देखकर उस पर मोहित हो जाते हो, तो उस दृश्य से तुम किसी फल की याचना नहीं करते और न वह दृश्य ही तुमसे कुछ माँगता है। फिर भी उस दृश्य का दर्शन तुम्हारे मन को बड़ा आनन्द देता है, वह तुम्हारे मन के घर्षणों को हल्का कर तुम्हें शान्त कर देता है और उस समय तक के लिए मानो तुम्हें अपनी नश्वर प्रकृति से ऊपर उठाकर एक स्वर्गीय आनन्द से भर देता है। सच्चे प्रेम का यह भाव उक्त त्रिकोणात्मक प्रेम का पहला कोण है। अपने प्रेम के बदले में कुछ मत माँगो। सदैव देते ही रहो। भगवान् को अपना प्रेम दो, परन्तु बदले में उससे कुछ भी माँगो मत।

प्रेम के इस त्रिकोण का दूसरा कोण है प्रेम का भय से नितान्त रहित होना। जो लोग भयवश भगवान् से प्रेम करते हैं, वे अधम मनुष्य हैं, उनमें अभी तक मनुष्यत्व का विकास नहीं हुआ। वे दण्ड के भय से ईश्वर की उपासना करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर एक महान् पुरुष है, जिसके एक हाथ में दण्ड है और दूसरे में चाबुक। उन्हें इस बात का डर रहता है कि यदि वे उसकी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे, तो उन्हें कोड़े लगाये जायेंगे। पर दण्ड के भय से ईश्वर की उपासना करना सबसे निम्न कोटि की उपासना है। एक तो, वह उपासना कहलाने योग्य है ही नहीं, फिर भी यदि उसे उपासना कहें, तो वह प्रेम की सबसे भद्दी उपासना है। जब तक हृदय में किसी प्रकार का भय है, तब तक प्रेम कैसे हो सकता है? प्रेम, स्वभावतः सब प्रकार के भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ, यदि एक युवती माँ सड़क पर जा रही हो और उस पर कुत्ता भौंक पड़े, तो वह डरकर समीपस्थ घर में घुस जायगी। परन्तु मान लो, दूसरे दिन वही स्त्री अपने बच्चे के साथ जा रही है और उसके बच्चे पर शेर झपट पड़ता है। तो बताओ, वह क्या

करेगी ? बच्चे की रक्षा के लिए वह स्वयं शेर के मुँह में चली जायगी। सचमुच, प्रेम समस्त भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। भय इस स्वार्थपर भावना से उत्पन्न होता है कि मैं दुनिया से अलग हूँ। और जितना ही मैं अपने को क्षुद्र और स्वार्थपर बनाऊँगा, मेरा भय उतना ही बढ़ेगा। यदि कोई मनुष्य अपने को एक छोटा सा तुच्छ जीव समझे, तो भय उसे अवश्य घेर लेगा। और तुम अपने को जितना ही कम तुच्छ समझोगे, तुम्हारे लिए भय भी उतना ही कम होगा। जब तक तुममें थोड़ा सा भी भय है, तब तक तुम्हारे मानस-सरोवर में प्रेम की तरंगे नहीं उठ सकतीं। प्रेम और भय, दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते। जो भगवान् से प्रेम करते हैं, उन्हें उससे डरना नहीं चाहिए। 'ईश्वर का नाम व्यर्थ में न लो', इस आदेश पर ईश्वर का सच्चा प्रेमी हँसता है। प्रेम के धर्म में ईश-निन्दा किस प्रकार सम्भव है ? ईश्वर का नाम तुम जितना ही लोगे, फिर वह किसी भी प्रकार से क्यों न हो, तुम्हारा उतना ही मंगल है। उससे प्रेम होने के कारण ही तुम उसका नाम लेते हो।

प्रेमरूपी त्रिकोण का तीसरा कोण है प्रेम में किसी प्रतिद्वन्द्वी का न होना, क्योंकि इस प्रेम में ही प्रेमी का सर्वोच्च आदर्श मूर्त रहता है। सच्चा प्रेम तब तक नहीं होता, जब तक हमारे प्रेम का पात्र हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं बन जाता। हो सकता है कि अनेक स्थलों में मनुष्य का प्रेम अनुचित दिशा में और अपात्र चला जाता हो; पर जो प्रेमी है, उसके लिए तो उसका प्रेमपात्र ही उच्चतम आदर्श है। हो सकता है, कोई व्यक्ति अपना आदर्श सबसे निकृष्ट मनुष्य में देखे और कोई दूसरा, किसी देव-मानव में; पर प्रत्येक दशा में वह आदर्श ही है, जिसे सच्चे और प्रगाढ़ रूप से प्रेम किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही ईश्वर कहते हैं। ज्ञानी हो या अज्ञानी, साधु हो या पापी, पुरुष हो अथवा स्त्री, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, प्रत्येक दशा में मनुष्य मात्र का परमोच्च आदर्श ही ईश्वर है। सौन्दर्य, उदात्तता और शक्ति के उच्चतम आदर्शों के योग में ही हमें प्रेममय एवं प्रेमास्पद ईश्वर का पूर्णतम भाव मिलता है।

स्वभावतः ही ये आदर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति के मन में वर्तमान रहते हैं। वे मानो हमारे मन के अंग या अंशविशेष हैं। उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में परिणत करने के जो सब प्रयत्न हैं, वे ही मानवीय प्रकृति की नानाविध क्रियाओं के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्न जीवात्माओं में जो विविध आदर्श निहित हैं, वे बाहर आकर मूर्त रूप धारण करने की सतत चेष्टा कर रहे हैं, और इसके फलस्वरूप हम अपने चारों ओर समाज में नाना प्रकार की गतियाँ और हलचल देखते हैं। जो कुछ भीतर है, वही बाहर आने का प्रयत्न करता है।

आदर्श का यह नित्य प्रवल प्रभाव ही एक ऐसी कार्यकारी शक्ति है, जो मानव जीवन में सतत क्रियाशील है। हो सकता है, सैकड़ों जन्म के वाद, हज़ारों वर्ष संघर्ष करने के पश्चात्, मनुष्य समझे कि अपना अभ्यन्तरस्थ आदर्श बाहरी वातावरण और अवस्थाओं के साथ पूरी तरह मेल नहीं खा सकता। और जब वह यह समझ जाता है, तव बाहरी जगत् को अपने आदर्श के अनुसार गढ़ने की फिर अधिक चेष्टा नहीं करता। तव वह इस प्रकार के सारे प्रयत्न छोड़कर प्रेम की उच्चतम भूमि से, स्वयं आदर्श की आदर्श-रूप से उपासना करने लगता है। यह पूर्ण आदर्श अपने में अन्य सब छोटे छोटे आदर्शों को समा लेता है। सभी लोग इस बात की सत्यता स्वीकार करते हैं कि प्रेमी इथियोमिया की भौंहों में भी हेलेन का सौन्दर्य देखता है। तटस्थ लोग कह सकते हैं कि यहाँ प्रेम स्थान-भ्रष्ट हो गया है; पर जो प्रेमी है, वह अपनी हेलेन को ही सर्वदा देखता है, इथियोपिया को बिल्कुल नहीं देखता। हेलेन हो या इथियोपिया, वास्तव में हमारे प्रेम के आधार तो मानो कुछ केन्द्र हैं, जिनके चारों ओर हमारे आदर्श मूर्त होते हैं। संसार साधारणतः किसकी उपासना करता है?—अवश्य उच्चतम भक्त और प्रेमी के सर्वावगाही पूर्ण आदर्श की नहीं। स्त्री-पुरुष साधारणतः उसी आदर्श की उपासना करते हैं, जो उनके अपने हृदय में हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना आदर्श वाहर प्रक्षिप्त करके उसके सम्मुख भूमिष्ठ हो प्रणाम करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो लोग निर्दयी और खूनी होते हैं, वे एक रक्तपिपासु ईश्वर की ही कल्पना करते तथा उसे भजते हैं; क्योंकि वे अपने सर्वोच्च आदर्श की ही उपासना कर सकते हैं। और इसीलिए साधुजनों का ईश्वर सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा होता है, और वास्तव में वह अन्य लोगों के आदर्श से बहुत भिन्न है।

करेगी ? बच्चे की रक्षा के लिए वह स्वयं शेर के मुँह में चली जायगी। सचमुच, प्रेम समस्त भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। भय इस स्वार्थपर भावना से उत्पन्न होता है कि मैं दुनिया से अलग हूँ। और जितना ही मैं अपने को क्षुद्र और स्वार्थपर बनाऊँगा, मेरा भय उतना ही बढ़ेगा। यदि कोई मनुष्य अपने को एक छोटा सा तुच्छ जीव समझे, तो भय उसे अवश्य घेर लेगा। और तुम अपने को जितना ही कम तुच्छ समझोगे, तुम्हारे लिए भय भी उतना ही कम होगा। जब तक तुममें थोड़ा सा भी भय है, तब तक तुम्हारे मानस-सरोवर में प्रेम की तरंगे नहीं उठ सकतीं। प्रेम और भय, दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते। जो भगवान् से प्रेम करते हैं, उन्हें उससे डरना नहीं चाहिए। 'ईश्वर का नाम व्यर्थ में न लो', इस आदेश पर ईश्वर का सच्चा प्रेमी हँसता है। प्रेम के धर्म में ईश-निन्दा किस प्रकार सम्भव है ? ईश्वर का नाम तुम जितना ही लोगे, फिर वह किसी भी प्रकार से क्यों न हो, तुम्हारा उतना ही मंगल है। उससे प्रेम होने के कारण ही तुम उसका नाम लेते हो।

प्रेमरूपी त्रिकोण का तीसरा कोण है प्रेम में किसी प्रतिद्वन्द्वी का न होना, क्योंकि इस प्रेम में ही प्रेमी का सर्वोच्च आदर्श मूर्त रहता है। सच्चा प्रेम तब तक नहीं होता, जब तक हमारे प्रेम का पात्र हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं बन जाता। हो सकता है कि अनेक स्थलों में मनुष्य का प्रेम अनुचित दिशा में और अपात्र चला जाता हो; पर जो प्रेमी है, उसके लिए तो उसका प्रेमपात्र ही उच्चतम आदर्श है। हो सकता है, कोई व्यक्ति अपना आदर्श सबसे निकृष्ट मनुष्य में देखे और कोई दूसरा, किसी देव-मानव में; पर प्रत्येक दशा में वह आदर्श ही है, जिसे सच्चे और प्रगाढ़ रूप से प्रेम किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही ईश्वर कहते हैं। ज्ञानी हो या अज्ञानी, साधु हो या पापी, पुरुष हो अथवा स्त्री, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, प्रत्येक दशा में मनुष्य मात्र का परमोच्च आदर्श ही ईश्वर है। सौन्दर्य, उदात्तता और शक्ति के उच्चतम आदर्शों के योग में ही हमें प्रेममय एवं प्रेमास्पद ईश्वर का पूर्णतम भाव मिलता है।

स्वभावतः ही ये आदर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति के मन में वर्तमान रहते हैं। वे मानो हमारे मन के अंग या अंशविशेष हैं। उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में परिणत करने के जो सब प्रयत्न हैं, वे ही मानवीय प्रकृति की नानाविध क्रियाओं के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्न जीवात्माओं में जो विविध आदर्श निहित हैं, वे बाहर आकर मूर्त रूप धारण करने की सतत चेष्टा कर रहे हैं, और इसके फलस्वरूप हम अपने चारों ओर समाज में नाना प्रकार की गतियाँ और हलचल देखते हैं। जो कुछ भीतर है, वही बाहर आने का प्रयत्न करता है।

आदर्श का यह नित्य प्रबल प्रभाव ही एक ऐसी कार्यकारी शक्ति है, जो मानव जीवन में सतत क्रियाशील है। हो सकता है, सैकड़ों जन्म के बाद, हज़ारों वर्ष संघर्ष करने के पश्चात्, मनुष्य समझे कि अपना अभ्यन्तरस्थ आदर्श बाहरी वातावरण और अवस्थाओं के साथ पूरी तरह मेल नहीं खा सकता। और जब वह यह समझ जाता है, तब बाहरी जगत् को अपने आदर्श के अनुसार गढ़ने की फिर अधिक चेष्टा नहीं करता। तब वह इस प्रकार के सारे प्रयत्न छोड़कर प्रेम की उच्चतम भूमि से, स्वयं आदर्श की आदर्श-रूप से उपासना करने लगता है। यह पूर्ण आदर्श अपने में अन्य सब छोटे छोटे आदर्शों को समा लेता है। सभी लोग इस बात की सत्यता स्वीकार करते हैं कि प्रेमी इथियोपिया की भौंहों में भी हेलेन का सौन्दर्य देखता है। तटस्थ लोग कह सकते हैं कि यहाँ प्रेम स्थान-भ्रष्ट हो गया है; पर जो प्रेमी है, वह अपनी हेलेन को ही सर्वदा देखता है, इथियोपिया को बिल्कुल नहीं देखता। हेलेन हो या इथियोपिया, वास्तव में हमारे प्रेम के आधार तो मानो कुछ केन्द्र हैं, जिनके चारों ओर हमारे आदर्श मूर्त होते हैं। संसार साधारणतः किसकी उपासना करता है?—अवश्य उच्चतम भक्त और प्रेमी के सर्वावगाही पूर्ण आदर्श की नहीं। स्त्री-पुरुष साधारणतः उसी आदर्श की उपासना करते हैं, जो उनके अपने हृदय में हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना आदर्श बाहर प्रक्षिप्त करके उसके सम्मुख भूमिष्ठ हो प्रणाम करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो लोग निर्दयी और खूनी होते हैं, वे एक रक्तपिपासु ईश्वर की ही कल्पना करते तथा उसे भजते हैं; क्योंकि वे अपने सर्वोच्च आदर्श की ही उपासना कर सकते हैं। और इसीलिए साधुजनों का ईश्वर सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा होता है, और वास्तव में वह अन्य लोगों के आदर्श से बहुत भिन्न है।

प्रेममय ईश्वर स्वयं ही अपना प्रमाण है

जो प्रेमी स्वार्थपरता और भय के परे हो गया है, जो फलाकांक्षाशून्य हो गया है, उसका आदर्श क्या है ? वह परमेश्वर से भी यही कहेगा, "मैं तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पित करता हूँ, मैं तुमसे कोई चीज़ नहीं चाहता। वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे मैं अपना कह सकूँ।" जब मनुष्य इस प्रकार की अवस्था प्राप्त कर लेता है, तब उसका आदर्श पूर्ण प्रेम के, प्रेमजनित पूर्ण निर्भीकता के आदर्श में परिणत हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति के सर्वोच्च आदर्श में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं रह जाती—वह किसी विशेष भाव द्वारा सीमित नहीं रहता। वह आदर्श तो सार्वभौमिक प्रेम, अनन्त और असीम प्रेम, पूर्ण स्वतन्त्र प्रेम का आदर्श होता है; यही क्यों, वह साक्षात् प्रेमस्वरूप होता है। तब प्रेम-धर्म के इस महान् आदर्श की उपासना किसी प्रतीक या प्रतिमा के सहारे नहीं करनी पड़ती, वरन् तब तो वह आदर्श के रूप में ही उपासित होता है। इस प्रकार के एक सार्वभौमिक आदर्श की आदर्शरूप से उपासना सबसे उत्कृष्ट प्रकार की पराभक्ति है। भक्ति के अन्य सब प्रकार तो इस पराभक्ति की प्राप्ति में केवल सोपानस्वरूप हैं।

इस प्रेम-धर्म के पथ में चलते चलते हमें जो सफलताएँ और असफलताएँ मिलती हैं, वे सबकी सब उस आदर्श की प्राप्ति के मार्ग पर ही घटती हैं—अर्थात् प्रकारान्तर से वे उसमें सहायता ही पहुँचाती हैं। साधक एक के बाद दूसरी वस्तु लेता जाता है और उस पर अपना आभ्यन्तरिक आदर्श प्रक्षिप्त करता जाता है। क्रमशः ये सारी बाह्य वस्तुएँ इस सतत विस्तारशील आभ्यन्तरिक आदर्श को प्रकाशित करने के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती हैं और इसलिए स्वभावतः एक एक करके उनका परित्याग कर दिया जाता है। अन्त में साधक समझ जाता है कि बाह्य वस्तुओं में आदर्श की उपलब्धि करने का प्रयत्न व्यर्थ है और ये सब बाह्य वस्तुएँ तो आदर्श की तुलना में बिलकुल तुच्छ हैं। कालान्तर में वह उस सर्वोच्च और सम्पूर्ण निर्विशेष-भावापन्न सूक्ष्म आदर्श को अन्तर में ही जीवन्त और सत्य रूप से अनुभव करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जब भक्त इस अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसमें ये सब तर्क-वितर्क नहीं उठते कि भगवान् को सिद्ध किया जा सकता है अथवा नहीं, भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है या नहीं। उसके लिए तो भगवान् प्रेममय है—प्रेम का सर्वोच्च आदर्श है, और बस, यह जानना ही उसके लिए यथेष्ट

है। भगवान् प्रेमरूप होने के कारण स्वतःसिद्ध है, वह अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। प्रेमी के पास प्रेमास्पद का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए किसी बात की आवश्यकता नहीं। अन्यान्य धर्मों के न्यायकर्ता भगवान् का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाणों की आवश्यकता हो सकती है, पर भक्त तो ऐसे भगवान् की बात मन में भी नहीं ला सकता। उसके लिए तो भगवान् केवल प्रेम-स्वरूप है। 'हे प्रिये, कोई भी स्त्री पति से, पति के लिए प्रेम नहीं करती, वरन् पति में स्थित आत्मा के लिए ही वह पति से प्रेम करती है। हे प्रिये, कोई भी पुरुष पत्नी से, पत्नी के लिए प्रेम नहीं करता, वरन् पत्नी में स्थित आत्मा के लिए ही प्रेम करता है।'

कोई कोई कहते हैं कि स्वार्थपरता ही समस्त मानवीय कार्यों की एकमात्र प्रेरक शक्ति है। किन्तु वह भी तो प्रेम है; पर हाँ, वह प्रेम विशिष्ट होने के कारण निम्न भावापन्न हो गया है—बस, इतना ही। जब मैं अपने को संसार की सारी वस्तुओं में अवस्थित सोचता हूँ, तब निश्चय ही मुझमें किसी प्रकार की स्वार्थपरता नहीं रह सकती। किन्तु जब मैं भ्रम में पड़कर अपने आपको एक छोटा सा प्राणी सोचने लगता हूँ, तब मेरा प्रेम संकीर्ण हो जाता है—एक विशिष्ट भाव से सीमित हो जाता है। प्रेम के क्षेत्र को संकीर्ण और मर्यादित कर लेना ही हमारा भ्रम है। इस विश्व की सारी वस्तुएँ भगवान् से निकली हैं, अतएव वे सभी हमारे प्रेम के योग्य हैं। पर हम यह सर्वदा स्मरण रखें कि समष्टि को प्यार करने से ही अंशों को भी प्यार करना हो जाता है। यह समष्टि ही भक्त का भगवान् है। अन्यान्य प्रकार के ईश्वर—जैसे, स्वर्ग में रहनेवाले पिता, शास्ता, स्रष्टा—तथा नानाविध मतवाद और शास्त्र-ग्रन्थ भक्त के लिए कुछ अर्थ नहीं रखते—उसके लिए इन सबका कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि वह तो पराभक्ति के प्रभाव से पूर्णतया इन सबके ऊपर उठ गया है। जब हृदय शुद्ध और पवित्र हो जाता है, तथा दैवी प्रेमामृत से आप्लावित हो जाता है, तब ईश्वर सम्बन्धी अन्य सब धारणाएँ बच्चों की बात सी प्रतीत होने लगती हैं और वे अपूर्ण एवं अनुपयुक्त समझकर त्याग दी जाती हैं। सचमुच, पराभक्ति का प्रभाव ही ऐसा है! तब वह पूर्णताप्राप्त भक्त अपने भगवान् को मन्दिरों और गिरजों में खोजने नहीं जाता; उसके लिए तो ऐसा कोई स्थान ही नहीं, जहाँ वह न हो। वह उसे मन्दिर के भीतर और बाहर सर्वत्र देखता है। साधु की साधुता में और दुष्ट की दुष्टता में भी वह उसके दर्शन करता है; क्योंकि उसने तो उस महिमामय प्रभु को पहले से ही अपने हृदय-सिंहासन पर बिठा लिया है और वह जानता है कि वह एक सर्वशक्तिमान एवं अनिर्वाण प्रेमज्योति के रूप में उसके हृदय में नित्य दीप्तिमान है और सदा से वर्तमान है।

प्रेम के दिव्य आदर्श की मानवीय अभिव्यक्ति

प्रेम के इस परमोच्च और पूर्ण आदर्श को मानवीय भाषा में प्रकट करना असम्भव है। यहाँ तक कि उच्चतम मानवीय कल्पना भी उसकी अनन्त पूर्णता तथा सौन्दर्य का अनुभव करने में असमर्थ है। परन्तु फिर भी सभी कालों, सभी देशों में, प्रेमधर्म के उच्च और निम्न, उभय श्रेणी के उपासकों को अपने अपने प्रेमादर्श का अनुभव और वर्णन करने के लिए इस अपूर्ण मानवीय भाषा का ही प्रयोग करना पड़ा है। इतना ही नहीं, बल्कि भिन्न भिन्न प्रकार के मानवीय प्रेम इस अनिर्वचनीय दिव्य प्रेम के प्रतीकस्वरूप गृहीत हुए हैं। मनुष्य दिव्य विषयों के सम्बन्ध में अपने मानवीय ढंग से ही सोच सकता है; वह पूर्ण निरपेक्ष ब्रह्म हमारे समक्ष हमारी सापेक्ष भाषा में ही प्रकाशित हो सकता है। यह सारा विश्व हमारे लिए ससीम की भाषा में लिखा हुआ असीम मात्र है। इसीलिए भक्तगण भगवान् और उसकी प्रेमोपासना के सम्बन्ध में उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो साधारण मानवीय प्रेम के लिए उपयोग में लाये जाते हैं।

पराभक्ति के कई व्याख्याताओं ने इस दैवी प्रेम को अनेक प्रकार से समझने और उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने की चेष्टा की है। इस प्रेम के निम्नतम रूप को 'शान्त' भक्ति कहते हैं। जब भगवान् की उपासना के समय मनुष्य के हृदय में प्रेमाग्नि प्रज्वलित नहीं रहती, जब वह प्रेम से उन्मत्त होकर अपनी सुध-बुध नहीं खो बैठता, जब उसका प्रेम बाह्य क्रिया-कलापों और अनुष्ठानों से कुछ थोड़ा सा उन्नत एक साधारण सा प्रेम रहता है, जब उसकी उपासना में प्रबल प्रेम की उन्मत्तता नहीं रहती, तब वह उपासना शान्त भक्ति या शान्त प्रेम कहलाती है। हम देखते हैं कि संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो साधन-पथ पर धीरे धीरे अग्रसर होना पसन्द करते हैं; और कुछ आँधी के समान जोर से चलना। शान्त भक्त धीर, शान्त और नम्र होता है।

इससे कुछ ऊँची अवस्था है—'दास्य'। इस अवस्था में मनुष्य अपने को ईश्वर का दास समझता है। विश्वासी सेवक की अपने स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति ही उसका आदर्श है।

इसके बाद है 'सख्य' प्रेम। इस सख्य प्रेम का साधक भगवान् से कहता है, 'तुम मेरे प्रिय सखा हो।'[१] जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र के सम्मुख अपना हृदय खोल देता है और यह जानता है कि उसका मित्र उसके अवगुणों पर कभी ध्यान न देगा, वरन् उसकी सदा सहायता ही करेगा—उन दोनों में जिस प्रकार समानता का एक भाव रहता है, उसी प्रकार सख्य प्रेम के साधक और उसके सखा भगवान् के बीच भी मानो एक प्रकार की समानता का भाव रहता है। इस तरह भगवान् हमारा अन्तरंग मित्र हो जाता है, जिसको हम अपने जीवन की सारी बातें दिल खोलकर बता सकते हैं, जिसके समक्ष हम अपने हृदय के गुप्त से गुप्त भावों को भी बिना किसी हिचकिचाहट के प्रकट कर सकते हैं। उस पर हम पूरा भरोसा —पूरा विश्वास रख सकते हैं कि वह वही करेगा, जिससे हमारा मंगल होगा; और ऐसा सोचकर हम पूर्ण रूप से निश्चिन्त रह सकते हैं। इस अवस्था में भक्त भगवान् को अपनी बराबरी का समझता है—भगवान् मानो हमारा संगी हो, सखा हो। हम सभी इस संसार में मानो खेल रहे हैं। जिस प्रकार बच्चे अपना खेल खेलते हैं, जिस प्रकार बड़े बड़े राजा-महाराजा और सम्राट् अपना अपना खेल खेलते हैं, उसी प्रकार वह प्रेमस्वरूप भगवान् भी इस दुनिया के साथ खेल खेल रहा है। वह पूर्ण है—उसे किसी चीज़ का अभाव नहीं। उसे सृष्टि करने की क्या आवश्यकता है? जब हमें किसी चीज की आवश्यकता होती है, तभी हम उसकी पूर्ति के लिए क्रियाशील होते हैं, और अभाव का तात्पर्य ही है अपूर्णता। भगवान् पूर्ण है—उसे किसी बात का अभाव नहीं। तो फिर वह इस नित्य कर्ममय सृष्टि में क्यों लगा है? उसका उद्देश्य क्या है? भगवान् के सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में जो सब भिन्न भिन्न कल्पनाएँ हैं, वे किंवदन्तियों के रूप में ही भली हो सकती हैं, अन्य किसी प्रकार नहीं। सचमुच, यह समस्त उसकी लीला है। यह सारा विश्व उसका ही खेल है—वह तो उसके लिए एक तमाशा है। यदि तुम निर्धन हो, तो उस निर्धनता को ही एक बड़ा तमाशा समझो; यदि धनी हो, तो उस धनीपन को ही एक तमाशे के रूप में देखो। यदि दुःख आये, तो वही एक सुन्दर तमाशा है, और यदि सुख प्राप्त हो, तो सोचो, यह भी एक सुन्दर तमाशा है। यह दुनिया बस, एक खेल का मैदान है, और हम सब यहाँ पर नाना प्रकार के खेल-खिलवाड़ कर रहे हैं—मौज कर रहे हैं। भगवान् सारे समय हमारे साथ खेल रहा है और हम भी उसके साथ खेलते रहते हैं। भगवान् तो हमारा चिरकाल का संगी है—हमारे खेल का साथी है। कैसा सुन्दर खेल रहा है वह! खेल खत्म हुआ कि कल्प का अन्त हो गया!

---

१. त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।। पाण्डव गीता ।।२८।।

फिर अल्प या अधिक समय तक विश्राम—उसके बाद फिर से खेल का आरम्भ—पुनः जगत् की सृष्टि ! जब तुम भूल जाते हो कि यह सब एक खेल है और तुम इस खेल में सहायता कर रहे हो, तभी दुःख और कष्ट तुम्हारे पास आते हैं; तब हृदय भारी हो जाता है और संसार अपने प्रचण्ड बोझ से तुम्हें दबा देता है। पर ज्यों ही तुम इस दो पल के जीवन की परिवर्तनशील घटनाओं को सत्य समझना छोड़ देते हो और इस संसार को एक क्रीड़ाभूमि तथा अपने आपको भगवान् की क्रीड़ा में एक सखा-संगी सोचने लगते हो, त्यों ही दुःख-कष्ट चला जाता है। वह तो प्रत्येक अणु-परमाणु में खेल रहा है। वह तो खेलते खेलते ही पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि का निर्माण कर रहा है। वह तो मानव-हृदय, प्राणियों और पेड़-पौधों के साथ क्रीड़ा कर रहा है। हम मानो उसके शतरंज के मोहरे हैं। वह मोहरों को शतरंज के खानों में बिठाकर इधर-उधर चला रहा है। वह हमें कभी एक प्रकार से सजाता है और कभी दूसरे प्रकार से—हम भी जाने या अनजाने उसके खेल में सहायता कर रहे हैं। अहा, कैसा परमानन्द है ! हम सब उसके खेल के साथी जो हैं !

इसके बाद है 'वात्सल्य' प्रेम। उसमें भगवान् का चिन्तन पिता-रूप से न करके, सन्तान-रूप से करना पड़ता है। हो सकता है, यह कुछ अजीब सा मालूम हो, पर उसका उद्देश्य है—अपनी भगवान् सम्बन्धी धारणा से ऐश्वर्य के समस्त भाव दूर कर देना। ऐश्वर्य की भावना के साथ ही भय आता है। पर प्रेम में भय का कोई स्थान नहीं। यह सत्य है कि चरित्र-गठन के लिए भक्ति और आज्ञा-पालन आवश्यक हैं, पर जब एक बार चरित्र गठित हो जाता है—जब प्रेमी शान्त प्रेम का आस्वादन कर लेता है और जब प्रेम की प्रबल उन्मत्तता का भी उसे थोड़ा सा अनुभव हो जाता है, तब उसके लिए नीतिशास्त्र और साधन-नियम आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रेमी कहता है कि भगवान् को महामहिम, ऐश्वर्यशाली, जगन्नाथ या देवदेव के रूप में सोचने की मेरी इच्छा ही नहीं होती। भगवान् के साथ सम्बन्धित यह जो भयोत्पादक ऐश्वर्य की भावना है, उसीको दूर करने के लिए वह भगवान् को अपनी सन्तान के रूप में प्यार करता है। माता-पिता अपने बच्चे से भयभीत नहीं होते, उसके प्रति उनकी श्रद्धा नहीं होती। वे उस बच्चे से कुछ याचना नहीं करते। बच्चा तो सदा पानेवाला ही होता है और उसके लिए वे लोग सौ बार भी मरने को तैयार रहते हैं। अपने एक बच्चे के लिए वे लोग हज़ार जीवन भी न्योछावर करने को प्रस्तुत रहते हैं। बस, इसी प्रकार भगवान् से वात्सल्य-भाव से प्रेम किया जाता है। जो सम्प्रदाय भगवान् के अवतार में विश्वास करते हैं, उन्हींमें यह वात्सल्य-भाव की उपासना स्वाभाविक

रूप से आती और पनपती है। मुसलमानों के लिए भगवान् को एक सन्तान के रूप में मानना असम्भव है; वे तो डरकर इस भाव से दूर ही रहेंगे। पर ईसाई और हिन्दू इसे सहज ही समझ सकते हैं, क्योंकि उनके तो बाल ईसा और बाल कृष्ण हैं। भारतीय रमणियाँ बहुधा अपने आपको श्री कृष्ण की माता के रूप में सोचती हैं। ईसाई माताएँ भी अपने आपको ईसा की माता के रूप में सोच सकती हैं। इससे पाश्चात्य देशों में ईश्वर के मातृभाव का प्रचार होगा; और इसीकी आज उन्हें विशेष आवश्यकता है। भगवान् के प्रति भय और भक्ति के कुसंस्कार हमारे हृदय में बहुत गहरे जमे हुए हैं और भगवत्सम्बन्धी इन भय और भक्ति तथा महिमा-ऐश्वर्य के भावों को प्रेम में बिल्कुल निमग्न कर देने में बहुत समय लगता है।

प्रेम का यह दिव्य रूप एक और मानवीय भाव में प्रकाशित होता है। उसे 'मधुर' कहते हैं और वही सब प्रकार के प्रेमों में श्रेष्ठ है। इस संसार में प्रेम की जो उच्चतम अभिव्यक्ति है, वही उसकी नींव है और मानवीय प्रेमों में वही सबसे प्रबल है। पुरुष और स्त्री के बीच जो प्रेम रहता है, उसके समान और कौन सा प्रेम है, जो मनुष्य की सारी प्रकृति को बिल्कुल उलट-पलट दे, जो उसके प्रत्येक परमाणु में संचरित होकर उसको पागल बना दे, उसकी अपनी प्रकृति को ही भुला दे, और चाहे तो देवता बना दे, चाहे दैत्य? दैवी प्रेम के इस मधुर भाव में भगवान् का चिन्तन पतिरूप में किया जाता है—ऐसा विचार कि हम सभी स्त्रियाँ हैं, इस संसार में और कोई पुरुष नहीं, एक ही पुरुष है और वह है हमारा प्रेमास्पद भगवान्। जो प्रेम पुरुष स्त्री के प्रति और स्त्री पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है, वही प्रेम भगवान् को देना होगा।

हम इस संसार में जितने प्रकार के प्रेम देखते हैं, जिनके साथ हम अल्प या अधिक परिमाण में क्रीड़ा मात्र कर रहे हैं, उन सबका एक ही लक्ष्य है और वह है भगवान्। पर दुःख की बात है कि मनुष्य उस अनन्त समुद्र को नहीं जानता, जिसकी ओर प्रेम की यह महान् सरिता सतत प्रवाहित हो रही है; और इसलिए अज्ञानवश वह इस प्रेम-सरिता को बहुधा छोटे छोटे मानवी पुतलों की ओर बहाने का प्रयत्न करता रहता है। मानवी प्रकृति में सन्तान के प्रति जो प्रबल स्नेह देखा जाता है, वह सन्तान-रूपी एक छोटे से पुतले के लिए ही नहीं है। यदि तुम आँखें बन्द कर उसे केवल सन्तान पर ही न्योछावर कर दो, तो तुम्हें उसके फलस्वरूप दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा। पर इस प्रकार के दुःख से ही तुममें यह चेतना जाग्रत होगी कि यदि तुम अपना प्रेम किसी मनुष्य को अर्पित करो, तो उसके फलस्वरूप कभी न कभी दुःख-

कष्ट अवश्य प्राप्त होगा। अतएव हमें अपना प्रेम उसी पुरुषोत्तम को देना होगा, जिसका विनाश नहीं, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं और जिसके प्रेम-समुद्र में कभी ज्वार-भाटा नहीं। प्रेम को अपने प्रकृत लक्ष्य पर पहुँचना चाहिए—उसे तो उसके निकट जाना चाहिए, जो वास्तव में प्रेम का अनन्त सागर है। सभी नदियाँ समुद्र में ही जाकर गिरती हैं। यहाँ तक कि पर्वत से गिरनेवाली पानी की एक बूंद भी, वह फिर कितनी भी बड़ी क्यों न हो, किसी झरने या नदी में पहुँचकर बस वहीं नहीं रुक जाती, वरन् वह भी अनन्त में किसी न किसी प्रकार समुद्र में ही पहुँच जाती है। भगवान् हमारे सब प्रकार के भावों का एकमात्र लक्ष्य है। यदि तुम्हें क्रोध करना है, तो भगवान् पर क्रोध करो। उलाहना देना है, तो अपने प्रेमास्पद को उलाहना दो—अपने सखा को उलाहना दो। भला अन्य किसे तुम बिना डर के उलाहना दे सकते हो? मर्त्य जीव तुम्हारे क्रोध को न सह सकेगा। वहाँ तो प्रतिक्रिया होगी। यदि तुम मुझ पर क्रोध करो, तो निश्चित है, मैं तुरन्त प्रतिक्रिया करूँगा, क्योंकि मैं तुम्हारे क्रोध को सह नहीं सकता। अपने प्रेमास्पद से कहो, "प्रियतम, तुम मेरे पास क्यों नहीं आते? तुमने क्यों मुझे इस प्रकार अकेला छोड़ रखा है?" उसको छोड़ भला और किसमें आनन्द है? मिट्टी के छोटे छोटे लोंदों में भला कौन सा आनन्द हो सकता है? हमें तो अनन्त आनन्द के घनीभूत सार को ही खोजना है—और भगवान् ही आनन्द का वह घनीभूत सार है। आओ, हम अपने समस्त भावों और समस्त प्रवृत्तियों को उसकी ओर मोड़ दें। वे सब उसीके लिए हैं। वे यदि अपना लक्ष्य चूक जायँ, तो वे फिर कुत्सित रूप धारण कर लेंगे। पर यदि वे अपने ठीक लक्ष्य-स्थल ईश्वर में जाकर पहुँचे, तो उनमें से अत्यन्त नीच वृत्ति भी पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जायगी। भगवान् ही मनुष्य के मन और शरीर की समस्त शक्तियों का एकमात्र लक्ष्य है—एकायन है,—फिर वे शक्तियाँ किसी भी रूप से क्यों न प्रकट हों। मानव-हृदय का समस्त प्रेम—सारे भाव भगवान् की ही ओर जायँ। वही हमारा एकमात्र प्रेमास्पद है। यह मानव-हृदय भला किसे प्यार करेगा? वह परम सुन्दर है, परम महान् है—अहा! वह साक्षात् सौन्दर्यस्वरूप है, दिव्यता-स्वरूप है। इस संसार में भला और कौन है, जो उससे अधिक सुन्दर हो? उसे छोड़ इस दुनिया में भला और कौन पति होने के उपयुक्त है? उसके सिवा इस जगत् में भला और कौन हमारा प्रेम-पात्र हो सकता है? अतः वही हमारा पति हो, वही हमारा प्रेमास्पद हो।

बहुधा ऐसा होता है कि भगवत्प्रेम में छके भक्तगण जब इस भगवत्प्रेम का वर्णन करने जाते हैं, तो इसके लिए वे सब प्रकार के मानवी प्रेम की भाषा को

उपयोगी मानकर ग्रहण करते हैं। पर मूर्ख लोग इसे नहीं समझते—और वे कभी समझेंगे भी नहीं। वे उसे केवल भौतिक दृष्टि से देखते हैं। वे इस आध्यात्मिक प्रेमोन्मत्तता को नहीं समझ पाते। और वे समझ भी कैसे सकें? 'हे प्रियतम, तुम्हारे अधरों के केवल एक चुम्बन के लिए! जिसका तुमने एक बार चुम्बन किया है, तुम्हारे लिए उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। उसके समस्त दुःख चले जाते हैं। वह तुम्हें छोड़ और सब कुछ भूल जाता है।'[1] प्रियतम के उस चुम्बन के लिए—उनके अधरों के उस स्पर्श के लिए व्याकुल होओ, जो भक्त को पागल कर देता है, जो मनुष्य को देवता बना देता है। भगवान् जिसको एक बार अपना अधरामृत देकर कृतार्थ कर देते हैं, उसकी सारी प्रकृति बिल्कुल बदल जाती है। उसके लिए यह जगत् उड़ जाता है, सूर्य और चन्द्र का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता और यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड एक बिन्दु के समान प्रेम के उस अनन्त सिन्धु में न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। प्रेमोन्माद की यही चरम अवस्था है।

पर सच्चा भगवत्प्रेमी यहाँ पर भी नहीं रुकता; उसके लिए तो पति और पत्नी की प्रेमोन्मत्तता भी यथेष्ट नहीं। अतएव ऐसे भक्त अवैध (परकीय) प्रेम का भाव ग्रहण करते हैं, क्योंकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। पर देखो, उसकी अवैधता उनका लक्ष्य नहीं है। इस प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे जितनी बाधा मिलती है, वह उतना ही उग्र रूप धारण करता है। पति-पत्नी का प्रेम अबाध रहता है—उसमें किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं आती। इसीलिए भक्त कल्पना करता है, मानो कोई स्त्री परपुरुष में आसक्त है और उसके माता, पिता या स्वामी उसके इस प्रेम का विरोध करते हैं। इस प्रेम के मार्ग में जितनी ही बाधाएँ आती हैं, वह उतना ही प्रबल रूप धारण करता जाता है। श्री कृष्ण वृन्दावन के कुंजों में किस प्रकार लीला करते थे, किस प्रकार सब लोग उन्मत्त होकर उनसे प्रेम करते थे, किस प्रकार उनकी बाँसुरी की मधुर तान सुनते ही चिरधन्य गोपियाँ सब कुछ भूलकर, इस संसार और इसके समस्त बन्धनों को भूलकर, यहाँ के सारे कर्तव्य तथा सुख-दुःख को बिसराकर, उन्मत्त सी उनसे मिलने के लिए छूट पड़ती थीं—यह सब मानवी भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। मानव, हे मानव, तुम दैवी प्रेम की बातें तो करते हो, पर

---

१. सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
—श्रीमद्भागवत ॥१०।३१॥

साथ ही इस संसार की असार वस्तुओं में भी मन दिये रहते हो—क्या तुम सच्चे हो? 'जहाँ राम हैं, वहाँ काम नहीं, और जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं। वे दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते—प्रकाश और अन्धकार क्या कभी एक साथ रहे हैं?'[1]

---

१. जहाँ राम तहँ काम नाँहि, जहाँ काम नाँहि राम।
तुलसी कबहूँ होत नाँहि, रवि रजनी इक ठाम।। तुलसीदास।।

उपसंहार

जब प्रेम का यह उच्चतम आदर्श प्राप्त हो जाता है, तो ज्ञान फिर न जाने कहाँ चला जाता है। तब भला ज्ञान की इच्छा भी कौन करे? तब तो मुक्ति, उद्धार, निर्वाण की बातें न जाने कहाँ ग़ायब हो जाती हैं। इस दैवी प्रेम में छके रहने से फिर भला कौन मुक्त होना चाहेगा? 'प्रभो! मुझे धन, जन, सौन्दर्य, विद्या, यहाँ तक कि, मुक्ति भी नहीं चाहिए। बस, इतनी ही साध है कि जन्म जन्म में तुम्हारे प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।'[1] भक्त कहता है, "मैं शक्कर हो जाना नहीं चाहता, मुझे तो शक्कर खाना अच्छा लगता है।" तब भला कौन मुक्त हो जाने की इच्छा करेगा? कौन भगवान् के साथ एक हो जाने की कामना करेगा? भक्त कहता है, "मैं जानता हूँ कि मैं ही वह हूँ, तो भी मैं उससे अपने को अलग रखूँगा और उससे पृथक रहूँगा, ताकि मैं उस प्रियतम में आनन्द ले सकूँ।" प्रेम के लिए प्रेम—यही भक्त का सर्वोच्च सुख है। प्रियतम में आनन्द लेने के लिए कौन हज़ार बार भी बद्ध होने को तैयार न होगा? एक सच्चा भक्त प्रेम को छोड़ और किसी वस्तु की कामना नहीं करता। वह स्वयं प्रेम करना चाहता है, और चाहता है कि भगवान् भी उससे प्रेम करे। उसका निष्काम प्रेम नदी के प्रवाह की विरुद्ध दिशा में जानेवाले ज्वार के समान है। वह मानो नदी के उद्गम-स्थान की ओर, स्रोत की विपरीत दिशा में जाता है। संसार उसको पागल कहता है। मैं एक ऐसे महापुरुष[2] को जानता हूँ, जिन्हें लोग पागल कहते थे। इस पर उनका उत्तर था, "भाइयो, सारा संसार ही तो एक पागलखाना है। कोई सांसारिक प्रेम के पीछे पागल है, कोई नाम के पीछे, कोई यश के लिए, तो कोई पैसे के लिए। फिर कोई ऐसे भी हैं, जो उद्धार पाने या स्वर्ग जाने के लिए पागल हैं। इस विराट् पागलखाने में मैं भी एक पागल हूँ—मैं भगवान् के लिए पागल हूँ। तुम पैसे के लिए पागल हो, और मैं भगवान् के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसा ही मैं भी। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मेरा ही पागलपन सबसे उत्तम है।" यथार्थ भक्त के प्रेम में इसी प्रकार की तीव्र उन्मत्तता रहती है और

---

१. शिक्षाष्टक ।।४।।

२. श्री रामकृष्ण परमहंस।

इसके सामने अन्य सब कुछ उड़ जाता है। उसके लिए तो यह सारा जगत् केवल प्रेम से भरा है—प्रेमी को बस ऐसा ही दीखता है। जब मनुष्य में यह प्रेम प्रवेश करता है, तो वह चिरकाल के लिए सुखी, चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है। और दैवी प्रेम की यह पवित्र उन्मत्तता ही हममें समायी हुई संसार-व्याधि को सदा के लिए दूर कर दे सकती है। उससे वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वासनाओं के साथ ही स्वार्थपरता का भी नाश हो जाता है। तब भक्त भगवान् के समीप चला जाता है, क्योंकि उसने उन सब असार वासनाओं को फेंक दिया है, जिनसे वह पहले भरा हुआ था।

प्रेम के धर्म में हमें द्वैत भाव से आरम्भ करना पड़ता है। उस समय हमारे लिए भगवान् हमसे भिन्न रहता है, और हम भी अपने को उससे भिन्न समझते हैं। फिर प्रेम बीच में आ जाता है। तब मनुष्य भगवान् की ओर अग्रसर होने लगता है और भगवान् भी क्रमशः मनुष्य के अधिकाधिक निकट आने लगता है। मनुष्य संसार के सारे सम्बन्ध—जैसे माता, पिता, पुत्र, सखा, स्वामी, प्रेमी आदि भाव—लेता है और अपने प्रेम के आदर्श भगवान् के प्रति उन सबको आरोपित करता जाता है। उसके लिए भगवान् इन सभी रूपों में विराजमान है; और उसकी उन्नति की चरम अवस्था तो वह है, जिसमें वह अपने उपास्य देवता में सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो जाता है। हम सबका पहले अपने प्रति प्रेम रहता है, और इस क्षुद्र अहं-भाव का असंगत दावा प्रेम को भी स्वार्थपर बना देता है। परन्तु अन्त में ज्ञान-ज्योति का भरपूर प्रकाश आता है, जिसमें यह क्षुद्र अहं उस अनन्त के साथ एक हो जाता है। इस प्रेम के प्रकाश में मनुष्य स्वयं सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है और अन्त में इस सुन्दर और प्राणों को उन्मत्त बना देनेवाले सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद तीनों एक ही हैं।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप-४
(राजयोग)

४-६

राजयोग पर छः पाठ[1]

संसार के अन्य विज्ञानों की भाँति राजयोग भी एक विज्ञान है। यह विज्ञान मन का विश्लेषण तथा अतीन्द्रिय जगत् के तथ्यों का संकलन करता है और इस प्रकार आध्यात्मिक जगत् का निर्माता है। संसार के सभी महान् उपदेष्टाओं ने कहा है, "हमने देखा और जाना है।" ईसा, पॉल और पीटर सभी ने जिन सत्यों की शिक्षा दी, उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने का दावा किया है।

यह प्रत्यक्ष अनुभव योग द्वारा प्राप्त होता है।

हमारे अस्तित्व की सीमा चेतना अथवा स्मृति नहीं हो सकती। एक अति-चेतन भूमिका भी है। इसमें और सुषुप्ति में संवेदनाएँ नहीं प्राप्त होतीं। किन्तु इन दोनों के बीच ज्ञान और अज्ञान जैसा आकाश-पाताल का भेद है। यह आलोच्य योगशास्त्र ठीक विज्ञान के ही समान तर्कसंगत है।

मन की एकाग्रता ही समस्त ज्ञान का उत्स है।

योग हमें जड़-तत्त्व को अपना दास बनाने की शिक्षा देता है, और उसको हमारा दास होना ही चाहिए। योग का अर्थ जोड़ना है अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना, मिलाना।

मन चेतना में और उसके अधीन कार्य करता है। हम लोग जिसे चेतना कहते हैं, वह हमारे स्वरूप की अनन्त शृंखला की एक कड़ी मात्र है।

हमारा यह 'अहम्' किंचित् मात्र चेतना और अचेतनता के विपुल परिणाम को आच्छादित करता है, जब कि उसके परे, और उसकी प्रायः अज्ञात, अतिचेतन की भूमिका है।

श्रद्धाभाव से योगाभ्यास करने पर मन का एक के वाद एक स्तर खुलता जाता है और प्रत्येक, नये तथ्यों को प्रकाशित करता है। हम अपने सम्मुख नये जगतों

---

१. इन पाठों की रचना स्वामी विवेकानन्द द्वारा अमेरिकन भक्त शिष्या श्रीमती सारा सी० बुल के निवास-स्थान पर कुछ घनिष्ठ श्रोताओं के सम्मुख दिये गये कक्षालापों के आधार पर हुई है, जो उनके द्वारा सुरक्षित रखे गये थे और जो अन्त में सन् १९१३ में निजी मंडली में वितरित करने के लिए मुद्रित किये गये थे। स०

की सृष्टि होती सी देखते हैं, नयी शक्तियाँ हमारे हाथों में आ जाती हैं, किन्तु हमें मार्ग में ही नहीं रुक जाना चाहिए, और जब हमारे सामने हीरों की खान पड़ी हो, तो काँच के दानों से हमें चौंधिया नहीं जाना चाहिए।

केवल ईश्वर ही हमारा लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति न हो पाना ही हमारी मृत्यु है।

सफलताकांक्षी साधक के लिए तीन बातों की आवश्यकता है।

पहली है ऐहिक और पारलौकिक इन्द्रिय भोग-वासना का त्याग और केवल भगवान् और सत्य को लक्ष्य बनाना। हम यहाँ सत्य की उपलब्धि के लिए हैं, भोग के लिए नहीं। भोग पशुओं के लिए छोड़ दो, जिनको हमारी अपेक्षा उसमें कहीं अधिक आनन्द मिलता है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, और मृत्यु पर विजय तथा प्रकाश को प्राप्त कर लेने तक उसे संघर्ष करते ही रहना चाहिए। उसे फ़िज़ूल की बातचीत में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिए। समाज की पूजा एवं लोकप्रिय जनमत मूर्ति-पूजा ही है। आत्मा का लिंग, देश, स्थान या काल नहीं होता।

दूसरी है सत्य और भगवत्प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा। जल में डूबता मनुष्य जैसे वायु के लिए व्याकुल होता है, वैसे ही व्याकुल हो जाओ। केवल ईश्वर को ही चाहो, और कुछ भी स्वीकार न करो, जो आभासी मात्र है, उससे धोखा न खाओ। सबसे विमुख होकर केवल ईश्वर की खोज करो।

तीसरी बात में छः अभ्यास हैं :

(१) मन को बहिर्मुख न होने देना।

(२) इन्द्रिय-निग्रह।

(३) मन को अन्तर्मुख बनाना।

(४) निर्विरोध सहिष्णुता या पूर्ण तितिक्षा।

(५) मन को एक भाव में स्थिर रखना। ध्येय को सम्मुख रखो, और उसका चिन्तन करो। कभी अलग न करो। समय की गणना न करो।

(६) अपने स्वरूप का सतत चिन्तन करो।

अंधविश्वास का परित्याग कर दो। अपनी तुच्छता के विश्वास में अपने को सम्मोहित न करो। जब तक तुम ईश्वर के साथ एकात्मकता की अनुभूति (वास्तविक अनुभूति) न कर लो, तब तक रात-दिन अपने आपको बताते रहो कि तुम यथार्थतः क्या हो।

इन साधनाओं के बिना कोई भी फल प्राप्त नहीं हो सकता।

हम ब्रह्म की धारणा कर सकते हैं, पर उसे भाषा के द्वारा व्यक्त करना

असम्भव हैं। जैसे ही हम उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही हम उसे सीमित बना डालते हैं और वह ब्रह्म नहीं रह जाता।

हमें इन्द्रिय-जगत् की सीमाओं के परे जाना है और बुद्धि से भी अतीत होना है। ऐसा करने की हममें शक्ति है।

[एक सप्ताह तक प्राणायाम के प्रथम पाठ का अभ्यास करने के पश्चात् शिष्य को चाहिए कि वह गुरु को अपना अनुभव बताये।]

प्रथम पाठ

इस पाठ का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास है। प्रत्येक व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है। सभी एक केन्द्र में मिल जायँगे। 'कल्पना प्रेरणा का द्वार और समस्त विचार का आधार है।' सभी पैग़म्बर, कवि और अन्वेषक महती कल्पना-शक्ति से सम्पन्न थे। प्रकृति की व्याख्या हमारे भीतर है; पत्थर बाहर गिरता है, लेकिन गुरुत्वाकर्षण हमारे भीतर है, बाहर नहीं। जो अति आहार करते हैं, जो उपवास करते हैं, जो अत्यधिक सोते हैं, जो अत्यल्प सोते हैं, वे योगी नहीं हो सकते। अज्ञान, चंचलता, ईर्ष्या, आलस्य और अतिशय आसक्ति योग-सिद्धि के महान् शत्रु हैं। योगी के लिए तीन बड़ी आवश्यकताएँ हैं :

प्रथम—शारीरिक और मानसिक पवित्रता, प्रत्येक प्रकार की मलिनता तथा मन को पतन की ओर ढकेलनेवाली सभी बातों का परित्याग आवश्यक है।

द्वितीय—धैर्य : प्रारम्भ में आश्चर्यजनक दृश्य प्रकट होंगे, पर बाद में वे सब अन्तर्हित हो जायँगे। यह सबसे कठिन समय है। पर दृढ़ रहो, यदि धैर्य रखोगे, तो अन्त में सिद्धि सुनिश्चित है।

तृतीय—लगन : सुख-दुःख, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य सभी दशाओं में साधना में एक दिन का भी नागा न करो।

साधना का सर्वोत्तम समय दिन और रात की संधि का समय है। यह हमारे शरीर की हलचल के शान्त रहने का समय है—दो दशाओं के मध्य का शून्य-स्थल है। यदि इस समय न हो सके, तो उठने के ही बाद और सोने के पूर्व अभ्यास करो। नित्य स्नान—शरीर को अधिक से अधिक स्वच्छ रखना—आवश्यक है।

स्नान के पश्चात् बैठ जाओ। आसन दृढ़ रखो अर्थात् ऐसी भावना करो कि तुम चट्टान की भाँति दृढ़ हो, कि तुम्हें कुछ भी विचलित करने में समर्थ नहीं है। कंधे, सिर और कमर एक सीधी रेखा में रखो, पर मेरुदण्ड के ऊपर ज़ोर न डालो,

सारी क्रिया इसीके सहारे होती है, अतः इसको क्षति पहुँचानेवाला कोई कार्य न होना चाहिए।

अपने पैर की अँगुलियों से आरम्भ करके अपने शरीर के प्रत्येक अंग की स्थिरता की भावना करो। इस भाव का अपने में चिन्तन करो और यदि चाहो, तो प्रत्येक का स्पर्श करो। प्रत्येक को पूर्ण अर्थात् उसमें कोई विकार नहीं है, सोचते हुए धीरे धीरे ऊपर चलकर सिर तक आओ। तब समस्त शरीर के पूर्ण होने के भाव का चिन्तन करो, यह सोचते हुए कि मुझे सत्य का साक्षात्कार करने के हेतु यह ईश्वर द्वारा प्रदत्त साधन है। यह वह नौका है, जिस पर बैठकर तुम्हें संसार-समुद्र पार करके अनन्त सत्य के तट पर पहुँचना है। इस क्रिया के पश्चात् अपनी नासिका के दोनों छिद्रों से एक दीर्घ श्वास लो और फिर उसे बाहर निकालो। इसके पश्चात् जितनी देर तक सरलतापूर्वक बिना श्वास लिये रह सको, रहो। इस प्रकार के चार प्राणायाम करो और फिर स्वाभाविक रूप से श्वास लो और भगवान् से ज्ञान के प्रकाश के लिए प्रार्थना करो।

"मैं उस सत्ता की महिमा का चिन्तन करता हूँ, जिसने विश्व की रचना की है, वह मेरे मन को प्रबुद्ध करे।" बैठो और दस-पन्द्रह मिनट इस भाव का ध्यान करो।

अपनी अनुभूतियों को अपने गुरु के अतिरिक्त और किसीको न बताओ।

यथासम्भव कम से कम बात करो।

अपना चिन्तन सद्गुणों पर लगाओ; हम जैसा सोचते हैं, वैसे ही बन जाते हैं।

पवित्र चिन्तन हमें अपनी समस्त मानसिक मलिनताओं को भस्म करने में सहायता देता है। जो योगी नहीं है, वह दास है। मुक्ति-लाभ के हेतु एक एक करके सभी बन्धन काटने होंगे।

इस जगत् के परे जो सत्य है, उसको सभी लोग जान सकते हैं। यदि ईश्वर की सत्ता सत्य है, तो अवश्य ही हमें उसको एक तथ्य के रूप में अनुभव करना चाहिए और यदि आत्मा जैसी कोई सत्ता है, तो हमें उसे देखने और अनुभव करने में समर्थ होना चाहिए।

यदि आत्मा है, तो उसका साक्षात्कार करने के लिए हमें कुछ ऐसा बनना पड़ेगा, जो शरीर नहीं है।

योगी इन्द्रियों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित करते हैं: ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अथवा ज्ञान और कर्म।

अन्तरिन्द्रिय या मन के चार स्तर हैं: प्रथम—मनस् अर्थात् मनन अथवा चिन्तन-शक्ति। इसको संयत न करने पर प्रायः इसकी समस्त शक्ति नष्ट हो

जाती है। उचित संयम किये जाने पर यह अद्भुत शक्ति बन जाती है। द्वितीय—बुद्धि अर्थात् इच्छा-शक्ति (इसको बोध-शक्ति भी कहा जाता है)। तृतीय—अहंकार अर्थात् आत्मचेतन अहंबुद्धि। चतुर्थ—चित्त अर्थात् वह तत्त्व, जिसके आधार और माध्यम से समस्त शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं, मानो यह मन का धरातल है अथवा वह समुद्र है, जिसमें समस्त क्रिया-शक्तियाँ तरंगों का रूप धारण किये हुए हैं।

योग वह विज्ञान है, जिसके द्वारा हम चित्त को अनेक क्रिया-शक्तियों का रूप धारण करने अथवा उनमें रूपान्तरित होने से रोकते हैं। समुद्र में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार तरंगों के कारण अस्पष्ट अथवा विच्छिन्न हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा अर्थात् सत्स्वरूप का प्रतिबिम्ब भी मन की तरंगों से विच्छिन्न हो जाता है। केवल जब समुद्र दर्पण की भाँति तरंगशून्य होकर शान्त हो जाता है, तभी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है। उसी प्रकार जब चित्त अर्थात् मनस् संयम के द्वारा सम्पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है, तभी स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

यद्यपि चित्त सूक्ष्मतर रूप में जड़ है, तथापि वह देह नहीं है। वह देह द्वारा चिरकाल तक आबद्ध नहीं रहता। पर इस बात से सिद्ध होता है कि हम कभी कभी देहभाव से परे हो जाते हैं। अपनी इन्द्रियों को वशीभूत करके हम इच्छानुसार इस बात का अभ्यास कर सकते हैं।

यदि हम ऐसा करने में पूर्ण समर्थ हो जायँ, तो समस्त विश्व हमारे वश में हो जाय, क्योंकि हमारी इन्द्रियों को लेकर ही यह जगत् है। स्वाधीनता ही उच्च जीवन की कसौटी है। आध्यात्मिक जीवन उस समय प्रारम्भ होता है, जिस समय तुम अपने को इन्द्रियों के बंधन से मुक्त कर लेते हो। जो इन्द्रियों के अधीन हैं, वही संसारी हैं, वही दास हैं।

चित्त को तरंगों का रूप धारण करने से रोकने में पूर्ण समर्थ होने पर हमारी देह का नाश हो जाता है। इस देह को तैयार करने में करोड़ों वर्षों से हमें इतना कड़ा परिश्रम करना पड़ा है कि उसी चेष्टा में व्यस्त रहते रहते हम यह भूल गये कि इस देह की प्राप्ति का वास्तविक उद्देश्य पूर्णता-प्राप्ति है। हम सोचने लगे हैं कि हमारी समस्त चेष्टाओं का लक्ष्य इस देह की तैयारी है। यही माया है। हमें इस भ्रम को मिटाना होगा और अपने मूल उद्देश्य की ओर जाकर इस बात का अनुभव करना होगा कि हम देह नहीं हैं, यह तो हमारा दास है।

मन को अलग करके उसे देह से पृथक् देखना सीखो। हम देह के ऊपर संवेदना और प्राण को आरोपित करते हैं और फिर सोचते हैं कि वह चेतन और सत्य

है। हम इतने दीर्घकाल से यह खोल पहने हुए हैं कि भूल जाते हैं कि हम और देह एक नहीं हैं। योग हमें देह को इच्छानुसार अलग करने तथा उसे अपने दास, अपने साधन, न कि स्वामी, के रूप में देखने में सहायता करता है। योगाभ्यास का प्रथम प्रमुख लक्ष्य मानसिक शक्तियों का नियंत्रण करना है। दूसरा, उन्हें पूर्ण शक्ति लगाकर किसी एक विषय पर केन्द्रित करना है।

यदि तुम बहुत बात करते हो, तो तुम योगी नहीं हो सकते।

द्वितीय पाठ

इस योग का नाम अष्टांग योग है, क्योंकि इसको प्रधानतः आठ भागों में विभक्त किया गया है। वे हैं:

प्रथम—यम। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और सारा जीवन इसके द्वारा शासित होना चाहिए। इसके पाँच विभाग हैं:

(१) मन, कर्म, वचन से हिंसा न करना।
(२) मन, कर्म, वचन से लोभ न करना।
(३) मन, कर्म और वचन की पवित्रता।
(४) मन, कर्म और वचन की पूर्ण सत्यता।
(५) अपरिग्रह (किसीसे कोई दान न लेना)।

द्वितीय—नियम। शरीर की देखभाल, नित्य स्नान, परिमित आहार इत्यादि।

तृतीय—आसन। मेरुदण्ड के ऊपर ज़ोर न देकर कमर, गर्दन और सिर सीधा रखना।

चतुर्थ—प्राणायाम। प्राणवायु अथवा जीवन-शक्ति को वशीभूत करने के लिए श्वास-प्रश्वास का संयम।

पंचम—प्रत्याहार। मन को अन्तर्मुख करना तथा उसे बहिर्मुखी होने से रोकना, जड़-तत्त्व को समझने के लिए उसे मन में घुमाना, अर्थात् उस पर बार बार विचार करना।

षष्ठ—धारणा। एक विषय पर ध्यान केन्द्रित करना।

सप्तम—ध्यान।

अष्टम—समाधि: ज्ञानालोक, हमारी समस्त साधना का लक्ष्य।

हमें यम-नियम का अभ्यास जीवनपर्यन्त करना चाहिए। जहाँ तक दूसरे अभ्यासों का सम्बन्ध है, हम ठीक वैसा ही करते हैं, जैसा कि जोंक बिना दूसरे

तिनके को दृढ़तापूर्वक पकड़े पहलेवाले को नहीं छोड़ती है। दूसरे शब्दों में हमें अपने पहले क़दम को भली भाँति समझकर अभ्यास कर लेना है और तब दूसरा उठाना है।

इस पाठ का विषय प्राणायाम अर्थात् प्राण का नियमन है। राजयोग में प्राणवायु चित्तभूमि में प्रविष्ट होकर हमें आध्यात्मिक राज्य में ले जाती है। यह समस्त देहयंत्र का मूल चक्र है। प्राण प्रथम फुफ्फुस पर क्रिया करता है, फुफ्फुस हृदय को प्रभावित करते हैं, हृदय रक्त-प्रवाह को और वह क्रमानुसार मस्तिष्क को तथा मस्तिष्क मन पर क्रिया करता है। जिस प्रकार इच्छा-शक्ति वाह्य संवेदन उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वाह्य संवेदन इच्छा-शक्ति जाग्रत कर देता है। हमारी इच्छा-शक्ति दुर्वल है, हम जड़-तत्त्व के इतने वंधन में हैं कि हम उसकी शक्ति को नहीं जान पाते। हमारी अधिकांश क्रियाएँ वाहर से भीतर की ओर होती हैं। वाह्य प्रकृति हमारे आन्तरिक साम्य को नष्ट कर देती है, किन्तु जैसा कि हमें चाहिए, हम उसके साम्य को नष्ट नहीं कर पाते। किन्तु यह सव भूल है। वास्तव में प्रवलतर शक्ति तो भीतर की शक्ति है।

वे ही महान् संत और आचार्य हैं, जिन्होंने अपने भीतर के मनोराज्य को जीता है। और इसी कारण उनकी वाणी में शक्ति थी। एक ऊँची मीनार पर वंदी किये गये एक मंत्री की कहानी[1] है। वह अपनी पत्नी के प्रयत्न से मुक्त हुआ। पत्नी भृंग, मधु, रेशमी सूत, सुतली और रस्सी लायी थी। यह रूपक इस वात को स्पष्ट करता है कि किस प्रकार हम रेशमी धागे की भाँति प्रथम प्राणवायु का नियमन करके अन्त में एकाग्रतारूपी रस्सी पकड़ सकेंगे, जो हमें देहरूपी कारागार से निकाल देगी और हम मुक्ति प्राप्त करेंगे। मुक्ति प्राप्त कर लेने पर उसके हेतु प्रयुक्त साधनों का हम परित्याग कर सकते हैं।

प्राणायाम के तीन अंग हैं:

(१) पूरक—श्वास लेना।

(२) कुम्भक—श्वास रोकना।

(३) रेचक—श्वास छोड़ना।

मस्तिष्क में से होकर मेरुदण्ड के दोनों ओर वहनेवाले दो शक्ति-प्रवाह हैं, जो मूलाधार में एक दूसरे का अतिक्रमण करके मस्तिष्क में लौट आते हैं। इन दोनों में एक का नाम 'सूर्य' (पिंगला) है, जो मस्तिष्क के वाम गोलार्ध से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड के दक्षिण पार्श्व में मस्तिष्क के आधार (सहस्रार) पर एक दूसरे को लाँघ-

---

१. कहानी के हेतु 'विवेकानन्द साहित्य', प्रथम खंड, पृ० ५४-५ द्रष्टव्य। स०

कर पुनः मूलाधार पर अंग्रेजी के आठ (8) अंक के अर्ध भाग के आकार के समान एक दूसरे का फिर अतिक्रमण करती हैं।

दूसरे शक्ति-प्रवाह का नाम 'चन्द्र' (इड़ा) है, जिसकी क्रिया उपयुक्त क्रम के ठीक विपरीत है और जो इस आठ (8) अंक को पूर्ण बनाती है। हाँ, इसका निम्न भाग ऊपरी भाग से कहीं अधिक लम्बा है। ये शक्ति-प्रवाह दिन-रात गतिशील रहते हैं और विभिन्न केन्द्रों में, जिन्हें हम 'चक्र' कहते हैं, बड़ी बड़ी जीवनी-शक्तियों का संचय किया करते हैं। पर शायद ही हमें उनका ज्ञान हो। एकाग्रता द्वारा हम उनका अनुभव कर सकते हैं और शरीर के विभिन्न अंगों में उनका पता लगा सकते हैं। इस 'सूर्य' और 'चन्द्र' के शक्ति-प्रवाह श्वास-क्रिया के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और इसीके नियमन द्वारा हम शरीर को नियमित करते हैं।

कठोपनिषद्[१] मे देह को रथ, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़े, विषय को पथ और बुद्धि को सारथी कहा गया है। इस रथ में बैठी हुई आत्मा रथी है। यदि रथी समझदार नहीं है और सारथी से घोड़ों को नियंत्रित नहीं करा सकता तो, वह कभी भी अपने ध्येय तक नहीं पहुँच सकता। अपितु, दुष्ट अश्वों के समान इन्द्रियाँ उसे जहाँ चाहेंगी, खींच ले जायेंगी। यहाँ तक कि उसकी जान भी ले सकती हैं। ये दो शक्ति-प्रवाह सारथी के हाथों में रोकथाम के हेतु लगाम हैं और अश्वों को अपने वश में करने के लिए उसे इनके ऊपर नियंत्रण करना आवश्यक है। नीतिपरायण होने की शक्ति हमें प्राप्त करनी ही है। जब तक हम उसे प्राप्त नहीं कर लेते, हम अपने कर्मों को नियंत्रित नहीं कर सकते। नीतिशिक्षाओं को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति हमें केवल योग से ही प्राप्त हो सकती है। नीतिपरायण होना योग का उद्देश्य है। जगत् के सभी बड़े बड़े आचार्य योगी थे और उन्होंने प्रत्येक शक्ति-प्रवाह को वश में कर रखा था। योगी इन दोनों प्रवाहों को मेरुदण्ड के तले में संयत करके उनको मेरुदण्ड के भीतर के केन्द्र से होकर परिचालित करते हैं। तब ये प्रवाह ज्ञान के प्रवाह बन जाते हैं। यह स्थिति केवल, योगी की ही होती है।

प्राणायाम की द्वितीय शिक्षा : कोई एक प्रणाली सभी के लिए नहीं है। प्राणायाम का लयपूर्ण क्रमबद्धता के साथ होना आवश्यक है और इसकी सबसे सहज विधि गणना है। चूँकि यह (गणना) पूर्णरूपेण यंत्रवत् हो जाती है, हम इसके बजाय एक निश्चित संख्या में पवित्र मंत्र 'ॐ' का जप करते हैं।

---

१. कठोपनिषद् ।।१।३।३-५।।

प्राणायाम की क्रिया इस प्रकार है : दायें नथुने को अँगूठे से दबाकर चार बार 'ॐ' का जप करके धीरे धीरे बायें नथुने से श्वास लो।

तत्पश्चात् बायें नथुने पर तर्जनी रखकर दोनों नथुनों को कसकर बन्द कर दो और 'ॐ' का मन ही मन आठ बार जप करते हुए श्वास को भीतर रोके रहो।

पश्चात्, अँगूठे को दाहिने नथुने से हटाकर चार बार 'ॐ' का जप करते हुए उसके द्वारा धीरे धीरे श्वास को बाहर निकालो।

जब श्वास बाहर हो जाय, तब फुफ्फुस से समस्त वायु निकालने के लिए पेट को दृढ़तापूर्वक संकुचित करो। फिर बायें नथुने को बंद करके चार बार 'ॐ' का जप करते हुए दाहिने नथुने से श्वास भीतर ले जाओ। इसके बाद दाहिने नथुने को अँगूठे से बंद करो और आठ बार 'ॐ' का जप करते हुए श्वास को भीतर रोको। फिर बायें नथुने को खोलकर चार बार 'ॐ' का जप करते हुए पहले की भाँति पेट को संकुचित करके धीरे धीरे श्वास को बाहर निकालो। इस सारी क्रिया को प्रत्येक बैठक में दो बार दुहराओ अर्थात् प्रत्येक नथुने के लिए दो के हिसाब से चार प्राणायाम करो। प्राणायाम के लिए बैठने के पूर्व सारी क्रिया प्रार्थना से प्रारम्भ करना अच्छा होगा।

एक सप्ताह तक इस अभ्यास को करने की आवश्यकता है। फिर धीरे धीरे श्वास-प्रश्वास की अवधि को बढ़ाओ, किन्तु अनुपात वही रहे। अर्थात् यदि तुम श्वास भीतर ले जाते समय छः बार 'ॐ' का जप करते हो, तो उतना ही श्वास बाहर निकालते समय भी करो और कुम्भक के समय बारह बार करो। इन अभ्यासों के द्वारा हम और अधिक पवित्र, निर्मल और आध्यात्मिक होते जायेंगे। किसी विपथ में पड़ने से अथवा कोई शक्ति (सिद्धि) की चाह से बचे रहो। प्रेम ही एक ऐसी शक्ति है, जो चिरकाल तक हमारे साथ रहती है और बढ़ती जाती है। राजयोग के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को मानसिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सबल होना आवश्यक है। अपना प्रत्येक क़दम इन बातों को ध्यान में रखकर ही बढ़ाओ।

लाखों में कोई बिरला ही कह सकता है, "मैं इस संसार के परे जाकर ईश्वर का साक्षात्कार करूँगा।" शायद ही कोई सत्य के सामने खड़ा हो सके। किन्तु अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें मरने के लिए भी तैयार रहना पड़ेगा।

तृतीय पाठ

कुंडलिनी : आत्मा का अनुभव जड़ के रूप में न करो, बल्कि उसके यथार्थ स्वरूप को जानो। हम लोग आत्मा को देह समझते हैं, किन्तु हमारे लिए इसको इन्द्रिय और बुद्धि से अलग करके सोचना आवश्यक है। तभी हमें इस बात का ज्ञान होगा कि हम अमृतस्वरूप हैं। परिवर्तन से आशय है कार्य और कारण का द्वैत; और जो कुछ भी परिवर्तित होता है, उसका नश्वर होना अवश्यम्भावी है। इससे यह सिद्ध होता है कि न तो शरीर और न मन अविनाशी हो सकते हैं, क्योंकि दोनों में निरंतर परिवर्तन हो रहा है। केवल जो अपरिवर्तनशील है, वही अविनाशी हो सकता है; क्योंकि उसे कुछ भी प्रभावित नहीं कर सकता।

हम सत्यस्वरूप हो नहीं जाते, बल्कि हम सत्यस्वरूप हैं; किन्तु हमें सत्य को आवृत करनेवाले अज्ञान के पर्दे को हटाना होगा। देह विचार का ही रूप है। 'सूर्य' और 'चन्द्र' शक्ति-प्रवाह शरीर के सभी अंगों में शक्ति-संचार करते हैं। अवशिष्ट अतिरिक्त शक्ति सुषुम्णा के अन्तर्गत विभिन्न चक्रों अथवा सामान्यतया विदित स्नायु-केन्द्र में संचित रहती है।

ये शक्ति-प्रवाह मृत देह में दृष्टिगत नहीं होते और केवल स्वस्थ शरीर में ही देखे जा सकते हैं।

योगी को एक विशेष सुविधा रहती है, क्योंकि वह केवल इनका अनुभव ही नहीं करता, अपितु इन्हें प्रत्यक्ष देखता भी है। वे उसके जीवन में ज्योतिर्मय हो उठते हैं। ऐसे ही उसके महान् स्नायु-केन्द्र भी हैं।

कार्य ज्ञात तथा अज्ञात, दोनों दशाओं में होते हैं। योगियों की एक दूसरी दशा भी होती है, वह है ज्ञानातीत या अतिचेतन अवस्था, जो सभी देशों और सभी युगों में समस्त धार्मिक ज्ञान का स्रोत रही है। ज्ञानातीत दशा में कभी भूल नहीं होती, किन्तु जब जन्मजात-प्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित कार्य पूर्णरूपेण यंत्रवत् होता है, तब पूर्ववर्ती (ज्ञानातीत दशा) ज्ञान की दशा के परे की स्थिति होती है। इसे अन्तःप्रेरणा कहते हैं; परन्तु योगी कहता है, "यह शक्ति प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्निहित है और अन्ततोगत्वा सभी लोग इसका आनन्द प्राप्त करेंगे।"

हमें 'सूर्य' और 'चन्द्र' की गतियों को एक नये रास्ते से परिचालित करना होगा और उनके लिए सुषुम्णा का मुख खोलकर एक नया रास्ता देना होगा। जब हम इस 'सुषुम्णा' से होकर शक्ति-प्रवाह को मस्तिष्क तक ले जाने में सफल हो जाते हैं, उस समय हम शरीर से बिल्कुल अलग हो जाते हैं।

मेरुदंड के तले त्रिकास्थि (sacrum) के निकट स्थित मूलाधार चक्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह स्थल काम-शक्ति के प्रजनन-तत्त्व का निवास है, और योगी इसको एक त्रिकोण के भीतर छोटे से कुंडलीकृत सर्प के प्रतीक के रूप में मानते हैं। इस प्रसुप्त सर्प को कुंडलिनी कहते हैं। इसी कुंडलिनी को जाग्रत करना ही राजयोग का प्रमुख उद्देश्य है।

महती काम-शक्ति को पशुसुलभ क्रिया से उन्नत करके मनुष्य शरीर के महान् डाइनेमो मस्तिष्क में परिचालित करके वहाँ संचित करने पर वह ओजस् अर्थात् महान् आध्यात्मिक शक्ति बन जाती है। समस्त सत् चिन्तन, समस्त प्रार्थनाएँ उस पशुसुलभ शक्ति के एक अंश को ओजस् में परिणत करने में सहायता करती हैं और हमें आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करती हैं। यह ओजस् ही मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व है, और केवल मनुष्य के शरीर में ही इस शक्ति का संग्रह सम्भव है। जिसकी समस्त पशुसुलभ काम-शक्ति ओजस् में परिणत हो गयी है, वही देवता है। उसकी वाणी में शक्ति होती है और उसके वचन जगत् को पुनरुज्जीवित करते हैं।

योगी मन ही मन कल्पना करता है कि यह कुंडलिनी क्रमशः धीरे धीरे उठकर सर्वोच्च स्तर अर्थात् सहस्रार में पहुँच रही है। जब तक मनुष्य अपनी सर्वोच्च शक्ति, काम-शक्ति को ओज में परिणत नहीं कर लेता, कोई भी स्त्री या पुरुष, वास्तविक रूप में आध्यात्मिक नहीं हो सकता।

कोई शक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती, उसे केवल एक दिशा में परिचालित किया जा सकता है। अतः हमें चाहिए कि हम अपनी महती शक्तियों को अपने वश में करना सीखें और अपनी इच्छा-शक्ति से उन्हें पशुवत् रखने के बजाय आध्यात्मिक बना दें। अतः यह स्पष्ट है कि पवित्रता ही समस्त धर्म और नीति की आधारशिला है। विशेषतः राजयोग में मन, वचन की पूर्ण पवित्रता परमावश्यक है। विवाहित और अविवाहित, सभी लोगों के लिए एक ही नियम लागू होता है। देह के इस सार अंश को वृथा नष्ट कर देने पर आध्यात्मिकता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

इतिहास बताता है कि सभी युगों में बड़े बड़े द्रष्टा महापुरुष या तो संन्यासी और तपस्वी थे अथवा विवाहित जीवन का परित्याग कर देनेवाले थे। केवल पवित्रात्मा ही भगवत्साक्षात्कार कर सकते हैं।

प्राणायाम से पूर्व इस त्रिकोणमंडल को ध्यान में देखने की चेष्टा करो। आँखें बन्द करके इसके चित्र की मन ही मन स्पष्ट कल्पना करो। सोचो कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुंडलिनी सोयी पड़ी है। जब तुम्हें कुंडलिनी

स्पष्ट रूप से दीखने लगे, अपनी कल्पना में इसे मूलाधार चक्र में स्थित करो और कुम्भक में श्वास को अवरुद्ध करके कुंडलिनी को जगाने के हेतु श्वास के द्वारा उसके मस्तक पर आघात करो। जितनी ही शक्तिशाली कल्पना होगी, उतनी शीघ्रता से वास्तविक फल की प्राप्ति होगी और कुंडलिनी जाग्रत हो जायगी। जब तक वह जाग्रत नहीं हुई, तब तक यही सोचो कि वह जाग्रत हो गयी है, तथा शक्ति-प्रवाहों को अनुभव करने की चेष्टा करो और उन्हें सुषुम्णा पथ में परिचालित करने का प्रयास करो। इससे उनकी क्रिया में शीघ्रता होती है।

चतुर्थ पाठ

मन को वश में करने की शक्ति प्राप्त करने के पूर्व हमें उसका भली प्रकार अध्ययन करना चाहिए।

चंचल मन को संयत करके हमें उसे विषयों से खींचना होगा और उसे एक विचार में केन्द्रित करना होगा। बार बार इस क्रिया को करना आवश्यक है। इच्छा-शक्ति द्वारा मन को वश में करके उसकी क्रिया रोककर ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिए।

मन को स्थिर करने का सबसे सरल उपाय है, चुपचाप बैठ जाना और उसे कुछ क्षण के लिए वह जहाँ जाय, जाने देना। दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन करो, "मैं मन को विचरण करते हुए देखनेवाला साक्षी हूँ। मैं मन नहीं हूँ।" पश्चात् मन को ऐसा सोचता हुआ कल्पना करो कि मानो वह तुमसे बिल्कुल भिन्न है। अपने को ईश्वर से अभिन्न मानो, मन अथवा जड़ पदार्थ के साथ एक करके कदापि न सोचो।

सोचो कि मन तुम्हारे सामने एक विस्तृत तरंगहीन सरोवर है और आने-जानेवाले विचार इसके तल पर उठनेवाले बुलबुले हैं। विचारों को रोकने का प्रयास न करो, वरन् उनको देखो और जैसे जैसे वे विचरण करते हैं, वैसे वैसे तुम भी उनके पीछे चलो। यह क्रिया धीरे धीरे मन के वृत्तों को सीमित कर देगी। कारण यह है कि मन विचार की विस्तृत परिधि में घूमता है और ये परिधियाँ विस्तृत होकर निरन्तर बढ़नेवाले वृत्तों में फलती रहती हैं, ठीक वैसे ही जैसे किसी सरोवर में ढेला फेंकने पर होता है। हम इस क्रिया को उलट देना चाहते हैं और बड़े वृत्तों से प्रारम्भ करके उन्हें छोटा बनाते चले जाते हैं—यहाँ तक कि अन्त में हम मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके उसे वहीं रोक सकें। दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन

करो, "मैं मन नहीं हूँ, मैं देखता हूँ कि मैं सोच रहा हूँ। मैं अपने मन तथा अपनी क्रिया का अवलोकन कर रहा हूँ।" प्रतिदिन मन और भावना से अपने को अभिन्न समझने का भाव कम होता जायगा, यहाँ तक कि अन्त में तुम अपने को मन से विल्कुल अलग कर सकोगे और वास्तव में इसे अपने से भिन्न जान सकोगे।

इतनी सफलता प्राप्त करने के वाद मन तुम्हारा दास हो जायगा और उसके ऊपर इच्छानुसार शासन कर सकोगे। इन्द्रियों से परे हो जाना योगी की प्रथम स्थिति है। जब वह मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर लेता है।

जितना सम्भव हो सके, एकान्त सेवन करो। तुम्हारा आसन सामान्य ऊँचाई का होना चाहिए। प्रथम कुशासन बिछाओ, फिर मृगचर्म और उसके ऊपर रेशमी कपड़ा। अच्छा होगा कि आसन के साथ पीठ टेकने का साधन न हो और वह दृढ़ हो।

चूँकि विचार एक प्रकार के चित्र हैं, अतः हमें उनकी रचना न करनी चाहिए। हमें अपने मन से सारे विचार दूर हटाकर रिक्त कर देना चाहिए। जितनी ही शीघ्रता से विचार आयें, उतनी ही तेजी से उन्हें दूर भगाना चाहिए। इसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए हमें जड़-तत्त्व और देह के परे जाना परमावश्यक है। वस्तुतः मनुष्य का समस्त जीवन ही इसको सिद्ध करने का प्रयास है।

प्रत्येक ध्वनि का अपना अर्थ होता है। हमारी प्रकृति में इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

हमारा उच्चतम आदर्श ईश्वर है। उसका चिन्तन करो। यही नहीं कि हम ज्ञाता को जान सकते हैं, अपितु हम तो वही हैं।

अशुभ को देखना तो उसकी सृष्टि ही करना है। जो कुछ हम हैं, वही हम बाहर भी देखते हैं, क्योंकि यह जगत् हमारा दर्पण है। यह छोटा सा शरीर हमारे द्वारा रचा हुआ एक छोटा सा दर्पण है, बल्कि समस्त विश्व हमारा शरीर है। इस बात का हमें सतत चिन्तन करना चाहिए, तब हमें ज्ञान होगा कि न तो हम मर सकते हैं और न दूसरों को मार सकते हैं, क्योंकि वह तो हमारा ही स्वरूप है। हम अजन्मा और अमर हैं और प्रेम ही हमारा कर्तव्य है।

'यह समस्त विश्व हमारा शरीर है। समस्त स्वास्थ्य, समस्त सुख हमारा सुख है, क्योंकि यह सब कुछ विश्व के अन्तर्गत है।' कहो, "मैं विश्व हूँ।" अन्त में हमें ज्ञात हो जाता है कि सारी क्रिया हमारे भीतर से इस दर्पण में प्रकट हो रही है।

यद्यपि हम छोटी छोटी लहरों के समान प्रतीत हो रहे हैं, तथापि समस्त समुद्र हमारा आधार है और हम उसके साथ एक हैं। लहर का अपने आपमें कोई अस्तित्व नहीं है।

यदि कल्पना का सदुपयोग करें, तो वह हमारी परम हितैषिणी है। वह युक्ति के परे जा सकती है और वही एक ऐसी ज्योति है, जो हमें सर्वत्र ले जा सकती है।

अन्तःस्फुरण प्रदान करनेवाली शक्ति हमारे भीतर है। हमें स्वयं अपनी उच्च मनःशक्तियों से प्रेरित होना होगा।

पंचम पाठ

प्रत्याहार और धारणा : भगवान् कृष्ण ने कहा है, "चाहे जिस रास्ते से आओ, मेरे ही समीप पहुँचोगे।" "सभी को मेरे पास पहुँचना है।" मन को समस्त विषयों से हटाकर किसी अभीष्ट विषय में संगृहीत करने की चेष्टा का ही नाम प्रत्याहार है। इसका प्रथम सोपान है मन की गति को स्वच्छन्द कर देना : उस पर नजर रखो, देखो कि वह क्या चिन्तन करता है : स्वयं केवल साक्षी बनो। मन आत्मा नहीं है। वह केवल सूक्ष्मतर रूप लिये हुए जड़ ही है। हम उसके मालिक हैं और स्नायविक शक्तियों के द्वारा इच्छानुसार इसका उपयोग करना सीख सकते हैं।

शरीर मन (आन्तरिक) का बाह्य रूप है। आत्मस्वरूप हम शरीर और मन, दोनों से परे हैं। हम आत्मा हैं, नित्य, अनन्त, साक्षी। शरीर चिन्तन-शक्ति का स्थूल रूप है।

जब वाम रंध्र से श्वास-क्रिया हो, तब विश्राम करो और जब दक्षिण रंध्र से, तब कार्य, और जब दोनों से हो, तब ध्यान। जब हम शान्त हों और दोनों नासिका-रंध्रों से समान रूप से श्वास ले रहे हों, तब समझना चाहिए कि हम मौन ध्यान की उपयुक्त स्थिति में हैं। पहले ही एकाग्रता लाने से कोई लाभ नहीं होता। मन का निरोध अपने आप होगा।

अँगूठे और तर्जनी से नासिका-रंध्रों को बन्द करने का पर्याप्त अभ्यास कर लेने के पश्चात् हम केवल अपनी इच्छा-शक्ति, विचार मात्र से ऐसा करने में समर्थ होंगे।

अब प्राणायाम को कुछ बदलना होगा। यदि साधक के अपने 'इष्ट' (वांछित आदर्श) का कोई नाम है, तो रेचक और पूरक के समय उसे 'ॐ' के बदले उस नाम का जप करना चाहिए और कुम्भक के समय 'हुम्' मंत्र का जप करना चाहिए।

अवरुद्ध श्वास को तेज़ी के साथ कुंडलिनी के सिर के ऊपर प्रत्येक 'हुम्' जपने के साथ निक्षिप्त करो और कल्पना करो कि ऐसा करने से वह जाग रही है। अपने को ईश्वर से अभिन्न समझो। कुछ समय बाद विचार अपने आगमन की घोषणा करेंगे और वे कैसे प्रारम्भ होते हैं, इस बात का हमें ज्ञान होगा और हम जो कुछ भी सोचने जा रहे हैं, उसके प्रति सचेत हो जायँगे, इस स्तर पर ठीक वैसे ही अनुभव होगा, जैसे कि हम प्रत्यक्ष किसी आदमी को देखते हैं। इस सीढ़ी तक हम तभी पहुँच पाते हैं, जब कि हमने अपने को अपने मन से अलग करना सीख लिया है और हम अपने को अलग और मन को एक अलग वस्तु के रूप में देखते हैं। विचार तुम्हें पकड़ने न पाये, हटकर खड़े हो जाओ, वे शान्त हो जायँगे।

इन पवित्र विचारों का अनुसरण करो; उनके साथ चलो और जब वे अन्तर्हित हो जायँगे, तब तुम्हें सर्वशक्तिमान भगवान् के चरणों के दर्शन होंगे। यह स्थिति ज्ञानातीत (अतिचेतन) अवस्था है। जब विचार विलीन हो जायँ, तब उसीका अनुसरण करो और उसीमें तन्मय हो जाओ।

प्रभामण्डल (halos) अन्तर्ज्योति के प्रतीक हैं और योगी उनका दर्शन कर सकते हैं। कभी कभी हम कोई ऐसा मुख देखते हैं, जो मानो ऐसी ज्योति से मण्डित है, जिसमें हम उसके चरित्र की झलक पा सकते हैं और उसके बारे में एक अचूक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। हम अपने इष्ट का आगमन एक दिव्य दर्शन के रूप में देख सकते हैं और इस प्रतीक को आलम्बन बनाकर सरलतापूर्वक अपने मन को पूर्णरूपेण एकाग्र कर सकते हैं।

यद्यपि हम सभी इन्द्रियों की सहायता से कल्पना कर सकते हैं, तथापि अधिकतर हम आँखों की सहायता लेते हैं। यहाँ तक कि कल्पना भी अर्ध-जड़ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बिना चित्र के हम चिन्तन नहीं कर सकते। चूँकि पशु भी चिन्तन करते से प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके पास शब्द नहीं हैं, अतः यह सम्भव है कि चिन्तन और चित्रों के बीच में कोई अविच्छिन्न सम्बन्ध न हो।

योग में कल्पना को बना रहने दो, पर ध्यान रखो कि वह शुद्ध और पवित्र रहे। कल्पना-शक्ति की प्रक्रिया की हमारी सबकी अपनी अपनी अलग विशिष्टताएँ हैं। जो मार्ग तुम्हारे लिए सबसे अधिक स्वाभाविक हो, उसीका अनुसरण करो, वही सरलतम मार्ग होगा।

हमारा वर्तमान जीवन अनेक जन्मों के कर्मों का फल है। बौद्ध लोग कहते हैं, "एक से दूसरा दीप जलाया गया। दीप भिन्न भिन्न हैं, पर प्रकाश एक ही है।"

सदा प्रसन्न रहो, वीर बनो, नित्य स्नान करो और धैर्य, पवित्रता और लगन बनाये रखो। तभी तुम यथार्थतः योगी बनोगे। शीघ्रता कदापि न करो और यदि

उच्च शक्तियाँ अवतरित होती हैं, तो याद रखो कि वे तुम्हारे अपने मार्ग से भिन्न पगडंडियाँ हैं। वे तुम्हें अपने मुख्य पथ से भ्रष्ट न कर पायें। उन्हें अलग छोड़ दो और अपने एकमात्र लक्ष्य पर अटल रहो—ईश्वर। केवल अनन्त की चाह करो, जिसे पाकर हमें अनन्त शान्ति प्राप्त होगी। पूर्ण को प्राप्त करने पर फिर प्राप्त करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। हम सदा के लिए मुक्ति और पूर्णता का लाभ कर लेते हैं—पूर्ण सत्, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द।

षष्ठ पाठ

सुषुम्णा : सुषुम्णा का ध्यान करना अत्यन्त लाभदायक है। तुम इसका चित्र अपने भाव-चक्षुओं के सामने लाओ, यह सर्वोत्तम विधि है। पश्चात् देर तक उसका ध्यान करो। सुषुम्णा एक सूक्ष्म, समुज्ज्वल सूत्र है। मेरुदण्ड का यह प्राणवंत मार्ग, जिसके द्वारा हम कुंडलिनी जाग्रत कर सकते हैं, मुक्ति का द्वार है।

योगियों की भाषा में सुषुम्णा के दोनों छोरों पर दो कमल हैं। नीचेवाला कमल कुंडलिनी के त्रिकोण को आच्छादित किये हुए है और ऊपर ब्रह्मरंध्र या सहस्रार को ढके हुए है। इन दोनों के बीच और भी चार कमल हैं, जो इस मार्ग के विभिन्न सोपान हैं :

षष्ठ—सहस्रार।
पञ्चम—नेत्रों के मध्य—आज्ञाचक्र।
चतुर्थ—कण्ठ के नीचे—विशुद्ध।
तृतीय—हृदय के समीप—अनाहत।
द्वितीय—नाभिदेश में—मणिपुर।
प्रथम—मेरुदण्ड के नीचे—मूलाधार।

प्रथम कुंडलिनी को जगाना चाहिए, फिर उसे एक कमल से दूसरे कमल की ओर ऊपर लेते हुए अन्त में मस्तिष्क में पहुँचाना चाहिए। प्रत्येक सोपान मन का एक नूतन स्तर है।

राजयोग

योग का प्रथम अंग यम है।

यम की सिद्धि के लिए पाँच बातों की आवश्यकता है।

(१) मनसा, वाचा और कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट न देना।

(२) मनसा, वाचा और कर्मणा सत्य का पालन।

(३) मनसा, वाचा और कर्मणा अस्तेय का पालन।

(४) मनसा, वाचा और कर्मणा पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन।

(५) मनसा, वाचा और कर्मणा पूर्ण अपरिग्रह का पालन।

पवित्रता ही सबसे महान् शक्ति है। उसके सम्मुख अन्य हर वस्तु भय से सिकुड़ जाती है।

तब साधक के लिए आसन का प्रश्न उठता है। आसन दृढ़ होना चाहिए। शिर, पसलियाँ और शरीर एक सीधी रेखा में, अर्द्धमुखी होने चाहिए। संकल्प करो कि तुम्हारा आसन दृढ़ है और कोई भी वस्तु तुमको डिगा नहीं सकती। फिर शरीर के अंग-प्रत्यंग आपादमस्तक स्वस्थ होने की कल्पना करो। कल्पना करो कि वह स्फटिक सदृश निर्मल और जीवन-समुद्र को पार करने के लिए पूर्णतया सक्षम पोत है।

अपनी सहायता के लिए भगवान्, दुनिया के सभी पैग़म्बरों और परित्राताओं तथा पूतात्माओं से प्रार्थना करो।

फिर आधे घंटे तक प्राणायाम का अभ्यास या पूरक, कुम्भक और रेचक क्रिया करो। पूरक और रेचक करते समय ॐ का मानसिक जप करो। आत्माभिभावित शब्दों में अद्भुत शक्ति है।

योग के अन्य अंग हैं—(१) प्रत्याहार या सभी बाह्य विषयों से इन्द्रियों का आहरण और उनको पूर्णतया मानसिक विषयों की ओर उन्मुख करना, (२) धारणा या अविचल एकाग्रता, (३) ध्यान या चित्त की प्रत्ययैकतानता, (४) समाधि या निर्विकल्प ध्यान। यह योग का उच्चतम और अन्तिम अंग है। परआत्मा में चित्त का पूर्ण रूप से लय होना समाधि है। तब बोध होता है, 'मैं और मेरे परम पिता एक हैं।'

एक समय में एक ही कार्य करो और उसे करते समय अन्य सब बखेड़ा छोड़कर उसमें जी-जान से जुट जाओ।

राजयोग का उद्देश्य

योग धर्म के नैतिक पक्ष से नहीं, वरन् मुख्यतः ध्यान पक्ष से सम्बन्धित है, यद्यपि इतना अवश्य है, कि थोड़ा नैतिक पक्ष का भी विचार करना पड़ता है। स्त्री-पुरुषों का विकास हो रहा है और अब वे तथाकथित आप्त वचनों से कुछ अधिक चाहते हैं। वे स्वयं अपनी चेतना के ही अन्तर्गत सत्यों को अनुभव करना चाहते हैं। अनुभव से ही धर्म में वास्तविकता आ सकती है। चित्त की समाधिगत अवस्था से अधिकांश आध्यात्मिक तथ्यों को संकलित करना पड़ेगा। हम भी अपने को उसी अवस्था में पहुँचायें, जिसमें विशेष अनुभूतियों का दावा करनेवाले पहुँचे थे, यदि तब हमें भी उसी तरह के अनुभव हों, तो वे हमारे लिए तथ्य बन सकेंगे। दूसरों ने जो कुछ देखा है, वह सब हम भी देख सकते हैं। एक बार जो चीज़ घटित हो चुकी, वह वैसी ही परिस्थितियों में फिर हो सकती है। हो सकने की क्या कहें, अवश्य ही होगी। राजयोग हमें सिखलाता है कि कैसे समाधि-अवस्था में पहुँचें। इस अवस्था को सभी महान् धर्म किसी न किसी रूप में मान्यता देते हैं; किन्तु भारत में धर्म के इस पक्ष पर विशेष ध्यान दिया जाता है। आरम्भ में इस अवस्था तक पहुँचने में कुछ यांत्रिक जैसे साधनों से सहायता मिल सकती है। परन्तु केवल यांत्रिक साधनों से ही अधिक काम नहीं बनता। कुछ आसनों और प्राणायाम की विधियों से मन के समन्वय और एकाग्रता में सहायता मिलती है, परन्तु इनके साथ पवित्रता और ईश्वर-साक्षात्कार की तीव्र इच्छा का होना आवश्यक है। आसन पर बैठकर मन को एक भाव में स्थिर रखने और वहीं जमाने के प्रयास में अधिकांश साधकों को यह अनुभव होगा कि इस क्रिया में सफल होने के लिए कुछ सहायता की आवश्यकता है। मन को क्रमशः और विधिपूर्वक वश में करना पड़ेगा। लगातार शनैः शनैः धैर्यपूर्वक संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति को बलवती बनाना पड़ेगा। यह बच्चों का खिलवाड़ नहीं और न कोई सनक है कि उसमें पड़कर एक दिन अभ्यास किया जाय और दूसरे दिन त्याग दिया जाय। यह जीवन भर का काम है और लक्ष्य की सिद्धि में जो भी मूल्य चुकाना पड़े, वह सर्वथा उचित है, और वह लक्ष्य ईश्वर से अपने पूर्ण एकत्व के बोध जैसा महान् है। यदि इसे लक्ष्य बनाया जाय और यदि यह ज्ञान रहे कि सफलता ध्रुव है, तो उसकी सिद्धि के लिए कोई भी मूल्य चुकाना अधिक नहीं हो सकता।

राजयोग-शिक्षा[1]

प्राण

सृष्टि का सिद्धान्त यह है कि पदार्थ की पाँच दशाएँ होती हैं—आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी। इन सबकी उत्पत्ति एक मूल तत्त्व से होती है, जो अत्यन्त सूक्ष्मतम आकाश (ether) है।

ब्रह्माण्ड में जो ऊर्जा है, उसका नाम है प्राण और वह इन भूतों में शक्ति के रूप में निवास करती है। प्राण के प्रयोग का महान् उपकरण मन है। मन भौतिक है। मन के परे आत्मा है, जो प्राण को धारण करता है। प्राण ब्रह्माण्ड को गतिमान करने की शक्ति है और जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में उसको देखा जा सकता है। शरीर मरणधर्मा है, मन मरणधर्मा है; तत्त्वों के संघात के कारण दोनों का अन्त अवश्यम्भावी है। इन सबसे परे आत्मा है, जो कभी नहीं मरती। आत्मा, विशुद्ध बुद्धि है, जिससे प्राण नियन्त्रित तथा निर्दिष्ट होता है। परन्तु हम अपने चतुर्दिक जो बुद्धि देखते हैं, वह सदा अपूर्ण रहती है। जब बुद्धि पूर्ण होती है, तब हमें अवतार उपलब्ध होते हैं, जैसे ईसा। बुद्धि सदा अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रही है और एतदर्थ वह विभिन्न अंशों तक विकसित मन तथा शरीरों की सृष्टि कर रही है। वास्तव में और मूलतः सभी प्राणी समान हैं।

मन अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक पदार्थ है। प्राण को अभिव्यक्त करने का उपकरण मन है। अभिव्यक्ति के लिए शक्ति को भौतिक पदार्थ की आवश्यकता होती है।

आगे प्रश्न यह उठता है कि इस प्राण का प्रयोग कैसे किया जाय। हम सभी इसका प्रयोग करते हैं, पर हाय, इसका कितना अपव्यय होता है! साधना की आरम्भिक अवस्था में प्रथम सिद्धान्त यह है कि सभी ज्ञान अनुभूति से होता है। जो अतीन्द्रिय है, उसे तभी सचमुच अपना समझना चाहिए, जब उसकी अनुभूति हो जाय।

हमारा मन तीन स्तरों पर क्रियाशील है—अवचेतन, चेतन और अतिचेतन। मनुष्यों में केवल योगी ही अतिचेतन अवस्था में रहता है। योग का पूरा सिद्धान्त

---

१. ये पाठ इंग्लैण्ड में संरक्षित कक्षाओं के नोटों से लिये गये हैं। स०

यह है कि मन से परे कैसे पहुँचा जाय। प्रकाश या ध्वनि के कम्पन पर विचार करने से इन तीनों स्तरों को समझा जा सकता है। प्रकाश में जब अति मंद कंपन होते हैं, तब वे दिखायी नहीं पड़ते, तीव्रता बढ़ने पर प्रकाश दिखायी पड़ता है। अत्यन्त तीव्र हो जाने पर हम उन्हें देख भी नहीं सकते। वही हाल ध्वनि का है।

स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाये बिना कैसे अतीन्द्रिय बनें, यह हम सीखना चाहते हैं। पाश्चात्य मन ने अंधे के हाथ बटेर लग जाने के सदृश कुछ मनस्तात्त्विक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। ये सिद्धियाँ अप्राकृत हैं, तथा बहुधा वे व्याधि के लक्षण हैं। हिन्दुओं ने उसका अध्ययन किया है और इस विज्ञान-विषय को पूर्ण बना दिया है, जिसका अध्ययन अब सभी लोग बिना भय या खतरे के कर सकते हैं।

अतिचेतन अवस्था का उत्तम प्रमाण मानसिक उपचार है; क्योंकि जिस विचार से रोग दूर होता है, वह प्राण का एक प्रकार का स्पंदन है। वह विचार के रूप में उद्भूत नहीं होता, वरन् उससे उच्चतर कुछ और ही बन जाता है, जिसके लिए हमारे पास कोई नाम नहीं है।

प्रत्येक विचार की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था वह है, जब उसका उदय या आरम्भ होता है, जिसका हमें भान नहीं होता; द्वितीय वह है, जब विचार ऊपरी सतह तक पहुँच जाता है और तृतीय वह है, जब वह हमसे बाहर निकल जाता है। विचार ऊपरी सतह की ओर उठ रहे एक बुदबुदे के समान है। जब विचार इच्छा से संयोग करता है, तब उसे शक्ति कहते हैं। जिस रोगी की तुम सहायता करते हो, उसके लिए जिस विचार का प्रयोग करते हो, वह विचार नहीं, शक्ति है। जो आत्मपुरुष इन सबके मध्य से गतिमान हो रहा है, उसे संस्कृत में सूत्रात्मा कहते हैं।

प्राण की अन्तिम तथा सर्वोच्च अभिव्यक्ति है प्रेम। जिस क्षण तुम प्राण से प्रेम का निर्माण करने में सफल हो गये, उसी क्षण तुम मुक्त हो। यह सबसे कठिन और सर्वोत्कृष्ट लाभ है। तुम दूसरों की आलोचना कदापि न करो, स्वयं 'अपनी' आलोचना करो। जब तुम किसी शराबी को देखो, तो उसकी आलोचना न करो; याद रखो, वह अन्य रूपधारी तुम्हीं हो। जिसमें कलुष नहीं होता, वह दूसरों में भी कलुष नहीं देखता। तुम दूसरों में जो कुछ देखते हो, वही तुम्हारे भीतर विद्यमान है। सुधार का यह अचूक मार्ग है। यदि भावी सुधारकगण जो आलोचना करते हैं और दूसरों का छिद्रान्वेषण करते हैं, वे यदि स्वयं बुरा धंधा त्याग दें तो दुनिया सुधर जाय। यह विचार अपने में कूटकर भर लो।

योगाभ्यास

शरीर पर समुचित ध्यान देना चाहिए। जो लोग अपने शरीर को यातना देते हैं, वे आसुरी स्वभाव के हैं। अपना मन सदा प्रसन्न रखो। यदि विषादपूर्ण भाव उठें, तो उन्हें दुत्कार कर निकाल दो। 'योगी को अति भोजन नहीं करना चाहिए, लेकिन उपवास भी नहीं करना चाहिए। उसे बहुत नहीं सोना चाहिए, परन्तु विना सोये भी नहीं रहना चाहिए। जो सभी कार्यों में मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है, वही योगी हो सकता है।'[१]

योगाभ्यास के लिए सबसे उपयुक्त समय क्या है ? ऊषा और संध्या की संधि का समय, जब समस्त प्रकृति शान्त हो जाती है। प्रकृति की सहायता लो। सुखासन पर बैठो। पसलियों, कन्धों और शिर, तीनों अंगों को सम रखो—मेरुदण्ड को उन्मुक्त और सीधा रखो, आगे या पीछे को झुकाव नहीं होना चाहिए। तब मन में सोचो कि तुम्हारा अंग-प्रत्यंग पूर्ण स्वस्थ है। फिर सारे विश्व के लिए प्रेम की एक लहर प्रेषित करो; तत्पश्चात् ज्ञानालोक के लिए प्रार्थना करो। और अन्त में मन को श्वास से संयुक्त करो और क्रमशः उसके संचलन पर चित्त को एकाग्र करने की शक्ति प्राप्त करो। इसके कारण का पता तुमको धीरे धीरे लग जायगा।

ओजस्

ओजस् उसे कहते हैं, जो एक मनुष्य को दूसरे से भिन्न बनाता है। जिस मनुष्य में विपुल ओजस् होता है, वह जननेता होता है। ओजस् प्रबल आकर्षण-शक्ति प्रदान करता है। ओजस् का निर्माण नाड़ीय प्रवाहों से होता है। इसकी विचित्रता यह है कि उसका निर्माण उस शक्ति द्वारा बड़ी सरलता से होता है, जिसकी अभिव्यक्ति यौन शक्ति में होती है। यदि यौन केन्द्रों की शक्तियों का व्यर्थ क्षय और अपव्यय न हो, (भाव की स्थूलतर अवस्था ही क्रिया है) तो उनको ओज में परिणत किया जा सकता है। शरीर के दो प्रमुख नाड़ीय प्रवाहों का उद्‌गम मस्तिष्क से होता है, वे सुषुम्णा के दोनों ओर से नीचे, मस्तिष्क के पृष्ठ

---

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता ॥६।१६-७॥

भाग में अंग्रेजी के अंक '8' के आकार में परस्पर काटती हुई नीचे जाती हैं। इस प्रकार शरीर के वाम भाग का नियन्त्रण मस्तिष्क के दक्षिण भाग से होता है। इस नाड़ीय परिपथ के निम्नतम छोर को यौन केन्द्र या मूलाधार चक्र कहते हैं। इन दो नाड़ियों से शक्ति-प्रवाह नीचे संप्रेषित होता है और निरंतर वहुत वड़ी मात्रा में मूलाधार चक्र में संचित होता रहता है। मेरुदण्ड की अन्तिम हड्डी मूलाधार चक्र के ऊपर है और उसे लाक्षणिक भाषा में त्रिकोण कहते हैं। चूंकि शक्ति उसके सन्निकट संचित होती है, इसलिए इस शक्ति का प्रतीक सर्प (कुण्डलिनी) माना जाता है। चेतना और अवचेतना इन्हीं दो नाड़ियों के माध्यम से कार्य करती हैं। लेकिन जब अतिचेतना परिपथ के निचले छोर में पहुँच जाती है, तो नाड़ी-प्रवाह को ऊपर जाने तथा परिपथ पूरा करने न देकर, उसे रोक देती तथा मूलाधार से ओजस् के रूप में सुषुम्णा मार्ग से ऊपर जाने के लिए विवश करती है। सुषुम्णा का द्वार स्वभावतः वन्द है। लेकिन इस ओजस् का मार्ग वनाने के लिए उसे खोला जा सकता है। ज्यों ज्यों यह प्रवाह सुषुम्णा के एक चक्र से दूसरे चक्र में पहुँचता है, त्यों त्यों तुम सत्ता की एक भूमिका से दूसरी भूमिका की यात्रा कर सकते हो। यही कारण है कि मनुष्य-शरीर अन्य सव शरीरों से श्रेष्ठ है, क्योंकि मानव-शरीर में ही जीवात्मा के लिए सभी भूमिकाएँ और अनुभव सम्भव हैं। हमें अन्य शरीर की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि मनुष्य चाहे तो अपने शरीर में अपनी तैयारी समाप्त कर उसके पश्चात् निर्मल आत्मा वन सकता है। जव ओजस् सभी चक्रों को पार करता हुआ सहस्रार या पीनियल ग्रंथि (मस्तिष्क का एक भाग, जिसके वारे में विज्ञान यह निर्णय नहीं कर पाता कि उसका क्या काम है) में पहुँच जाता है, तव मनुष्य न तो शरीर रह जाता है, न मन। वह सभी वंधनों से मुक्त हो जाता है।

यौगिक शक्तियों का सवसे वड़ा ख़तरा यह है कि साधक उनमें मानो गिरकर उलझ जाता है और वह नहीं जानता कि उसका समुचित उपयोग कैसे किया जाय। उसमें जो परिवर्तन होता है, उसके निमित्त न तो वह प्रशिक्षित रहता है और न उसे कोई जानकारी रहती है। ख़तरा यह है कि इन यौगिक शक्तियों का उपयोग करने में काम-प्रवृत्ति असाधारण रूप में जाग्रत होती हैं, क्योंकि इन शक्तियों का निर्माण वस्तुतः यौन केन्द्र से होता है। सर्वोत्तम तथा सबसे निरापद मार्ग यह है कि शक्तियों की अभिव्यक्ति के चक्कर में न पड़ें, क्योंकि ये शक्तियाँ अज्ञानी तथा अप्रशिक्षित साधक को विकट नाच नचाती हैं।

अब प्रतीकों पर पुनः विचार करो। सुषुम्णा के मार्ग से ओजस् का आरोहण

कुंडलित प्रतीत होता है, इसलिए उसे सर्प कहते हैं। सर्प (या कुण्डलिनी) अस्थि या त्रिकोण पर सोयी रहती है। जब वह जगायी जाती है, तब वह सुषुम्णा के मार्ग से ऊपर चढ़ती है; और ज्यों ज्यों वह एक चक्र से होकर दूसरे चक्र को जाती है, त्यों त्यों हमारे भीतर एक नये प्राकृतिक लोक का उद्घाटन होता है, अर्थात् कुण्डलिनी जाग जाती है।

प्राणायाम

प्राणायाम का अभ्यास अतिचेतन मन को प्रशिक्षित करना है। इसके शारीरिक अभ्यास के तीन विभाग हैं, जो केवल श्वास-प्रश्वास से सम्बन्धित हैं। श्वास को खींचना, रोकना और उसे बाहर निकालना इसमें शामिल हैं। श्वास नासिका के एक छिद्र से चार तक गिनने तक अंदर खींचना चाहिए (पूरक) और फिर सोलह गिनने तक उसे भीतर रोकना चाहिए (कुम्भक)। नासिका के दूसरे छिद्र से आठ गिनने तक बाहर निकाल देना चाहिए (रेचक)। फिर पहले छिद्र को बंद रखकर विलोम रीति से नासिका के दूसरे छिद्र से उसी प्रकार पूरक करना चाहिए। आरम्भ में अँगूठे से एक नासा-छिद्र को बन्द कर पूरक-रेचक करना होगा, लेकिन कालान्तर में प्राणायाम की क्रिया मन के आदेश का पालन करने लगेगी। प्रातः तथा सायंकाल चार चार प्राणायाम करो।

अज्ञेयवाद से परे (Metagnosticism)

Repent, for the Kingdom of Heaven is at hand.—'अनुताप करो, क्योंकि स्वर्ग का साम्राज्य आसन्न है।' यह 'Repent' शब्द यूनानी भाषा में 'Metanoeite' (Meta का अर्थ है पीछे, पश्चात्, परे) है और उसका शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान—(पंच) इंद्रिय ज्ञान'—के परे जाओ, और भीतर देखो, वहाँ तुम्हें—'अपने भीतर स्वर्ग का साम्राज्य मिलेगा।'

एक दार्शनिक ग्रंथ के अन्त में सर विलियम हैमिल्टन लिखते हैं, 'यहाँ दर्शन समाप्त होता है, यहाँ से धर्म आरम्भ होता है।' धर्म कभी बुद्धि के क्षेत्र में न तो रहा है और न कभी रह सकता है। बौद्धिक तर्कना इंद्रियों द्वारा उपलब्ध तथ्यों पर आधारित होती है। इधर धर्म का इन्द्रियों से कोई सरोकार नहीं। अज्ञेयवादी कहते हैं कि वे ईश्वर को नहीं जान सकते, और ठीक कहते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी इन्द्रियों के सामर्थ्य को थाह लिया और फिर भी ईश्वर-ज्ञान की

दिशा में रंच मात्र आगे न बढ़ सके। अतः धर्म को सिद्ध करने अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व, अमरत्व आदि को सिद्ध करने के लिए हमें इन्द्रियगोचर ज्ञान से आगे बढ़ना पड़ेगा। सभी महान् पैग़म्बरों और तत्त्वदर्शियों का दावा है कि उन्होंने 'ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है।' कहने का तात्पर्य यह है कि इसका उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है। बिना अनुभव के कोई ज्ञान नहीं होता और मनुष्य को अपनी आत्मा में ईश्वर का दर्शन करना है। जब मनुष्य जगत् के उस एक महान तथ्य के सम्मुख आयेगा, तभी उसके संशय मिटेंगे और गुत्थियाँ सुलझेंगी। यह तथ्य है 'ईश्वर का साक्षात्कार।' हमारा काम इसकी सत्यता का पता लगाना है, निगलना नहीं। अन्य विज्ञानों की भाँति धर्म के लिए भी तथ्यों का संकलन करना और स्वयं अनुभव करना आवश्यक है और यह तब सम्भव है, जब तुम पंच ज्ञानेन्द्रियों की परिधि के पार पहुँचो। धार्मिक सत्यों की प्रामाणिकता की जाँच प्रत्येक व्यक्ति को करनी आवश्यक है। ईश्वर का साक्षात्कार करना ही एक लक्ष्य है। शक्ति लक्ष्य नहीं है। शुद्ध सच्चिदानन्द ही लक्ष्य है और प्रेम ही ईश्वर है।

विचार, कल्पना और ध्यान

कल्पना की जिस मानसिक शक्ति को हम लोग स्वप्नों और विचारों में लगाते हैं, वही सत्य तक पहुँचने का भी साधन है। जब कल्पना अति शक्तिशाली होती है, तब ध्येय दृश्यमान हो जाता है। अतएव इसके द्वारा हम शरीर को स्वास्थ्य अथवा व्याधि की किसी अवस्था में पहुँचा सकते हैं। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तब मस्तिष्क के कोष एक विशेष स्थिति में ठीक वैसे ही पहुँच जाते हैं, जैसे कैलीडोस्कोप के रंग-बिरंगे शीशों के टुकड़े विशेष आकृति धारण कर लेते हैं। इसी संयोजन की पुनः प्राप्ति और मस्तिष्कीय कोशिकाओं का वैसा ही विन्यास स्मृति है। जितनी अधिक प्रबल इच्छा-शक्ति होगी, उतनी ही अधिक सफलता इन मस्तिष्कीय कोशिकाओं को पुनः विन्यस्त करने में मिलेगी। शरीर को चंगा करने की एक ही शक्ति है और वह प्रत्येक मनुष्य में है। औषधि उस शक्ति को जगा भर देती है। शरीर के भीतर जो विष प्रविष्ट हो गया है, उसे बाहर निकाल फेंकने के लिए वह शक्ति जो संघर्ष करती है, उसीका प्रकट रूप व्याधि है। यद्यपि विष को परास्त करने की शक्ति को औषधि के द्वारा जगाया जा सकता है, तथापि वह विचार-शक्ति द्वारा अधिक स्थायी रूप से जगायी जा सकती है। कल्पना में स्वस्थ और बलवान होने का भाव अवश्य होना चाहिए,

जिससे कि बीमारी की दशा में आदर्श स्वास्थ्य की स्मृति जगायी जा सके और कोषिकाओं को उसी भाँति पुनर्विन्यस्त किया जा सके, जैसी वे स्वस्थ दशा में थीं। तब मन का अनुसरण करना शरीर की प्रवृत्ति बन जाती है।

दूसरा क़दम तब होता है, जब कोई दूसरा व्यक्ति हम पर अपने मन का प्रयोग कर वही प्रक्रिया कर सके। उसके उदाहरण नित्य प्रति देखे जा सकते हैं। शब्द एक मन पर दूसरे मन के क्रियाशील बनने की एक विधि मात्र हैं। शुभ और अशुभ विचारों में से प्रत्येक प्रबल शक्ति है, जिससे जगत् व्याप्त है। स्पन्दन बना रहता है, इसलिए कार्यरूप में परिणत होने तक विचार विचार के रूप में बना रहता है। दृष्टान्त के तौर पर मनुष्य की भुजा में शक्ति तब तक अव्यक्त रहती है, जब तक वह कोई प्रहार नहीं करता। तब वह शक्ति को क्रियाशीलता के रूप में परिणत करता है। हम शुभ और अशुभ विचारों के उत्तराधिकारी हैं। यदि हम अपने को निर्मल बना लें और शुभ विचारों का निमित्त बना लें, तो ये हममें प्रवेश करेंगे। पवित्रात्मा व्यक्ति अशुभ विचारों को ग्रहण नहीं कर सकता। अशुभ विचारों को पापी जनों के यहाँ सर्वोत्तम आश्रय मिलता है। वे बीजाणुओं जैसे हैं, जो उपयुक्त क्षेत्र मिलने पर ही अंकुरित होते और पनपते हैं। केवल विचार लघु तरंगों जैसे हैं, उन्हें स्पन्दित करने के लिए नयी प्रेरणाएँ आती रहती हैं और अन्त में एक बड़ी सी लहर उठकर उन सबको आत्मसात कर लेती है। ये सार्वभौम लहरें प्रति पाँच सौ वर्षों पर पुनरावर्तित होती प्रतीत होती हैं। तब कोई विशाल लहर अपरिहार्य रूप से सम्भूत होती है और अन्य सबको अपने में समेट लेती है। इन्हींको पैग़म्बर (अवतार) कहते हैं। वह जिस युग में रहता है, उस युग के विचारों को अपने मानस में केन्द्रीभूत करता है और मानव-जाति को उन्हें सुस्पष्ट रूप में प्रदान करता है। कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और लूथर इस प्रकार की विशाल लहरों के उदाहरण हैं, जो अपने समय के लोगों से ऊपर रहे। (उनके काल में लगभग पाँच पाँच सौ वर्षों का अन्तर था)। जिस तरंग के पीछे सर्वाधिक पवित्रता और सबसे उदात्त चरित्र का बल होता है, वह दुनिया में समाज-सुधार के रूप में व्याप्त होती है। एक बार फिर हम लोगों के समय में विचार-तरंगों का स्पन्दन हुआ है और केन्द्रीय भाव यह है कि ईश्वर नित्य सर्वव्यापी है और यह विचार प्रत्येक रूप और प्रत्येक सम्प्रदाय में घर कर रहा है। इन तरंगों में विनाश तथा निर्माण बारी बारी से आते हैं, फिर भी विनाश के कार्यों का अन्त सदा निर्माण करता है। जब मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वरूप तक पहुँचने के लिए गहराई में गोता लगाता है, तब वह अपने को कुसंस्कारों में बँधा हुआ नहीं अनुभव करता। अधिकांश सम्प्रदाय अल्पजीवी और पानी के बुदबुदे के समान क्षणभंगुर होते हैं,

क्योंकि बहुधा उनके प्रणेताओं में चरित्र-बल नहीं होता। पूर्ण प्रेम और प्रतिक्रिया न करनेवाले हृदय से चरित्र का निर्माण होता है। जब नेता में चरित्र नहीं होता, तब उसमें निष्ठा की सम्भावना नहीं होती। चरित्र की पूर्ण पवित्रता से स्थायी विश्वास और निष्ठा अवश्य उत्पन्न होती है।

कोई विचार लो, उसमें अनुरक्त हो जाओ, धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहो, तो तुम्हारे लिए सूर्योदय अवश्य होगा।

* * *

अब फिर कल्पना का प्रश्न लो।

हमें कुण्डलिनी को दृश्यमान बनाना है। प्रतीक है एक सर्प, जो त्रिकोणात्मक अस्थि पर कुण्डली लगाये हुए है।

तब पूर्ववर्णित विधि से प्राणायाम करो और कुम्भक करते समय कल्पना करो कि श्वास ऐसी शक्ति की धारा के सदृश है, जो अंग्रेजी के अंक 8 (आठ) में नीचे की ओर प्रवाहित हो रही है और जब वह अंक के निम्नतम बिन्दु पर पहुँचती है, तब त्रिकोण पर स्थित सर्प पर आघात करती है और उसे सुषुम्णा के भीतर मार्ग में ऊपर चढ़ाती है। विचार द्वारा श्वास को उसी त्रिकोण में जाने का निर्देश दो।

अब हम लोगों ने शारीरिक प्रक्रिया समाप्त कर दी। यहाँ से यह मानसिक प्रक्रिया हो जाती है।

प्रथम अभ्यास को प्रत्याहार कहते हैं। अब मन को समेटना पड़ेगा अथवा इधर-उधर भटकने से रोकना पड़ेगा।

शारीरिक अभ्यास के बाद मन को भागने दो, रोको मत; लेकिन उस पर निगाह रखो, द्रष्टा के रूप में उसके कार्यों के साक्षी बने रहो। इस प्रकार मन दो भागों में विभक्त हो जाता है—एक सक्रिय और दूसरा साक्षी। अब मन के उस भाग को सबल बनाओ, जो द्रष्टा बना है और दूसरे भाग को भटकने से रोकने में अपना समय मत गँवाओ। मन संकल्प-विकल्प करेगा ही, लेकिन शनैः शनैः ज्यों ज्यों साक्षी मन अपना कार्य करेगा, त्यों त्यों सक्रिय मन अधिकाधिक वश में होने लगेगा और अन्त में सक्रियता या भटकना बन्द हो जायगा।

द्वितीय अभ्यास : ध्यान—इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। हमारे शरीर की रचना मूर्त है और मन आकार के बारे में ही सोच सकता है। धर्म इस आवश्यकता को स्वीकार करता है और बाह्य मूर्तियों तथा बाह्य पूजा की सहायता प्रदान करता है। ईश्वर के किसी आकार के बिना तुम ईश्वर का ध्यान

नहीं कर सकते। कोई न कोई आकार तुम्हारे समक्ष उपस्थित होगा, क्योंकि विचार तथा प्रतीक, दोनों अभिन्न हैं। उस आकार पर मन को एकाग्र करने का यत्न करो।

तृतीय अभ्यास : ध्यान से इसकी उपलब्धि होती है और वस्तुत: यही चित्त की एकाग्रता—'एक विन्दु पर स्थिरता' है। साधारणत: मन की गति वर्तुलाकार है, उसे एक विन्दु पर जमाओ।

अन्तिम साधना तो परिणाम है। जब मन यहाँ तक पहुँच जाता है, तो सभी कुछ प्राप्त हो गया—नीरोग करने की शक्ति, अतिदृष्टि ज्ञान और सभी यौगिक सिद्धियाँ। एक क्षण में तुम इस विचारधारा को किसी पर प्रवाहित कर सकते हो, जैसा ईसा करते थे, और तत्काल ही उसका परिणाम होगा।

पूर्व प्रशिक्षण के बिना भी लोग इन सिद्धियों को संयोगात् प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु तुमको मेरी सलाह यह है कि इन सबका अभ्यास धीरे धीरे करो, तब सब कुछ तुम्हारे वश में रहेगा। यदि प्रेम से ही प्रेरित हो, तो नीरोग करने का थोड़ा अभ्यास किया जा सकता है, क्योंकि उससे क्षति नहीं पहुँच सकती। मनुष्य बड़ा अदूरदर्शी और अधीर होता है। शक्ति सभी चाहते हैं, किन्तु विरले ही अपने लिए उसे प्राप्त करने की प्रतीक्षा करते हैं। वह वितरण करना चाहता है, संचय नहीं। कमाने में बहुत समय लगता है, बाँटने में बहुत कम। इसलिए जब शक्तियाँ प्राप्त हों, तब उन्हें संचित करते जाओ और उन्हें नष्ट न करो।

जो भी आवेग-तरंग रोक ली जाय, वह लाभकारी है। इसलिए समस्त नैतिकता के पालन की भाँति क्रोध के बदले क्रोध न करना भी एक अच्छी नीति है। ईसा ने कहा था, "बुराइयों का प्रतिरोध मत करो", और हम इसको तब तक नहीं समझते, जब तक हमें यह पता नहीं लग जाता कि ऐसा करना केवल नैतिक ही नहीं है, वरन् सर्वोत्तम नीति भी है, क्योंकि जो आदमी क्रोध करता है, वह अपनी ही शक्ति नष्ट करता है। तुम अपने मस्तिष्क में क्रोध और घृणा का गठबन्धन न होने दो।

जब रसायन-विज्ञान में मूल तत्त्व का पता लग जाता है, तब रसायनशास्त्री का कार्य पूरा हो जाता है। जब एकत्व का बोध हो जाता है, तब धर्म-विज्ञान में पूर्णता प्राप्त हो जाती है और इसकी उपलब्धि हज़ारों वर्ष पहले हो चुकी है। निरतिशय एकत्व की उपलब्धि तब होती है, जब मनुष्य कहता है, "मैं और मेरे परम पिता एक हैं।"

एकाग्रता

एकाग्रता समस्त ज्ञान का सार है, उसके बिना कुछ नहीं किया जा सकता। साधारण मनुष्य अपनी विचार-शक्ति का नब्बे प्रतिशत अंश व्यर्थ नष्ट कर देता है और इसलिए वह निरन्तर भारी भूलें करता रहता है। प्रशिक्षित मनुष्य अथवा मन कभी कोई भूल नहीं करता। जब मन एकाग्र होता है और पीछे मोड़कर स्वयं पर ही केन्द्रित कर दिया जाता है, तो हमारे भीतर जो भी है, वह हमारा स्वामी न रहकर हमारा दास बन जाता है। यूनानियों ने अपने मन की एकाग्रता को बाह्य संसार पर केन्द्रित किया और परिणामस्वरूप उन्होंने कला, साहित्य आदि में पूर्णता प्राप्त की। हिन्दुओं ने मन की एकाग्रता को अन्तर्जगत् पर और आत्मा के अगोचर क्षेत्र पर केन्द्रित किया और परिणामस्वरूप योगशास्त्र का विकास हुआ। इच्छा-शक्ति, मन और इन्द्रियों को वश में रखना योग है। इसके अध्ययन से यह लाभ है कि हम उनके द्वारा नियन्त्रित होने की जगह उनका नियन्त्रण करना सीख लेते हैं। चित्त तह के ऊपर तह प्रतीत होता है। हमारा वास्तविक लक्ष्य यह है कि इन सभी मध्यवर्ती तहों को पारकर ईश्वर को प्राप्त करें। योग का साध्य और लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है। ऐसा करने के लिए हमें सापेक्ष ज्ञान और इन्द्रिय-जगत् से परे जाना ही पड़ेगा। संसार ऐन्द्रिक सुखों के लिए जाग्रत रहता है, ईश्वर के पुत्र उस स्तर पर सोते रहते हैं। संसार उस शाश्वत के प्रति सुषुप्त हैं, ईश्वर के पुत्र उस क्षेत्र में जाग्रत हैं।[1] ये ही ईश्वर के पुत्र हैं। इन्द्रियों को वश में करने का केवल एक उपाय है—उसका दर्शन करना, जो इस जगत् में सत्य है। बस, तभी हम सचमुच जितेन्द्रिय हो सकते हैं।

मन को लघु से लघुतर सीमाओं में समेटना एकाग्रता है। इस प्रकार मन को संयमित करने के आठ अंग हैं। पहला यम है, जिसमें मन को बहिर्मुख होने से रोका जाता है। इसमें सभी प्रकार की नैतिकता सम्मिलित है। कोई दुर्भाव न आने दो। किसी प्राणी की हिंसा मत करो। यदि तुम बारह वर्ष तक कोई हिंसा न करो, तो सिंह और व्याघ्र भी तुम्हारे सामने विनम्र हो जायेंगे। सत्य के व्रत का

---

१. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ गीता ॥२।६९॥

पालन करो। बारह वर्ष तक मनसा, वाचा और कर्मणा पूर्ण सत्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य जो भी इच्छा करे, वह पूरी हो जायगी। विचार, वचन और कर्म में पवित्र बनो। पवित्रता सभी धर्मों का आधार है। ब्रह्मचर्य नितान्त आवश्यक हैं। दूसरा है नियम अर्थात् मन को किसी दिशा में विचरण से रोकना। फिर है आसन, मुद्रा। आसन चौरासी हैं, लेकिन सर्वोत्तम वह है, जो व्यक्तिविशेष की प्रकृति के अनुकूल हो, अर्थात् जिसमें वह व्यक्ति सबसे आसानी से अधिकाधिक समय तक स्थिर रह सके। इसके पश्चात् आता है प्राणायाम, श्वास पर नियन्त्रण। तब है प्रत्याहार, इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेना। फिर है धारणा, चित्त की एकाग्रता। तदुपरान्त है ध्यान। (यह योगशास्त्र का अन्तःस्थ सार है)। और अन्तिम है समाधि, अतिचेतना। शरीर और मन जितने अधिक पवित्र होंगे, उतना ही शीघ्र अभीष्ट सिद्ध होगा। तुमको पूर्ण पवित्र होना पड़ेगा। किसी भी बुरी वस्तु का विचार मन में मत लाओ। ऐसे विचार तुमको निश्चय नीचे घसीट लायेंगे। यदि तुम पूर्ण पवित्र हो और निष्ठापूर्वक साधना करते हो, तो अन्ततः तुम्हारा चित्त असीम शक्ति का दीपस्तंभ बन जायगा। उसकी पहुँच की कोई सीमा नहीं है। किन्तु निरन्तर अभ्यास तथा संसार के प्रति अनासक्ति अवश्य होनी चाहिए। जब कोई मनुष्य समाधि अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसकी शरीर-भावना निर्मूल हो जाती है। तभी वह मुक्त और अमर होता है। बाहर से देखने में तो अचेतन और अतिचेतन अवस्थाएँ एक प्रतीत होती हैं, पर उनमें वैसा ही अन्तर है, जैसा मिट्टी की ढेरी और स्वर्णराशि में है। जिसने अपनी संपूर्ण आत्मा ईश्वर को समर्पित कर दी है, वही समाधि की भूमिका में पहुँचता है।

एकाग्रता और श्वास-प्रश्वास-क्रिया

मनुष्य और पशु में मुख्य अन्तर उनकी मन की एकाग्रता की शक्ति में है। किसी भी प्रकार के कार्य में सारी सफलता इसी एकाग्रता का परिणाम है। एकाग्रता के बारे में कुछ न कुछ प्रत्येक व्यक्ति जानता है। हम इसके परिणाम नित्य देखते हैं। कला, संगीत आदि में उच्च उपलब्धियाँ मन की एकाग्रता के परिणाम हैं। पशु में मन की एकाग्रता की शक्ति बहुत कम होती है। जो लोग पशुओं को कुछ सिखाते हैं, उन्हें पता है कि पशु को जो बात सिखायी जाती है, उसे वह लगातार भूलता जाता है। वह एक बार में किसी एक वस्तु पर देर तक चित्त को एकाग्र नहीं रख सकता। मनुष्य और पशु में यही अन्तर है—मनुष्य में चित्त की एकाग्रता की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। एकाग्रता की शक्ति में अन्तर के कारण ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। छोटे से छोटे आदमी की तुलना ऊँचे से ऊँचे आदमी से करो। अन्तर मन की एकाग्रता की मात्रा में होता है। बस, यही अन्तर है।

प्रत्येक व्यक्ति का मन कभी न कभी एकाग्र हो जाता है। हमें जो चीज़ें प्यारी होती हैं, उन पर हम मन जमाते हैं और जिन चीज़ों पर हम मन जमाते हैं, वे हमें प्यारी होती हैं। कौन ऐसी माता होगी, जो अपने कुरूप से कुरूप बच्चे के चेहरे को प्यार न करती हो? उसके लिए वह मुखड़ा दुनिया में सुन्दरतम है। वह उससे प्रेम करती है, क्योंकि उस पर अपने मन को एकाग्र करती है और यदि सब लोग उसी चेहरे पर अपने मन को एकाग्र करें, तो सब उसे प्यार करने लगेंगे। सभी को वह चेहरा सुन्दरतम प्रतीत होने लगेगा। हम जिन्हें प्यार करते हैं, उन्हीं चीज़ों पर अपना मन एकाग्र करते हैं। जब हम कोई मधुर संगीत सुनते हैं, तो हमारा मन उसमें अनुरक्त हो जाता है और हम उसे वहाँ से हटा नहीं सकते। जो लोग अपना मन शास्त्रीय संगीत पर एकाग्र करते हैं, उन्हें लोक-संगीत नहीं रुचता और जो लोक-संगीत पर मन एकाग्र करते हैं, उन्हें शास्त्रीय संगीत पसन्द नहीं। संगीत में एक स्वर के बाद दूसरा स्वर जल्दी जल्दी बदलता है, जिससे मन तत्काल स्थिर हो जाता है। बच्चा जीवन्त संगीत इसलिए पसन्द करता है कि स्वरों के द्रुत परिवर्तन के कारण उसके मन को इधर-उधर भागने का अवसर नहीं मिलता। जिस आदमी को सामान्य संगीत पसन्द है, वह शास्त्रीय संगीत को नापसन्द करता

है, क्योंकि वह अधिक गूढ़ है और उसे समझने में अधिक मात्रा में एकाग्रता की आवश्यकता पड़ती है।

ऐसी एकाग्रता में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि हम अपने मन को वश में नहीं करते; उसीके वश में हम रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि हमसे बाहर की कोई वस्तु मन को अपने में खींच लेती है और जब तक चाहती है, तब तक उसे पकड़े रहती है। सुरीली तान सुनने या सुन्दर चित्र देखने पर हमारा मन उनकी पकड़ में दृढ़तापूर्वक आ जाता है। हम वहाँ से उसे हटा नहीं सकते।

जो विषय तुमको पसन्द है, उस पर अगर मैं अच्छा भाषण करूँ, तो तुम्हारा मन, जो मैं कहूँगा, उस पर एकाग्र हो जायगा। तुम्हारी अनिच्छा के बावजूद मैं तुम्हारे मन को तुमसे बाहर आकृष्ट कर उस विषय में जमा देता हूँ। इसी प्रकार हमारे न चाहते हुए भी हमारा ध्यान खिंच जाया करता है और हमारा मन विभिन्न वस्तुओं पर एकाग्र होता रहता है। हम इसे रोक नहीं सकते।

अब प्रश्न उठता है कि क्या यह एकाग्रता विकसित की जा सकती है और क्या हम मन के स्वामी बन सकते हैं? योगियों का कहना है, हाँ। योगी कहते हैं कि हम मन पर पूर्ण नियन्त्रण कर सकते हैं। मन की एकाग्रता बढ़ाने से नैतिक धरातल पर ख़तरा है—किसी वस्तु पर मन एकाग्र कर लेना और फिर इच्छानुसार उससे हटा लेने में अशक्त होना ख़तरा है। इस अवस्था से बड़ा कष्ट होता है। हमारे प्राय: सभी क्लेशों का कारण हममें अनासक्ति के सामर्थ्य का अभाव है। अतएव मन की एकाग्रता के सामर्थ्य के विकास के साथ साथ हमें अनासक्ति के सामर्थ्य का विकास अवश्य करना चाहिए। सब ओर से मन को हटाकर किसी एक वस्तु में उसे आसक्त करना ही नहीं, वरन् एक क्षण में उससे अनासक्त कर किसी अन्य वस्तु में स्थापित करना भी हमें अवश्य सीखना चाहिए। इसे निरापद बनाने के लिए इन दोनों का अभ्यास एक साथ बढ़ाना चाहिए।

यह मन का सुव्यवस्थित विकास है। मेरे विचार से तो शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करना है, तथ्यों का संकलन नहीं। यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और इसमें मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं मन की एकाग्रता और अनासक्ति का सामर्थ्य बढ़ाता और उपकरण के पूर्णतया तैयार होने पर उससे इच्छानुसार तथ्यों का संकलन करता। बच्चे में मन की एकाग्रता और अनासक्ति का सामर्थ्य एक साथ विकसित होना चाहिए।

सदा से मेरा विकास एकांगी रहा है। इच्छानुसार मन को अनासक्त करने के सामर्थ्य के बिना मैंने मन की एकाग्रता का अभ्यास बढ़ाया और मुझे अपने जीवन की सबसे घोर यातना इसीके कारण झेलनी पड़ी। अब मुझमें मन को

अनासक्त कर लेने का सामर्थ्य है, लेकिन मैं इसे अपने जीवन में देर में सीख पाया।

हमें चाहिए कि हम अपना मन वस्तुओं पर नियोजित करें, न कि वस्तुएँ हमारे मन को खींच लें। हमें बहुधा विवश होकर मन एकाग्र करना पड़ता है। हमारा मन विवश होकर विभिन्न वस्तुओं पर उनके किसी आकर्षक गुण के कारण जमने लगता है और हम उसका प्रतिरोध नहीं कर पाते। मन को वश में करने, अभीष्ट स्थान पर उसे लगाने के लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे किसी तरीक़े से यह हो नहीं सकता। धर्म की साधना में मन को वश में करना आवश्यक है। इस साधना में हमें मन को मन में ही लगाना पड़ता है।

मन को प्रशिक्षित करने का श्रीगणेश श्वास-क्रिया से होता है। नियमित श्वास-प्रश्वास से शरीर की दशा समन्वित होती है, और तब मन तक पहुँचने में आसानी होती है। प्राणायाम का अभ्यास करने में सबसे पहले आसन पर विचार किया जाता है। जिस आसन में कोई व्यक्ति देर तक सुखासीन रह सके, वही उसके लिए उपयुक्त आसन है। मेरुदण्ड उन्मुक्त रहना चाहिए और शरीर के भार का वहन पसलियों द्वारा होना चाहिए। मन को वश में करने के लिए तरक़ीबों से काम लेने की कोशिश मत करो। उस दिशा में साधारण श्वास-क्रिया पर्याप्त है। मन को एकाग्र करने में कोई कड़ा नियम बरतना भूल है। उनका उपयोग मत करो।

मन की क्रिया शरीर पर होती है और इसी प्रकार शरीर की क्रिया मन पर। उनकी एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। प्रत्येक मानसिक अवस्था शरीर में एक समानुरूप अवस्था उत्पन्न करती है और शरीर की प्रत्येक क्रिया का मन पर समानुरूप प्रभाव पड़ता है। चाहे तुम मन और शरीर को दो भिन्न सत्ताएँ समझो अथवा दोनों को एक ही पिण्ड मानो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता—शरीर स्थूल अंश है और मन सूक्ष्म अंश है। दोनों की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। मन लगातार शरीर बनता जा रहा है। मन को प्रशिक्षित करने में शरीर के माध्यम से उसके पास पहुँचना अपेक्षाकृत आसान है। मन की अपेक्षा शरीर को पकड़ में रखना सरल है।

उपकरण जितना ही सूक्ष्म होगा, उतना ही अधिक वह शक्तिशाली होगा। मन अति अधिक सूक्ष्म है और शरीर की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। इस कारण शरीर से आरम्भ करना अपेक्षाकृत अधिक सरल है।

प्राणायाम-विज्ञान शरीर द्वारा मन तक पहुँचने की क्रिया है। इस प्रकार हम शरीर पर अपना नियन्त्रण स्थापित करते हैं और तब हम शरीर की सूक्ष्म क्रिया का, जो सूक्ष्मतर है और गहराई में है, अनुभव करने लगते हैं और इस

प्रकार बढ़ते बढ़ते हम मन तक पहुँच जाते हैं। जब हम शरीर की सूक्ष्मतर क्रियाओं का अनुभव करने लगते हैं, तब वे हमारे वश में होने लगती हैं। कुछ समय बाद तुमको शरीर पर मन की क्रिया का अनुभव होने लगेगा। तुमको यह भी अनुभव होने लगेगा कि मन के एक अर्द्धभाग की दूसरे अर्द्धभाग पर क्या क्रिया हो रही है और यह भी अनुभव होगा कि मन नाड़ी-केन्द्रों को अपने कार्य के लिए तैयार करने लगा, क्योंकि मन नाड़ी-तन्त्र पर नियन्त्रण रखता है और उस पर शासन भी करता है। तुमको अनुभव होगा कि मन विभिन्न नाड़ी-प्रवाहों पर कार्य कर रहा है।

इस प्रकार मन वश में कर लिया जाता है—नियमित व्यवस्थित श्वास-प्रश्वास द्वारा, पहले स्थूल शरीर को और तब सूक्ष्म शरीर को शासित करने से वश में होता है।

श्वास-प्रश्वास की प्रथम क्रिया बिल्कुल निरापद है और बड़ी स्वास्थ्यप्रद है। कम से कम वह तुमको उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करेगी और साधारणतः तुम्हारी दशा में सुधार करेगी। प्राणायाम की अन्य क्रियाओं का अभ्यास धीरे धीरे और सावधानी से करना चाहिए।

मनोविज्ञान का महत्त्व

पाश्चात्य देशों में मनोविज्ञान को अत्यन्त निम्न कोटि का स्थान दिया गया है। मनोविज्ञान विज्ञानों का भी विज्ञान है, लेकिन पश्चिमी देशों में उसे अन्य विज्ञानों की भाँति एक ही धरातल पर रखा गया है; अर्थात् उसे परखने के लिए भी वही कसौटी रखी गयी है—उपयोगिता।

मानवता का इससे कितना व्यावहारिक लाभ होगा ? द्रुत गति से बढ़नेवाले हमारे सुखों में इससे कितनी वृद्धि होगी ? तेज़ी से बढ़नेवाले हमारे कष्टों में इससे कितनी कमी होगी ? यह है वह कसौटी, जिस पर पश्चिम में प्रत्येक वस्तु को परखा जाता है।

जान पड़ता है कि लोग यह भूल जाते हैं कि हमारे ज्ञान के लगभग नब्बे प्रतिशत अंश का स्वत: कोई ऐसा व्यावहारिक उपयोग नहीं हो सकता, जिससे हमारे सांसारिक सुखों में वृद्धि हो और दु:खों का ह्रास हो। नित्य प्रति के जीवन में हमारी वैज्ञानिक जानकारी के अल्पतम अंश का ही इस प्रकार का कोई व्यावहारिक उपयोग हो सकता है। ऐसा इसलिए है कि हमारे चेतन मन का अत्यन्त अल्प अंश ही संवेद्य धरातल पर है। संवेद्य चेतना है तो रंच मात्र ही, लेकिन हम सोच लेते हैं कि वही हमारा सम्पूर्ण मन और जीवन है, पर वस्तुत: वह अर्द्धचेतन मन के अपार समुद्र में एक बूंद के समान है। हम जो कुछ हैं, यदि वह इन्द्रियजन्य ज्ञान की गठरी मात्र होता, तो हम जो कुछ ज्ञानार्जन करते, उनका उपयोग इन्द्रिय-सुखों की तृप्ति में हो सकता था। परन्तु सौभाग्य से यह बात नहीं है। हम ज्यों ज्यों पाशविक अवस्था से दूर होते जाते हैं, त्यों त्यों विषय-सुख कम होने लगते हैं और वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक ज्ञान की तेज़ी से बढ़नेवाली चेतना में तीव्रतर आनन्द लाभ होने लगता है। तब 'ज्ञान के लिए' ज्ञान प्राप्त करना मन को सर्वाधिक आनन्द-दायक हो जाता है, चाहे उससे कुछ इन्द्रिय-सुख मिले, अथवा न मिले।

किन्तु परख के लिए उपयोगिता की पाश्चात्य कसौटी स्वीकार कर लेने पर भी, इस मानदण्ड से भी मनोविज्ञान विज्ञानों का विज्ञान है। क्यों? हम सब अपनी इन्द्रियों के दास हैं, अपने चेतन तथा अवचेतन मन के दास हैं। कोई अपराधी इसलिए अपराधी नहीं है कि वह वैसा बनना चाहता है, वरन् इसलिए है कि उसका मन उसके वश में नहीं है और इस प्रकार वह अपने ही चेतन तथा अवचेतन मन का

तथा अन्य प्रत्येक व्यक्ति के मन का दास है। उसे झख मारकर अपने चित्त की वलवती प्रवृत्ति का अनुसरण करना पड़ता है, उसे वह रोक नहीं सकता। अपनी अन्तरात्मा, अपनी अन्तःप्रेरणा, अपनी सत्प्रवृत्तियों के बावजूद वह अग्रसर होता है और स्वयं अपने मन की प्रवल प्रवृत्ति के अनुसार चलने को विवश हो जाता है। वह वेचारा अपने को रोक नहीं सकता। हम इसे लगातार अपने जीवन में भी देखते हैं। अपनी सत्प्रवृत्तियों के विपरीत हम लगातार कार्य कर रहे हैं और वाद में इस करनी पर अपने को ही कोसते हैं, आश्चर्य भी करते हैं कि भला कैसे हम ऐसी वातें सोचते थे और कैसे हमने इस तरह का काम किया! फिर भी हम उसे वार वार करते हैं, वार वार उसके कारण कष्ट झेलते हैं और हम अपने को कोसते हैं। उस समय शायद हम सोचते हैं कि वैसा करने की हमारी इच्छा है, लेकिन हम केवल इसलिए इच्छा करते हैं कि हमें उसके लिए इच्छा करने को विवश होना पड़ा। हमें आगे चलने को विवश किया जाता है, हम लाचार हैं! हम लोग स्वयं अपने मन के और अन्य सब लोगों के मन के दास हैं; हम चाहे भले हों या बुरे हों, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। हमें इतस्ततः नाच नचाया जाता है, क्योंकि हम अपने को वश में नहीं रख पाते। हम कहते हैं कि हम सोचते हैं, हम करते हैं आदि। ऐसी बात नहीं है। हम सोचते हैं, क्योंकि हमें सोचना ही पड़ता है; हम कार्य करते हैं, क्योंकि हमें करना ही पड़ता है। हम अपने दास हैं और दूसरों के भी। भीतर गहराई में हमारे अवचेतन मन में केवल इसी जन्म के ही नहीं, वरन् भूतकाल के सभी जन्मों के विचार तथा कर्म संचित हैं। आत्मनिष्ठ मन का यह बृहत् अपार सागर भूतकाल के सभी विचारों और कर्मों से भरपूर है। इनमें से प्रत्येक विचार अपनी मान्यता के लिए प्रयत्न कर रहा है, व्यक्त होने के लिए बाहर को ज़ोर मार रहा है, उद्वेलित हो रहा है, एक तरंग के बाद दूसरी तरंग के रूप में वस्तुनिष्ठ मन से, चेतन मन से, टकरा रहा है। इन विचारों, इस संचित शक्ति को, हम स्वाभाविक इच्छा, प्रतिभा आदि मानते हैं। यह इसलिए है कि हम उसके सही उद्गम को नहीं समझते। हम विना चूं-चपड़ किये आँख मूंदकर उनके आदेशों का पालन करते हैं; और दासता, निकृष्टतम कोटि की दासता, हमारे मत्थे पड़ती है; और हम अपने को मुक्त कहते हैं। मुक्त! हम एक क्षण तो स्वयं अपने मन पर शासन नहीं कर सकते, यही नहीं, किसी विषय पर उसे स्थिर नहीं कर सकते और अन्य सबसे हटाकर किसी एक बिन्दु पर उसे केन्द्रित नहीं कर सकते! फिर भी हम अपने को मुक्त कहते हैं! ज़रा इस पर ग़ौर तो करो! काल की अत्यन्त लघु अवधि तक भी हम उसे नहीं कर पाते, जिसे हम जानते हैं कि हमें करना चाहिए। कोई विषय-वासना उत्पन्न हो जाती है और हम उसकी आज्ञा पालन करते हैं।

ऐसी दुर्बलता पर हमारी अन्तरात्मा हमें ताड़ित करती है, किन्तु हम पुनः पुनः वही करते हैं, हम सदा वही कर रहे हैं। अपने प्रयत्नों के बावजूद, हम जीवन को उच्च कोटि का नहीं बना पाते। पूर्व संस्कारों और पूर्व जन्मों के प्रेत हमें नीचे गिराये रखते हैं। समस्त सांसारिक दुःखों का कारण है, इन्द्रियों की दासता। इन्द्रियपरायण जीवन से अतीत होने की हमारी असमर्थता—शारीरिक भोगों के लिए उद्यम ही संसार में सभी आतंकों तथा दुःखों का कारण है।

यह मनोविज्ञान ही है, जो हमें चक्कर काटनेवाले निरंकुश मन को संयमित करना, उसे इच्छा के नियन्त्रण में रखना और इस प्रकार उसके अत्याचारी आदेशों से अपने को मुक्त करना सिखाता है। अतएव मनोविज्ञान सब विज्ञानों का विज्ञान है और उसके बिना अन्य सब ज्ञान व्यर्थ हैं।

अनियंत्रित और अनिर्दिष्ट मन हमें सदैव उत्तरोत्तर नीचे की ओर घसीटता रहेगा—हमें चींथ डालेगा, हमें मार डालेगा; और नियन्त्रित तथा निर्दिष्ट मन हमारी रक्षा करेगा, हमें मुक्त करेगा। इसलिए वह अवश्य नियन्त्रित होना चाहिए और मनोविज्ञान सिखाता है कि इसे कैसे करना चाहिए।

किसी पार्थिव विज्ञान के अध्ययन और विश्लेषण के लिए पर्याप्त आँकड़े जुटाये जाते हैं। इन तथ्यों का अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है और परिणाम होता है, उस विज्ञान की जानकारी। किन्तु मन के अध्ययन और विश्लेषण के लिए कोई आँकड़े नहीं हैं, बाहर से उपलब्धि के लिए कोई ऐसे तथ्य नहीं हैं, जो समान रूप से सर्वसुलभ हों। मन का विश्लेषण स्वयं उसीके द्वारा होता है। इसलिए सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है मन का विज्ञान अथवा मनोविज्ञान।

पश्चिम में मन की शक्तियों, विशेषतः असाधारण शक्तियों को जादू और रहस्यवाद सरीखा मानते हैं। उच्चतर मनोविज्ञान का अध्ययन इस कारण कुण्ठित हो गया है कि उसका तादात्म्य केवल तथाकथित मनस्तात्त्विक व्यापारों से, जैसी कुछ चमत्कार दिखानेवाले हिन्दू फ़क़ीर करते हैं, स्थापित कर दिया गया है।

भौतिक वैज्ञानिक दुनिया भर में प्रायः एक से परिणाम पर पहुँचते हैं। उन्हें जिन साधारण तथ्यों का पता लगता है और उनके अनुगामी जो निष्कर्ष निकालते है, उनके विषय में उनमें मतभेद नहीं होता। इसका कारण यह है कि भौतिक विज्ञान सम्बन्धी आँकड़े सर्वसुलभ हैं और उन्हें सार्वभौम मान्यता प्राप्त है तथा सार्वभौम मान्य तथ्यों के आधार पर तर्कसंगत परिणाम निकाले गये हैं। मनोराज्य में इससे भिन्नता है। यहाँ न तो कोई आँकड़े हैं, न शारीरिक इन्द्रियों के पर्यवेक्षण के योग्य कोई तथ्य हैं, और इसलिए सार्वभौम मान्यताप्राप्त कोई सामग्री नहीं हो सकती

कि, जिसके आधार पर मनोविज्ञान को तब कोई व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता, जब मन के अध्ययन में लगे सब लोग समान रूप से परीक्षण कर लेते।

गहन, गहन गहराई में वह यथार्थ मनुष्य है, आत्मा। मन को अन्तर्मुख कर लो और उससे संयुक्त हो जाओ। स्थायित्व की उस पीठिका से मन के इधर-उधर चक्कर काटने का निरीक्षण और तथ्यों का पर्यवेक्षण किया जा सकता है, और यह हमें सभी व्यक्तियों में मिलेंगे। जो काफ़ी गहराई तक पैठ सकते हैं, केवल उन्हींको इन तथ्यों और इन आँकड़ों का पता लग सकता है। उन तथाकथित बहुसंख्यक रहस्यवादियों में मन, उसके स्वभाव, शक्ति आदि के बारे में बड़ा मतभेद है। इसका कारण यह है कि ऐसे लोग काफ़ी गहराई तक नहीं पहुँचते। अपने तथा दूसरों के मन की छोटी-मोटी क्रियाओं का अनुभव कर तथा इन सतही अभिव्यक्तियों के वास्तविक रूप को जाने बिना उन्होंने इन सबको सार्वभौमिक सत्य के रूप में प्रकाशित किया है। प्रत्येक धार्मिक और रहस्यवादी सनकी के पास तथ्य, आँकड़े आदि हैं, जिनके विश्वसनीय कसौटी होने का वह दावा करता है, किन्तु वस्तुतः जो कमोवेश उसकी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यदि तुम मन के अध्ययन का इरादा रखते हो, तो तुमको विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त करना ही चाहिए। उस चेतना की उपलब्धि के लिए कि जिससे तुम मन के अध्ययन के योग्य बन जाओ और उसकी किसी भी विकट उड़ान से अविचलित रह सको। तुम्हें मन को वश में करने का अभ्यास अवश्य करना पड़ेगा। अन्यथा तुमसे निरीक्षित तथ्य विश्वसनीय न होंगे, वे सब मनुष्य पर लागू नहीं होंगे; अतः वे सही अर्थों में तथ्य और आँकड़े हो ही नहीं सकते।

जिस वर्ग के लोगों ने मन के अध्ययन की गहराई में प्रवेश किया है, उनके द्वारा निरीक्षित तथ्य सर्वत्र एक जैसे रहे हैं, चाहे इस तरह के व्यक्ति दुनिया के किसी भी भाग में क्यों न हों, या किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों। जो लोग मन की गहराई में काफ़ी भीतर तक घुसते हैं, उन्हें जो निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं, वे एक जैसे होते हैं।

मन प्रत्यक्षीकरण और आवेग द्वारा क्रियाशील होता है। दृष्टान्त के तौर पर, प्रकाश की किरणें मेरे नेत्रों में प्रवेश करती हैं, ज्ञान-तन्तुओं से वे मस्तिष्क में पहुँचायी जाती हैं और फिर भी मैं प्रकाश नहीं देख पाता; तब मन में प्रतिक्रिया होती है और प्रकाश मस्तिष्क के इस पार से उस पार तक कौंध जाता है। मन की प्रतिक्रिया आवेग है और उसके परिणामस्वरूप आँख को वस्तु का बोध होता है।

मन को वश में करने के लिए तुमको अवचेतन मन की गहराई में अवश्य जाना पड़ेगा, वहाँ जो विभिन्न संस्कार, विचार आदि संचित हैं, उन्हें क्रमबद्ध करना पड़ेगा तथा उन पर नियन्त्रण रखना पड़ेगा। यह प्रथम सोपान है। अवचेतन मन पर नियन्त्रण से चेतन मन पर तुम्हारा नियन्त्रण स्थापित हो जायगा।

प्राणायाम

सर्वप्रथम हम प्राणायाम का थोड़ा अर्थ समझने का प्रयास करेंगे। अध्यात्म विद्या में प्राण उस समग्र शक्ति के लिए आता है, जो इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान है। दार्शनिकों के सिद्धान्त के अनुसार यह ब्रह्माण्ड तरंगों के रूप में संसरण करता है। तरंग उठती है, फिर शान्त हो जाती है और जान पड़ता है कि वह विलुप्त हो गयी; तब फिर वह अपनी सारी विविधता के साथ संसरण करती है और पश्चात् धीरे धीरे लौट आती है। स्पन्दन की भाँति यह चलता रहता है। समस्त ब्रह्माण्ड भौतिक द्रव्य और ऊर्जा से बना है और संस्कृत के दार्शनिकों का कहना है कि हम जिसे भौतिक द्रव्य कहते हैं, वह चाहे ठोस हो या द्रव, उसकी उत्पत्ति एक मूल तत्त्व से हुई है, जिसे वे आकाश कहते हैं और प्रकृति में जो नाना शक्तियाँ अभिव्यक्त होकर हमें दिखायी पड़ती हैं, वे एक ही आदि शक्ति से उद्भूत हुईं, जिसे वे प्राण कहते हैं। इसी प्राण की क्रिया आकाश पर होती है, जिससे ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है और काल की एक अवधि वीत जाने पर, जिसे कल्प कहा जाता है, प्रलय की अवधि आती है। कार्यशीलता की अवधि के पश्चात् विश्राम की अवधि आती है, यही प्रत्येक का स्वभाव है। जब प्रलय की कालावधि आती है, तब पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रगण, जिनकी अभिव्यक्तियाँ हमें दृष्टिगोचर हैं, विगलित हो जाते हैं और पुनः आकाश बन जाते हैं। वे आकाश के रूप में लुप्त हो जाते हैं। शरीर अथवा मन में जो शक्तियाँ मध्याकर्षण, आकर्षण, गति, विचार के रूप में हैं, लुप्त होकर आदि प्राण में विलीन हो जाती हैं। इससे हम प्राणायाम का महत्त्व समझ सकते हैं। जिस प्रकार इस आकाश ने हमें चारों तरफ़ से आवृत कर रखा है और हममें व्याप्त है, उसी प्रकार हम जो कुछ देखते हैं, वह सब इसी आकाश तत्त्व से निर्मित है और हम इस आकाश में उसी भाँति तैर रहे हैं, जैसे किसी झील में हिमखण्ड तैरते हैं। वे उसी झील के जल से निर्मित हैं और साथ ही उसमें तैरते भी हैं। उसी भाँति, प्रत्येक वस्तु, जिसका अस्तित्व है, आकाश से बना है और इस महासागर में तैर रहा है। उसी तरह हम प्राण—शक्ति और ऊर्जा—के महासागर में चारों तरफ़ से घिरे हैं। इसी प्राण से हम साँस लेते हैं और इसके द्वारा रक्त-संचार-क्रिया होती है, यही नाड़ियों तथा पेशियों में शक्ति है और मस्तिष्क में विचार है। जिस प्रकार सभी भूत एक ही आकाश की विभिन्न अभि-

व्यक्तियाँ हैं, उसी प्रकार सभी शक्तियाँ एक ही प्राण की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। हमें सदैव स्थूल का कारण सूक्ष्म में मिलता है। रसायनशास्त्री किसी कच्ची धातु का ठोस खण्ड लेता है और उसका विश्लेषण करता है। वह उन सूक्ष्मतर तत्त्वों की खोज करना चाहता है, जिनसे उस स्थूल का निर्माण हुआ है। वही हाल हमारे विचार और ज्ञान का है। स्थूलतर की व्याख्या सूक्ष्मतर में विद्यमान रहती है। कार्य स्थूल है और कारण सूक्ष्म है। जिसे हम देखते, अनुभव करते और स्पर्श करते हैं, हमारे उस स्थूल जगत् का कारण और उसकी व्याख्या पीछे विचार में है। फिर उसका कारण और उसकी व्याख्या तो और भी भीतर है। हम अपने मानव-शरीर में पहले स्थूल गति देखते हैं, हाथ हिलते हैं और ओठ हिलते हैं, पर इनके कारण कहाँ हैं? सूक्ष्मतर नाड़ियाँ, जिनकी गति हम किंचित् भी नहीं देख सकते, जो इतने सूक्ष्म हैं कि जिनको हम न देख सकते हैं, न स्पर्श कर सकते हैं और न इन्द्रियों से पता लगा सकते हैं, और फिर भी हम जानते हैं कि वे ही स्थूल गतियों की कारण हैं। फिर इन नाड़ियों की गति उनसे भी सूक्ष्मतर गतियों द्वारा होती है, जिन्हें हम विचार कहते हैं। उसके भी पीछे, उनसे भी सूक्ष्मतर एक और प्रेरक है, जिसे मनुष्य की आत्मा कहते हैं। अपने को समझने के लिए पहले हमें अपनी बोध-क्षमता को सूक्ष्म बनाना पड़ेगा। अन्तःकरण में जो सूक्ष्म गतियाँ हो रही हैं, उन्हें किसी अणुवीक्षण अथवा कभी भी आविष्कृत किसी यन्त्र से देखना हमारे लिए सम्भव न होगा। हम ऐसे किसी साधन से उन्हें कदापि नहीं देख सकते। अतएव योगी के पास एक विज्ञान है, जो अपने ही मन के अध्ययन के लिए एक यन्त्र का निर्माण करता है और वह यन्त्र भी मन में ही है। मन इतनी सूक्ष्म बोधक्षमता प्राप्त कर लेता है कि जितनी किसी भी यन्त्र के लिए सम्भव नहीं।

इस सूक्ष्मतम बोधक्षमता की शक्ति को प्राप्त करने के पहले हमें स्थूल से आरम्भ करना पड़ेगा। जब शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने लगती है, तब हमारी प्रकृति गहन से गहनतर होने लगती है। पहले हमें स्थूल गतियों का प्रत्यक्ष होगा और तत्पश्चात् विचार की सूक्ष्म गतियों का। विचार उत्पन्न होने के पहले ही हमें उसका पता लग जायगा। वह कहाँ जाता है और कहाँ उसका अन्त होता है, इसका भी पता लग जायगा। दृष्टान्त के तौर पर किसी साधारण मन में कोई विचार स्फुरित होता है, किन्तु मन नहीं जानता कि उसका उद्भव कहाँ से और कैसे हुआ। मन समुद्र जैसा है, जिसमें एक लहर उठती है, लेकिन यह मालूम होते हुए भी कि एक तरंग उठी है, आदमी को यह पता नहीं लगता कि वह तरंग कैसे उठी, किससे वह उत्पन्न हुई या फिर विगलित होकर वह कहाँ गयी। उससे आगे का पता वह नहीं लगा सकता। लेकिन जब अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतर हो जाती है, तब तरंग के

सतह पर आने के बहुत पहले उसका पता हम लोगों को लग सकता है और विलुप्त होने के बाद दूर तक उसके जाने का पता लगाने में भी हम समर्थ होंगे और तभी हम मनोविज्ञान को यथार्थ समझ सकेंगे। आजकल लोग इधर-उधर की सोचते हैं और कितनी ही पोथियाँ लिख डालते हैं, जो बिल्कुल भ्रामक होती हैं, क्योंकि उनमें स्वयं अपने मन के विश्लेषण का सामर्थ्य नहीं है और वे ऐसे विषयों पर मत प्रकट करते हैं, जिनका उन्हें ज्ञान ही नहीं होता था। वे केवल परिकल्पना मात्र कर लेते हैं। सब विज्ञान तथ्यों पर आधारित होने चाहिए, इन तथ्यों की प्रत्यक्षानुभूति होनी चाहिए और तब उनसे सामान्य निष्कर्ष निकालना चाहिए। जब तक नियम निरूपित करने के लिए तुम्हारे पास तथ्य न हों, तब तक तुम करोगे क्या ? अतः आम नियम बनाने के सभी प्रयास इस बात पर आधारित होते हैं कि जिन वस्तुओं के बारे में हम नियम बना रहे हैं, उनकी हमें जानकारी हो। एक आदमी कोई परिकल्पना प्रस्तुत करता है, और एक परिकल्पना में दूसरी परिकल्पना को जोड़ देता है, इस प्रकार पूरी पुस्तक परिकल्पनाओं का पैवन्द बन जाती है और उनमें से किसी एक में भी तिल मात्र सार नहीं होता। राजयोग विज्ञान कहता है कि पहले स्वयं अपने मन के विषय में तथ्य संग्रह करो, और अपने मन के विश्लेषण, उसकी सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के विकास और यह कार्य अन्तःकरण की गतिविधि के स्वयं निरीक्षण से सम्पन्न किया जा सकता है। जब तुमको ये तथ्य प्राप्त हो जायँ, तब उनसे सामान्य निष्कर्ष निकालो और तभी तुमको सच्चा मनोविज्ञान प्राप्त हो सकेगा। जैसा मैं बता चुका हूँ, किसी सूक्ष्म विवेचना तक आने के लिए हमें उसके स्थूल पक्ष से अवश्य सहायता लेनी चाहिए। जिस कर्म-प्रवाह की अभिव्यक्ति बाह्य स्तर पर हो रही है, वह स्थूलतर है। यदि हम उसे अपने वश में कर लें और लगातार आगे बढ़ते रहें, तो वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने लगता है, और अन्त में सूक्ष्मतम हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर और इसमें जो कुछ विद्यमान है, वे सब विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, बल्कि एक तरह से एक ही जंजीर की अनेक कड़ियाँ हैं, जो सूक्ष्म से आरम्भ होकर स्थूल तक पहुँच गयी हैं। तुम सर्वांगपूर्ण हो। यह शरीर बाह्य अभिव्यक्ति है, अभ्यन्तर की ऊपरी पर्त है। बाह्य स्थूल है, अभ्यन्तर सूक्ष्म है, इस प्रकार सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतर होते हुए तुम आत्मा तक पहुँच जाते हो। और अन्त में जब हम आत्मा तक पहुँच जाते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि सभी अभिव्यक्तियाँ केवल उस आत्मा द्वारा हो रही थीं। वह आत्मा ही थी, जो मन बनी और शरीर बनी। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं है और ये अन्य सभी वस्तुएँ विभिन्न अंशों में उसी आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो उत्तरोत्तर स्थूल से स्थूलतर होती गयी हैं।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस पूरे ब्रह्माण्ड में स्थूल अभिव्यक्ति है और उसके पीछे सूक्ष्मतर गति है, जिसे हम ईश्वरेच्छा कह सकते हैं। उसके भी पीछे तुमको वह विश्वात्मा मिलेगा तब हम देखेंगे कि वह विश्वात्मा ही ईश्वर वन जाता है और वही विश्व वन जाता है; और यह वात नहीं है कि विश्व एक वस्तु है, ईश्वर दूसरी वस्तु है तथा परमेश्वर तीसरी वस्तु है, वरन् मूल में स्थित उसी एकत्व की अभिव्यक्ति की वे विभिन्न अवस्थाएँ हैं। प्राणायाम से यह सव होता है। शरीर के भीतर जो ये सूक्ष्मतर गतियाँ हो रही हैं, उनका सम्वन्ध श्वास-प्रश्वास से है। यदि हम श्वास-क्रिया को वश में कर सकें और उसे कौशलपूर्वक अनुकूल वनाकर उस पर नियन्त्रण कर सकें, तो धीरे धीरे सूक्ष्मतर गतियों तक पहुँचकर एक प्रकार से उस प्राण को पकड़कर मन के क्षेत्र में प्रविष्ट हो सकेंगे। पिछले पाठ में मैंने जो प्राणायाम तुम लोगों को सिखाया, वह तो उसी समय के लिए एक अभ्यास था। फिर, इन प्राणायामों में कुछ अत्यन्त कठिन हैं और सब कठिन प्राणायामों को मैं छोड़ता जाऊँगा, क्योंकि जो अधिक कठिन प्राणायाम हैं, उनका अभ्यास करने में वहुत से आहार सम्बन्धी एवं अन्य प्रकार के प्रतिवन्धों की आवश्यकता पड़ती है, जिनके अनुसार चलना तुममें से वहुतों के लिए असम्भव होगा। इसलिए हम लोग धीरे धीरे चलने का मार्ग अपनायेंगे और सरल मार्गों का अनुसरण करेंगे। इस प्राणायाम के तीन भाग हैं। पहला है श्वास को भीतर खींचना, जिसे संस्कृत में पूरक कहते हैं, भरना; द्वितीय भाग को कुम्भक कहते हैं, रोकना—फेफड़ों में वायु भर कर उसे निकलने से रोकना; तृतीय को रेचक कहते हैं, श्वास को वाहर निकालना। आज जो पहला अभ्यास मैं तुम लोगों को बताऊँगा, वह है साधारण रूप से श्वास को भीतर खींचना, श्वास को रोकना और धीरे धीरे उसे बाहर निकालना। फिर श्वास-क्रिया का एक और सोपान है, जिसे मैं आज तुम लोगों को नहीं बताऊँगा, क्योंकि तुम उन सबको याद न रख सकोगे; वह वहुत गूढ़ हो जायगा। श्वास-क्रिया के इन तीनों भागों को मिलाकर एक प्राणायाम होता है। इस श्वास-क्रिया का नियमन होना चाहिए, क्योंकि यदि यह न हो, तो स्वयं तुम्हारे लिए मार्ग में ख़तरा है। इसलिए इसका नियमन गिनती से होता है और पहले मैं तुमको सबसे छोटी गिनतियों से बताऊँगा। चार सेकण्ड तक पूरक करो, तब आठ सेकण्ड तक कुम्भक करो और फिर धीरे धीरे चार सेकण्ड तक रेचक करो।[1] तब पुनः आरम्भ

---

१. जब अनुपात दो, आठ और चार का होता है, तो यह क्रिया और कठिन हो जाती है। स०

करो और प्रातः चार बार तथा सायं चार बार करो। एक बात और है। एक, दो, तीन और इस प्रकार की निरर्थक गिनतियों के बजाय किसी ऐसे शब्द का उच्चारण करो, जो तुम्हारे लिए पवित्र हो। हमारे देश में प्रतीकात्मक शब्द है, उदाहरणार्थ, 'ॐ', जिसका अर्थ है ईश्वर। यदि एक, दो, तीन, चार के स्थान पर उसका उच्चारण किया जाय, तो उससे तुम्हारा काम भली भाँति चल जायगा। एक बात और है। पूरक वाम नासापुट से आरम्भ होना चाहिए और रेचक दक्षिण नासापुट से होना चाहिए, फिर दूसरी बार दक्षिण नासापुट से पूरक और वाम नासापुट से रेचक होना चाहिए। फिर उसके विपरीत, वही क्रम। प्रथम तुममें यह योग्यता होनी चाहिए कि इच्छानुसार, केवल इच्छा-शक्ति द्वारा किसी भी नासापुट से श्वास-संचालन कर सको। कुछ काल बाद तुम्हारे लिए यह सरल हो जायगा, लेकिन शायद अभी वह सामर्थ्य तुममें नहीं है। इसलिए जब हम एक नासापुट से पूरक करें, तब दूसरे को अँगुली से अवश्य वन्द रखें और कुम्भक के समय निश्चय ही दोनों नासापुटों को बन्द रखें। ये दोनों बातें भूलनी नहीं चाहिए। पहली बात यह है कि अपने को सीधा रखो, दूसरी यह कि कल्पना करो कि तुम्हारा शरीर नीरोग, निर्दोष, स्वस्थ तथा सबल है। फिर चतुर्दिक प्रेमोच्छ्वास प्रवाहित करो और कल्पना करो कि सारा जगत् प्रसन्न है। यदि तुम आस्तिक हो, तो प्रार्थना करो। तब प्राणायाम करो।

तुममें से बहुतों में कतिपय शारीरिक परिवर्तन होंगे। सारे शरीर में झटके से लगेंगे, घबराहट होगी, तुम लोगों में से कुछ को रुलाई सी मालूम होगी, कभी कभी ज़ोरों से झकझोर उठोगे। डरो मत; ज्यों ज्यों तुम अभ्यास बढ़ाओगे, त्यों त्यों ये सब होगा ही। एक तरह से सारे शरीर का पुनर्गठन होगा। मस्तिष्क में विचार के नये मार्ग बनेंगे, जिन नाड़ियों ने आजीवन कार्य नहीं किया, वे कार्य आरम्भ करेंगी और स्वयं शरीर में नये सिरे से सारे परिवर्तन होंगे।

चित्त की एकाग्रता

(१६ मार्च, १९०० को सैन फ़्रांसिस्को के वाशिंगटन-हॉल में दिया गया व्याख्यान)

[यह तथा परवर्ती दो व्याख्यान 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ़ साउथ कैलिफ़ोर्निया' के सौजन्य से 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' से यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। अमेरिका में इनके प्रकाशन का कॉपीराइट (सर्वाधिकार) 'वेदान्त सोसाइटी ऑफ़ साउथ कैलिफ़ोर्निया' ने अपने लिए सुरक्षित रखा है। इन वक्तृताओं को आइडा ऐंसेल ने जिन परिस्थितियों में लिपिबद्ध किया, उनका उल्लेख वे स्वयं इस प्रकार करती हैं :

"स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिम की अपनी दूसरी यात्रा सन् १८९९-१९०० में की। सन् १९०० के पूर्वार्द्ध में उन्होंने कैलिफ़ोर्निया के सैन फ़्रांसिस्को नगर में तथा उसके आसपास कार्य किया। उस समय मैं उक्त नगर में रहती थी और मैं बाईस वर्ष की थी।...सन् १९०० के मार्च से मई तक मैंने उनके लगभग बीस व्याख्यान सुने और उनके सत्तरह प्रवचनों को मैंने लिख लिया।...

"ये व्याख्यान सैन फ़्रांसिस्को, ओकलैण्ड और अलामेडा में गिरजाघरों में 'दि अलामेडा एण्ड सैन फ़्रांसिस्को होम्स ऑफ़ ट्रुथ' में तथा किराये पर लिये गये हॉलों में हुए। स्वामी जी प्रायः नित्य प्रश्नों का उत्तर देते और अनौपचारिक तौर पर कक्षाएँ लेते थे और इनके अतिरिक्त मार्च, अप्रैल एवं मई के महीनों में उन्होंने कम से कम तीस या चालीस प्रमुख व्याख्यान दिये।...

"मेरे नोट अधूरे थे, इसलिए इन व्याख्यानों को शार्टहैंड से पूरा लिखकर प्रकाश में लाने में लम्बे अरसे तक मैं संकोच करती रही। जिन दिनों मैं इन व्याख्यानों को नोट करती थी, उन दिनों मैं एक शौक़िया स्टेनोग्राफ़र मात्र थी। स्वामी जी के धारा-प्रवाह भाषण को पूर्णतया लिपिबद्ध करने के लिए प्रति मिनट कम से कम तीन सौ शब्द अंकित करने की गति अपेक्षित थी। मेरी गति अपेक्षित के आधे से भी कम थी और उस समय मेरे मन में यह ख्याल तक नहीं आया कि मेरे अतिरिक्त दूसरे किसीके लिए इस सामग्री का मूल्य होगा। वक्तृता की गति तेज़ होने के अतिरिक्त स्वामी जी उच्च कोटि के अभिनेता थे। जब वह कोई

कहानी सुनाते और नक़ल उतारते, तब उन्हें देखने का आनंद लेने में लिखना हठात् रुक जाता। मैंने जो नोट तैयार किये थे, यद्यपि वे स्फुट से थे, तथापि मुझे यह मत मानना पड़ा कि उनमें अन्तर्निष्ठ सामग्री बहुमूल्य है और उसे प्रकाशन के लिए अवश्य देना चाहिए।

"सामान्य बोलचाल की भाषा में और ताज़गी से ओतप्रोत उनकी भाषण-शैली ज़ोरदार थी। उसमें कोई हेर-फेर नहीं किया गया है; प्रकाशन के अभिप्राय से न तो उनके सहज धारा-प्रवाह को श्रुतिमधुर बनाया गया है और न क्रमबद्ध किया गया है। अर्थ न समझ सकने के कारण जहाँ शब्द छूट गये थे, उनका संकेत रिक्त स्थान पर तीन बिन्दु देकर किया गया है। स्पष्टीकरण के उद्देश्य से यदि कोई शब्द बाहर से लिया गया है, तो उसे कोष्ठक में रखा गया है। इन विशिष्टताओं के साथ स्वामी जी के भाषण के शब्द ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं।

"स्वामी जी जो कुछ बोलते थे, उसमें प्रबल शक्ति रहती थी। ये व्याख्यान पचास वर्षों तक मेरी स्टेनोग्राफ़ नोटबुक में सुप्तावस्था में पड़े रहे। अब ये बाहर आ रहे हैं, तो प्रतीत होता है कि उनमें अब भी शक्ति है।"]

हमको जो भी ज्ञान है, चाहे वह बाह्य जगत् का हो अथवा अन्तर्जगत् का, उसे प्राप्त करने का केवल एक ही ढंग है—चित्त की एकाग्रता द्वारा। जब तक हम किसी विषय में अपना मन एकाग्र कर न लगायें, तब तक तद्विषयक विज्ञान का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ज्योतिर्विद् दूरवीक्षण-यन्त्र द्वारा चित्त को एकाग्र करता है...और इसी प्रकार अन्य भी। यदि तुम स्वयं अपने मन का अध्ययन करना चाहते हो, तो उसकी भी वही विधि है। तुमको अपना चित्त एकाग्र करना पड़ेगा और उसे स्वयं उसी (चित्त) पर लगाना होगा। इस दुनिया में एक मन से दूसरे मन के भेद का कारण एकाग्रता की क्षमता की सीधी सी बात है। जो एकाग्रता में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होता है, वह दूसरे से अधिक ज्ञान अर्जित कर लेता है।

भूतकाल तथा वर्तमान काल के महान् पुरुषों के जीवन में हमें उनकी चित्त की एकाग्रता की अपार शक्ति का पता लगता है। तुम कहते हो कि वे प्रतिभाशाली पुरुष हैं। योग-विज्ञान हमें बतलाता है कि हम सभी प्रतिभाशाली हैं, बशर्ते वैसा होने के लिए हम कठिन प्रयत्न करें। कुछ लोग औरों से अधिक सक्षम होकर जीवन में प्रवेश करते हैं और शायद अपेक्षाकृत अल्प समय में इसे संपन्न कर लेते हैं। हम सब वैसा कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में वही शक्ति है। वर्तमान

व्याख्यान का विषय है, स्वयं मन के अध्ययन के लिए मन को किस प्रकार एकाग्र किया जाय। योगियों ने कतिपय नियम निर्धारित किये हैं और आज रात मैं इनमें से कुछ नियमों की रूपरेखा तुम लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने जा रहा हूँ।

निश्चय ही मन की एकाग्रता कई साधनों द्वारा प्राप्त होती है। इन्द्रियों द्वारा तुम मन को एकाग्र कर सकते हो। कुछ लोग सुन्दर संगीत को सुनकर और अन्य लोग सुन्दर दृश्य देखकर एकाग्रमन होते हैं...कुछ लोग कीलों की शय्या पर, लोहे की तेज़ नोकदार कीलों पर लेटकर तथा दूसरे लोग तीक्ष्ण कंकड़ियों पर बैठकर मन को एकाग्र करते हैं। ये असाधारण प्रयत्न हैं, जिनमें अत्यन्त अवैज्ञानिक विधि का सहारा लिया गया है। वैज्ञानिक विधि है, मन को शनैः शनैः प्रशिक्षित करना।

कोई ऊर्ध्वबाहु होकर मन को एकाग्र करते हैं। यातना उन्हें अभीप्सित एकाग्रता प्रदान करती है। परन्तु ये सभी असाधारण हैं।

भिन्न भिन्न दार्शनिकों के मतानुरूप सार्वभौम विधियों की योजना की गयी है। कुछ का कहना है कि हम जिस अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं, वह है चित्त की अतिचेतन अवस्था—देहजनित सीमाओं के परे पहुँचने की स्थिति। योगी के लिए नैतिकता का मूल्य यह है कि वह मन को निर्मल बनाती है। मन जितना ही निर्मल होगा, उसे वश में करना उतना ही सरल होगा। जो भी संकल्प मन में उठता है, प्रत्येक को ग्रहण कर मन उसे कार्यान्वित करता है। मन जितना ही अशुद्ध होता है, (उसे) वश में करना (उतना ही) कठिन होता है। अनैतिक पुरुष मनोविज्ञान के अध्ययन में कभी मन को एकाग्र नहीं कर सकता। आरम्भ करने पर संयम की थोड़ी सिद्धि प्राप्त हो जायगी, श्रवण-शक्ति भी थोड़ी उपलब्ध हो जायगी...और ये सिद्धियाँ भी उसके पास से चली जायँगी। कठिनाई यह है कि तुम बारीकी से अध्ययन करने पर देखोगे कि जो असाधारण सिद्धि उपलब्ध हुई थी, उसकी प्राप्ति विधिवत् वैज्ञानिक प्रशिक्षण द्वारा नहीं हुई थी। जो लोग जादू की शक्ति से साँपों को वश में करते हैं, वे सर्पों द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं।...जो व्यक्ति किसी प्रकार की असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं, वे अन्ततोगत्वा उन्हीं सिद्धियों के शिकार हो जाते हैं। भारत में ऐसे लाखों व्यक्ति हैं, (जो) नाना प्रकार से सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। उनमें से अधिकांश पागलपन का प्रलाप करते हुए मर जाते हैं। मस्तिष्क असन्तुलित (होने से) बहुत से तो आत्महत्या कर लेते हैं।

अध्ययन निरापद होना चाहिए—वैज्ञानिक, शनैः शनैः और शान्तिपूर्वक। प्रथम आवश्यकता है नैतिक बनने की। यदि ऐसा व्यक्ति चाहे कि देवगण आ

जायँ, तो वे आकर उसे दर्शन देंगे। यह हमारे मनोविज्ञान और दर्शन का सार है, पूर्ण नैतिक (वनो)। ज़रा सोचो कि इसका क्या अर्थ है! अहिंसा, पूर्ण पवित्रता और पूर्ण संयम! ये नितान्त आवश्यक हैं। ज़रा सोचो कि कोई व्यक्ति इनका पूर्ण रूप से पालन कर सकता है! इससे अधिक तुम चाहते क्या हो? यदि वह किसी भी जीव के प्रति सर्वभावेन निर्वैर है...तो सब जीव (उसकी उपस्थिति में) वैर त्याग देंगे।[1] योगी वड़े कठिन नियम रखते हैं...कोई व्यक्ति दानी हुए बिना दूसरों की दृष्टि में दानी नहीं हो सकता।...

मेरा विश्वास करें, मैंने एक ऐसे पुरुष को देखा है, जो एक गुफा में रहते थे। उसमें उनके साथ नाग और मेढक एक संग रहते थे।...कभी कभी वह (कई कई दिन और महीनों) उपवास करते थे और तब बाहर निकलते थे। वह सर्वदा मौन रहते थे। एक दिन एक लुटेरा पहुँचा।[2]...

मेरे वृद्ध गुरुदेव कहा करते थे, "जब हृदय-कमल खिल उठेगा, तब मधु-मक्खियाँ अपने आप आ जायँगी। उस प्रकार के मनुष्य वहाँ अब भी हैं। उन्हें बोलने की ज़रूरत नहीं।...जब कोई व्यक्ति हृदय से पूर्ण हो जाता है और उसमें घृणा का लेश भी नहीं रह जाता, तब (उसके समक्ष) सभी प्राणी घृणा का त्याग कर देते हैं। शुचिता का भी यही हाल है। साथ के सभी प्राणियों के प्रति व्यवहार में ये बातें आवश्यक हैं। सबको हम प्यार करें।...दूसरों के दोष देखना हमारा काम नहीं; इससे कुछ लाभ नहीं होता। हमें उनकी कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। गुणों से हमारा प्रयोजन है; दोषों को ढूंढ़ना नहीं। अच्छा बनना हमारा काम है।

कुमारी अमुक-तमुक यहाँ आती हैं। वह कहती हैं, "मैं योगी बनने जा रही हूँ।" वह इस समाचार को बीस बार सुनाती हैं, पचास दिन ध्यान का अभ्यास करती हैं और तब कहती हैं, "इस धर्म में कुछ नहीं है। मैंने इसे आज़मा लिया है। इसमें कुछ नहीं है।"

यहाँ (आध्यात्मिक जीवन की) नींव ही नहीं है। पूर्ण नैतिकता को (ही) नींव बनाना चाहिए। वह सबसे बड़ी कठिनाई है।...

---

१. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ साधनपाद, ३५ ॥

२. स्पष्टतः पवहारी बाबा के प्रसंग में उपर्युक्त बातें कही गयी हैं। इस प्रसंग में वर्णित पवहारी बाबा के जीवन-चरित के लिए 'विवेकानन्द साहित्य', नवम खंड, पृष्ठ २५८ द्रष्टव्य।

हमारे देश में निरामिषभोजी (वैष्णव) सम्प्रदाय के लोग हैं। वे प्रात:काल सेरों चीनी लेकर निकलते हैं और चीटियों के निमित्त ज़मीन पर डालते जाते हैं। कथा यह है कि जब एक व्यक्ति ने चीटियों के लिए ज़मीन पर चीनी डाली, तब दूसरे आदमी ने चीटियों पर पाँव रख दिया। पहले ने कहा, "नीच! तूने जीवों की हत्या की है!" और यह कहते हुए उसने ऐसा प्रहार किया कि वह आदमी मर ही गया!

वाह्य शौच वड़ा आसान है। (उसकी) ओर सारी दुनिया टूटती है। यदि नैतिकता (का पालन) एक विशेष प्रकार का वाना धारण करने से हो जाय, तो कोई भी मूर्ख वैसा कर सकता है। जब साक्षात् मन को उससे संघर्ष करना पड़ता है, तब वह कठिन कार्य हो जाता है।

जो लोग ऊपरी वाह्याचार करते हैं, वे अपने आप वड़े पुण्यात्मा वनते हैं! मुझे याद है कि जब मैं वालक था, तब मुझमें ईसा मसीह के चरित्र के प्रति बड़े आदर का भाव था। (तब मैंने वाइविल में विवाह के भोज के विषय में पढ़ा।) मैंने ग्रंथ वंद कर दिया और कहा, "उन्होंने मांस खाया और शराब पी! वह भले आदमी नहीं हो सकते।"

वस्तु का सच्चा अर्थ हमारी आँखों से सदा ओझल होता रहता है। क्षुद्र खान-पान और वस्त्र! इन्हें तो हर मूर्ख देख सकता है। उसको कौन देखता है, जो सबसे परे है? हृदय का संस्कार है, जिसे हम चाहते हैं।...भारत में हम एक समुदाय के व्यक्तियों को कभी कभी दिन में वीस बार स्नान करते देखते हैं, अपने को बहुत पवित्र बनाते हैं। वे किसीको नहीं छूते।...स्थूल तथ्य, वाह्य वस्तुएँ! (यदि स्नान से ही कोई पवित्र हो जाय, तो) मछलियाँ सबसे बढ़कर पवित्र जीव हैं।

स्नान, और वस्त्र और आहार का नियमन—इन सबको तब सार्थक माना जाता है, जब वे आध्यात्मिक बनने में...सहायक हों। वह प्रथम है, और ये सब सहायक हैं। इसके बिना तो कितनी भी घास खायी जाय...किंचित् लाभप्रद नहीं। यदि उनको सही ढंग से समझा जाय, तो वे सहायक हैं। किन्तु ग़लत समझने से वे क्षतिकारक हैं।...

यही कारण है कि मैं इन वातों को समझा रहा हूँ—क्योंकि प्रथम तो सभी धर्मों में प्रत्येक (वस्तु अज्ञानियों द्वारा) अभ्यास किये जाने पर भ्रष्ट हो जाती हैं। बोतल में रखा हुआ कपूर तो उड़ गया और लोग बोतल के लिए झगड़ रहे हैं।

दूसरी बात...जब वे कहने लगते हैं, "यह ठीक है और वह ग़लत है" तब (आध्यात्मिकता) उड़ जाती है। सभी विवाद (रूप तथा संप्रदाय को लेकर)

हैं, आत्मा में कदापि नहीं हैं। वर्षों तक बौद्धों ने अपने गौरवशाली उपदेश दिये; धीरे धीरे आध्यात्मिकता का लोप हो गया . . . (यही ईसाई मत में हुआ।) तब यह विवाद उठा कि एक में त्रिदेव हैं या त्रिदेव में एक, जब कि ईश्वर क्या है, यह जानने के लिए कोई ईश्वर के पास नहीं जाना चाहता। यह जानने के लिए कि वह एक में तीन है अथवा तीन में एक है, हमें स्वयं ईश्वर के सान्निध्य में जाना होगा।

इस व्याख्या के साथ, अब आसन। मन को वश में करने के प्रयत्न में कोई आसन आवश्यक है। जिस आसन में बैठना आसान हो, वही उस व्यक्ति के लिए आसन है। नियमतः मेरुदण्ड को उन्मुक्त रखना चाहिए। वह शरीर के भार-वहन के लिए नहीं है। आसन लगाने में केवल एक बात याद रखनी चाहिए, कोई भी आसन (लगाया गया) हो, शरीर के भार से मेरुदण्ड पूर्णतया उन्मुक्त रहे।

फिर (प्राणायाम) . . . श्वास-प्रश्वास-क्रिया। श्वास-प्रश्वास . . . पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। मैं तुमको जो बात बता रहा हूँ, वह भारत के किसी सम्प्रदाय से संगृहीत नहीं की गयी है। यह सार्वभौम सत्य है। जैसे इस देश में तुम अपने बच्चों को कुछ प्रार्थनाएँ सिखाते हो, वैसे ही (भारत में) अपने बच्चों को लेकर उन्हें कुछ तथ्यों से अवगत कराते हैं, इत्यादि।

भारत में बच्चों को दो-एक प्रार्थनाएँ सिखाने के अतिरिक्त किसी धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती। तब वे किसी ऐसे व्यक्ति की खोज आरम्भ करते हैं, जिसे वे अपना गुरु बना सकें। वे भिन्न भिन्न व्यक्तियों के पास जाते हैं और अंततः उन्हें एक ऐसा आदमी मिलता है, जिसके बारे में वे कहते हैं, "मेरे लिए यही गुरु है," और उससे दीक्षा लेते हैं। यदि मैं विवाहित हूँ, तो मेरी पत्नी शायद किसी दूसरे व्यक्ति को गुरु के रूप में प्राप्त कर सकती है और मेरे पुत्र को कोई तीसरा गुरु मिल सकता है, तथा मेरे और मेरे गुरु के बीच की बात सदा गोपनीय रहेगी। पत्नी के धर्म को जानना पति के लिए आवश्यक नहीं है और उसे यह पूछने का साहस नहीं पड़ेगा कि तुम अपना धर्म बताओ। यह भली भाँति विदित है कि वे कभी नहीं बतायेंगे। केवल उस व्यक्ति तथा उसके गुरु को ज्ञात रहेगा। . . . कभी कभी तुमको पता लगेगा कि जो वस्तु एक के लिए बिल्कुल हास्यास्पद है, वही दूसरे के लिए उपदेश लायक है। . . . प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना बोझा ढो रहा है और रुचि-वैचित्र्य के अनुसार उसे सहायता मिलनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का यह अपना कार्य है, जिसका प्रयोजन उससे, उसके गुरु तथा ईश्वर से है। लेकिन कुछ सामान्य नियम हैं, जिन्हें ये सभी गुरु सिखाते हैं। प्राणायाम और ध्यान सर्वत्र सिखाये जाते हैं। भारत में यही उपासना है।

गंगा-तट पर तुम स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों, सबको प्राणायाम (का अभ्यास) करते हुए और तदुपरान्त ध्यान लगाते हुए पाओगे। उन्हें अन्य कार्य भी करने हैं। इसमें वे बहुत समय नहीं लगा सकते। परन्तु जिन लोगों ने इसे जीवन की साधना के रूप में अंगीकार किया है, वे अनेक विधियों से इसका अभ्यास करते हैं। एक दूसरे से भिन्न कुल चौरासी आसन हैं। जो किसी व्यक्ति की देख-रेख में अभ्यास शुरू करते हैं, उन्हें शरीर के सभी विभिन्न अंगों में सदैव प्राणों की गति और स्फुरण का अनुभव होता है।

तत्पश्चात् धारणा (एकाग्रता) का स्थान है. . .चित्त को एक जगह ठहराना धारणा है (**देशबंधचित्तस्य धारणा**)।

हिन्दू बालिका या बालक. . .दीक्षा ग्रहण करता है। वह अपने गुरु से एक शब्द पाता है, जिसे मंत्र कहते हैं। यह मंत्र गुरु को (अपने गुरु से) प्राप्त रहता है और वह फिर अपने शिष्य को देता है। इसी प्रकार का एक मंत्र है ॐ। इन सभी प्रतीकों का विशेष अर्थ है, वे उसे गुप्त रखते हैं और कभी लिखते नहीं। मंत्र गुरु से कान में लिया जाता है—लिखित रूप में नहीं—और फिर उसे साक्षात् परमेश्वर ही माना जाता है। तब वे मंत्र का ध्यान करते हैं।

एक समय था, जब मैं इसी प्रकार वर्षा ऋतु में चौमासे भर प्रार्थना करता था। सबेरे उठकर नदी में ग़ोता लगाता और गीले कपड़े पहने ही सूर्यास्त पर्यन्त मंत्र जपता था। तब मैं कुछ भोजन करता—थोड़ा सा चावल या दूसरी कोई चीज़। बरसात के चार महीने।

भारतीय मन का विश्वास है कि विश्व में कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है। इस देश में व्यक्ति द्रव्य चाहता है, वह काम करने जाता है और उसका उपार्जन करता है। वहाँ उसे एक सूत्र मिल जाता है, वह पेड़ के नीचे बैठता है और विश्वास रखता है कि पैसा अवश्य आना चाहिए। उसकी (संकल्प) शक्ति द्वारा हर चीज़ आनी चाहिए। तुम यहाँ धन कमाते हो। बात वही है। पैसा कमाने में तुम अपनी सारी शक्ति लगा देते हो।

कुछ सम्प्रदाय ऐसे लोगों के हैं, जिन्हें हठयोगी कहा जाता है।. . .वे कहते हैं कि सर्वोत्तम यह है कि शरीर को मरने से. . .बचाया जाय। उनकी सारी क्रिया शरीरपरक है। बारह वर्ष का अभ्यास! छुटपन से ही वे अभ्यास आरम्भ कराते हैं, अन्यथा यह असम्भव है।. . .हठयोगियों के विषय में एक बात बड़ी विचित्र (है), पहले जब वह शिष्य बनता है, तब जंगल में चला जाता है और ठीक चालीस दिनों तक बिल्कुल एकान्त में रहता है। उन चालीस दिनों में उन्हें जो कुछ सीखना रहता, वह सीख लेते हैं।. . .

कलकत्ते में एक आदमी है, जिसका यह दावा है उसकी उम्र पाँच सौ वर्ष हैं। सब लोग मुझे बतलाते हैं कि उनके पितामह ने उस व्यक्ति को देखा था।... बीस मील रोज चलना उसकी कसरत है और वह कभी टहलता नहीं, वरन् दौड़ता है। जल में प्रवेश करता है, नख-शिख (पर्यन्त) कीचड़ पोत लेता है और इसके बाद वह पुनः जल में ग़ोता लगाता है और फिर कीचड़ का लेप कर लेता है...मुझे इसमें कोई अच्छाई नज़र नहीं आती। (कहते हैं कि सर्प दो सौ वर्ष जीवित रहता है।) वह बहुत वृद्ध होगा, क्योंकि मैंने भारत में चौदह वर्ष भ्रमण किया और मैं जहाँ गया, वहीं के लोग उसे जानते हैं। वह ज़िन्दगी भर घूमता रहा है।...(हठयोगी) एक रबड़ का अस्सी इंच लम्बा टुकड़ा निगल जायगा और फिर उसे बाहर निकाल लेगा। नित्य चार बार उसे शरीर के बाह्याभ्यन्तर प्रत्येक अंग का प्रक्षालन करना पड़ता है।...

दीवारें अपने शरीरों को हज़ारों वर्षों तक क़ायम रख सकती हैं।...उससे क्या? मैं उतने काल तक जीना नहीं चाहूँगा। 'एक दिन के लिए उसका दोष ही पर्याप्त है।' अपनी तमाम भ्रान्तियों एवं सीमाओं से युक्त एक ही क्षुद्र काया पर्याप्त है।

अन्य सम्प्रदाय भी हैं।...वे तुमको संजीवनी औषधि की एक बूंद दे देंगे और तुम युवा बने रहोगे।...(सभी सम्प्रदायों के) नाम गिनने में मुझे महीनों लग जायँगे। उनके सभी क्रिया-कलाप ऐहिक (भौतिक जीवन के) हैं। नित्य नये नये सम्प्रदाय।

सभी सम्प्रदायों की शक्ति का स्रोत मन है। मन को स्थिर रखना उनकी परिकल्पना है। पहले मन को एकाग्र कर उसे किसी विशेष स्थान पर स्थिर करो। सामान्यतः उनका कहना है कि धारणा में चित्त को शरीर के भीतर सुषुम्णा में अथवा किसी नाड़ी-केन्द्र में स्थिर करना चाहिए। केन्द्रों में चित्त को स्थिर करने से (योगी को) शरीर पर अधिकार प्राप्त होता है। शरीर के कारण उसकी मानसिक शान्ति में बड़ी बाधा पहुँचती है, वह उसके सर्वोच्च लक्ष्य के विरुद्ध है, इसलिए वह उस पर अधिकार चाहता है, (जिससे) शरीर किंकर का काम करे।

फिर ध्यानावस्था आती है। वह उच्चतम अवस्था है।...जब तक (चित्त में) संशय रहता है, ऊँची अवस्था नहीं होती। समाधि उच्चावस्था हैं। वह द्रष्टा और साक्षी के रूप में वस्तुओं को देखता है, परन्तु उनके साथ तदाकार नहीं होता। जब तक मुझे दुःख होता है, तब तक शरीर में मेरी तादात्म्य वृत्ति है। जब तक मुझे मौज़ या खुशी का अनुभव होता है, तब तक शरीर में मेरी तादात्म्य वृत्ति है। परन्तु जो उच्चावस्था है, उसमें सुख-दुःख, दोनों में एक सा सुख अथवा आनंद

प्रतीत होगा।...प्रत्येक प्रकार का ध्यान प्रत्यक्ष समाधि है। चित्त के पूर्ण एकाग्र हो जाने पर जीवात्मा स्थूल शरीर के बंधन से वस्तुतः मुक्त हो जाती है और उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जिस वस्तु की इच्छा होती है, वह प्राप्त होती है। सिद्धि और ज्ञान, दोनों हो जाते हैं। जीवात्मा शक्तिरहित जड़ पदार्थ से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, अतः रोती है। वह नाशवान रूपों से तादात्म्य स्थापित करती है।...परन्तु वह विमुक्तात्मा यदि किसी सिद्धि का प्रयोग करना चाहती है, तो उसे वह मिल जायगी। यदि नहीं चाहती, तो नहीं आती। जिसने ईश्वर को जान लिया, वह ईश्वर हो गया। ऐसी मुक्तात्मा के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। उसका जन्म और मरण नहीं होता। वह सर्वदा के लिए मुक्त है।

ध्यान

(३ अप्रैल, १९०० को सैन फ्रांसिस्को में वाशिंगटन-हॉल में दिया गया व्याख्यान)

सभी धर्मों ने ध्यान पर ज़ोर दिया है। योगियों का कहना है कि ध्यानस्थ अवस्था मन की उच्चतम संभव अवस्था है। जब मन किसी बाह्य वस्तु का अध्ययन करता है, तब वह उससे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और स्वयं लुप्त हो जाता है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों द्वारा दी गयी उपमा का प्रयोग करें तो—मनुष्य की आत्मा स्फटिक के एक खंड के समान है, जो अपने निकट की वस्तु का रंग ग्रहण कर लेता है। आत्मा जिस वस्तु का स्पर्श करती है... उसीका रंग उसे लेना पड़ता है। यही कठिनाई है। वह बंधन बन जाता है। रंग इतना प्रबल है कि स्फटिक अपने को भूल जाता है और उसी रंग से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। मान लो कि स्फटिक के निकट एक लाल फूल है और स्फटिक वह लाल रंग ग्रहण कर लेता है तथा अपने को भूल जाता है एवं समझता है कि वह लाल है। हम लोगों ने शरीर का रंग ग्रहण कर लिया है और भूल गये हैं कि हम क्या हैं। बाद में जो कठिनाइयाँ आती हैं, वे सब केवल एक निर्जीव शरीरजन्य हैं। हमारे समस्त भय, परेशानियाँ, चिन्ताएँ, कष्ट, भूलें, दुर्बलताएँ, बुराइयाँ केवल एक इस भारी भूल के कारण हैं—कि हम शरीर हैं। यह साधारण व्यक्ति है। यह वह व्यक्ति है, जिसने अपने निकटस्थ फूल का रंग धारण कर लिया है। हम उसी प्रकार शरीर नहीं हैं, जिस प्रकार स्फटिक लाल फूल नहीं है।

ध्यान का अभ्यास नियमित रूप से किया जाता है। स्फटिक जान जाता है कि वह क्या है, वह अपने रंग में आ जाता है। अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा ध्यान हमें सत्य के अधिक समीप लाता है।...

भारत में दो व्यक्ति मिलते हैं। अंग्रेज़ी में कहते हैं, "आप कैसे हैं?" भारतीय कुशल-प्रश्न है, "आप स्वस्थ अर्थात् अपने में स्थित हैं?" जिस क्षण तुम परस्थ हो जाते हो, उसी क्षण तुम दुःखी होने का जोखिम उठाते हो। ध्यान से मेरा यही तात्पर्य है—आत्मा का अपने में स्थित होने के लिए यत्न करना। वह

अवस्था निश्चय ही आत्मा की स्वस्थतम अवस्था होगी, जब वह स्वचिन्तन कर रही हो, अपनी ही गरिमा में स्थित हो। नहीं, हमारे पास जो अन्य पद्धतियाँ हैं— संवेग को उत्तेजित करना, प्रार्थना करना तथा अन्य सब—उन सभी का वस्तुतः एक यही लक्ष्य है। तीव्र संवेगात्मक उत्तेजना (रस-विभोर होने) में आत्मा स्वस्थ होने का प्रयास करती है। यद्यपि संवेग किसी वाह्य वस्तु से उदित हो सकता है तथापि मन एकाग्र हो जाता है।

ध्यान के तीन सोपान होते हैं। प्रथम वह है, जिसे (धारणा) कहते हैं, किसी वस्तु पर चित्त को ठहराना। मैं इस गिलास पर अपना चित्त एकाग्र करता हूँ और गिलास के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक वस्तु को उससे बाहर रखता हूँ। लेकिन मन चंचल है।...जव वह दृढ़ हो जाता है और उतना अधिक चंचल नहीं रहता, तव (ध्यान) कहलाता है। और जव मेरे तथा गिलास के बीच का भेद मिट जाता है, तव उससे भी उच्चतर अवस्था होती है—(समाधि या स्वरूपशून्यता)। चित्त और गिलास में अभेद हो जाता है। मुझे कोई भेद नहीं दिखायी पड़ता। सभी इन्द्रियाँ रुक जाती हैं और अन्य इन्द्रियों के अन्य प्रवाह-मार्गों में सक्रिय शक्तियाँ (चित्त में केन्द्रीभूत हो जाती हैं)। तब यह गिलास पूर्णतः मन की शक्ति के अधीन हो जाता है। इसे ही प्राप्त करना है। यह एक जबरदस्त खेल है, जिसे योगी खेलते हैं।...निश्चित मान लो कि वाह्य वस्तु का अस्तित्व है। तव जो सचमुच हमसे बर्हिनिष्ठ है, वह वह नहीं है, जिसे हम देखते हैं। जिस गिलास को मैं देखता हूँ, वह निश्चय ही वाह्य वस्तु नहीं है। जो कोई वाह्य वस्तु गिलास में है, उसे मैं नहीं जानता और न कभी जान पाऊँगा।

मुझ पर किसी वस्तु का संस्कार पड़ता है। तत्क्षण मैं उसकी तरफ़ प्रतिक्रिया प्रेषित करता हूँ, इन दोनों के संयोग का परिणाम है गिलास। वाह्य से क्रिया— 'क'। अभ्यन्तर की क्रिया—'ख'। गिलास है 'क'+'ख'। जब तुम 'क' पर देखतें हो, तो उसे वाह्य जगत् कहते हो, 'ख' पर देखते हो, तो अन्तर्जगत्।...यदि तुम इस विभेद का पता लगाने का यत्न करोगे कि कौन तुम्हारा मन है और कौन जगत् है—तो! इस प्रकार का कोई विभेद नहीं है। जगत् तुम्हारा तथा किसी अन्य वस्तु का संयोग है।...

हम एक और उदाहरण लें। तुम किसी झील के तरंगरहित धरातल पर पत्थर गिरा रहे हो। प्रत्येक पत्थर के गिराने के वाद एक प्रतिक्रिया होती है। झील की छोटी तरंगों से पत्थर ढक जाता है। इसी प्रकार वाह्य वस्तुएँ इस मनोह्रद में गिरनेवाले पत्थरों के समान हैं। अतः हम वस्तुतः वाह्य वस्तु नहीं देखते, ...हम केवल तरंग देखते हैं।

ये तरंगें जो मन में उठती हैं, बाहर की बहुत सी वस्तुओं का कारण बन जाती हैं। हम लोग आदर्शवाद और यथार्थवाद (के गुणों) की चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम इसे सुनिश्चित मान लेते हैं कि बाह्य जगत् में वस्तुओं का अस्तित्व है, लेकिन जो हम देखते हैं, वह उन वस्तुओं से भिन्न है, जिनका बाह्य जगत् में अस्तित्व है, क्योंकि जिनका बाह्य जगत् में अस्तित्व है, उन्हें और स्वयं अपने को मिलाकर हम देखते हैं।

मान लो, गिलास से मैं अपना योग हटा लेता हूँ। बचता क्या है? प्रायः कुछ नहीं। गिलास लुप्त हो जायगा। यदि मेज़ से मैं अपना योग हटा लूँ, तो मेज में क्या बचेगा? निश्चय ही यह मेज़ नहीं रहेगी, क्योंकि वह बाह्य तथा मेरी देन का मिश्रण है। (पत्थर) जब कभी झील में फेंका जायगा, तब उसकी तरफ़ बेचारी झील को तरंगें भेजनी पड़ेंगी। किसी भी संवेदना के होने पर मन को उधर तरंगें भेजनी ही पड़ेंगी। मान लो. . .हम लोग मन को रोक लें। उसी क्षण हम लोग स्वामी बन जाते हैं। इन सब इन्द्रियगोचर विषयों को अपना योगदान देना हम अस्वीकार कर देते हैं।. . .यदि मैं अपना अंश नहीं देता तो, उसे बंद होना ही पड़ेगा।

हर समय तुम बंधन की सृष्टि कर रहे हो। कैसे? अपना अंश प्रदान करके हम लोग अपनी शय्याओं का निर्माण कर रहे हैं, अपनी ही बेड़ियों की सृष्टि कर रहे हैं।. . .जब बाह्य वस्तु और स्वयं मेरे अपने बीच की तादात्म्य वृत्ति का अन्त हो जाने पर मैं अपना भाग निकाल सकता हूँ और वह वस्तु लुप्त हो जायगी।. . . तब मैं कहूँगा, "यह गिलास है," और फिर अपना मन हटा लूँगा और वह लुप्त हो जायगा।. . .यदि तुम अपना भाग निकाल सको, तो तुम जल पर चल सकते हो। फिर वह तुमको क्यों डुबाये? विष है तो क्या? अब और कठिनाइयाँ नहीं। प्रकृति की प्रत्येक इन्द्रियगोचर क्रिया में तुम्हारा योगदान कम से कम आधा होता है और आधा प्रकृति का होता है। यदि तुम्हारा आधा निकाल लिया जाय, तो वस्तु का अंत अवश्य हो जाय।

. . .प्रत्येक क्रिया की समान प्रतिक्रिया होती है।. . .यदि कोई आदमी मुझ पर प्रहार करता है और मुझे चोट पहुँचाता है, तो वह उस आदमी की क्रिया और मेरे शरीर की प्रतिक्रिया है।. . .मान लो, शरीर पर मेरा इतना अधिकार हो कि मैं उस स्वचालित क्रिया का प्रतिरोध कर सकूँ। क्या ऐसा सामर्थ्य प्राप्त किया जा सकता है? शास्त्रों का कहना है कि हो सकता है।. . . यदि तुमको (यह) दैवात् मिल गया, तो चमत्कार है। यदि तुम इसे वैज्ञानिक ढंग से अवगत करो, तो योग है।

मन की शक्ति द्वारा लोगों को चंगा होते हुए मैंने देखा है। चमत्कारी व्यक्ति होता है। हम कहते हैं कि वह प्रार्थना करता है और आदमी चंगा हो जाता है। दूसरा आदमी कहता है, "तनिक भी नहीं। यह तो केवल मन की शक्ति है। यह आदमी वैज्ञानिक है। वह जानता है कि उसे क्या करना है।"

ध्यान की शक्ति हमें सब कुछ प्राप्त करा देती है। यदि तुम प्रकृति के ऊपर अधिकार चाहते हो, (तो तुम ध्यान द्वारा उसे प्राप्त कर सकते हो।) ध्यान-शक्ति द्वारा ही आज तमाम वैज्ञानिक तथ्यों की खोज की जाती है। वे विषय का अध्ययन करते हैं और सब कुछ भूल जाते हैं, स्वयं अपनी सुध और प्रत्येक वस्तु को भूल जाते हैं और तब वह महान् तथ्य प्रकाश की तरह कौंधता हुआ आता है। कुछ लोग सोचते हैं कि वह अन्तःस्फुरण है। जैसे बहिःस्फुरण नहीं है, वैसे ही कोई अन्तःस्फुरण नहीं है और कभी कोई वस्तु मुफ़्त में नहीं मिली।

उच्चतम तथाकथित अन्तःस्फुरण था ईसा का कार्य। पूर्व जन्मों में उन्होंने युग युग तक अध्यवसाय किया। यह उनके पूर्व कर्मों—अध्यवसायपूर्ण कर्मों—का परिणाम था। अन्तःस्फुरण की बातें कहना एकदम मूर्खतापूर्ण है। यदि वैसा कुछ होता, तो वह जलवृष्टि की भाँति झड़ने लगती। किसी भी विचार-क्षेत्र में अन्तःस्फुरणसम्पन्न व्यक्ति केवल उन्हीं राष्ट्रों में मिलते हैं, जिनमें सामान्य शिक्षा और (संस्कृति) होती है। कोई अन्तःस्फुरण नहीं होता।. . .जिसे अन्तःस्फुरण मान लिया जाता है, वह उन कारणों का परिणाम है, जो मन में पहले से ही विद्यमान रहते हैं। एक दिन परिणाम के रूप में प्रकाश कौंध जाता है! उनका पूर्व कर्म (कारण) था।

उसमें भी तुमको ध्यान-शक्ति दिखायी पड़ती है—विचार-तीव्रता। ये लोग अपनी ही आत्मा को मथ डालते हैं। महान् सत्य सतह के ऊपर उठ आते हैं और व्यक्त हो जाते हैं। इसलिए ध्यान का अभ्यास ज्ञान की महती वैज्ञानिक पद्धति है। ध्यान-शक्ति के बिना कोई ज्ञान नहीं होता। ध्यान द्वारा हम अज्ञान, कुसंस्कार आदि रोगों से सम्प्रति मुक्त हो सकते हैं, अधिक नहीं। (मान लो) एक आदमी ने मुझसे कहा है, "अगर आप इस तरह का विष-पान करेंगे, तो आप मर जायँगे," और दूसरा आदमी रात में आकर कहता है, "जाइए, विष पी लीजिए!" और मैं नहीं मरता (तो जो होता है, वह इस प्रकार है—) मेरे मन ने विष तथा स्वयं मेरे बीच की तादात्म्य-वृत्ति को बस उतने काल के लिए ध्यान से काट दिया। दूसरी बार विष (पीने से) मैं मर जाऊँगा।

यदि मैं कारण जानता हूँ और वैज्ञानिक रीति से अपने को (ध्यान की) उस (अवस्था) तक उठा सकूँ, तो मैं किसीको भी बचा सकता हूँ। शास्त्रों का

यही कहना है, लेकिन यह कहाँ तक सही है, इसकी जानकारी तुम स्वयं करो। मुझसे पूछा जाता है, "आप भारतीय जन इन चीज़ों पर क्यों नही विजय प्राप्त कर लेते? हर वक़्त आपका यह दावा रहता है कि आप लोग अन्य देशों के लोगों से श्रेष्ठतर हैं। आप लोग योगाभ्यास करते हैं और अन्य किसीकी अपेक्षा शीघ्र करते हैं। आप लोगों में अधिक पात्रता है। इसे कर डालिए। यदि आपका राष्ट्र महान् है, तो आपकी व्यवस्था महान् होनी चाहिए। आपको सभी देवताओं को विदा करना पड़ेगा। जब आप महान् दार्शनिकों को लेते हैं, तब उन (देवताओं) को शयन करने दीजिए। आप लोग निरे बच्चे हैं। दुनिया के शेष भाग के लोगों की भाँति आप लोग भी अंधविश्वासी हैं। और आपके सभी दावे असफल हैं, यदि आपके दावे हैं, तो खड़े हो जाइए और वीर बनिए और सभी स्वर्ग, जिनका किसी भी समय अस्तित्व रहा हो, आपके हो जायेंगे। कस्तूरी मृग होता है, जिसके भीतर सुगंध होती है और वह नहीं जानता कि सुगंध (कहाँ से) आती है। तब कितने ही दिनों बाद उसे पता लगता है, यह उसीके भीतर है। ये सभी देव और असुर उनके भीतर हैं। युक्ति, शिक्षा और संस्कृति के सामर्थ्य से पता लगाइए कि यह सब आपके भीतर है। अब न कोई देवता रहें और न अंधविश्वास। आप लोग विवेकवान होना चाहते हैं, योगी होना चाहते हैं, और सच्चे आध्यात्मिक होना चाहते हैं।"

(मेरा उत्तर है—तुम लोगों की भी तो) प्रत्येक वस्तु भौतिक है। इससे बढ़कर भौतिकता क्या होगी कि ईश्वर सिंहासन पर आरूढ़ है? जो व्यक्ति मूर्ति-पूजा करता है, उस बेचारे को तुम लोग हेय दृष्टि से देखते हो। तुम उनसे भले नहीं। और तुम, कांचन के पुजारियो, तुम लोग क्या हो? मूर्ति-पूजक अपने भगवान् की पूजा करता है, कुछ ऐसी वस्तु है, जिसे वह देख सकता है। परन्तु तुम लोग तो वह भी नहीं करते। तुम आत्मा या किसी ऐसी वस्तु की पूजा नहीं करते, जिसको तुम समझ सको।...शब्द-पूजको! 'ईश्वर आत्मा है!' ईश्वर आत्मा है और उसकी पूजा आत्मा में तथा निष्ठापूर्वक होनी चाहिए। आत्मा का निवास कहाँ है? किसी वृक्ष पर? किसी बादल पर? ईश्वर हमारा है, इसमें तुम्हारा क्या तात्पर्य है? तुम आत्मा हो। वह प्रथम आधारभूत प्रत्यय है, जिसका तुम कभी परित्याग न करो। मैं आध्यात्मिक प्राणी हूँ। यह वहाँ है। योग के इस सारे कौशल और ध्यान की इस प्रणाली और प्रत्येक वस्तु का उद्देश्य उस (ईश्वर) को वहाँ प्राप्त कर लेना है।

यह सब मैं अभी क्यों कह रहा हूँ? जब तक तुम ठीक स्थान (लक्ष्य) निर्धारित नहीं कर लेते, तब तक तुम बात नहीं कर सकते। ठीक स्थान निर्धारित न कर

तुम उसे स्वर्ग में तथा सारी दुनिया में निर्धारित करते हो। मैं जीवात्मा हूँ और इसलिए सभी जीवों की आत्माओं का निवास मेरी आत्मा में अवश्य होगा। जो सोचते हैं कि वह कहीं अन्यत्र है, वे अनजान हैं। इसलिए उसको यहीं इसी स्वर्ग में ढूँढ़ना चाहिए; किसी भी काल में जिस किसी स्वर्ग का अस्तित्व रहा होगा, वह (स्वयं मेरे भीतर है)। कुछ ऐसे ऋषि हैं, जो इसे जानकर, अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी कर देते है और अपनी ही आत्मा के भीतर सभी आत्माओं की आत्मा को प्राप्त करते हैं। ईश्वरविषयक और आत्मविषयक सत्य का पता लगाओ और इस प्रकार मुक्त हो जाओ।...

तुम सब जीवन के पीछे दौड़ रहे हो और हम देखते हैं कि यह मूर्खता है। जीवन से भी बहुत ऊँची कोई वस्तु है। यह जीवन उससे घटकर और भौतिक है। मैं जीवित ही क्यों रहूँ? मैं जीवन से उच्चतर कोई वस्तु हूँ। जीवन सदैव दासता है। हम सदा घुल-मिल जाते हैं।...प्रत्येक वस्तु दासता की अजस्र शृंखला है।

तुम्हीं कुछ प्राप्त करते हो, और कोई आदमी दूसरे को सिखा नहीं सकता। अनुभव से (हम सीखते हैं)।...उस युवक को यह विश्वास नहीं दिलाया जा सकता कि जीवन में कोई कठिनाई है। तुम उस वृद्ध पुरुष को यह विश्वास नहीं दिला सकते कि जीवन बिल्कुल निरापद है। वह बहुत अनुभव कर चुका है। यही अन्तर है।

ध्यान की शक्ति के द्वारा हमें इन सब वस्तुओं पर क्रमशः नियन्त्रण स्थापित करना है। हम लोगों ने दार्शनिक दृष्टि से देख लिया है कि इन सभी विभेदों की—आत्मा, मन और भौतिक पदार्थों आदि की—(कोई वास्तविक सत्ता नहीं है)।...जो कुछ सत् है, वह एक है। अनेक नहीं हो सकते। विज्ञान और ज्ञान का यही अभिप्राय है। अज्ञान अनेकता देखता है। ज्ञान एक का साक्षात्कार करता है। अनेक को एक में रूपान्तरित करना विज्ञान है।...समस्त जगत् को एक सिद्ध किया गया है। उस विज्ञान को वेदान्त का विज्ञान कहा जाता है। समस्त जगत् एक है। इस समस्त प्रतीयमान विविधता में वही एक व्याप्त है।

इस समय हमारे सामने ये सब विविधताएँ हैं और उन्हें हम देखते हैं—उन्हें हम पंचभूत कहते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इसके परे सत्ता की अवस्था मानसिक है और उसके भी परे है आध्यात्मिक। यह नहीं है कि आत्मा एक है, मन दूसरा है, आकाश उससे भिन्न है आदि आदि। सत्ता एक ही है, जो इन सभी विविधताओं में दिखायी पड़ती है। विपरीत क्रम से विचार करें, तो ठोस अवश्य द्रव बनेगा। जिस क्रम से (पंचभूतों का विकास हुआ, उसीके

अनुसार) उनका प्रतिगमन होगा। पृथिवी जल बनेगी, फिर आकाश। यही है ब्रह्माण्ड-भाव—विश्व-भाव। बाह्य विश्व है और विश्वात्मा है, मन है, आकाश है, वायु है, अग्नि है, जल है और पृथिवी है।

वही मन के विषय में है। मैं पिण्ड में भी ठीक वही हूँ। मैं आत्मा हूँ, मैं मन हूँ, मैं आकाश, पृथिवी, जल और वायु हूँ। मैं जो करना चाहता हूँ, वह यह है कि मैं अपनी उसी आध्यात्मिक अवस्था में वापस पहुँच जाऊँ। यह व्यक्ति-विशेष पर निर्भर है कि वह एक ही अल्पकालिक जीवन में विश्व का जीवन व्यतीत कर ले। इस प्रकार मनुष्य इसी जीवन में मुक्त हो सकता है। अपने ही छोटे से जीवन-काल में जीवन के पूर्ण विस्तार का भोग करने की शक्ति उसमें है।...

हम सब संघर्ष करते हैं।...यदि हम पूर्ण तक न पहुँच सके, तो कहीं न कहीं पहुँचेंगे ही, और हम जो आज हैं, उसकी अपेक्षा अच्छे ही रहेंगे।

ध्यान वह अभ्यास है (जिसमें सब कुछ उस परम सत्य—आत्मा में घुला दिया जाता है)। पृथिवी जल में रूपान्तरित होती है, जल वायु में, वायु आकाश में, तब मन और फिर वह मन भी विलीन हो जाता है। सब आत्मा ही है।

कुछ योगियों का दावा है कि यह शरीर द्रव आदि बन जायगा। तुम उसे कुछ भी बनाने में समर्थ हो सकते हो—उसे छोटा या वायु बना सकते हो, दीवार में प्रवेश करा सकते हो—ऐसा उनका दावा है।

मैं नहीं जानता। मैंने ऐसा करते किसीको नहीं देखा है। लेकिन ग्रंथों में ऐसा लिखा है। उन ग्रंथों पर अविश्वास करने का हमारे पास कोई कारण नहीं है।

सम्भवतः हममें से कुछ इसको इसी जीवन में करने में समर्थ होंगे। हमारे पूर्व कर्मों के परिणामस्वरूप वह प्रकाश की भाँति कौंध पड़ता है। कौन जानता है, पर यहाँ कुछ प्राचीन योगी हैं, जिन्हें पूरे कार्य की समाप्ति में थोड़ा ही करना शेष रह गया है। अभ्यास करो!

ध्यान, तुम जानते हो, कल्पना की प्रक्रिया से आता है, तुम तत्त्वशोधन की इन तमाम प्रक्रियाओं से होकर बढ़ो—एक को दूसरे में रूपान्तरित करते जाओ, फिर उसको अपने से ऊँचे में, फिर उसको मन में, फिर उसको आत्मा में और तब तुम आत्मा हो जाओ।[1]

---

१. तत्त्वों का यह शुद्धीकरण भूत-शुद्धि के नाम से विदित है और कर्मकाण्ड-उपासना का एक अंग है। उपासक यह अनुभव करने का प्रयत्न करता है कि वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को उनके सूक्ष्म तत्त्वों के सहारे लय कर रहा

आत्मा नित्य मुक्त हैं, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। निश्चय ही ईश्वर के अधीन है। बहुत से ईश्वर नहीं हो सकते। ये मुक्त आत्माएँ आश्चर्यजनक रूप से शक्तिमान, प्रायः सर्वशक्तिमान होती हैं। (किन्तु) ईश्वर जितनी शक्तिमान कोई नहीं हो सकती। यदि कोई (मुक्त आत्मा) कहती है, "मैं इस ग्रह को इस मार्ग पर चलाऊँगी", और दूसरी कहती है, "मैं इसे उस मार्ग पर चलाऊँगी", (तो गड़बड़ हो जाय)।

क्या तुम यह ग़लती नहीं करते हो! जब मैं अंग्रेज़ी में कहता हूँ, "मैं ईश्वर (गॉड) हूँ!" तो इसका कारण यह है कि उससे उत्तम कोई शब्द मेरे पास नहीं है। संस्कृत में ईश्वर का अर्थ है, पूर्ण सत्ता, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण बुद्धि, असीम, स्वप्रकाशित चेतना। सगुण नहीं। वह निर्गुण है।

मैं राम कभी नहीं हूँ (ईश्वर के साथ, ईश्वर के सगुण रूप के साथ कभी एकाकार नहीं हूँ), परन्तु (ब्रह्म के साथ, निर्गुण, सर्वव्यापी सत्ता के साथ) मैं एकाकार हूँ। यह मृत्तिका का विशाल पिण्ड है। उस मृत्तिका में से मैंने एक छोटा (चूहा) बनाया और तुमने छोटा (हाथी)। दोनों ही मृत्तिका हैं। दोनों को बिगाड़ दो। दोनों अनिवार्यतः एक हैं। 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं।' (लेकिन मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी के हाथी के साथ एकाकार नहीं हो सकता।)

मैं कहीं रुक जाता हूँ, मुझे थोड़ा ज्ञान है। तुमको थोड़ा अधिक ज्ञान है, तुम भी कहीं रुकते हो। एक आत्मा ऐसी है, जो सबसे महान् है। यह ईश्वर है, योगेश्वर है (सृष्टिकर्ता ईश्वर, सोपाधिक)। वह सत्ताधारी है। वह सर्वशक्तिमान है। वह प्रत्येक हृदय में निवास करता है। कोई शरीर नहीं है। उसे शरीर की आवश्यकता नहीं है। ध्यान आदि से जो कुछ तुम पाते हो, उसे तुम ईश्वर, योगीश्वर का ध्यान कर प्राप्त कर सकते हो।

किसी महात्मा का ध्यान करने से भी उसकी प्राप्ति हो सकती है, या जीवन के सामंजस्य पर ध्यान करने से भी। इनको विषय या वस्तुनिष्ठ ध्यान कहते हैं। इस प्रकार तुम कुछ बाह्य वस्तुओं का, बहिःस्थ या अंतःस्थ, ध्येयात्मक विषयों का ध्यान करते हो। अगर तुम कोई लम्बा वाक्य लो, तो वह कदापि ध्यान नहीं है।

है। मन, बुद्धि और अहंकार का लय महत् में, महत् या ब्रह्माण्ड-अहं का लय ब्रह्म की शक्ति प्रकृति में और प्रकृति का लय ब्रह्म में किया जाता है, जो परम सत्य है। सुषुम्णा के मूल में स्थित शक्ति कुंडलिनी कल्पना द्वारा मस्तिष्क के उच्चतम चेतना-केन्द्र में लायी जाती है, जहाँ वह उपासक परमात्मा से एकीभाव का ध्यान करता है। स०

वह तो जप से मन को एकाग्र करने का प्रयत्न मात्र है। ध्यान का अर्थ यह है कि मन को मोड़कर मन में ही लगा दिया जाय। मन की सारी (विचार-तरंगें) रुक जायँ, तो संसार रुक जायगा। तुम्हारी चेतना विस्तृत होती है। जितनी बार तुम ध्यान करोगे, उतना ही अधिक तुम्हारा विकास होगा।...थोड़ा और अध्यवसाय करो, निरन्तर बढ़ाते जाओ, और ध्यान जम जायगा। तुमको शरीर या अन्य किसी वस्तु का भान न होगा। जब तुम ध्यान-काल के बाद उससे उठोगे, तब तुमको प्रतीत होगा कि जीवन-काल की सर्वाधिक सुन्दर विश्रान्ति मिली है। तुम अपने शरीर को जब कभी विश्राम देते हो, तो उसका वही एकमात्र तरीका है। गहरी से गहरी निद्रा से भी उतना विश्राम नहीं मिलेगा, जितना उससे मिलेगा। मन प्रगाढ़तम निद्रा में भी उछलता-कूदता रहता है। (ध्यान के) उन कुछ क्षणों में तुम्हारा मस्तिष्क लगभग रुक जाता है। थोड़ी सी जीवनी-शक्ति बनी रहती है। तुम शरीर को विस्मृत कर देते हो। तुम बोटी बोटी काट डाले जाओ, फिर भी तुमको लेशमात्र अनुभव न हो। उसमें तुमको इतना आनन्द मिलेगा। तुम इतने हल्के हो जाओगे। यह पूर्ण विश्रान्ति हमें ध्यान में मिलेगी।

तब विभिन्न वस्तुओं का ध्यान। सुषुम्णा के विभिन्न चक्रों पर ध्यान किया जाता है। (योगियों के मतानुसार) मेरुदण्ड में इड़ा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ हैं। वे दो प्रमुख नाड़ियाँ हैं, जिनसे अभिवाही तथा अपवाही नाड़ीय प्रवाह होता रहता है। पोली (नाड़ी, जिसे सुषुम्णा कहा जाता है) मेरुदण्ड के मध्य भाग से जाती है। योगियों का कहना है कि यह नाड़ी बन्द है, लेकिन ध्यान के बल से उसे खोलना है। शक्ति को (मेरुदण्ड के आधार तक) नीचे उतारना है और कुण्डलिनी जाग जाती है। संसार बदल जायगा।...

हज़ारों दिव्य प्राणी तुम्हारे आसपास खड़े हैं। तुम उन्हें नहीं देख पाते, क्योंकि हमारा जगत् इन्द्रिय-निर्धारित है। हम केवल इस बाह्य को देख सकते हैं। आओ, इसे 'क' की संज्ञा दें। हम अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार 'क' को देखते हैं। बाहर सामने जो वृक्ष खड़ा है, उसे लो। एक चोर आया और उसने तने में क्या देखा? पुलिस का एक आदमी। बच्चे ने एक बड़ा भूत देखा। युवक अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा में था और उसने क्या देखा? अपनी प्रेयसी को। परन्तु पेड़ का तना बदला नहीं था। वह तो ज्यों का त्यों रहा। यह स्वयं ईश्वर है और हम अपनी मूर्खता के कारण उसे मनुष्य, धूल, मूक और दुःखी समझते हैं।

जो लोग एक ही तरह से निर्मित हैं, वे स्वभावतः एक समुदाय बना लेंगे और एक तरह के लोक में रहेंगे। दूसरे प्रकार से कहा जाय, तो तुम एक ही स्थान पर रहते हो। सब स्वर्ग और सब नरक यहीं पर हैं। उदाहरणार्थ—बड़े वृत्तों (के

रूप में धरातलों को लो) जो कुछ विन्दुओं पर एक दूसरे को काटते हों।...एक वृत्त के इस धरातल पर हम दूसरे (वृत्त) के किसी विन्दु के संस्पर्श में हो सकते हैं। यदि मन केन्द्र में पहुँच जाय, तो तुम सभी धरातलों के प्रति चैतन्य होने लगते हो। ध्यान-काल में कभी कभी तुम किसी दूसरे स्तर को स्पर्श करते हो और तुम अन्य प्राणी, अशरीरी जीवात्माएँ और इसी प्रकार की वस्तुएँ देखते हो। तुम वहाँ ध्यान-वल से पहुँचते हो। यह वल हमारी इन्द्रियों को वदल रहा है, तुम समझो कि वह हमारी इन्द्रियों को सूक्ष्म वना रहा है। यदि तुम आरम्भ में पाँच दिन अभ्यास करो, तो तुम इन (चेतना के) केन्द्रों के भीतर पीड़ा का अनुभव करोगे और श्रवण-शक्ति (सूक्ष्मतर) हो जायगी।...यही कारण है कि सभी भारतीय देवताओं के तीन नेत्र होते हैं। वह यौगिक (दिव्य) चक्षु है, जो खुल जाता है और तुमको आध्यात्मिक वस्तुओं का दर्शन कराता है।

ज्यों ज्यों यह कुण्डलिनी शक्ति उद्‌वुद्ध होकर सुषुम्णा के एक चक्र से दूसरे चक्र में चढ़ती है, त्यों त्यों वह इन्द्रियों को वदलती है और तुम इस विश्व को दूसरे विश्व के रूप में देखने लगते हो। यह स्वर्ग है। तुम वोल नहीं सकते। तव कुण्डलिनी नीचे के चक्रों में जाती है। तुम फिर तव तक मनुष्य हो, जब तक कुण्डलिनी मस्तिष्क (सहस्रार) में नहीं पहुँच जाती, सव चक्रों का भेदन नहीं हो चुकता, सारा दृश्य लुप्त नहीं हो जाता और तुम कुछ नहीं, बल्कि एक सत्ता का (साक्षात्कार नहीं करते) हो।...तुम ईश्वर हो। उसीसे तुम सारे स्वर्गों का निर्माण करते हो, उसीसे सव लोकों का भी। वही एक सत्ता है। अन्य किसीका अस्तित्व नहीं है।

योग-विज्ञान

(१३ अप्रैल, १९०० को टुकर हॉल, अलामेडा, कैलिफ़ोर्निया में दिया गया भाषण)

(चित्तवृत्तिनिरोधः) कहकर प्राचीन संस्कृत शब्द 'योग' की परिभाषा की गयी है। इसका अर्थ यह है कि योग वह विज्ञान है, जो हमें चित्त को परिवर्तनशील अवस्था से निरुद्ध कर उसे वश में करने की शिक्षा देता है। चित्त वह वस्तु है, जिससे हमारे मन का निर्माण होता है और जो निरन्तर बाह्य तथा आन्तरिक प्रभावों से प्रमथित होकर (संकल्प-विकल्प की) तरंगें उछालता रहता है। योग हमें सिखाता है कि मन का किस प्रकार नियमन किया जाय, जिससे वह सन्तुलन खोकर तरंगित न होने पाये।...

इसका अर्थ क्या है? धर्म के विद्यार्थी के लिए ९९ प्रतिशत धार्मिक ग्रन्थ और विचार केवल अटकलबाज़ी हैं। एक मनुष्य सोचता है कि धर्म यह है, तो दूसरा सोचता है कि धर्म वह है। अगर एक व्यक्ति दूसरे से अधिक चतुर हुआ, तो वह दूसरे के अटकलों का खण्डन कर देता है और नये का सूत्रपात करता है। पिछले दो हज़ार, चार हज़ार वर्षों से—ठीक कितने काल से, किसीको ज्ञात नहीं—लोग नयी नयी धर्म-व्यवस्थाओं का अध्ययन करते आ रहे हैं।...जब वे तर्कों से समाधान नहीं कर पाते, तो कहते हैं, "विश्वास करो।" यदि वे शक्तिशाली हुए, तो अपना विश्वास उन्होंने बलात् लादा। आज भी ऐसा हो रहा है।

लेकिन कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो इस स्थिति से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हो पाते। वे पूछते हैं, "क्या निस्तार का कोई मार्ग नहीं है?" भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान और गणित में तो तुम इस प्रकार की अटकलबाज़ी नहीं करते। फिर क्या धर्म-विज्ञान इतर विज्ञानों की भाँति नहीं हो सकता? उन्होंने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया—यदि वास्तव में मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व है, यदि वह अमर है, यदि सचमुच ईश्वर की सत्ता है और वह जगत् का शास्ता है, तो उसका (बोध) यहीं होना चाहिए और यह सब (बोध तुम्हारी ही) अन्तश्चेतना में होना चाहिए।

मन का विश्लेषण किसी बाहरी यन्त्र से नहीं किया जा सकता। मान लो, जब मैं विचार कर रहा हूँ, तब तुम मेरे मस्तिष्क को देख रहे हो। उस समय तुमको

उसमें कुछ अणुओं का परस्पर विनिमय मात्र दिखायी देगा। तुम विचार, चेतना, मनोभाव और मानस-प्रतिमाओं को नहीं देख सकते। तुम केवल कम्पनों की राशि देखोगे—रासायनिक और भौतिक परिवर्तन। इस दृष्टान्त से हम देखते हैं कि इस प्रकार के विश्लेषण से काम नहीं चलेगा।

मन के रूप में मन के विश्लेषण का क्या कोई और तरीक़ा है? यदि कोई तरीक़ा है, तो सच्चा धर्म-विज्ञान सम्भव है। राजयोग के विज्ञान का दावा है कि इस प्रकार की सम्भावना है। हम सब इसका अभ्यास कर सकते हैं और कुछ अंश तक सफल हो भी सकते हैं। एक बड़ी कठिनाई यह है—इन्द्रियगोचर विज्ञान में विषय-वस्तु को (देखना अपेक्षाकृत सरल होता है)। विश्लेषण के उपकरण भी सुनिश्चित होते हैं और दोनों ही स्थूल होते हैं। परन्तु मन के विश्लेषण में साधन और साध्य, दोनों एक ही होते हैं।...कर्ता और कर्म एक हो जाते हैं।...

बाहरी विश्लेषण मस्तिष्क तक पहुँचेगा, तो उससे पता लगेगा कि भौतिक और रासायनिक परिवर्तन क्या हुए। इससे (प्रश्न का हल निकालने में) कभी सफलता नहीं मिलेगी। यह चेतना क्या है? तुम्हारी कल्पना क्या है? तुममें कहाँ से संकल्पों की यह विपुल राशि आती है और फिर कहाँ चली जाती है? हम उन्हें अस्वीकार तो नहीं कर सकते। वे तथ्य हैं। मैंने कभी अपना मस्तिष्क नहीं देखा। मुझे निश्चय मानना पड़ेगा कि मेरे मस्तिष्क है। परन्तु आदमी अपनी चेतन कल्पनाओं को कभी अस्वीकार नहीं कर सकता।

बड़ी समस्या हम लोग स्वयं हैं। क्या मैं एक ऐसी लम्बी शृंखला हूँ, जिसे मैं देख नहीं पाता—एक कड़ी के तत्काल बाद दूसरी कड़ी आती है, परन्तु हैं वे बिल्कुल असम्बद्ध? क्या मैं विज्ञान की ऐसी ही (परिवर्तन के सतत प्रवाह की) अवस्था हूँ? या मैं उससे कुछ और अधिक हूँ—सार, सत् जिसे हम आत्मा कहते हैं? दूसरे शब्दों में, मनुष्य में आत्मा होती है या नहीं? क्या वह असम्बद्ध विज्ञान की अवस्थाओं की गठरी है या एकीकृत तत्त्व है? यह बड़ा विवादास्पद है। यदि हम केवल विज्ञानों की गठरी हैं...तो अमरत्व जैसा प्रश्न भ्रम मात्र है।...दूसरी ओर यदि हमारे भीतर कोई ऐसी वस्तु है, जो इकाई है, सार है, तब तो मैं अवश्य अमर हूँ। इकाई को नष्ट नहीं किया जा सकता और न उसे खण्डों में विभाजित किया जा सकता है। विभाजित तो संयुक्त पदार्थ ही किये जा सकते हैं।...

बौद्ध धर्म को छोड़ शेष सभी धर्मों का ऐसे किसी तत्त्व या द्रव्य में विश्वास है और वे किसी न किसी रूप में इसके लिए संघर्ष भी कर रहे हैं। बौद्ध धर्म ऐसे तत्त्व को अस्वीकार करता है और उससे पूर्ण सन्तुष्ट है। वह कहता है परमात्मा, आत्मा, अमृतत्व आदि विषयक बातें—इस प्रकार के प्रश्नों में माथापच्ची मत करो।

किन्तु दुनिया के अन्य सभी धर्म इस सार (तत्त्व) को अंगीकार करते हैं। उन सबका विश्वास है कि सब परिवर्तनों के बावजूद मानव में आत्मा ही सार है, जगत् में परमेश्वर ही सार है। उन सबका विश्वास है कि आत्मा अमर है। ये सब अनुमान हैं। बौद्धों और ईसाइयों के इस विवाद का निपटारा कौन करे? ईसाई धर्म कहता है कि एक सार वस्तु है, जो शाश्वत है। ईसाई कहता है, "मेरी बाइबिल का यह कथन है।"...बौद्ध कहता है, "आपके ग्रन्थ में मेरा विश्वास नहीं है।"...

प्रश्न यह है कि क्या हम द्रव्य (आत्मा) हैं, या सूक्ष्म पदार्थ, परिवर्तनशील, तरंगायमान मन हैं?...हमारे मन में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। भीतर वह द्रव्य-तत्त्व कहाँ है? हम उसे पाते नहीं। मैं इस समय कुछ हूँ और फिर और कुछ हो जाता हूँ। यदि एक क्षण के लिए तुम इन परिवर्तनों को बन्द कर दो, तो उस सार-तत्त्व के प्रति मेरा विश्वास हो जायगा।...

निश्चय ही ईश्वर तथा स्वर्ग सम्बन्धी सभी विश्वास संगठित धर्मों के क्षुद्र विश्वास हैं। कोई भी वैज्ञानिक धर्म इस तरह की प्रस्तावना कभी नहीं करता।

योग वह विज्ञान है, जो हमें चित्त (मनः पदार्थ) को इन परिवर्तनों में पड़ने से बचना सिखलाता है। मान लो, तुम मन को पूर्ण योगयुक्त अवस्था तक पहुँचाने में सफल हो गये। उस समय तुमने समस्या हल कर ली। तुमको बोध हो गया कि तुम क्या हो? सभी परिवर्तनों पर तुम्हारा प्रभुत्व हो गया। उसके पश्चात् तुम मन को विचरण करने दो, पर अब वह पहले जैसा मन नहीं रह गया। वह पूर्णतया तुम्हारे वश में है। वह उस जंगली घोड़े जैसा नहीं रह गया, जो तुमको पटकता रहता है।...तुमने ईश्वर का दर्शन कर लिया। यह अनुमान का विषय नहीं रह गया। अब वह श्री अमुक नहीं रह गया...किसी ग्रन्थ या वेदों की नहीं, धर्मोपदेशकों का वितण्डावाद या वैसी कोई कोई चीज़ नहीं रही। तुमने स्वयं साक्षात्कार कर लिया—मैं इन परिवर्तनों से परे आत्मा हूँ। मैं परिवर्तन नहीं हूँ, यदि मैं ऐसा होता, तो उन्हें रोक न सकता। मैं परिवर्तनों को रोक सकता हूँ, इसलिए मैं स्वयं परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता। योग-विज्ञान की यह आधार-पीठिका है।

ये परिवर्तन हमें पसन्द नहीं। परिवर्तनों को हम ज़रा भी नहीं चाहते। प्रत्येक परिवर्तन हमारे ऊपर बलात् लादा जाता है। हमारे देश में बैल के कन्धों पर जुआ रखा जाता है (जो एक लट्ठे से तेल के कोल्हू में जुड़ा रहता है)। जुए के आगे निकले हुए लट्ठे में ललचाने के लिए (घास की पोटली बँधी रहती है), जो इतनी दूरी पर होती है कि बैल वहाँ तक पहुँच नहीं पाता। वह घास खाना चाहता है और थोड़ा आगे बढ़ता है (इस प्रकार कोल्हू घुमाता है)।...हम लोग इन्हीं

बैलों के समान हैं, जो सदैव घास खाने के प्रयत्न में रहते हैं और वहाँ तक पहुँचने के लिए गर्दन बढ़ाते रहते हैं। इस प्रकार हम चक्कर पर चक्कर लगाते हैं। कोई ऐसे परिवर्तनों को पसन्द नहीं करता। निश्चय ही नहीं।...ये सभी परिवर्तन हम पर हठात् लादे गये हैं।...हमारा कोई चारा नहीं। एक बार जब हमने स्वयं अपने को मशीन में डाल दिया, तो हम निरन्तर चक्कर काटते ही रहेंगे। रुकने में आगे चलने की अपेक्षा और अधिक अनिष्ट है।...

निश्चय ही हमारे ऊपर दुःख आते हैं। यह सब दुःख है, क्योंकि सब अनिच्छित है। यह सब बेगारी है। प्रकृति आदेश देती है और हम उसका पालन करते हैं, किन्तु प्रकृति और हममें किंचित् भी सद्भाव नहीं है। हमारे सभी कार्यों में प्रकृति से छुटकारा पाने का प्रयास रहता है। हम कहते हैं कि प्रकृति की मौज़ लूट रहे हैं। यदि हम आत्मविश्लेषण करें, तो पता लगता है कि हम प्रत्येक वस्तु से बचने का प्रयास करते हैं और किसी न किसी वस्तु के सुख-भोग का मार्ग आविष्कृत करते रहते हैं।...(प्रकृति) उस फ्रांसीसी जैसी (है) जिसने अपने एक अंग्रेज़ मित्र को निमन्त्रित किया था और बताया था कि मेरे तहख़ाने में पुरानी शराब रखी हुई है। उसने पुरानी शराब की एक बोतल मँगायी। इतनी बढ़ियां शराब थी और बोतल के भीतर सोने जैसी दमक रही थी। नौकर ने गिलास में शराब उड़ेली, तो अंग्रेज़ चुपचाप पी गया। नौकर ले आया था अण्डी के तेल की बोतल! हम लोग हर वक्त अण्डी का तेल पी रहे हैं, इससे बच नहीं सकते।...

(प्रायः लोग)...इतने यन्त्रवत् हो गये हैं कि वे...सोच भी नहीं पाते। कुत्तों, बिल्लियों और अन्य पशुओं की भाँति वे भी प्रकृति द्वारा चाबुक से हाँके जाते हैं। वे कभी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, कभी कल्पना तक नहीं करते। लेकिन जीवन का उन्हें भी कुछ अनुभव है।...

(पर कुछ लोग) प्रश्न पूछने लगते हैं—यह क्या है? ये सब अनुभव किसलिए हैं? आत्म-तत्त्व क्या है? क्या कोई निस्तार है? जीवन का कुछ अभिप्राय है?...

सज्जन मरेंगे। दुर्जन मरेंगे। राजा मरेंगे, रंक मरेंगे। महादुःख मृत्यु है। ...हर वक्त हम उसको दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। और यदि किसी सुखद धर्म में रहकर मरे, तो हम कल्पना करते हैं कि बाद में हम जॉन और जैक को देख सकेंगे और चैन की वंशी बजेगी।

तुम्हारे देश में कुछ लोग जॉन और जैक को नीचे उतारकर तुमको (प्रेतविद्या संबंधी गोष्ठियों में) दिखाते हैं। मैंने ऐसे व्यक्तियों को कई बार देखा है और उनसे हाथ मिलाया है। तुममें से भी बहुतों ने उन्हें देखा होगा। वे पियानों बजाते हैं

और गाते हैं 'ब्यूलालैण्ड।' अमेरिका विशाल देश है। मेरा देश दुनिया में उस पार है। लेकिन 'ब्यूलालैण्ड' कहाँ है, यह मुझे मालूम नहीं। तुम किसी भूगोल में न पाओगे। हमारे सुखद धर्म को तो देखो! वही पुराने सड़ियल विश्वास!

वे लोग सोच नहीं सकते। उनके लिए क्या किया जा सकता है? भवसागर ने उन्हें उदरस्थ कर लिया है। उनमें सोचने की शक्ति शेष नहीं रह गयी है। वे अन्दर से खोखले हो गये हैं, उनका मस्तिष्क जम सा गया है।...मेरी उनके प्रति सहानुभूति है। उनका चैन उन्हें मुबारक हो! देखने में आता है कि कुछ लोग ब्यूलालैण्ड से आये हुए अपने पूर्वजों का दर्शन कर बड़े आश्वस्त होते हैं।

माध्यम बननेवालों में से एक ने मुझसे कहा कि कहिए, तो आपके पूर्वजों को आपके पास बुला दूँ। मैंने कहा, "बस, रुक जा। तुझे जो अच्छा लगे, वह कर। लेकिन अगर तू मेरे पूर्वजों को लाया, तो मैं नहीं जानता कि मैं अपने को रोक पाऊँगा या नहीं।" माध्यम ने बड़ी कृपा की, वह रुक गया।

हमारे देश में जब हम उलझनों में पड़कर चिन्तित होते हैं, तो पुरोहितों को कुछ देकर भगवान् से सौदा पटाते हैं।...सम्प्रति भार हल्का हो जाता है, नहीं तो हम पुरोहितों को दक्षिणा न देते। किंचित् सांत्वना तो मिलती है, पर शीघ्र वह प्रतिक्रिया में (बदल जाती है)।...तो दुःख फिर आता है। यहाँ सदा वही दुःख है। तुम्हारे यहाँ के लोग हमारे देश में कहते हैं, "यदि आप हमारे मत में आस्था रखेंगे, तो आपका मंगल होगा।" हमारे यहाँ के निम्न वर्ग के लोग तुम्हारे सिद्धान्तों पर विश्वास करते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि वे भिखमंगे बन जाते हैं...पर क्या यह धर्म है? यह तो राजनीति है...धर्म नहीं। तुम इसे धर्म कह सकते हो, पर धर्म शब्द की छीछालेदर करके ही। किन्तु यह आध्यात्मिक नहीं है।

हज़ारों नर-नारियों में से कोई एक इस जीवन से परे के किसी विषय की दिशा में प्रवृत्त होता है। अन्य लोग तो भेड़ जैसे हैं।...हज़ारों में से एक समझने का यत्न करता है, कोई निस्तार का मार्ग ढूंढ़ता है। प्रश्न यह है कि क्या कोई निस्तार का मार्ग है? यदि निस्तार का कोई मार्ग है, तो वह आत्मा के भीतर है, अन्यत्र कहीं नहीं। अन्य सूत्रों के मार्गों को क़ाफी आज़माया गया है और सबमें (कमी पायी गयी है)। लोगों को सन्तोष-लाभ नहीं होता। ढेर के ढेर सिद्धान्तों और पन्थों के होने से सिद्ध होता है कि लोगों को सन्तोष-लाभ नहीं हो रहा है।

योगशास्त्र एक मार्ग बतलाता है—उद्धरेदात्मनात्मानम्। हमें स्वयं अपने को स्वत्वनिष्ठ करना पड़ेगा। अगर सत्य का लेश भी है, तो हम उसे (अपने ही

सार-तत्त्व के रूप में प्राप्त) कर सकते हैं।...दर दर प्रकृति द्वारा मारा मारा फिरना बन्द हो जायगा।...

गोचर संसार निरन्तर परिवर्तित हो रहा है—(वह परिवर्तनातीत तक पहुँचना चाहता है)—वह हमारा लक्ष्य है। हम वही बनना चाहते हैं, हम उस चित् का और (परिवर्तनातीत) ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहते हैं। ब्रह्म बनने में हमारे मार्ग में बाधा क्या है? यह सृष्टि का तथ्य है। सृजनात्मक मन सदैव सृष्टि कर रहा है और अपनी ही सृष्टि के प्रपंच में पड़ जाता है। (किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि) सृष्टि ने ही ईश्वर का अनुसन्धान किया। सृष्टि ने ही प्रत्येक आत्मा में उस ब्रह्म का अनुसन्धान किया।

अपनी परिभाषा पर हम पुनः लौट रहे हैं—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**—चित्त की वृत्तियों को इन परिवर्तनों में पड़ने से रोक दिया जाय। जब यह समस्त सृष्टि रोक दी जाय—यदि रोकना सम्भव हो—तो हम स्वयं देख लेंगे कि वास्तव में हम क्या हैं...वह अज, वह सृष्टिकर्ता, जो अपने को व्यक्त करता है।

योगाभ्यास की भिन्न भिन्न विधियाँ हैं। उनमें से कुछ बड़ी कठिन हैं, जिनमें सफलता के लिए दीर्घकालीन यम-नियम अपेक्षित है। जिनमें वैसे अभ्यास के लिए दृढ़ता और बल होता है, उन्हें महती सफलताएँ मिलती हैं। जिनमें वे न हों, वे सरल विधि अपनाकर उससे कुछ लाभ उठा सकते हैं।

जहाँ तक मन के समुचित विश्लेषण का प्रश्न है, हमें तत्काल मालूम हो जाता है कि उसे वश में करना कितना कठिन है। हम शरीर बन गये हैं। हमने इसे पूरी तौर से भुला दिया है कि हम आत्मा हैं। जब हम अपने को सोचते हैं, तो तुरन्त शरीर की कल्पना कर लेते हैं। हम शरीरवत् व्यवहार करते हैं, शरीरवत् वार्ता करते हैं। हम सब शरीर हैं। इस शरीर से हमें आत्मा को पृथक् करना है। इसलिए शरीर से ही यम-नियम का श्रीगणेश होता है। (यह तब तक चलता है, जब तक अन्त में) आत्मा अपने को व्यक्त नहीं कर देती।...इस सभी यम-नियम का प्रमुख अभिप्राय यह है कि चित्त की एकाग्रता की वह शक्ति, जिसे ध्यान-शक्ति कहते हैं, उपलब्ध हो जाय।

अतीन्द्रिय अथवा मनस्तात्त्विक अनुसंधान का आधार

जब स्वामी विवेकानन्द पश्चिम में थे, तब वे प्रायः वाद-विवादों में भाग नहीं लेते थे। लन्दन में एक बार 'क्या वैज्ञानिक आधार पर अतीन्द्रिय घटनाओं को सिद्ध किया जा सकता है?' विषय पर व्याख्यान से सम्बन्धित विचार-विमर्श के दौरान उन्होंने वाद-विवाद में भाग लिया। इस वाद-विवाद के समय उन्होंने एक उक्ति सुनी, जिसके पश्चिमी देशों में सुनने का यह पहला अवसर न था। उसके प्रसंग में उन्होंने कहा—

एक बात पर मैं टिप्पणी करना चाहता हूँ। हम लोगों के सम्मुख एक भ्रान्त वक्तव्य दिया गया है कि मुसलमानों का यह विश्वास है कि स्त्रियों के आत्मा नहीं होती है। मुझे यह कहने में बड़ा दुःख हो रहा है कि ईसाई लोगों में यह भ्रान्त धारणा बहुत पुरानी है और ऐसा जान पड़ता है कि वे इस भूल को पसन्द करते हैं। यह मानव-स्वभाव की विचित्रता है कि वे दूसरों के बारे में, जिन्हें वे पसन्द नहीं करते, कुछ बहुत बुरी बात कहना चाहते हैं। अब तुम जानते हो कि मैं मुसलमान नहीं हूँ, लेकिन फिर भी मुझे इस धर्म के अध्ययन का अवसर मिल चुका है और क़ुरान का एक शब्द भी यह नहीं कहता कि महिलाओं के आत्मा नहीं होती, वस्तुतः वह कहता है कि उनमें आत्मा होती है।

अतीन्द्रिय वस्तुओं को चर्चा का विषय बनाया गया है, जिनके बारे में यहाँ मुझे बहुत कम कहना है, क्योंकि प्रथम तो प्रश्न उठता है कि क्या अतीन्द्रिय विषयों का वैज्ञानिक प्रदर्शन सम्भव है। इस प्रदर्शन से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? सबसे पहले तो आत्मनिष्ठ पक्ष और वस्तुनिष्ठ पक्ष की आवश्यकता पड़ेगी। भौतिक विज्ञान और रसायनविज्ञान को लो, जिससे हम बहुत परिचित हैं और जिनके बारे में हम लोगों ने इतना पढ़ा है; तो क्या यह सच है कि केवल साधारणतम विषयों पर ही किये गये प्रदर्शनों को दुनिया के सभी लोग समझ जाते हैं? किसी बर्बर को ले आओ और उसे अपना एक प्रयोग दिखाओ। वह उसमें से क्या समझेगा? कुछ नहीं। किसी प्रयोग के समझने योग्य बनाने से पहले पर्याप्त सिखाने-पढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। उसके पूर्व वह उसे रंचमात्र नहीं समझ सकता। मार्ग में यह बड़ी अड़चन है। यदि वैज्ञानिक प्रदर्शन का यह अर्थ है कि कुछ वैज्ञानिक

तथ्यों को ऐसे स्तर पर ले आया जाय, जो समस्त मानव जाति के लिए सार्वभौम स्तर हो और जिस पर रहने से उसे सभी लोग समझ सकें, तो मैं इस बात का खण्डन करता हूँ कि दुनिया के किसी भी विषय का इस प्रकार का वैज्ञानिक प्रदर्शन हो सकता है। यदि ऐसा हो सकता, तो हमारे सभी विश्वविद्यालय और प्रशिक्षण व्यर्थ होते। यदि प्रत्येक वैज्ञानिक विषय को हम समझ सकते, तो हमें प्रशिक्षित क्यों किया जाता? इतने अधिक अध्ययन की क्या आवश्यकता? इससे किंचित् भी लाभ नहीं। इसलिए अगर वैज्ञानिक प्रदर्शन का यह अर्थ है कि गूढ़ तथ्यों को उस स्तर पर लाया जाय, जिस पर हम लोग हैं, तब तो झट कहा जा सकता है कि यह प्रदर्शन असंगत है। दूसरा अर्थ शायद सही होना चाहिए—कुछ साधारण तथ्यों को प्रस्तुत किया जाय कि जिनसे अपेक्षाकृत अधिक कुछ गूढ़ तथ्यों को सिद्ध किया जा सके। कुछ गोचर विषय अपेक्षाकृत अधिक उलझे हुए और गूढ़ हैं, जिनकी व्याख्या हम उनसे कम गूढ़ गोचर विषयों के सहारे करते हैं और सम्भवतः उनके अधिक समीप पहुँच जाते हैं; इस प्रकार वे धीरे धीरे हमारी वर्तमान साधारण चेतना के स्तर पर उतार लिये जाते हैं। किन्तु यह भी बड़ा गूढ़ और कठिन है और उसके लिए प्रशिक्षण की अत्यधिक शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। अतः मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि मनस्तात्त्विक क्रियाओं की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए हमें क्रियाओं के सम्बन्ध में केवल पूर्ण प्रमाण ही नहीं चाहिए, वरन् जो उन्हें देखना चाहते हैं, उन्हें भी पर्याप्त परिमाण में प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ेगी। जब इतना हो जाय, तब हमारे सामने जो क्रियाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, उनके सत्यासत्य के विषय में हम हाँ या नहीं कहने की स्थिति में हो सकते हैं। किन्तु उसके पहले सर्वाधिक उल्लेखनीय अथवा मनुष्य-समाज में घटित बार बार उल्लिखित क्रियाओं को ऐरे-ग़ैरे तरीक़े से भी सिद्ध करना बड़ा कठिन होगा, ऐसा मेरा मत है।

इसके पश्चात् उन त्वरित व्याख्याओं को लो कि धर्म स्वप्नजनित हैं—जिन्होंने उनका विशेष रूप से अध्ययन किया है, उनके विचार से वे कोरे अनुमान हैं। इतनी सरलता से जो व्याख्या कर दी गयी है कि धर्म स्वप्नजनित हैं, उसे मानने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं है। तब तो अज्ञेयवादियों का मत मान लेना सचमुच बड़ा आसान होगा, परन्तु दुर्भाग्य से इस प्रश्न की व्याख्या इतनी सरलता-पूर्वक नहीं की जा सकती। वर्तमान काल में भी कितनी ही अन्य अतीन्द्रिय क्रियाएँ हो रही हैं और उनकी छानबीन करनी पड़ेगी, करनी ही नहीं पड़ेगी, सदा से उनकी छानबीन होती आयी है। अन्धा कहता है, सूर्य नहीं है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सूर्य नहीं है। वर्षों पूर्व इन अतीन्द्रिय (आत्मिक) क्रियाओं की छानबीन की गयी है। तमाम मानव जातियों ने नाड़ियों की सूक्ष्म क्रियाओं का पता लगाने के

लिए अपने को उपयुक्त पात्र बनाने के निमित्त शताब्दियों तक साधना की है। युगों पूर्व उनके अभिलेख प्रकाशित हो चुके हैं, इन विषयों के अध्ययन के लिए महाविद्यालय स्थापित हो चुके हैं और आज भी ऐसे स्त्री-पुरुष हैं, जो इन क्रियाओं के जीते-जागते नमूने हैं। निश्चय ही मैं स्वीकार करता हूँ कि इन सबमें बहुत ढोंग है, बहुत कुछ ग़लत और असत्य है, पर ऐसा कहाँ नहीं है? कोई सामान्य इन्द्रियगोचर वैज्ञानिक क्रिया लो। दो-तीन बातों को वैज्ञानिक या साधारण लोग पूर्ण सत्य मानेंगे और शेष को बकवासपूर्ण कल्पना। अतएव अज्ञेयवादी अपने विज्ञान के लिए वही कसौटी रखे, जो वह उन बातों की परख के लिए रखता है, जिन पर वह विश्वास नहीं करना चाहता। तत्काल उसका आधार जड़ से हिल जायगा। हमें कुछ परिकल्पनाओं को आधार बनाना ही पड़ेगा। हम जिस स्थिति में हैं, उससे सन्तुष्ट नहीं रह सकते, यह मानव की आत्मा के प्रकृत विकास का क्रम है। इस ओर तो हम अज्ञेयवादी बन जायँ और दूसरी ओर यहाँ किसी वस्तु की खोज भी करते रहें, यह नहीं हो सकता। हमें चुनना पड़ेगा। और इसके लिए हमें अपनी सीमाओं के पार जाना होगा, जो अज्ञेय प्रतीत होता है, उसे जानने के लिए संघर्ष करना पड़ेगा और यह संघर्ष जारी रखना पड़ेगा।

अतः मेरा ऐसा अनुमान है कि मैं व्याख्यान से एक क़दम और आगे बढ़कर यह राय प्रस्तुत करता हूँ कि अधिकांश मनस्तात्त्विक क्रियाएँ—केवल प्रेतात्माओं की मन्द खटखटाहट या तिपाइयों की खटखटाहट जैसी क्षुद्र वस्तुएँ ही नहीं, जो बच्चों के खिलवाड़ मात्र हैं, केवल परचित्त-ज्ञान जैसी क्षुद्र वस्तुएँ ही नहीं, जिन्हें मैंने बच्चों को भी करते देखा है—वरन् वे अधिकांश अतीन्द्रिय क्रियाएँ भी, जिनका वर्णन अन्तिम वक्ता ने उच्चतर अतिदृष्टि-ज्ञान (clairvoyance) कहकर किया है, पर जिनके विषय में मेरा विनम्र निवेदन यह है कि वे मन की अतिचेतन अवस्था की अनुभूतियाँ हैं, वास्तव में मनोवैज्ञानिक शोध की सीढ़ियाँ हैं। पहले तो यह देखना है कि मन उस अवस्था तक पहुँच सकता है या नहीं। उनकी व्याख्या से मेरी व्याख्या अवश्य ही कुछ भिन्न होगी, लेकिन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने में हमें सहमत होना चाहिए। मृत्यु के उपरान्त वर्तमान चेतना बनी रहती है या नहीं, इस प्रश्न पर अधिक कुछ निर्भर नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि वर्तमान जगत् इस प्रस्तुत चेतना में आबद्ध नहीं है।

चेतना और सत्ता में सहअस्तित्व नहीं है। मुझको अपने शरीर में, सबको अपने अपने शरीर में देह की चेतना बहुत कम है, उसके अधिकांश के प्रति चेतना नहीं रहती। फिर भी उसका अस्तित्व है। दृष्टान्त के तौर पर किसीको अपने मस्तिष्क की चेतना नहीं रहती। मैंने कभी अपना मस्तिष्क नहीं देखा, और न मुझमें

कभी उसके प्रति चेतना रहती है। तथापि मैं जानता हूँ कि उसका अस्तित्व है। अतएव हम कह सकते हैं कि हम चेतना नहीं चाहते, वरन् एक ऐसी वस्तु का अस्तित्व चाहते हैं, जो स्थूल पदार्थ नहीं है और यह ज्ञान इसी जीवन-काल में प्राप्त किया जा सकता है। यह भी सच है कि किसी अन्य विज्ञान की भाँति इस विज्ञान की भी जानकारी प्राप्त की गयी है और उसका प्रदर्शन हो चुका है। हमें इनकी विवेचना करनी है। जो लोग यहाँ उपस्थित हैं, उन्हें एक और बात की याद दिलाने पर मैं ज़ोर देता हूँ। यह स्मरण रखना अच्छा होगा कि प्रायः इस विषय में हमें भ्रम होता रहता है। कुछ लोग हमारे सामने किसी ऐसे तथ्य का प्रदर्शन करते हैं, जो आध्यात्मिक प्रकृति के लिए साधारण नहीं प्रतीत होता और हम उसे इसलिए ठुकरा देते हैं कि उसे सत्य नहीं सिद्ध कर सकते। कई मामलों में, हो सकता है, वह वस्तु सही न हो, पर कइयों में हम यह विचारना भी भूल जाते हैं कि उस प्रदर्शन को समझने के लिए हम उपयुक्त पात्र हैं अथवा नहीं, या अपने शरीर और मन को इस शोध के उपयुक्त पात्र बनने के लिए हमने उन्हें अनुमति दी है अथवा नहीं।

श्वास-प्रश्वास-क्रिया[1]

(२८ मार्च, १९०० ई० को सैन फ़ान्सिस्को में दिया गया भाषण)

अत्यन्त प्राचीन काल से ही श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी क्रियाएँ भारत में बड़ी लोकप्रिय रही हैं। यहाँ तक (कि) ये अपने धर्म का एक अंग बन गयी हैं, जैसे गिरजा जाना या विशिष्ट प्रार्थनाओं की आवृत्ति करना।. . .उन बातों को तुम्हारे सामने रखने का प्रयत्न करूँगा।

मैं बता चुका हूँ कि भारतीय दार्शनिक किस तरह सम्पूर्ण विश्व को आकाश और प्राण, इन दो भागों में सीमित कर देता है।

प्राण का अभिप्राय है शक्ति—जो सब गति या सम्भाव्य गति, शक्ति या आकर्षण के रूपों में अपने को अभिव्यक्त करता है।. . .विद्युत्, चुम्बकत्व, शरीर की सम्पूर्ण गतिविधियाँ, मन की सारी (क्रियाशीलताएँ)—ये सभी प्राणसंज्ञक एक ही वस्तु की बहुविध अभिव्यक्तियाँ हैं। (ज्ञान के) प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त होनेवाला प्राण का सर्वोत्कृष्ट रूप मस्तिष्क में विद्यमान है। यह प्रकाश विचार-शक्ति से निर्दिष्ट होता है।

शरीर में क्रियाशील प्राण के अणु अणु का नियन्त्रण मन के द्वारा होना चाहिए। . . .मन का शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। यह (स्थिति) सभी के लिए सम्भव नहीं। हममें से अधिकांश में इसका ठीक उल्टा है। संकल्प मात्र से (शरीर) के प्रत्येक अवयव का नियमन करने में मन को समर्थ होना चाहिए। यही तर्क है, दर्शन है; लेकिन जब हम वास्तविकता में आते हैं, तो बात वैसी नहीं दीख पड़ती। दूसरी ओर, तुम्हारे लिए तो गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे है। शरीर ही मन को शासित करता है। यदि मेरी अँगुली दब गयी, तो मैं दुःखी हो जाता हूँ। शरीर मन को शासित करता है। अगर ऐसी कोई बात हो जाती है, जिसे मैं

---

१. संकेत-लिपि द्वारा आलिखित यह तथा परवर्ती विवरण अपूर्ण मिले थे। कहीं कहीं स्पष्टीकरणार्थ कोष्ठक में अतिरिक्त सामग्री रखी गयी है और जहाँ विवरण उपलब्ध नहीं है, वहाँ तीन बिन्दु से चिह्नित किया गया है। स०

नहीं चाहता हूँ, तो मैं बेचैन हो जाता हूँ ; मन सन्तुलन खो बैठता है। शरीर मन का स्वामी है। हम सब शरीर मात्र बन गये हैं। अभी हम शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।

यहीं पर दार्शनिक हमारा पथ-प्रदर्शन करने और यह बतलाने के लिए उपस्थित हो जाता है कि हम यथार्थतः क्या हैं ? तुम भले ही इसके विषय में तर्क करो और बुद्धि द्वारा इसे जान लो, किन्तु इसकी बौद्धिक जानकारी और वास्तविक अनुभूति में महान् अन्तर है। भवन-योजना और भवन-निर्माण में बहुत अधिक भेद है। अतः (धर्म के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए) कई मार्ग होने ही चाहिए। पिछले भाषण में हम दर्शन (ज्ञान) का अध्ययन कर रहे थे, जो सबको नियन्त्रण में लाने का प्रयत्न करता है और जो आत्मा की स्वाभाविक मुक्ति पर ज़ोर देते हुए शरीर पर बिना उसकी सहायता के विजय प्राप्त करता है। यह बड़ा कठिन है। यह साधन (सर्व)-सुलभ नहीं है। देहबद्ध मन बड़ी कठिनाई से इसके लिए प्रयत्न करता है।

थोड़ी सी शारीरिक सहायता मिलने से मन शान्त हो जाता है। मन से ही यह कार्य साधने की अपेक्षा दूसरी तर्कसम्मत बात क्या हो सकती है ? लेकिन यह नहीं हो सकता। हममें से अधिकांश के लिए शारीरिक सहायता आवश्यक है। इसी शारीरिक सहायता को उपयोग में लाने, शरीर की शक्ति-सामर्थ्य से किसी मानसिक स्थिति को उत्पन्न करने और उत्तरोत्तर तब तक मन को शक्तिशाली बनाने के लिए, जब तक वह अपने खोये हुए साम्राज्य को पुनः प्राप्त न कर ले, राजयोग का विधान हुआ है। केवल अपनी इच्छा-शक्ति से ही यदि कोई यह स्थिति प्राप्त कर ले, तो कहना ही क्या ! किन्तु हम अधिकांश लोगों के लिए यह सम्भव नहीं है, अतः हम शारीरिक शक्ति का सहारा लेंगे, और इच्छा-शक्ति के मार्ग को प्रशस्त बना सकेंगे।

. . .यह सम्पूर्ण विश्व विविधता में एकत्व का एक विराट् उदाहरण है। मनरूपी पिण्ड केवल एक ही है, उसीकी विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न नाम हैं। (वे) इस मानस-सागर की विभिन्न लघु भँवरें हैं। हम एक ही साथ व्यष्टि और समष्टि, दोनों हैं। इसी प्रकार यह क्रीड़ा चल रही है। . . .वास्तव में यह एकत्व कभी भी खण्डित नहीं होता। (जड़-द्रव्य, मन, आत्मा, ये तीनों एक हैं)।

ये केवल नाम-भेद मात्र हैं। विश्व में सत्य एक है और हम उसे विभिन्न दृष्टि-कोण से देखते हैं। एक दृष्टिकोण से देखा हुआ वही तथ्य जड़-तत्त्व है, दूसरे दृष्टिकोण से वही मन। यहाँ दो वस्तुएँ नहीं हैं। रस्सी को भूल से साँप समझने के कारण एक (आदमी) भयभीत हो उठा और इसलिए उसने साँप मारने के लिए दूसरे आदमी को पुकारा। (उसका) सारा शरीर काँपने लगा, उसका

दिल धड़कने लगा।...ये सम्पूर्ण अभिव्यक्तियाँ भय के फलस्वरूप (हुईं), और जब उसने रस्सी का आविष्कार कर लिया, तो ये सब अन्तर्हित हो गयीं। वास्तव में हम इसीको देखते हैं। इन्द्रियाँ भी जो कुछ देखती हैं—जिन्हें हम जड़ कहते हैं—वे (भी) 'सत्य' हैं; वे केवल उस रूप में नहीं हैं, जिस रूप में हम उन्हें देखते हैं। रस्सी को देखकर उसे साँप समझनेवाला मन भ्रम में नहीं था। अगर वह भ्रमित रहा होता, तो उसे कुछ भी दिखायी नहीं देता। केवल एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ लिया गया है, अस्तित्वहीन वस्तु को किसी दूसरे रूप में नहीं समझा गया। हम यहाँ केवल देह को देखते हैं एवं असीम तत्त्व को जड़ के रूप में ग्रहण करते हैं।...हम तो केवल उस परम 'सत्य' की खोज में लगे हैं। हमें कभी भ्रम नहीं होता। हम सदा सत्य ही जानते हैं, केवल कभी कभी हमारा सत्य-ग्रहण ही भ्रमपूर्ण हो जाता है। तुम एक समय में एक ही वस्तु देख सकते हो। मैंने जब साँप देख लिया, तो रस्सी एकदम विलीन हो गयी। और जब मैं रस्सी देखता हूँ, तो साँप अन्तर्हित हो जाता है। (एक समय) एक ही वस्तु होनी चाहिए।...

जब हम संसार देखते हैं, तब हम भगवान् को कैसे देख सकेंगे? अपने मन में जरा सोचो, संसार कहने से जो हमारा अभिप्राय है, वह हमारी इन्द्रियों (द्वारा) प्रत्यक्षीकृत समष्टि-पदार्थ के रूप में ईश्वर ही है। यहाँ जब तुम साँप देखते हो, तब रस्सी नहीं रहती। जब तुम आत्मविद् होओगे, तो बाक़ी सब कुछ अदृश्य हो जायगा। तुम जब केवल आत्म-दर्शन करोगे, तो तुम्हें कोई जड़-पदार्थ नहीं दिखायी देगा। तुम जिसे जड़ कहते हो, वही 'आत्मा' है। ये सारे भेद इन्द्रियों द्वारा (आरोपित) हैं। एक ही सूर्य हज़ारों छोटी तरंगों से प्रतिबिम्बित होकर हमें हज़ारों छोटे सूर्यों के समान लगता है। अगर मैं इन्द्रियों के माध्यम से विश्व को देखता हूँ, तो इसे जड़ और शक्ति के रूप में ग्रहण करता हूँ। वह एक ही साथ एक तथा बहु है। विभिन्नता एकत्व को मिटा नहीं सकती। लाखों तरंगें सागर के एकत्व का विनाश नहीं कर सकतीं। सागर सागर ही रहता है। विश्व को देखते समय तुम्हें याद रहना चाहिए कि उसे हम जड़ या शक्ति के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। जब हम वेग बढ़ाते हैं, तो पिण्ड घटता है।...दूसरी ओर हम पिण्ड बढ़ा सकते हैं और वेग घटा सकते हैं।...सम्भव है, हम एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचें, जहाँ पिण्ड की सारी सत्ता ही मिट जाय।...

न तो जड़ को शक्ति का कारण बतलाया जा सकता है और न शक्ति को जड़ का। दोनों इस प्रकार (सम्बद्ध) हैं कि एक दूसरे में विलीन हो सकता है। तीसरा कोई अन्य तत्त्व होना चाहिए। और वह तीसरा तत्त्व मनस् है। विश्व का सृजन न जड़ से संभव है और न शक्ति से ही। मन ऐसी वस्तु है, जो न शक्ति है, न जड़,

फिर भी वह सदा शक्ति और जड़ को प्रसूत करता रहता है। अन्ततोगत्वा मन सारी शक्ति का मूल है, और यही विश्व-मन, समष्टि-मन आदि का अभिप्राय है। सबके द्वारा सृजन-कार्य हो रहा है और इन सब सृजन की समष्टि से विश्व बनता है। बहुत्व में एकत्व है। एक ही साथ वह एक भी है और बहु भी।

सगुण ईश्वर केवल सबकी समष्टि है और साथ ही उसी प्रकार व्यक्तित्वयुक्त है, जैसे तुम एक व्यष्टि-शरीर हो, जिसकी प्रत्येक कोषिका का अपना व्यष्टिगत अस्तित्व है।

जो कुछ गतिशील है, वह प्राण या शक्ति में समाविष्ट है। (यही है वह प्राण) जो नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य आदि को चालित कर रहा है। प्राण गुरुत्वाकर्षण है।...

अतः प्रकृति की सारी शक्तियों को विश्व-मन से अवश्य ही उद्भूत होना चाहिए। और हम, उस विश्व-मन के लघु अंश के रूप में, प्रकृति से उस प्राण को ग्रहण करते हैं और फिर अपनी प्रकृति में उसे सक्रिय बनाकर शरीर-क्रिया जारी रखते हैं और अपने विचार की सृष्टि करते हैं। यदि (तुम्हारा ख्याल) है कि विचार उत्पन्न नहीं किये जा सकते, तो बीस दिन तक खाना बन्द कर दो और देखो कि तुम कैसा अनुभव करते हो। आज ही से शुरू करो और दिन गिनो।... विचार भी आहार से उत्पन्न होता है। इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं।

सर्वत्र क्रियाशील प्राण एवं शरीर में स्थित प्राण के नियमन को ही प्राणायाम कहते हैं। हमें इसका साधारण ज्ञान है कि श्वास ही सबको सक्रिय रखता है। अगर मैं साँस लेना बन्द कर दूँ, तो निर्जीव हो जाऊँगा। साँस चलने लगे, तो शरीर भी गतिशील हो जाता है। हमें जिसकी आवश्यकता है, वह श्वास नहीं है; श्वास से भी परे जो सूक्ष्म है, वही हमारा लक्ष्य है।

(एक महान् राजा का एक मंत्री था।) एक बार राजा मंत्री से अप्रसन्न हो गया। उसने (एक बहुत ऊँची मीनार के ऊपर मंत्री को क़ैद करने का आदेश दिया। ऐसा ही हुआ और मंत्री वहीं मरने के लिए छोड़ दिया गया। उसकी स्त्री रात में मीनार के पास आयी और पति का नाम लेकर उसे पुकारने लगी)। मंत्री ने उससे कहा, "रोने से कुछ नहीं होने का।" उसने पत्नी से थोड़ा सा शहद, एक भृंग, महीन तागे का एक बण्डल, मोटे डोरे का एक गोला और एक रस्सी लाने को कहा। स्त्री ने भृंग के एक पैर में महीन तागा बाँध दिया और उसके सिर पर शहद की बूँद टपकाकर उड़ा दिया। (भृंग रेंगता रेंगता शहद के लालच में ऊपर बढ़ता हुआ जब मीनार की चोटी पर पहुँच गया, तब मंत्री ने झट उस भृंग को पकड़ा और क्रमशः रेशमी सूत, फिर डोरे, फिर मोटे तागे और अन्त में रस्सी को हाथ में ले लिया। रस्सी के सहारे वह मीनार से नीचे उतरा और भाग गया। हमारे

इस शरीर में श्वास-क्रिया रेशमी धागे के समान है, उस पर अधिकार करके हम नाड़ी-प्रवाहरूपी डोरे को और उसके द्वारा विचार-रूपी मोटे डोरे को और अन्त में प्राण-रूपी रस्सी को पकड़ लेते हैं। इस प्रकार प्राण को वश में कर लेने पर हम मुक्त हो जाते हैं।)

भौतिक स्तर की वस्तुओं की सहायता से हमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म के प्रत्यक्षीकरण की क्षमता प्राप्त करनी होगी। विश्व एक है, चाहे तुम किसी भी बिन्दु का स्पर्श करो। अन्य सारे बिन्दु उसी एक के रूपान्तर हैं। विश्व के (आधार) में सर्वत्र एकत्व विद्यमान है; यहाँ तक कि मैं श्वास सदृश स्थूल क्रिया के माध्यम से आत्मा को भी पकड़ सकता हूँ।

प्राणायाम के अभ्यास से हम उन सभी शारीरिक गतिविधियों का अनुभव करने लगते हैं, जिनका अनुभव हम इस समय नहीं करते। ज्यों ही हमें उनका अनुभव होने लगता है, त्यों ही हम उन्हें नियन्त्रित करने लगते हैं। विचार के अंकुर हमारे लिए स्फुटित हो जायँगे, और हम उन पर अधिकार कर लेंगे। निस्सन्देह, इसकी साधना के लिए, हम अधिकांश के पास न तो अवसर है, न संकल्प, न धैर्य और न आस्था ही। किंतु सबको कुछ न कुछ लाभ तो होता ही है।

पहला लाभ है स्वास्थ्य। हममें से निन्यानवे प्रतिशत लोग ठीक से साँस भी नहीं ले पाते हैं। हम अपने फेफड़ों को पर्याप्त फुलाते नहीं हैं।...नियमित (श्वास) लेने से शरीर शुद्ध हो जाता है। इससे मन शान्त होता है।...यदि तुम शान्त हो, तो तुम्हारी साँस भी शान्त ढंग से चलती है, लयपूर्ण होती है। यदि साँस लयपूर्ण होगी, तो तुम शान्त रहोगे ही। मन के विचलित होने पर साँस की लय टूट जाती है। यदि तुम साधना द्वारा बलपूर्वक साँस की लय ठीक कर सकते हो, तो क्यों शान्त नहीं हो सकते? यदि तुम विचलित हो जाते हो, तो कमरे में चले जाओ और उसे बन्द कर लो। मन को नियन्त्रित करने का हठ न करो, केवल दस मिनट लययुक्त साँस लेना शुरू करो, हृदय शान्त हो जायगा। ये बातें साधारण और सबके लाभ की हैं। अन्य जटिल प्रयोग योगी के लिए ही सम्भव हैं।...

गहरी साँस लेने का अभ्यास (पहली सीढ़ी मात्र है)। भिन्न भिन्न अभ्यासों के चौरासी (आसन) हैं। कुछ लोगों ने इस श्वास-प्रक्रिया को अपने जीवन का पूर्ण ध्येय बना लिया है। स्वर (साँस) का परामर्श लिये बिना वे कुछ भी नहीं करते। वे सदैव उसीका (निरीक्षण) करते रहते हैं कि किस नासा-पुट में अधिक साँस है। यदि दाहिने नथुने में अधिक साँस हो, तो वे कुछ विशिष्ट कार्य करते हैं, और बायें में अधिक हो, तो कुछ। और यदि दोनों नथुनों में साँस बराबर आने-जाने लगे, तो वे उपासना में लग जायँगे।

यदि दोनों नासा-पुटों से लयसहित साँस चल रही हो, तो इसे मन को नियन्त्रित करने का समय समझना चाहिए। साँस के सहारे तुम इच्छानुसार शरीर के किसी भाग में शक्ति की तरंगें ले जा सकते हो। अगर (कोई) अवयव विकारग्रस्त हो जाय, तो प्राण को साँस के सहारे उस भाग में पहुँचाओ।

और भी कई कार्य किये जाते हैं। कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो साँस लेना एकदम बन्द कर देते हैं। वे कोई भी ऐसा काम नहीं करते, जिससे उन्हें ज़ोर से साँस लेने के लिए विवश होना पड़े। एक प्रकार की समाधि दशा में वे पहुँच जाते हैं; . . . शायद ही शरीर का कोई अवयव क्रियाशील रहता हो। हृदय की (धड़कन) समाप्तप्राय हो जाती है। . . .ऐसे अधिकांश अभ्यास बहुत ही खतरनाक होते हैं; कुछ उच्च श्रेणी के मार्ग उच्चतर शक्ति प्राप्त करने के लिए हैं। ऐसे बहुत से सम्प्रदाय हैं, जिनके साधक साँस को एकदम रोककर शरीर हल्का कर लेने की कोशिश करते हैं और वे हवा में ऊपर उठ जाते हैं। . . .मैंने किसीको ऊपर उठते हुए नहीं देखा है। . . .मैंने किसीको हवा में उड़ते हुए भी नहीं देखा है; लेकिन पुस्तकों में इनका उल्लेख मिलता है। मैं सर्वज्ञ होने का ढोंग नहीं करता हूँ। मैं सदा ही अति आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखता रहा हूँ। . . . (एक बार मैंने देखा कि) एक साधु फूल-फल आदि शून्य से ही उत्पन्न करने लगा।

. . .पूर्ण हो जाने पर योगी अपने शरीर को इतना सूक्ष्म बना सकता है कि यह शरीर इस दीवार से होकर निकल जायगा—हाँ, यही शरीर। वह इतना स्थूल भी हो सकता है कि दो सौ आदमी भी मिलकर उसे नहीं उठा सकते। यदि वह चाहे, तो हवा में उड़ने में समर्थ हो सकता है। (किन्तु) कोई भी ईश्वर सा सर्वशक्तिमान नहीं बन सकता। यदि ऐसा होता, तो एक सृष्टि कर सकता था, तो दूसरा प्रलय। . . .

ग्रंथों में इसका वर्णन है। मैं उन पर शायद ही विश्वास कर पाऊँ, इन पर अविश्वास भी नहीं कर सकता। जो मैंने आँखों देखा है, उसे ग्रहण किया है।

यदि इस विश्व में वस्तुओं का अध्ययन सम्भव है, तो वह मन के नियमन से ही सम्भव है, प्रतियोगिता से नहीं। पाश्चात्य लोग कहते हैं, "यह हमारा स्वभाव है, हम लाचार हैं।" अपनी सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करके भी तुम उनका हल नहीं निकाल सकते। कुछ बातों में तुम हमसे गये-बीते हो। . . .और इन सबसे संसार कहीं भी नहीं पहुँच पायेगा।

समर्थ सब कुछ पाते हैं, दुर्बल का सर्वनाश हो जाता है। ग़रीब इन्तज़ार कर रहे हैं। . . .छीन लेने में समर्थ सब कुछ छीन लेंगे। ग़रीब उनसे घृणा करते हैं। क्यों? क्योंकि वे अपनी बारी की प्रतीक्षा में हैं। जो जो साधना-पद्धति वे खोज

निकालते हैं, उन सबकी यही शिक्षा है। मनुष्य के मन में ही समस्या का समाधान मिल सकता है।. . .कोई क़ानून किसी व्यक्ति से वह कार्य नहीं करा सकता है, जिसे वह करना नहीं चाहता है।. . .अगर मनुष्य अच्छा बनना चाहेगा, तभी वह अच्छा बन पायेगा। सम्पूर्ण विधान एवं विधान के पण्डित. . .मिलकर भी उसे अच्छा नहीं बना सकते। सर्वशक्तिसम्पन्न कहता है, "मैं किसीकी परवाह नहीं करता।" हम सब अच्छे बनें, यही समस्या का हल है। यह कैसे सम्भव हो सकता है!

सारा ज्ञान मन में विद्यमान है। पत्थर में ज्ञान या नक्षत्रों में ग्रह-विद्या किसने देखी है? यह सब मनुष्य में ही है।

हमें यह सत्य प्राप्त करना है (कि) हममें ही अनन्त शक्ति है। मन की शक्ति कौन सीमाबद्ध कर सकता है? हम इसका अनुभव करें कि सब साक्षात् मन हैं। हर बूंद अपने में सम्पूर्ण सागर छिपाये हुए है। यही दशा मनुष्य-मन की है। भारतीय मनीषी इन सब (शक्तियों एवं सम्भावनाओं) का चिन्तन करता है और (उन) सबको प्रकाश में लाना चाहता है। वह अपनी कुछ भी परवाह नहीं करता, चाहे जो कुछ भी उसे हो जाय। (पूर्णत्व-प्राप्ति) के लिए लम्बे समय की अपेक्षा है। अगर इसमें पचास हज़ार वर्ष भी लग जायें, तो उसकी क्या चिन्ता! . . .

समाज का मूल आधार ही, उसकी बनावट ही सब दोषों का जनक है। पूर्णत्व तभी सम्भव है, जब मनुष्य के मन में परिवर्तन हो, जब मनुष्य स्वेच्छा से मन को परिवर्तित कर सके; और इसमें इस बात की भी कठिनाई है कि वह मन के साथ ज़बरदस्ती नहीं कर सकता है।

तुम राजयोग के सभी दावों पर विश्वास नहीं कर सकते हो। मनुष्य मात्र अपरिहार्य रूप से दिव्य हो सकता है। यह तभी (सम्भव) है, जब हर व्यक्ति अपने विचारों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर ले।. . . (विचार, इन्द्रिय) सबको मेरा दास होना चाहिए, मेरा स्वामी नहीं। तभी अशुभ का नाश संभव हो सकेगा।

तथ्य-समूह से मन को भर देना ही शिक्षा नहीं है। (शिक्षा का आदर्श है) साधन को योग्य बनाना और अपने मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना। यदि मैं किसी विषय पर मन को केन्द्रित करना चाहूँ, तो उसे वहाँ जाना चाहिए, और जिस क्षण कहूँ, वह पुनः मुक्त हो जाय।

यही बड़ी कठिन समस्या है। बड़ी साधना के बाद हम एकाग्रता की कुछ शक्ति प्राप्त करते हैं, तब किसी वस्तु से मन को अनुबद्ध करने की शक्ति आ पाती है। लेकिन वहाँ अनासक्ति का अभाव हो जाता है। मैं उस विषय से मन को विलग

करने के लिए अपना आधा जीवन लगाने के लिए भले तैयार होऊँ, तो भी मैं यह नहीं कर पाता। एकाग्रता के साथ साथ अनासक्ति की क्षमता का (विकास हमें करना होगा)। जो समान रूप से दोनों में—प्रवृत्ति-निवृत्ति में—शक्तिशाली है, वही सच्चा पौरुष प्राप्त कर सकता है। सारा विश्व डगमगा जाय, तो भी तुम उसे चिन्तातुर नहीं पाओगे। कौन पुस्तक ऐसी शिक्षा दे पायेगी! तुम चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ लो।...बच्चे के दिमाग़ में प्रतिपल पचास हज़ार शब्द ठूँसो, उसे सारे सिद्धान्तों एवं दर्शन की शिक्षा दे दो,...केवल एक ही विज्ञान है, जो उसे यथार्थ की शिक्षा दे सकता है, और यह है मनोविज्ञान...और श्वास-नियन्त्रण से इस कार्य का सूत्रपात होता है।

धीरे धीरे क्रमशः तुम मन के कक्षों में पहुँचते हो, एवं शनैः शनैः मन पर नियन्त्रण कर लेते हो। इसके लिए दीर्घ एवं (कठिन संघर्ष) की आवश्यकता है। इसे कौतूहलपूर्ण नहीं समझना चाहिए। जब कोई कुछ करना चाहता है, तो उसके पास एक योजना होती है। (राजयोग) श्रद्धा, विश्वास, ईश्वर आदि में विश्वास करने के लिए नहीं कहता। यदि तुम हज़ारों देवताओं में आस्था रखते हो, तो इस क्षेत्र में तुम अपना प्रयत्न करते जाओ। क्यों नहीं?...लेकिन राजयोग में निर्गुण तत्त्व हैं।

सबसे बड़ी कठिनाई क्या है? हम बात करते और सिद्धान्त गढ़ते हैं। मानव-समाज के अधिकांश व्यक्तियों का सम्बन्ध मूर्त पदार्थ से होता है, क्योंकि अल्प-मतिवाले उच्च दर्शन को समझ नहीं सकते हैं। इस प्रकार यह समाप्त हो जाता है। विश्व के समस्त विज्ञानों के स्नातक तुम भले ही हो जाओ...लेकिन तुमने यदि साक्षात्कार नहीं किया है, तो अबोध शिशु बनकर तुम्हें यह सीखना होगा।

...यदि तुम उनके सामने अनन्त या अमूर्त वस्तुएँ रखो, तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं। तुम एक बार में उन्हें कुछ ही वस्तुओं का ज्ञान दो। तुम इतनी साँस लो, तुम यह करो। वे इसे समझते जाते हैं और इसमें उन्हें आनन्द आने लगता है। ये क्रियाएँ धर्म की नर्सरी के समान हैं। यही कारण है कि श्वास-प्रश्वास के अभ्यास इतने लाभदायी हैं। तुम सबसे मेरा अनुरोध है कि तुम निरे जिज्ञासु न रहो। कुछ दिन अभ्यास करो और यदि तुम्हें इससे कुछ लाभ नहीं होता, तो मुझे कोसना।...

यह सम्पूर्ण विश्व एक ऊर्जा-पुंज है और वह सर्वत्र विद्यमान है। यदि हमें इसका ज्ञान हो जाय कि उस स्थान में विद्यमान वस्तु को कैसे ग्रहण किया जाय, तो हम सभी के लिए उसका एक कण ही पर्याप्त है।

'इसको करना ही है'—यह विष है, जो हमें मार रहा है।...जो (इंद्रियों के लिए) आनन्ददायक है, वह बन्धन पैदा करनेवाला है।...मैं मुक्त हूँ। जो मैं काम करता हूँ, वह क्रीड़ा मात्र है।

मृतात्माएँ दुर्बल होती हैं और वे हमसे जीवन-संचय का प्रयास कर रही हैं।

अध्यात्म-बल एक मन से दूसरे को प्राप्त हो सकता है। जो यह देता है, वह गुरु है, जो ग्रहण करता है, वह शिष्य है। विश्व में आध्यात्मिक सत्य उतारने का यही एक उपाय है।

मृत्यु के समय समस्त इन्द्रियाँ (मन) में चली आती हैं और मन प्राण में समा जाता है। आत्मा बाहर चली जाती है और अपने साथ मन का अल्पांश ले जाती है। वह प्राण अल्पांश तथा जड़-तत्त्व के कुछ सूक्ष्मतम भाग को लिंग शरीर के बीज-रूप में अपने साथ ले जाती है। प्राण निराधार कभी नहीं रह सकता।...वह विचारों में निविष्ट होता है और फिर बाहर व्यक्त हो जाता है। इस तरह इस नये शरीर एवं नये मस्तिष्क का तुम निर्माण करते हो। इसीसे प्राण अभिव्यक्त होगा।...

(मृतात्माएँ) शरीर-निर्माण में असमर्थ हैं, और जो बहुत कमजोर होते हैं, उन्हें यह भी याद नहीं रहता कि वे मर गये हैं।...वे अन्य शरीरों में प्रवेश कर इस जीवन से अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और जो भी व्यक्ति उन्हें शरण देता है, वह भयानक ख़तरा मोल लेता है। वे उसकी जीवनी-शक्ति के आकांक्षी होते हैं।...

इस संसार में ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी शाश्वत नहीं है।...मुक्ति का अर्थ है सत्य को जानना। हम कुछ नहीं बनते, जो हैं, वही रहेंगे। श्रद्धा से मुक्ति मिलती है, काम करने से नहीं। यहाँ 'ज्ञान' का प्रश्न है। तुमको जानना होगा कि तुम क्या हो, और तब काम समाप्त होगा। स्वप्न नष्ट हो जायगा—वह जिसे तुम तथा अन्य जन यहाँ देख रहे हैं। 'मरने के बाद उन्हें स्वर्ग मिलेगा।' इसी सपने में वे जी रहे हैं और जब वह समाप्त हो जाता है, तो उन्हें (यहाँ) दूसरा सुन्दर शरीर मिलता है और वे अच्छे व्यक्ति हैं (एवं दान देते हैं, परन्तु यह ज्ञान का मार्ग नहीं है। वे कब सीखेंगे) कि अस्पताल बनवाना मात्र दान का स्वरूप नहीं है।

ज्ञानी कहता है कि ये सब (वासनाएँ) मुझसे दूर हो गयी हैं। इस बार मैं इस झमेले में नहीं पड़ूँगा। वह ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और कठिन संघर्ष करता है। उसे इसका ज्ञान हो जाता है कि यह बहुरूपी संसार यथार्थतः एक स्वप्न है, एक भ्रम है। वैसा ही है जगत् और स्वर्ग एवं इतर दोषों का प्रपंच। वह इन सब पर हँसता है।

योग के सिद्धांत

(५ अप्रैल, १९०० ई० को सैन फ़ान्सिस्को में दिया गया भाषण)

व्यावहारिक धर्म क्या है, इस सम्बन्ध में हर व्यक्ति के विचार, व्यावहारिकता सम्बन्धी उसके सिद्धान्त तथा अपने ऐसे दृष्टिकोण के अनुरूप होते हैं, जहाँ से वह कार्यारम्भ करता है। ज्ञान है, भक्ति है, कर्म है।

दार्शनिकों का मत है, मुक्ति तथा बन्धन के अन्तर का कारण ज्ञान तथा अज्ञान है। उसके लिए लक्ष्य है, ज्ञान और उसकी व्यावहारिकता ज्ञान-प्राप्ति के लिए होती है। भक्त का व्यावहारिक धर्म होता है प्रेम तथा श्रद्धा की अमित शक्ति।...कर्ममार्गी सत्कर्म को ही अपना व्यवहार्य धर्म बनाता है। जैसा अन्यत्र भी देखा जाता है, हम सदा दूसरे के आदर्श की अपेक्षा करने और सारे संसार को अपने आदर्श के साँचे में ढालने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

प्रेम से परिपूर्ण व्यक्ति अपने सहजीवियों की भलाई को ही धर्माचरण मानता है। यदि मनुष्य कोई अस्पताल आदि बनवाने में मदद न दें, तो वह यह सोचने लगता है कि उनका कोई धर्म नहीं है। सभी एक सा ही करें, ऐसी कोई बात नहीं है। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञान-साधना न करनेवाले की अवहेलना कर सकता है। भले ही लोग बीस हज़ार अस्पताल बनवा दें, ज्ञानी उन्हें देवताओं के पशु मात्र सिद्ध करेगा। भक्त के अपने ही विचार और मानदण्ड होते हैं। ईश्वर से प्रेम न करनेवाले जैसे भी कर्म क्यों न करें, उनकी दृष्टि में, श्रेष्ठ नहीं हैं। (योगी का विश्वास) आत्म (संयम) और (अन्तः) चित्तवृत्ति-विजय पर रहता है। 'इस दिशा में आपकी सफलता कितनी बढ़ी है? शरीर तथा इन्द्रियों पर कितना नियंत्रण हुआ है?' योगी के ये ही प्रश्न रहते हैं। जैसा कहा गया है, हर व्यक्ति दूसरों को अपने आदर्श से ही परखता है। मनुष्य लाखों डॉलर दान में क्यों न दे चुके हों या भारतीयों की भाँति चूहों-बिल्लियों को क्यों न अन्न खिला चुके हों! उनका कहना है कि मानव अपनी चिंता स्वयं कर सकता है, लेकिन बेचारे जीव-जन्तु ऐसा नहीं कर सकते। यही उनकी धारणा है। लेकिन योगी का चरम लक्ष्य (अन्तः) चित्तवृत्ति-निरोध है और वह उसी कसौटी पर मानव को कसता है।...

हम व्यावहारिक धर्म (के विषय) में सदैव बातें किया करते हैं। लेकिन मानते यह हैं कि यह व्यावहारिकता हमारे अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही होनी चाहिए। विशेषकर पश्चिमी देशों में यही बात है। प्रोटेस्टेन्टों (Protestants) का आदर्श सत्कर्म है। वे भक्ति या दर्शन की ज्यादा चिंता नहीं करते हैं। वे सोचते हैं, इनकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। उनका तर्क है, "तुम्हारा ज्ञान है क्या ? मानव को कुछ न कुछ करना है !"...थोड़ा सा मानवतावाद ! गिरजे दिन-रात क्रूर अज्ञेयवाद के विरुद्ध अपना अभियान चलाया करते हैं। परन्तु स्वयं भी उसी ओर तेज़ी से झुकते दृष्टिगोचर होते हैं। निर्मम ग़ुलाम ! उपयोगितावादी धर्म ! यही आज की स्थिति है। यही कारण है कि पश्चिम में कुछ बौद्धों ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। लोग यह नहीं जानते कि ईश्वर है या नहीं, कोई आत्मा है या नहीं ! उनका विचार है, संसार दुःख से परिपूर्ण है। दुःखी संसार की सेवा करने का प्रयत्न करो।

योग-सिद्धान्त का, जो आज के व्याख्यान का विषय है, दृष्टिकोण यह नहीं है। (उसकी शिक्षा है कि) आत्मा की सत्ता है और इसमें सर्वशक्ति निहित है। इसमें यह शक्ति पहले से ही है, और यदि हम शरीर को अपने अधीन कर लें, तो सारी शक्ति अभिव्यक्त हो जायगी। सम्पूर्ण ज्ञान आत्मा में ही है। सामान्य जन संघर्षरत क्यों हैं ? दुःख घटाने के लिए ही तो...शरीर को वशीभूत न करने से ही सारे दुःख का सूत्रपात होता है।...हम घोड़े के आगे गाड़ी रखते हैं... उदाहरणार्थ कर्म-प्रक्रिया को ही लो। हम ग़रीबों को आराम देकर उनकी भलाई करने का प्रयत्न करते हैं। हमें दुःख के मूल कारण का ज्ञान नहीं है। यह तो सागर को बाल्टी से ख़ाली करने के बराबर है, और लगातार (पानी) भरता ही जाता है। योगी इसे मूर्खतापूर्ण समझता है। (वह कहता है कि) दुःख से त्राण पाने का पहला उपाय दुःख का मूल कारण जान लेना है।...हम यथाशक्ति अच्छाई करने का प्रयत्न करते हैं ! यह किसलिए ? अगर कोई असाध्य रोग है, तो हम क्यों संघर्षरत हों और अपनी रक्षा का प्रयत्न करें ? यदि उपयोगितावादी कहे, "ईश्वर और आत्मा के विषय में परेशान मत होओ", तो उसका योगी पर या संसार पर प्रभाव ही क्या पड़ेगा ? (ऐसी मनोवृत्ति) से दुनिया का कोई भला नहीं होने का। फिर भी दुःख की मात्रा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है।...

योगी कहता है कि तुम्हें इन सबके मूल तक पहुँचना होगा। संसार में दुःख क्यों है ? योगी उत्तर देता है, "हमारी मूर्खता ही इसका कारण है, शरीर पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। बस, और कुछ नहीं।" वह इस दुःख पर (विजय दिलाने में) समर्थ साधनों की शिक्षा देता है। अगर इस तरह अपने शरीर पर नियन्त्रण

कर लोगे, तो संसार का सारा दुःख दूर हो जायगा। हर अस्पताल यही मनाता होगा कि अधिक से अधिक वीमार वहाँ आयें। जब भी तुम दान देने की इच्छा करते हो, तो तुम्हारे मन में रहेगा कि हमेशा तुम्हारी दया का पात्र कोई भिखमंगा रहे। यदि तुम मनाओ, "हे भगवन्, संसार दयालु लोगों से भरा रहे;" तो तुम्हारा आशय होगा कि संसार भिखमंगों से भी भरा रहे। संसार दूसरों की भलाई के कार्य से परिपूर्ण रहे—संसार दुःखपूर्ण रहे। यह निरी गुलामी है!

...योगी के अनुसार यदि तुम दुःख का मूल कारण जान जाओ, तो धर्म व्यावहारिक है। संसार के समस्त दुःख का मूल इन्द्रियाँ हैं। क्या सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि में कोई रोग है? वही आग, जो रसोई में काम आती है, बच्चे को जलाती भी है। क्या यह आग का दोष है? बलिहारी है अग्नि की! इस विजली को भी धन्य। वह प्रकाश देती है!...दोष तुम किस पर मढ़ोगे? पंचभूतों पर नहीं! संसार न अच्छा है, न बुरा। संसार संसार है। अग्नि अग्नि है, यदि तुम उसमें अपनी अँगुली जला लो, तो यह मूर्खता है। तुम यदि (उससे रसोई बनाओ और इससे अपनी भूख मिटाओ), तो तुम बुद्धिमान हो। इतना सा ही भेद है। परिस्थितियाँ न अच्छी होती हैं, न बुरी। व्यष्टि-मानव ही अच्छा या बुरा हो सकता है। संसार को भला या बुरा कहने का अभिप्राय क्या है? दुःख और सुख केवल इन्द्रियासक्त मनुष्य के लिए है।

योगियों की धारणा है कि प्रकृति भोग्या और आत्मा भोक्ता है। ये सारे दुःख और सुख कहाँ हैं? इन्द्रियों में ही! इन्द्रियों का संग ही हर्ष-शोक, शीत-उष्ण आदि को जन्म देता है। यदि हम इन्द्रियों को संयत कर सकें और उनके विषय को निर्दिष्ट कर सकें—इस समय की भाँति हम उनके आज्ञाकारी न रहें—वे यदि हमारा आदेश मानें, हमारे दास बने रहें—तो तुरन्त समस्या का समाधान हो जाय। हम इन्द्रियों के जाल में फँसे हैं; वे हमेशा हमें नचाती हैं और बुद्धू बनाती हैं।

मान लो, यहाँ दुर्गन्ध है। मेरी नाक से स्पर्श करते ही वह मुझे क्लेश देने लगेगी। मैं अपनी नाक का गुलाम हूँ। गुलाम न होता, तो कोई परवाह न करता। कोई मुझे गाली देता है। उसकी गालियाँ कानों से प्रविष्ट हो मेरे मन और शरीर में स्थिर हो जाती हैं, वहीं जमी रहती हैं। मैं यदि स्वामी हूँ, तो कहूँगा, "इन्हें छोड़ो; इनसे मेरा कुछ नहीं बिगड़ने का! मैं परेशान नहीं। मैं निश्चिन्त हूँ।" यह सीधा, सच्चा स्पष्ट सत्य है।

दूसरी समस्या, जो सुलझानी है, यह है : क्या यह व्यावहारिक है? मानव अपने शरीर पर नियंत्रण पा सकेगा? योग इसे व्यावहारिक—यत्नसाध्य—कहता

है. . .मान लो, ऐसा नहीं है, मन में कुछ संदेह है। तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना होगा। कोई दूसरा उपाय नहीं है।. . .

तुम लोकहितकारी कार्य सदा करते रहो। तब भी, तुम अपनी इन्द्रियों के दास रहोगे, परेशान रहोगे, दुःखी रहोगे। तुम हर धर्म के दर्शन का अध्ययन कर सकते हो। यहाँ के निवासी बोझ की बोझ पुस्तकें अपनी पीठ पर ढोते फिरते हैं। वे मात्र शास्त्रज्ञ हैं, इन्द्रियों के दास हैं, इसलिए एक साथ ही सुखी और दुःखी हैं। वे दो हजार पोथियाँ पढ़ते हैं, सो ठीक है; लेकिन थोड़ा भी दुःख सिर पर पड़ गया, तो वे बेचैन, आतुर हो उठते हैं।. . .तुम अपने को मानव कहते हो? तुम उद्यत होते हो. . .और अस्पताल आदि बनवाते हो। तुम मूर्ख हो!

पशु और मनुष्य में भेद क्या है? . . .आहार, (निद्रा), भय और प्रजनन आदि समान रूप से दोनों में पाये जाते हैं। भेद इतना ही है कि मनुष्य इन सबका नियंत्रण कर सकता है और वह ईश्वर—प्रभु बन सकता है। पशु यह नहीं कर पाते। पशु परोपकार कर सकते हैं। चींटियाँ परोपकार करती हैं, कुत्ते भी करते हैं। ऐसी दशा में फिर भेद कहाँ! मानव अपना प्रभु स्वयं हो सकता है। वे वासना-जन्य कोई भी विकार रोक सकते हैं।. . .यह बात पशु के वश की नहीं रहती। चारों ओर वह. . .स्वभाव की शृंखला से जकड़ा है। इतना ही अंतर है—एक अपने स्वभाव का स्वामी और दूसरा अपने स्वभाव का दास। स्वभाव है क्या? पाँचों इन्द्रियाँ ही स्वभाव हैं।. . .

योगशास्त्र के अनुसार (अन्तःचित्तवृत्ति पर विजय ही) एकमात्र उपाय है।. . .ईश्वर को पाने की उत्कट अभिलाषा ही धर्म है।. . .लोकहितैषी कार्य आदि केवल मन को किंचित् शांत (भर) करते हैं! यह योग-साधना—पूर्ण बनना—पूर्णतया हमारे अतीत पर आश्रित है। मैं जीवन भर अध्ययन करता रहा हूँ और अब तक थोड़ी सी ही प्रगति कर पाया हूँ। लेकिन जो फल प्राप्त हुए हैं, उनसे मुझे विश्वास हो गया है कि यही एकमात्र सच्चा मार्ग है। वह दिन दूर नहीं, जब मैं अपना स्वामी स्वयं बन जाऊँगा। इस जन्म में न सही, (अगले जन्म में) ही सही। मैं लगातार संघर्ष जारी रखूँगा, हार नहीं मानूँगा। कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता। यदि इसी क्षण मैं देह छोड़ दूँ, तो मेरे पिछले सारे संघर्ष मेरी सहायता करेंगे। क्या तुम्हें जन जन के बीच अंतर उत्पन्न करनेवाली शक्तियों का पता नहीं है? यह उनका प्रारब्ध है। अतीत के संस्कार एक को प्रतिभाशाली और दूसरे को मूर्ख बनाते हैं। तुम अतीत के संस्कार के बल पर पाँच मिनट में सफल हो सकते हो। क्षण भर में क्या घटित हो सकता है, कोई नहीं बता सकता। हम सबको कभी न कभी (पूर्णत्व) प्राप्त करना ही है।

योगी जो हमें व्यावहारिक पाठों की शिक्षा देता है, उसका अधिकांश मन, एकाग्रता एवं ध्यान—से सम्बन्ध रखता है।...हम इतना अधिक भौतिकवादी बन गये हैं। हम जब कभी अपने ऊपर विचार करते हैं, तो हमें शरीर ही शरीर दृष्टिगोचर होता है। शरीर ही हमारा आदर्श हो गया है और कुछ भी नहीं। अतः किसी सीमा तक भौतिक सहायता अनिवार्य है।...

पहली बात है, स्थिर होकर उस आसन में बैठना, जिसमें देर तक निश्चल बैठे रह सको। सभी सक्रिय नाड़ी-प्रवाह मेरुदंड के माध्यम से संचालित हैं। मेरुदंड शरीर का स्थूल भार वहन करने के लिए नहीं है। अतः आसन ऐसा होना चाहिए, जिससे शरीर का बोझ मेरुदंड पर न पड़े। सभी प्रकार के दबाव से उसे मुक्त रखना चाहिए।

कुछ और भी प्रारंभिक बातें हैं। खान-पान तथा व्यायाम का मुख्य प्रश्न है।...

खान-पान सादा हो और दिन में दो-एक बार की अपेक्षा, कई बार उसका सेवन हो। भूख कभी भी ज्यादा तेज़ न हो। 'न तो बहुत खानेवाला योगी हो सकता है और न बहुत अनशन करनेवाला। न अति शयन करनेवाला योगी बन सकता है और न तो अत्यन्त जागनेवाला ही'[1]। कर्मशून्यता और कर्म की गति भी इसमें सहायक नहीं होतीं। योगसिद्धि के लिए युक्ताहार, युक्तचेष्टा और युक्तस्वप्नावबोधता अति आवश्यक हैं।

युक्त आहार क्या है, उसका भेद क्या है, आदि का निर्णय स्वयं हमें करना होगा। हमारे लिए दूसरा कोई इसका निर्णय नहीं कर सकता। साधारणतया हमें उत्तेजक आहार से दूर रहना चाहिए।...अपने व्यवसाय के अनुरूप अपने आहार में अपेक्षित परिवर्तन करना हम नहीं जानते। हम यह सदैव भूल जाते हैं कि जो कुछ हमारे पास है, उस सबका निर्माण अन्न से ही होता है। अतः हमारे लिए ईप्सित शक्ति के प्रकार-परिमाण का स्वरूप खाद्यान्न ही स्थिर करेगा।...

अत्यन्त वेगयुक्त व्यायाम कदापि आवश्यक नहीं हैं। ...तुम पेशीप्रधान शरीर चाहते हो, तो तुम्हारे लिए योग नहीं है। अभी जैसा शरीर तुम्हारे पास है, उसकी अपेक्षा कहीं सूक्ष्म शरीर की रचना तुमको करनी होगी। वेगयुक्त व्यायाम निस्सन्देह हानिकारक हैं।...जो अत्यधिक व्यायाम नहीं करते, उनके साथ रहो। यदि तुम इन व्यायामों से बचोगे, तो तुम्हारी आयु बढ़ेगी। केवल पुट्ठों

---

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥गीता ॥६।१६॥

में ही क्या तुम अपना जीवन-दीप नष्ट कर देना चाहोगे? बुद्धिजीवी सबसे दीर्घायु होते हैं।...जीवन-दीप को जल्दी न जला डालो, उसे स्थिर और शान्त होकर जलने दो।...हर चिंता, हर वेगपूर्ण व्यायाम—मानसिक या शारीरिक—का अर्थ जीवन-दीप को शीघ्रता से जला डालना है।

साधारणतः युक्ताहार का अर्थ है—ज़्यादा मसालेदार खाना न खाओ। योगी का कहना है कि प्रकृति के गुणों के अनुसार मन तीन प्रकार का होता है। एक है तामसी मन, जो आत्मा के अमर आलोक को ढक लेता है। दूसरा है राजसी, जो क्रियाशीलता बढ़ाता है। तीसरा है सात्त्विक, जो स्थिरता और शान्ति का मूल है।

कुछ लोगों की अत्यधिक सोने की प्रवृत्ति जन्म से ही होती है। उनकी रुचि सड़ते हुए पनीर जैसे सड़े-गले आहार के प्रति होती है।...यह उनकी सहज प्रवृत्ति है।

राजसी प्रकृतिवालों की रुचि तीखे और चरपरे पदार्थों, तेज़ शराब आदि के प्रति होती है।...

सात्त्विकी प्रकृतिवाले, अत्यंत विचारशील, स्थिर एवं शान्त प्रकृति के होते हैं। वे मिताहारी होते हैं और कभी भी दूषित आहार ग्रहण नहीं करते।

मुझसे बराबर यह प्रश्न किया जाता है—"मैं मांस खाना छोड़ दूं?" मेरे गुरुदेव ने कहा था, "कोई चीज़ छोड़ने का प्रयत्न तुम क्यों करते हो? वही तुम्हें छोड़ देगी।" प्रकृति का कोई पदार्थ त्याज्य नहीं है। अपने को इतना तीव्र बना लो कि प्रकृति स्वयं ही तुम्हें त्याग दे। एक समय आयेगा, जब कि तुमसे मांस खाते नहीं बनेगा। उसे सामने देखते ही तुम घिना जाओगे। और भी ऐसा समय आयेगा कि आज तुम जो जो चीज़ें छोड़ने के लिए संघर्ष कर रहे हो, वे ही अरुचिकर ही नहीं, घिनौनी लगने लगेंगी।

अब, प्राणायाम के कई विधान हैं। एक विधान के तीन भाग हैं—साँस लेना, साँस रोके रहना—बिना श्वास लिये निश्चेष्ट रहना—और साँस निकालना। प्राणायाम के कुछ प्रयोग कठिन ज़रूर हैं, और उचित आहार-सेवन के अभाव में कुछ जटिल क्रियाओं की साधना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। सरल क्रियाओं की अपेक्षा मैं इन जटिल क्रियाओं की साधना में रुचि लेने की सलाह तुमको नहीं दूंगा।

लम्बी साँस लो एवं फेफड़ों को फुलाओ। धीमे धीमे श्वास बाहर फेंको। एक नथुने से साँस खींचो और फेफड़ों को भरो। दूसरे नथने से उसे धीमें धीमे बाहर फेंको। हममें से कुछ लोग साँस भी उचित मात्रा में नहीं ले पाते हैं। कुछ सज्जन फेफड़ों को ठीक रूप में भर नहीं पाते। इस श्वास-प्रश्वास-क्रिया से

यह कमी कुछ हद तक दूर होगी। प्रातः आध घण्टे, सायंकाल आध घण्टे, यह प्रयोग जारी रखो, तो तुम्हारा व्यक्तित्व ही बदल जायगा। यह प्राणायाम हानिप्रद नहीं है। अन्य क्रियाओं की साधना बहुत मन्द गति से होनी चाहिए। पहले अपनी शक्ति का अनुमान करो। यदि दस मिनट अधिक लगें, तो पाँच ही मिनट सही।

योगी से आशा की जाती है कि वह अपना शरीर स्वस्थ रखे। प्राणायाम के ये विभिन्न विधान शरीर के अवयवों को व्यवस्थित रखने में बड़े सहायक हैं। सभी भाग प्राणवायु से प्लावित हैं। प्राण के सहारे ही हम उन अवयवों को वश में रख सकते हैं। अवयवों में उत्पन्न असन्तुलन को उनकी ओर प्राणवायु-तरंगें अधिक प्रेषित करके ठीक कर सकते हैं। जब शरीर में कहीं पीड़ा हो, तो योगी को यह बताने में समर्थ होना चाहिए कि वह प्राण की कमी से हुई या आधिक्य से। योगी को उसका सन्तुलन करना होगा।...

योग-साधना की (सफलता के लिए) दूसरी शर्त ब्रह्मचर्य है। सभी साधनों की यही आधारशिला है। विवाहित हो या अविवाहित—पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी होना चाहिए। यह लम्बा विषय ज़रूर है, लेकिन मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ: इस पर सार्वजनिक रूप से चर्चा इस देश की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों में प्रचारकों के रूप में ऐसे ख़तरनाक सज्जनों की संख्या कम नहीं है, जो स्त्री-पुरुषों में यह प्रचार करते हैं कि ब्रह्मचर्य हानिकारक है। ऐसी बातें उन्हें कहाँ से सूझती हैं?...हर साल हज़ारों आदमी यही एक प्रश्न लेकर मेरे पास आते हैं। किसीने उनसे कह रखा है कि ब्रह्मचर्य शारीरिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है।... ये प्रचारक यह जान कैसे गये? वे ब्रह्मचारी रहे हैं? ये लम्पट, अपवित्र, कामुक जीव सारे संसार को अपनी (सतह) पर खींच ले आना चाहते हैं!...

त्याग के बिना कोई सिद्धि सम्भव नहीं है।...त्याग मानवीय चेतना का पवित्रतम, सर्वोत्तम साध्य है, उसे अपवित्र न बनाओ...उसे पशु-स्तर पर घसीटो नहीं।...अपने को भद्र पुरुष बनाओ...शीलवान और पवित्र रहो।...दूसरा कोई चारा नहीं है। ईसा मसीह ने दूसरा कौन मार्ग ढूँढ़ निकाला था? यदि तुम समुचित रीति से शक्ति का संचय और विनिमय सीखो, तो वही ईश्वर तक पहुँचायेगा। यह विपरीत हो जाय, तो उसे नरक ही जानो।...

बाह्य स्तर पर कुछ कर दिखाना आसान है, लेकिन दुनिया का महान् से महान् विजेता भी अपने मन पर विजय पाने के प्रयास में अपने को शिशु अनुभव करता है। इसी जगत् को उसे जीतना है—जो बहुत बड़ा और कठिनता से जीता जा सकनेवाला है। निराश न होओ! उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।...

मन की शक्तियाँ

(८ जनवरी, १९०० ई० को लॉस एंजिलिस, कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण)

सारे युगों से, संसार के सब लोगों का अलौकिकता में विश्वास चला आ रहा है। हम सभी ने अनेक अद्भुत चमत्कारों के बारे में सुना है और कुछ ने उनका स्वयं अनुभव भी किया है। इस विषय का प्रारम्भ आज मैं स्वयं देखी हुई घटनाओं को बतलाकर करूँगा। मैंने एक बार ऐसे मनुष्य के बारे में सुना, जो किसीके मन के प्रश्न का उत्तर प्रश्न सुनने के पहले ही बता देता था। और मुझे यह भी बतलाया गया कि वह भविष्य की बातें भी बताता है। मुझे उत्सुकता हुई और अपने कुछ मित्रों के साथ मैं वहाँ पहुँचा। हममें से प्रत्येक ने पूछने का प्रश्न अपने मन में सोच रखा था। और ग़लती न हो, इसलिए हमने वे प्रश्न काग़ज़ पर लिखकर जेब में रख लिये थे। ज्यों ही हममें से एक को उसने देखा, त्यों ही उसने हमारे प्रश्न और उनके उत्तर देना शुरू कर दिया! फिर उस मनुष्य ने काग़ज़ पर कुछ लिखा, उसे मोड़ा और उसके पीछे मुझे हस्ताक्षर करने के लिए कहा, और बोला, "इसे पढ़ो मत, जेब में रख लो, जब तक कि मैं इसे फिर न माँगूं।" इस तरह उसने हर एक से कहा। बाद में उसने हम लोगों को हमारे भविष्य की कुछ बातें बतलायीं। फिर उसने कहा, "अब किसी भी भाषा का कोई शब्द या वाक्य तुम लोग अपने मन में सोच लो।" मैंने संस्कृत का एक लम्बा वाक्य सोच लिया। वह मनुष्य संस्कृत बिल्कुल न जानता था। उसने कहा, "अब अपने जेब का काग़ज़ निकालो।" कैसा आश्चर्य! वही संस्कृत का वाक्य उस काग़ज़ पर लिखा था! और नीचे यह भी लिखा था कि 'जो कुछ मैंने इस काग़ज पर लिखा है, वही यह मनुष्य सोचेगा।' और यह बात उसने एक घण्टा पहले ही लिख दी थी! फिर हममें से दूसरे को, जिसके पास भी उसी तरह का एक दूसरा काग़ज था, कोई एक वाक्य सोचने को कहा गया। उसने अरबी भाषा का एक वाक्य सोचा। अरबी भाषा का जानना तो उसके लिए और भी असम्भव था। वह वाक्यांश था क़ुरान शरीफ़ का। लेकिन मेरा मित्र क्या देखता है कि वह भी काग़ज़ पर लिखा है।

हममें से तीसरा था डॉक्टर। उसने किसी जर्मन भाषा की डाक्टरी पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा। उसके काग़ज़ पर वह वाक्य भी लिखा था।

यह सोचकर कि कहीं पहले मैं भ्रम में न रहा हूँ, कई दिनों बाद मैं फिर दूसरे मित्रों को साथ लेकर वहाँ गया। लेकिन इस बार भी उसने वैसी ही आश्चर्यजनक सफलता पायी।

एक बार जब मैं हैदराबाद में था, तो मैंने एक ब्राह्मण के विषय में सुना। यह मनुष्य न जाने कहाँ से अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर देता था। वह उस शहर का व्यापारी था, और ऊँचे ख़ानदान का था। मैंने उससे अपने चमत्कार दिखलाने को कहा। इस समय ऐसा हुआ कि वह मनुष्य बीमार था। भारतवासियों में यह विश्वास है कि अगर कोई पवित्र मनुष्य किसीके सिर पर हाथ रख दे, तो उसका बुख़ार उतर जाता है। यह ब्राह्मण मेरे पास आकर बोला, "महाराज, आप अपना हाथ मेरे सिर पर रख दें, जिससे मेरा बुख़ार भाग जाय।" मैंने कहा, "ठीक है, परन्तु तुम हमें अपना चमत्कार दिखलाओ।" वह राज़ी हो गया। उसकी इच्छानुसार मैंने अपना हाथ उसके सिर पर रखा और बाद में वह अपना वचन पूरा करने को आगे बढ़ा। वह अपनी कमर में केवल एक छोटा सा चिथड़ा पहने था। उसके अन्य सब कपड़े हमने अपने पास रख लिये थे। अब मैंने उसे केवल एक कम्बल ओढ़ने के लिए दिया, क्योंकि ठण्ड के दिन थे, और उसे एक कोने में बिठा दिया। पचास आँखें उसकी ओर ताक रही थीं। उसने कहा, "अब आप लोगों को जो कुछ चाहिए, वह काग़ज़ पर लिखिए।" हम सब लोगों ने उन फलों के नाम लिखे, जो उस प्रान्त में पैदा तक न होते थे—अंगूर के गुच्छे, सन्तरे इत्यादि। और हमने वे काग़ज़ उसके हाथ में दे दिये। कैसा आश्चर्य! उसके कम्बल में से अंगूर के गुच्छे तथा सन्तरे आदि इतनी संख्या में निकले कि अगर वज़न किया जाता, तो वे सब उस आदमी के वज़न से दुगुने होते! उसने हमसे उन फलों को खाने के लिए कहा। हममें से कुछ लोगों ने यह सोचकर कि शायद यह सम्मोहन हो, खाने से आपत्ति की। लेकिन जब उस ब्राह्मण ने ही खुद खाना शुरू कर दिया, तो हमने भी खाया। वे सब फल खाने योग्य ही थे।

अन्त में उसने गुलाब के ढेर निकाले। हर एक फूल पूरा खिला था। पंखुड़ियों पर ओस-बिन्दु थे। कोई भी फूल न तो टूटा था और न दबकर ख़राब ही हुआ था। और उसने ऐसे एक-दो नहीं, वरन् ढेर के ढेर निकाले। जब मैंने पूछा कि यह कैसे किया, तो उसने कहा, "यह सिर्फ़ हाथ की सफ़ाई है!"

यह चाहे जो कुछ था, परन्तु केवल 'हाथ की सफ़ाई' होना तो असम्भव था। इस बड़ी संख्या में वह ये चीज़ें कहाँ से पा सकता था?

हाँ, तो मैंने इसी तरह की अनेक बातें देखीं। भारतवर्ष में घूमते समय भिन्न भिन्न स्थानों में तुम्हें ऐसी सैकड़ों बातें दिखेंगी। ये चमत्कार सभी देशों में हुआ करते हैं। इस देश में भी इस तरह के आश्चर्यजनक काम देखोगे। हाँ, यह सच है कि इनमें अधिकांश चालबाज़ी होती है। परन्तु जहाँ तुम चालबाज़ी देखते हो, वहाँ तुम्हें यह भी मानना पड़ता है कि यह किसीकी नक़ल है। कहीं न कहीं कोई सत्य होना चाहिए, जिसकी यह नक़ल की जा रही है। असत्य की कोई नक़ल नहीं कर सकता। किसी सत्य वस्तु की ही नक़ल की जा सकती है।

प्राचीन समय में हज़ारों वर्ष पूर्व ऐसी बातें आज की अपेक्षा और भी अधिक परिमाण में हुआ करती थीं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब किसी देश की आबादी घनी होने लगती है, तो मानसिक बल का ह्रास होने लगता है। जो देश विस्तृत है और जहाँ लोग विरले बसे होते हैं, वहाँ शायद मानसिक बल अधिक होता है। विश्लेषणप्रिय होने के कारण हिन्दुओं ने इन विषयों को लेकर उनके सम्बन्ध में अन्वेषण किया और वे कुछ मौलिक सिद्धान्तों पर जा पहुँचे, अर्थात् उन्होंने इन बातों का एक शास्त्र ही बना डाला। उन्होंने यह अनुभव किया कि ये बातें यद्यपि असाधारण हैं, तथापि हैं प्राकृतिक ही, अलौकिक नहीं हैं। अलौकिक नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। ये बातें भी ठीक वैसी ही नियमबद्ध हैं, जैसी भौतिक जगत् की अन्यान्य बातें। यह निसर्ग की कोई सनक नहीं कि एक मनुष्य इन सामर्थ्यों को साथ लेकर जन्म लेता हो। इन शक्तियों के सम्बन्ध में नियमित रूप से अध्ययन किया जा सकता है, इनका अभ्यास किया जा सकता है और ये शक्तियाँ अपने में उत्पन्न की जा सकती हैं। इस शास्त्र को वे लोग 'राजयोग' कहते हैं। भारतवर्ष में ऐसे हज़ारों मनुष्य हैं, जो इस शास्त्र का अध्ययन करते हैं, और यह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए दैनिक उपासना का एक अंग बन गया है।

वे लोग जिस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं, वह यह है कि यह सारा अद्भुत सामर्थ्य मनुष्य के मन में अवस्थित है। मनुष्य का मन समष्टि-मन का अंश मात्र है। प्रत्येक मन दूसरे प्रत्येक मन से संलग्न है। और प्रत्येक मन, वह चाहे जहाँ रहे, सम्पूर्ण विश्व के साथ संबद्ध है।

क्या तुम लोगों ने उस मानसिक व्यापार को देखा है, जिसे विचार-संक्रमण (thought-transference) कहा जाता है। यहाँ एक मनुष्य कुछ विचार करता है और वह विचार अन्यत्र किसी दूसरे मनुष्य में प्रकट हो जाता है। एक मनुष्य अपने विचार दूसरे मनुष्य के पास भेजना चाहता है, इस दूसरे मनुष्य को यह मालूम हो जाता है कि इस तरह का सन्देश उसके पास आ रहा है। वह उस सन्देश को ठीक उसी रूप में ग्रहण करता है, जिस रूप में

वह भेजा गया था। साधनाओं से यह बात सिद्ध होती है। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है। दूरी के कारण कुछ अन्तर नहीं पड़ता। यह सन्देश उस दूसरे मनुष्य तक पहुँच जाता है और वह दूसरा मनुष्य उसे समझ लेता है। अगर तुम्हारा मन एक पृथक् वस्तु होता, जो वहाँ विद्यमान है, और मेरा मन एक पृथक् वस्तु होता, जो यहाँ विद्यमान है, और इन दोनों मनों में यदि कोई सम्बन्ध न होता, तो मेरे विचार तुम्हारे पास कैसे पहुंच पाते? सर्वसाधारण व्यवहार में, मेरा विचार सीधा तुम्हारे पास नहीं पहुँचता; पर प्रथम, मेरे विचार को आकाश-तत्त्व के स्पन्दनों में परिणत होना पड़ता है। ये स्पन्दन फिर तुम्हारे मस्तिष्क में पहुँचते हैं। वहाँ फिर से इन स्पन्दनों का तुम्हारे अपने विचार में रूपान्तर होता है। और इस तरह मेरा विचार तुम्हारे पास पहुँचता है। यहाँ पहले विचार विघटित होकर आकाश-तत्त्व में मिल जाता है और फिर वही विचार वहाँ संघटित हो जाता है—यह एक चक्राकार प्रक्रिया है। परन्तु दूर-संवेदन (telepathy) में इस तरह की कोई चक्राकार क्रिया नहीं होती; इसमें मेरा विचार सीधा सीधा तुम्हारे पास पहुँच जाता है।

इससे स्पष्ट है कि मन एक अखण्ड वस्तु है, जैसा कि योगी कहते हैं। मन विश्वव्यापी है। तुम्हारा मन, मेरा मन, ये सब विभिन्न मन उस समष्टि-मन के अंश मात्र हैं, मानो समुद्र पर उठनेवाली छोटी छोटी लहरें हैं; और इस अखण्डता के कारण ही हम अपने विचारों को एकदम सीधे, बिना किसी माध्यम के, आपस में संक्रमित कर सकते हैं।

हमारे आसपास दुनिया में क्या हो रहा है, यह तो तुम देख ही रहे हो। अपना प्रभाव चलाना, यही दुनिया है। हमारी शक्ति का कुछ अंश तो हमारे शरीर-धारण के उपयोग में आता है, और शेष का प्रत्येक कण दूसरों पर अपना प्रभाव डालने में रात-दिन व्यय होता रहता है। हमारे शरीर, हमारे गुण, हमारी बुद्धि तथा हमारा आत्मिक बल—ये सब लगातार दूसरों पर प्रभाव डालते आ रहे हैं। इसी प्रकार, उल्टे रूप में, दूसरों का प्रभाव हम पर पड़ता चला आ रहा है। हमारे आसपास यही चल रहा है। एक स्थूल उदाहरण लो। एक मनुष्य तुम्हारे पास आता है, वह खूब पढ़ा-लिखा है, उसकी भाषा भी सुन्दर है, वह तुमसे एक घंटा बात करता है, फिर भी वह अपना असर नहीं छोड़ जाता। दूसरा मनुष्य आता है। वह इने-गिने शब्द बोलता है। शायद वे व्याकरणशुद्ध और व्यवस्थित भी नहीं होते, परन्तु फिर भी वह खूब असर कर जाता है। यह तो तुममें से बहुतों ने अनुभव किया होगा। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह केवल शब्दों द्वारा ही नहीं होता। शब्द, यही नहीं, विचार भी, शायद प्रभाव का

एक-तृतीयांश ही उत्पन्न करते होंगे, परन्तु शेष दो-तृतीयांश प्रभाव तो उसके व्यक्तित्व का ही होता है। जिसे तुम वैयक्तिक चुंबक कहते हो, वही प्रकट होकर तुमको प्रभावित कर देता है।

हम लोगों के कुटुम्बों में मुख्य संचालक होते हैं। इनमें से कोई कोई संचालक घर चलाने में सफल होते हैं, परन्तु कोई नहीं। ऐसा क्यों? जब हमें असफलता मिलती है, तो हम दूसरों को कोसते हैं। ज्यों ही मुझे असफलता मिलती है, त्यों ही मैं कह उठता हूँ कि अमुक अमुक मेरी असफलता के कारण हैं। असफलता आने पर मनुष्य अपनी कमज़ोरी और अपने दोष को स्वीकार करना नहीं चाहता। प्रत्येक मनुष्य यह दिखलाने की कोशिश करता है कि वह निर्दोष है; और सारा दोष वह किसी मनुष्य पर, किसी वस्तु पर, और अंततः दुर्भाग्य पर मढ़ना चाहता है। जब घर का प्रमुख कर्ता असफल हो, तो उसे स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि कुछ लोग अपना घर किस प्रकार इतनी अच्छी तरह चला सकते हैं तथा दूसरे क्यों नहीं। तब तुम्हें पता चलेगा कि यह अन्तर उस मनुष्य के ही कारण है—उस मनुष्य के व्यक्तित्व के कारण ही यह अन्तर पड़ता है।

मनुष्य जाति के बड़े बड़े नेताओं की बात यदि ली जाय, तो हमें सदा यही दिखलायी देगा कि उनका व्यक्तित्व ही उनके प्रभाव का कारण था। अब बड़े बड़े प्राचीन लेखकों और विचारकों को लो। सच पूछो तो, असल और सच्चे विचार उन्होंने हमारे सम्मुख कितने रखे हैं? अतीतकालीन नेताओं ने जो कुछ लिख छोड़ा है, उस पर विचार करो; उनकी लिखी हुई पुस्तकों को देखो और प्रत्येक का मूल्य आँको। असल, नये और स्वतंत्र विचार, जो अभी तक इस संसार में सोचे गये हैं, केवल मुट्ठी भर ही हैं। उन लोगों ने जो विचार हमारे लिए छोड़े हैं, उनको उन्हींकी पुस्तकों में से पढ़ो, तो वे हमें कोई दिग्गज नहीं प्रतीत होते, परन्तु फिर भी हम यह जानते हैं कि अपने समय में वे दिग्गज व्यक्ति थे। इसका कारण क्या है? वे जो बहुत बड़े प्रतीत होते थे, वह केवल उनके सोचे हुए विचारों या उनकी लिखी हुई पुस्तकों के कारण नहीं था, और न उनके दिये हुए भाषणों के कारण ही था, वरन् किसी एक दूसरी ही बात के कारण, जो अब निकल गयी है, और वह है उनका व्यक्तित्व। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, व्यक्तित्व दो-तृतीयांश होता है, और शेष एक-तृतीयांश होता है—मनुष्य की बुद्धि और उसके कहे हुए शब्द। सच्चा मनुष्यत्व या उसका व्यक्तित्व ही वह वस्तु है, जो हम पर प्रभाव डालती है। हमारे कर्म हमारे व्यक्तित्व की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र हैं। प्रभावी व्यक्तित्व कर्म के रूप से प्रकट होगा ही—कारण के रहते हुए कार्य का आविर्भाव अवश्यम्भावी है।

सारी शिक्षा तथा समस्त प्रशिक्षण का एकमेव उद्देश्य मनुष्य का निर्माण होना चाहिए। परन्तु हम यह न करके केवल बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का सदा प्रयत्न किया करते हैं। जहाँ व्यक्तित्व का ही अभाव है, वहाँ सिर्फ़ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने से क्या लाभ? सारी शिक्षा का ध्येय है मनुष्य का विकास। वह मनुष्य, जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने संगियों पर जादू सा कर देता है, शक्ति का एक महान् केन्द्र है, और जब वह मनुष्य तैयार हो जाता है, वह जो चाहे कर सकता है। यह व्यक्तित्व जिस वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है, उसी वस्तु को कार्यशील बना देता है।

अब हम देखते हैं कि यद्यपि यह बात सच है, तथापि कोई भी भौतिक सिद्धान्त, जो हमें ज्ञात है, इसकी व्याख्या नहीं कर सकता। रासायनिक या भौतिक ज्ञान इसकी व्याख्या कैसे कर सकता है? कितनी ओषजन (oxygen), कितनी उद्जन वायु (hydrogen), कितना कोयला (carbon) या कितने परमाण और उनकी कितनी विभिन्न अवस्थाएँ, उसमें विद्यमान कितने कोष (cells) इत्यादि इस गूढ़ व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर सकते हैं? फिर भी हम देखते हैं कि यह व्यक्तित्व एक सत्य है, इतना ही नहीं, बल्कि यही प्रकृत मानव है। यही मनुष्य की सब क्रियाओं को अनुप्राणित करता है, सभी पर प्रभाव डालता है, संगियों को कार्य में प्रवृत्त करता है तथा उस व्यक्ति के लय के साथ विलीन हो जाता है। उसकी बुद्धि, उसकी पुस्तक और उसके किये हुए कार्य—ये सब तो केवल पीछे रह गये कुछ चिह्न मात्र हैं। इस बात पर विचार करो। इन महान् धर्माचार्यों की बड़े बड़े दार्शनिकों के साथ तुलना करो। इन दार्शनिकों ने बड़ी आश्चर्यजनक पुस्तकें लिख डाली हैं, परन्तु फिर भी शायद ही किसी के अन्तर्मानव को—व्यक्तित्व को उन्होंने प्रभावित किया हो। इसके विपरीत, महान् धर्माचार्यों को देखो; उन्होंने अपने जीवन-काल में सारे देश को हिला दिया था। व्यक्तित्व ही था वह, जिसने यह अन्तर पैदा किया। दार्शनिकों में यह प्रभाव डालनेवाला व्यक्तित्व, किंचिन्मात्र होता है, और महान् धर्मसंस्थापकों का वही व्यक्तित्व प्रचण्ड होता है। प्रथम में बुद्धि तथा दूसरे में जीवन होता है। पहला मानो केवल एक रासायनिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कुछ रासायनिक उपादान एकत्र होकर आपस में धीरे धीरे संयुक्त हो जाते हैं और अनुकूल परिस्थिति होने से या तो उनमें से प्रकाश की दीप्ति प्रकट होती है, या वे असफल ही हो जाते हैं। दूसरा एक जलती हुई मशाल के सदृश है, जो शीघ्र ही एक के बाद दूसरे को प्रज्वलित करता है।

योगशास्त्र यह दावा करता है कि उसने उन नियमों को ढूँढ़ निकाला है, जिनके द्वारा इस व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। इन नियमों तथा उपायों की ओर ठीक ठीक ध्यान देने से मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और उसे शक्तिशाली बना सकता है। महत्त्वपूर्ण व्यवहारोपयोगी बातों में यह भी एक है और समस्त शिक्षा का यही रहस्य है। इसकी उपयोगिता सार्वदेशीय है। चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे ग़रीब, अमीर, व्यापारी या धार्मिक —सभी के जीवन में व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाना ही एक महत्व की बात है। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं, जो, हम जानते हैं, इन भौतिक नियमों के परे हैं। मतलब यह कि भौतिक जगत्, मानसिक जगत् या आध्यात्मिक जगत्—इस तरह की कोई नितान्त स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं हैं। जो कुछ है, सब एक तत्त्व है। या हम यों कहेंगे कि यह सब एक ऐसी शुंडाकार वस्तु है, जो यहाँ पर स्थूल है और जैसे जैसे यह ऊँची चढ़ती है, वैसे ही वैसे वह सूक्ष्म होती जाती है; सूक्ष्मतम को हम आत्मा कहते हैं और स्थूलतम को शरीर। और जो कुछ छोटे प्रमाण में इस शरीर में है, वही बड़े प्रमाण में विश्व में है। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। यह हमारा विश्व ठीक इसी प्रकार का है। बहिरंग में स्थूल घनत्व है और जैसे जैसे यह ऊँचा चढ़ता है, वैसे वैसे वह सूक्ष्मतर होता जाता है और अन्त में परमेश्वर रूप बन जाता है।

हम यह भी जानते हैं कि सबसे अधिक शक्ति सूक्ष्म में है, स्थूल में नहीं। एक मनुष्य भारी वज़न उठाता है। उसकी पेशियाँ फूल उठती हैं और सम्पूर्ण शरीर पर परिश्रम के चिह्न दिखने लगते हैं। हम समझते हैं कि पेशियाँ बहुत शक्तिशाली वस्तु हैं। परन्तु असल में जो पेशियों को शक्ति देती हैं, वे तो धागे के समान पतली नाड़ियाँ (nerves) हैं। जिस क्षण इन तंतुओं में से एक का भी सम्बन्ध पेशियों से टूट जाता है, उसी क्षण वे पेशियाँ बेकाम हो जाती हैं। ये छोटी छोटी नाड़ियाँ किसी अन्य सूक्ष्मतर वस्तु से अपनी शक्ति ग्रहण करती हैं, और वह सूक्ष्मतर वस्तु फिर अपने से भी अधिक सूक्ष्म विचारों से शक्ति ग्रहण करती है। इसी तरह यह क्रम चलता रहता है। इसलिए वह सूक्ष्म तत्त्व ही है, जो शक्ति का अधिष्ठान है। स्थूल में होनेवाली गति हम अवश्य देख सकते हैं, परन्तु सूक्ष्म में होनेवाली गति हम देख नहीं सकते। जब स्थूल वस्तुएँ गति करती हैं, तो हमें उनका बोध होता है और इसलिए हम स्वाभाविक ही गति का सम्बन्ध स्थूल से जोड़ देते हैं; परन्तु वास्तव में सारी शक्ति सूक्ष्म में ही है। सूक्ष्म में होनेवाली गति हम देख नहीं सकते। शायद इसका कारण यह है कि वह गति इतनी गहरी होती है कि हम उसका अनुभव ही नहीं कर सकते। परन्तु यदि कोई शास्त्र या

कोई शोध इन सूक्ष्म शक्तियों के ग्रहण करने में सहायता दे, तो यह व्यक्त विश्व ही, जो इन शक्तियों का परिणाम है, हमारे अधीन हो जायगा। पानी का एक बुलबुला झील के तल से निकलता है, वह ऊपर आता है, परन्तु हम उसे देख नहीं सकते, जब तक कि वह सतह पर आकर फूट नहीं जाता। इसी तरह विचार अधिक विकसित हो जाने पर या कार्य में परिणत हो जाने पर ही देखे जा सकते हैं। हम सदा यही कहा करते हैं कि हमारे कर्मों पर, हमारे विचारों पर हमारा अधिकार नहीं चलता। यह अधिकार हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यदि हम सूक्ष्म गतियों पर नियंत्रण कर सकें, और विचार के विचार बनने एवं कार्यरूप में परिणत होने के पूर्व ही यदि उसको मूल में ही अधीन कर सकें, तो इस सबको नियंत्रित कर सकना हमारे लिए संभव होगा। अब, अगर ऐसा कोई उपाय हो, जिसके द्वारा हम इन सूक्ष्म कारणों और इन सूक्ष्म शक्तियों का विश्लेषण कर सकें, उन्हें समझ सकें, और अन्त में अपने अधीन कर सकें, तभी हम स्वयं पर अपना शासन चला सकेंगे। और जिस मनुष्य का मन उसके अधीन होगा, निश्चय ही वह दूसरों के मनों को भी अपने अधीन कर सकेगा। यही कारण है कि पवित्रता तथा नैतिकता सदा धर्म के विषय रहे हैं। पवित्र, सदाचारी मनुष्य स्वयं पर नियंत्रण रखता है। और सारे मन एक ही हैं, समष्टि-मन के अंश मात्र हैं। जिसे एक ढेले का ज्ञान हो गया, उसने दुनिया की सारी मिट्टी जान ली। जो अपने मन को जानता है और स्व-अधीन रख सकता है, वह हर मन का रहस्य जानता है और हर मन पर अधिकार रखता है।

यदि हम इन सूक्ष्म अंशों को नियन्त्रित कर सकें, तो हम अपने शारीरिक कष्टों को अधिकांश दूर कर सकते हैं; यदि हम सूक्ष्म हलचलों को वश में कर सकें, तो हम अपनी उलझनों को दूर कर सकते हैं; यदि हम इन सूक्ष्म शक्तियों को अपने अधीन कर लें, तो अनेक असफलताएँ टाली जा सकती हैं। यहाँ तक तो उपयोगिता के बारे में हुआ; लेकिन इसके परे और भी कुछ उच्चतर है।

अब मैं तुम्हें एक सिद्धान्त बतलाता हूँ, जिसके सम्बन्ध में मैं अभी विचार-विमर्श न करूँगा, केवल निष्कर्ष ही तुम्हारे सामने रखूँगा। प्रत्येक मनुष्य अपने बाल्य काल में ही उन उन अवस्थाओं को पार कर लेता है, जिनमें से होकर उसका समाज गुज़रा है। अन्तर केवल इतना है कि समाज को उसमें हज़ारों वर्ष लगे हैं, जब कि बालक कुछ वर्षों में ही उनमें से पार हो जाता है। बालक प्रथम जंगली मनुष्य की अवस्था में होता है—वह तितली को अपने पैरों तले कुचल डालता है। आरम्भ में बालक अपनी जाति के जंगली पूर्वजों सा होता है। जैसे-जैसे वह बढ़ता है, अपनी जाति की विभिन्न अवस्थाओं को पार करता जाता है, जब तक कि

यह अपनी जाति की उन्नतावस्था तक पहुँच नहीं जाता। अन्तर यही है कि वह तेज़ी से और जल्दी जल्दी पार कर लेता है। अब सम्पूर्ण मानव-समाज को या सम्पूर्ण प्राणिजगत् और मनुष्य तथा निम्न स्तर के प्राणियों की समष्टि को एक जाति मान लो। एक ऐसा ध्येय है, जिसकी ओर यह समष्टि बढ़ रही है। उस ध्येय को हम पूर्णत्व नाम दे दें। कुछ पुरुष और महिलाएँ ऐसी होती हैं, जो मानव-समाज के भविष्यकालीन सम्पूर्ण विकास की कल्पना पहले ही कर लेती हैं। सम्पूर्ण मानव-समाज जब तक उस पूर्णत्व को न पहुँचे, तब तक राह देखते रहने और पुनः पुनः जन्म लेने की अपेक्षा, वे जीवन के कुछ ही वर्षों में इन सब अवस्थाओं का अतिक्रमण कर पूर्णता की ओर अग्रसर हो जाते हैं। और हम जानते हैं कि इन अवस्थाओं में से हम तेज़ी से आगे बढ़ सकते हैं, यदि हम अपने प्रति ईमानदार हैं। असंस्कृत मनुष्यों को अगर हम एक द्वीप पर छोड़ दें और उन्हें कठिनता से पर्याप्त खाने, ओढ़ने तथा रहने को मिले, तो वे धीरे धीरे उन्नत हो संस्कृति की एक एक सीढ़ी चढ़ते जायँगे। हम यह भी जानते हैं कि अन्य विशेष साधनों द्वारा भी इस विकास की गति बढ़ायी जा सकती है। क्या हम वृक्षों के विकास में मदद नहीं करते? यदि वे निसर्ग पर छोड़ दिये जाते, तो भी वे बढ़ते, अन्तर यही है कि उन्हें अधिक समय लगता। निसर्गतः लगनेवाले समय से कम समय में ही उनके विकास के लिए हम मदद पहुँचाते हैं। कृत्रिम साधनों द्वारा वस्तुओं का विकास तीव्रतर करना—यही हम निरन्तर करते आये हैं। तो फिर हम मनुष्य का विकास शीघ्रतर क्यों नहीं कर सकते? समस्त जाति के विषय में हम ऐसा कर सकते हैं। परदेशों में प्रचारक क्यों भेजे जाते हैं? इसलिए कि इन उपायों द्वारा जाति को हम शीघ्रतर उन्नत कर सकते हैं। तो, अब क्या हम व्यक्ति का विकास शीघ्रतर नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। क्या हम इस विकास की शीघ्रता की कोई मर्यादा बाँध सकते हैं। यह हम नहीं कह सकते कि एक जीवन में मनुष्य कितनी उन्नति कर सकता है। ऐसा कहने के लिए तुम्हारे पास कोई आधार नहीं कि मनुष्य केवल इतनी ही उन्नति कर सकता है, अधिक नहीं। अनकूल परिस्थिति से उसका विकास आश्चर्यजनक शीघ्रता से हो सकता है। तो फिर, क्या मनुष्य के पूर्ण विकसित होने के पूर्व उसके विकास की गति की कोई मर्यादा हो सकती है? अतएव इस सबका तात्पर्य क्या है? यही कि मनुष्य इस जन्म में ही पूर्णत्व-लाभ कर सकता है, और उसे इसके लिए करोड़ों वर्ष तक इस संसार में आवागमन की आवश्यकता नहीं। और यही बात योगी कहते हैं कि सब बड़े अवतार तथा धर्म-संस्थापक ऐसे ही पुरुष होते हैं; उन्होंने इस एक ही जीवन में पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है। दुनिया के इतिहास के सब कालों में इस

तरह के मनुष्य जन्म लेते आये हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व एक ऐसे महापुरुष[1] ने जन्म लिया था, जिन्होंने मानव-समाज के सम्पूर्ण जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव अपने इसी जीवन में कर लिया था और जो इसी जीवन में पूर्णत्व तक पहुँच गये थे। परन्तु विकास की यह त्वरित गति भी कुछ नियमों के अनुसार होनी चाहिए। अब ऐसी कल्पना करो कि इन नियमों को हम जान सकते हैं, उनका रहस्य समझ सकते हैं और उनको अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए उपयोग में ला सकते हैं, तो यह स्पष्ट है कि इससे हमारा विकास होगा। हम यदि अपनी उन्नति तीव्रतर करें, अपना विकास तीव्रतर करें, तो इस जीवन में ही हम पूर्ण विकसित हो सकते हैं। हमारे जीवन का उदात्त अंश यही है, और मन तथा उसकी शक्तियों के अध्ययन का विज्ञान इस पूर्ण विकास को ही अपना ध्येय मानता है। पैसा और भौतिक वस्तुएँ देकर दूसरों की सहायता करना तथा उन्हें सुगमता से जीवन-यापन करना सिखलाना—ये सब तो जीवन की केवल गौण बातें हैं।

मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना—यही इस शास्त्र का उपयोग है। युगानुयुग प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। जैसे एक काठ का टुकड़ा केवल खिलौना बन समुद्र की लहरों द्वारा इधर-उधर फेंका जाता रहता है, उसी प्रकार हमें भी प्रकृति के जड़-नियमों के हाथों खिलौना बनने की आवश्यकता नहीं है। यह विज्ञान चाहता है कि तुम शक्तिशाली बनो, कार्य को अपने ही हाथ में लो, प्रकृति के भरोसे मत छोड़ो और इस छोटे से जीवन के उस पार हो जाओ। यही वह उदात्त ध्येय है।

मनुष्य के ज्ञान, शक्ति और सुख की वृद्धि होती जा रही है, हम एक जाति के रूप में लगातार उन्नति करते जा रहे हैं। हम देखते हैं कि यह सच है, बिल्कुल सच है। क्या यह प्रत्येक व्यक्ति के विषय में भी सत्य है? हाँ, कुछ अंश तक सच है। किन्तु फिर वही प्रश्न उठता है कि इसकी सीमा-रेखा कौन सी है? मैं तो केवल कुछ ही गज दूरी तक देख सकता हूँ; लेकिन मैंने ऐसा मनुष्य देखा है, जो आँख बन्द कर लेता है और फिर भी बता देता है कि दूसरे कमरे में क्या हो रहा है। अगर तुम कहो कि हम इस पर विश्वास नहीं करते, तो शायद तीन सप्ताह के अन्दर वह मनुष्य तुममें भी वैसा ही सामर्थ्य उत्पन्न कर देगा। यह किसी भी मनुष्य को सिखलाया जा सकता है। कुछ मनुष्य तो सिर्फ पाँच मिनट के अन्दर ही यह जानना सीख सकते हैं कि दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है। ये बातें प्रत्यक्ष कर दिखलायी जा सकती हैं।

---

१. श्री रामकृष्ण परमहंस।

अब यदि यह बात सच है, तो सीमा-रेखा कहाँ पर खींची जा सकती है ? अगर मनुष्य कोने में बैठे हुए दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है, यह जान सकता है, तो वह दूसरे कमरे में बैठे रहने पर भी क्यों न जान सकेगा, और इतना ही क्यों, कहीं पर भी बैठकर क्यों न जान सकेगा ? हम यह नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों नहीं होगा ? हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि यह असम्भव है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हम नहीं जानते, यह कैसे सम्भव है। ऐसी बातें होनी असम्भव हैं, ऐसा कहने का भौतिक वैज्ञानिक को कोई अधिकार नहीं। वे सिर्फ़ कह सकते हैं, "हम नहीं जानते।" विज्ञान का काम केवल इतना है कि घटनाओं को एकत्र कर उनका सामान्यीकरण करे, अनुस्यूत नियमों को निकाले और सत्य का विधान करे। परन्तु यदि हम तथ्यों को ही इन्कार करने लगें, तो विज्ञान बन कैसे सकता है ?

मनुष्य कितनी शक्ति प्राप्त कर सकता है, इसका कोई अन्त नहीं। भारतीय मन की यही विशेषता है कि जब किसी एक वस्तु में उसे रुचि उत्पन्न हो जाती है, तो वह उसीमें मग्न हो जाता है और दूसरी बातों को भूल जाता है। तुम जानते हो कि कितने शास्त्रों का उद्गम भारतवर्ष में हुआ है। गणितशास्त्र का आरम्भ वहाँ ही हुआ। आज भी तुम लोग संस्कृत अंक-गणना-पद्धति के अनुसार एक, दो, तीन इत्यादि शून्य तक गिनते हो, और तुमको यह भी मालूम है कि बीजगणित का उदय भारत में ही हुआ। उसी तरह, न्यूटन का जन्म होने के हजारों वर्ष पूर्व ही भारतीयों को गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अवगत था।

इस विशेषता की ओर ज़रा ध्यान दो। भारतीय इतिहास के एक समय में भारतवासियों का चित्त मानव और उसके मन के अध्ययन में ही डूब गया था। और यह विषय अत्यन्त आकर्षक था, क्योंकि अपनी ध्येय-वस्तु प्राप्त करने का उन्हें यह सरलतम उपाय लगा। इस समय भारतवासियों का ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया था कि विशिष्ट नियमों के अनुसार परिचालित होने से मन कोई भी कार्य कर सकता है। और इसीलिए मन की शक्तियाँ ही उनके अध्ययन का विषय बन गयी थीं। जादू, मंत्र-तंत्र तथा अन्यान्य सिद्धियाँ कोई असाधारण बातें नहीं हैं; ये भी उतनी ही सरलता से सिखलायी जा सकती हैं, जितना कि इनके पहले भौतिक शास्त्र सिखलाये गये थे। इन बातों पर उन लोगों का इतना दृढ़ विश्वास बैठ गया कि भौतिक शास्त्र क़रीब क़रीब मरे से हो गये। यही एक बात थी, जिसने उनका मन आकृष्ट कर रखा था। योगियों के विभिन्न सम्प्रदाय अनेक प्रकार के प्रयोग करने लगे। कुछ लोगों ने प्रकाश के सम्बन्ध में प्रयोग किये और यह जानना चाहा कि विभिन्न वर्णों की किरणों का शरीर पर कौन सा प्रभाव पड़ता

है। वे विशिष्ट रंग का कपड़ा पहनते थे, विशिष्ट रंग में वास करते थे और विशिष्ट रंग के ही अन्न खाते थे। इस तरह सब प्रकार के प्रयोग किये जाने लगे। दूसरों ने अपने कान बन्द कर या खुले रखकर ध्वनि के विषय में प्रयोग करना आरम्भ किया, और अन्य योगियों ने घ्राणेन्द्रिय के सम्बन्ध में।

सभी का ध्येय एक था—वस्तु के मूल अथवा सूक्ष्म कारण तक किस प्रकार पहुँचना; और उनमें से कुछ लोगों ने सचमुच ही आश्चर्यजनक सामर्थ्य प्रकट किया। बहुतों ने आकाश में विचरने और उड़ने का प्रयत्न किया। मैं एक बड़े पाश्चात्य विद्वान् की बतलायी हुई एक कथा कहूँगा। लंका के गवर्नर ने, जिन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष देखी थी, उससे कही थी। एक लड़की उपस्थित की गयी, और वह पलथी मारकर 'स्टूल' पर बैठ गयी। स्टूल लकड़ियों को आड़ी-टेढ़ी जमाकर बना दिया गया था। कुछ देर उसके उस स्थिति में बैठने के पश्चात् वह तमाशा दिखानेवाला मनुष्य धीरे धीरे एक एक करके लकड़ियाँ हटाने लगा और वह लड़की हवा में, अधर में ही लटकती रह गयी। गवर्नर ने सोचा कि इसमें कोई चालाकी है, इसलिए उन्होंने तलवार खींची और तेज़ी से उस लड़की के नीचे से घुमायी। परन्तु लड़की के नीचे कुछ भी नहीं था। अब कहो, यह क्या है? यह कोई जादू न था और न कोई असाधारण बात ही थी। यही वैशिष्टय है। कोई भी भारतीय ऐसा न कहेगा कि इस तरह की घटना नहीं हो सकती। हिन्दू के लिए यह एक साधारण बात है। तुम जानते हो, जब हिन्दुओं को शत्रुओं से युद्ध करना होता है, तो वे क्या कहते हैं, "हमारा एक योगी तुम्हारे झुण्ड के झुण्ड मार भगायेगा।" उस राष्ट्र का यह दृढ़ विश्वास है। हाथ या तलवार में ताक़त कहाँ? ताक़त तो है आत्मा में।

यदि यह सच है, तो मन के लिए यह प्राणपण से प्रयत्न करने के लिए काफ़ी प्रलोभन है। परन्तु कोई महान् उपलब्धि प्राप्त करना जिस तरह प्रत्येक विज्ञान में कठिन है, उसी तरह इस क्षेत्र में भी। इतना ही नहीं, बल्कि यहाँ तो और भी अधिक कठिन है। फिर भी अनेक लोग समझते हैं कि ये शक्तियाँ सुगमता से प्राप्त की जा सकती हैं। सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए तुम्हें कितने वर्ष व्यतीत करने पड़ते हैं? जरा इसका विचार करो। बिजली या यंत्र सम्बन्धी ज्ञान के अध्ययन में ही तुम्हें कितने वर्ष बिताने पड़ते हैं? और फिर सारे जीवन काम करते रहना पड़ता है।

पुनश्च, इतर विज्ञानों का विषय है स्थिर वस्तुएँ—ऐसी वस्तुएँ, जो गति नहीं करतीं। तुम कुर्सी का विश्लेषण कर सकते हो, कुर्सी दूर नहीं भाग जाती। परन्तु यह मनोविज्ञान मन को अपना विषय बनाता है—वह मन, जो सदा चंचल

है। ज्यों ही तुम उसका अध्ययन करना चाहते हो, वह भाग जाता है, अभी मन में एक वृत्ति विद्यमान है, फिर दूसरी उदित हो जाती है। इस तरह मन सर्वदा बदलता ही जाता है। उसकी चंचलता में ही उसका अध्ययन करना पड़ता है, उसे समझना पड़ता है, उसका आकलन करना पड़ता है, उसको अपने वश में लाना पड़ता है। अतएव देखो, यह शास्त्र कितना अधिक कठिन है! यहाँ कठोर अभ्यास की आवश्यकता है। लोग मुझसे पूछते हैं कि आप प्रत्यक्ष प्रयोग कर क्यों नहीं सिखलाते? यह कोई मज़ाक़ नहीं है। मैं इस मंच पर खड़े-खड़े व्याख्यान देता हूँ और तुम सुनकर घर चल जाते हो; तुम्हें कोई लाभ नहीं होता, और न मुझे ही। तब तुम कहते हो, "यह सब पाखण्ड है।" ऐसा इसलिए होता है कि तुम्हीं इसे पाखण्ड बनाना चाहते थे। इस शास्त्र का मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान है, परन्तु जो कुछ थोड़ा-बहुत जानता हूँ, उसके लिए तीस साल तक मैंने अभ्यास किया है, और मैं छः साल हुए लोगों को वह सिखला रहा हूँ। मुझे तीस साल लगे इसके अभ्यास के लिए! तीस साल की कड़ी कोशिश! कभी कभी चौबीस घंटों में मैं बीस घंटे साधना करता रहा हूँ। कभी रात में एक ही घंटा सोया हूँ। कभी रात रात भर मैंने प्रयोग किये हैं; कभी कभी मैं ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ किसी प्रकार का कोई शब्द न था, साँस तक की आवाज़ न थी। कभी मुझे गुफाओं में रहना पड़ा है। इस बात का तुम विचार करो। और फिर भी मुझे बहुत थोड़ा मालूम है, या कहो, बिल्कुल ही नहीं! मैंने कठिनता से इस शास्त्र की मानो किनार भर छू पायी है। परन्तु मैं समझ सकता हूँ कि यह सच है, अपार है और आश्चर्यजनक है।

अब यदि तुममें से कोई इस विज्ञान का सचमुच अध्ययन करना चाहता है, तो उसी प्रकार के निश्चय से आरम्भ करना होगा, जिस निश्चय से वह किसी व्यवसाय का आरम्भ करता है। यही नहीं, बल्कि संसार के किसी भी व्यवसाय की अपेक्षा उसे इसमें अधिक दृढ़ निश्चय लगाना होगा।

व्यवसाय के लिए कितने मनोयोग की आवश्यकता होती है और वह व्यवसाय हमसे कितने कड़े श्रम की माँग करता है! यदि बाप, माँ, स्त्री या बच्चा भी मर जाय, तो भी व्यवसाय रुकने का नहीं! चाहे हमारे हृदय के टुकड़े टुकड़े हो रहे हों, फिर भी हमें व्यवसाय की जगह पर जाना ही होगा, चाहे व्यवसाय का हर एक घंटा हमारे लिए यंत्रणा क्यों न हो। यह है व्यवसाय, और हम समझते हैं कि यह ठीक ही है, इसमें कोई अन्याय नहीं है।

यह शास्त्र किसी भी अन्य व्यवसाय से अधिक लगन माँगता है। व्यवसाय में तो अनेक व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इस मार्ग में बहुत ही

थोड़े; क्योंकि यहाँ पर मुख्यतः साधक के मानसिक गठन पर ही सब कुछ अवलम्बित रहता है। जिस प्रकार व्यवसायी, चाहे धन जोड़ सके या न जोड़ सके, कुछ कमाई तो जरूर कर लेता है, उसी प्रकार इस शास्त्र के प्रत्येक साधक को कुछ ऐसी झलक अवश्य मिलती है, जिससे उसका विश्वास हो जाता है कि ये बातें सच हैं और ऐसे मनुष्य हो गये हैं, जिन्होंने इन सबका पूर्ण अनुभव कर लिया था।

इस विज्ञान की यह केवल रूपरेखा है। यह विज्ञान स्वतःप्रमाण तथा स्वयंप्रकाश है, और किसी भी अन्य शास्त्र या विज्ञान को अपने से तुलना करने के लिए ललकारता है। दुनिया में पाखण्डी, जादूगर, धोखेबाज़ अनेक हो गये हैं और विशेषतः इस क्षेत्र में। ऐसा क्यों? इसीलिए कि जो व्यवसाय जितना अधिक लाभप्रद होता है, उसमें उतने ही अधिक पाखण्डी और धोखेबाज़ होते हैं। परन्तु उस व्यवसाय के अच्छे न होने का यह कोई कारण नहीं। एक बात और बतला देना चाहता हूँ। इस शास्त्र के अनेक वादों को सुनना बुद्धि के लिए चाहे बड़ी अच्छी कसरत हो, और आश्चर्यजनक बातें सुनने से चाहे तुम्हें बौद्धिक संतोष प्राप्त होता हो, परन्तु अगर इससे परे सचमुच तुम्हें कुछ सीखने की इच्छा है, तो सिर्फ़ भाषणों को सुनने से काम न चलेगा। यह व्याख्यानों द्वारा नहीं सिखलाया जा सकता, क्योंकि यह अनुभवप्राप्त जीवन की वस्तु है और अनुभवप्राप्त जीवन ही अनुभव दिला सकता है। यदि तुममें से सचमुच कोई अध्ययन करना चाहता है, तो उसको सहायता देने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

मन की शक्ति

कारण कार्य बन जाता है। कारण का परिणामी कार्य उससे भिन्न वस्तु नहीं है। कार्य सदा कारण का कृत रूप होता है। कारण ही सदा कार्य बन जाता है। आम तौर से लोगों की धारणा है कि कार्य किसी कारण की क्रिया का परिणाम है और कारण कार्य से कोई स्वतन्त्र या पृथक् वस्तु है। ऐसी बात नहीं है। कार्य सदैव एक अन्य दशा में कार्यान्वित कारण ही होता है।

विश्व वास्तव में एकसम है। विषमता केवल दिखायी भर पड़ती है। प्रकृति में सर्वत्र भिन्न पदार्थ तथा भिन्न शक्तियाँ इत्यादि प्रतीत मात्र होती हैं। किन्तु दो भिन्न पदार्थ ले लो, जैसे एक शीशे का टुकड़ा और एक लकड़ी का टुकड़ा। उन्हें खूब महीन पीस डालो, इतना बारीक पीसो कि फिर और महीन न पीसा जा सके और तब जो पदार्थ तुमको दिखायी पड़ेगा, वह एकसम प्रतीत होगा। अन्तिम विश्लेषण में सब पदार्थ एक हैं। एकसमता ही वस्तु है, सत्य है; विषमता बहुत सी वस्तुओं का ऐसा आभास है कि मानो वे बहुत से पदार्थ हों। एक (ईश्वर) एकसमता है, परन्तु उस एक का बहुत्वाभास विषमता है।

सुनना, देखना या चखना आदि कार्य की विभिन्न अवस्थाओं में मन ही है।

किसी कमरे का वातावरण सम्मोहन से इस प्रकार प्रभावित किया जा सकता है कि उसमें प्रवेश करनेवाले किसी भी व्यक्ति को नाना प्रकार की वस्तुएँ—हवा में उड़ते हुए आदमी और पदार्थ दिखायी पड़ते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति सम्मोहित हो चुका है। मुक्त होने, अपने वास्तविक स्वरूप के बोध होने का कार्य इसमें है कि सम्मोहन का प्रभाव हटा दिया जाय।

एक बात याद रखने की है कि हम लोग कोई शक्ति कहीं से प्राप्त नहीं कर रहे हैं। वे हममें पहले से ही हैं। विकास की पूरी प्रक्रिया है सम्मोहन का प्रभाव हटाना।

मन जितना ही निर्मल होगा, उसे वश में करना उतना ही सरल होगा। यदि तुम उसे वश में रखना चाहो, तो मन की निर्मलता पर जोर देना होगा। केवल मानसिक सिद्धियों के प्रलोभन में मत पड़ो। उन्हें जाने दो। जो मन की सिद्धियों के चक्कर में पड़ता है, वह उन्हींका शिकार बन जाता है। जो लोग सिद्धियाँ चाहते हैं, प्रायः उन सबको वे सिद्धियाँ अपने जाल में फँसा लेती हैं।

मन को पूर्णतया वश में करने के लिए पूर्ण नैतिकता ही सब कुछ है। जो पूर्ण नैतिक है, उसे कुछ करना शेष नहीं, वह मुक्त है। जो पूर्ण नैतिक है, वह सम्भवतः किसी प्राणी या व्यक्ति की हिंसा नहीं करेगा। जो मुक्त होना चाहे, उसे अहिंसक बनना पड़ेगा। जिसमें अहिंसा का भाव है, उससे बढ़कर शक्तिशाली कोई नहीं है। उसकी उपस्थिति में न तो कोई लड़ सकता है और न झगड़ा कर सकता है। हाँ, वह जहाँ कहीं होगा, वहीं उसकी उपस्थिति मात्र से शान्ति और प्रेम उद्भूत होगा, दूसरी किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। उसकी उपस्थिति में न तो कोई क्रुद्ध होगा, न लड़ेगा। उसके सामने पशु—हिंस्र पशु तक शान्त रहेंगे।

एक बार मुझे एक योगी[1] के बारे में मालूम हुआ, जो बहुत वृद्ध थे और जो अकेले एक गुफा में रहते थे। उनके पास भोजन पकाने के लिए एक या दो तसले थे, बस, यही सब कुछ था। वे बड़े अल्पाहारी थे, मुश्किल से कुछ पहनते थे और अधिकांश समय ध्यान लगाने में व्यतीत करते थे।

उनकी दृष्टि में सभी प्राणी समान थे। उन्होंने अहिंसा सिद्ध कर ली थी। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्राणी में वह आत्मा अथवा जगदीश्वर का दर्शन करते थे। उनके लिए प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी 'मेरे प्रभु' थे। किसी व्यक्ति या पशु को वह किसी दूसरे नाम से सम्बोधित नहीं करते थे। अच्छा, एक दिन एक चोर उनके यहाँ पहुँचा और उसने उनका एक तसला चुरा लिया। उन्होंने चोर को देखा और उसका पीछा किया। पीछा दूर तक किया। चोर को थक-कर रुक जाना पड़ा। योगी दौड़कर उसके पाँवों पर पड़ गये। उन्होंने कहा, "मेरे प्रभु! मेरे यहाँ आकर तूने मेरा बड़ा सम्मान किया। मुझे इतना सम्मान और प्रदान कर कि दूसरा तसला भी स्वीकार कर। यह भी तेरा है।" अब इन वृद्ध महापुरुष का देहान्त हो गया है। संसार की प्रत्येक वस्तु के लिए उनमें प्रेम भरा था। एक चींटी के लिए भी अपना प्राणोत्सर्ग कर देते। वन्य पशु सहज बुद्धि से इस वृद्ध व्यक्ति को अपना मित्र समझते थे। सर्प तथा भयानक पशु उनकी गुफा में जाते और उनके साथ सोते थे। वे सब उनसे प्रेम करते थे और उनकी उपस्थिति में कभी नहीं लड़ते थे।

चाहे कोई कितना भी बुरा क्यों न हो, उसके दोषों की चर्चा मत करो। उससे कभी कुछ लाभ नहीं होता। किसीके दोषों की चर्चा कर तुम उसकी सहायता नहीं करते, तुम उसे ठेस पहुँचाते हो और स्वयं अपने को ठेस पहुँचाते हो।

---

१. गाजीपुर के पवहारी बाबा।

आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा की सिद्धि में सहायक के रूप में आहार, अभ्यास आदि का नियमन ठीक है, पर वे स्वयं साध्य नहीं हैं, सहायक मात्र हैं।

धर्म के बारे में कभी झगड़ा मत करो। धर्म सम्बन्धी सभी झगड़ा-फसादों से केवल यह प्रकट होता है कि आध्यात्मिकता नहीं है। धार्मिक झगड़े सदा खोखली बातों के लिए होते हैं। जब पवित्रता नहीं रहती, जब आध्यात्मिकता विदा हो जाती है और आत्मा को नीरस बना देती है, तब झगड़े शुरू होते हैं, इसके पहले नहीं।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप—४
(सांख्य)

एकत्व : धर्म का लक्ष्य

(न्यूयार्क में दिया हुआ भाषण, १८९६ ई०)

हमारा यह संसार—इन्द्रियों, बुद्धि और युक्ति का संसार—दोनों ही ओर अनन्त, अज्ञेय और अज्ञात से परिसीमित है। यह अनन्तता ही हमारी खोज है, इसीमें अनुसन्धान के विषय हैं, इसीमें तथ्य हैं और इसीसे प्राप्त होनेवाले प्रकाश को संसार धर्म कहता है। इस तरह धर्म वस्तुतः इन्द्रियातीत भूमिका की वस्तु है, ऐन्द्रिक भूमिका की नहीं। वह समस्त तर्क के परे है, बुद्धि के स्तर की नहीं। यह एक अलौकिक दिव्य दर्शन है, एक अन्तःप्रेरणा है, यह मानो अज्ञात और अज्ञेय के उदधि में डुबकी लगाना है, जिससे ज्ञानातीत ज्ञात से अधिक ज्ञात हो जाता है, क्योंकि वह कभी 'जाना' नहीं जा सकता। जैसा कि मेरा विश्वास है, यह खोज मानवता के आदि काल से ही जारी है। विश्व के इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं हुआ, जब मनुष्य की बुद्धि इस संघर्ष, अनन्त की इस खोज में व्यस्त न रही हो। हमारे मन का जो नन्हा सा संसार है, उसमें हम विचारों को उठते हुए पाते हैं। ये विचार कहाँ से आते हैं और कहाँ चले जाते हैं, हम नहीं कह सकते। और बृहत् ब्रह्माण्ड और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड एक ही लोक में हैं, उन्हीं अवस्थाओं को पार करते हैं, वही स्वर स्पन्दित करते हैं।

अब तुम्हारे समक्ष हम हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को रख रहे हैं कि धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि व्यक्ति के अभ्यन्तर से ही उदित होता है। मेरी यह आस्था है कि धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित हैं, और यह बात इस सीमा तक सत्य है कि चाहकर भी मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसका शरीर है, मन है, मस्तिष्क है, जीवन है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति रहेगी, तब तक यह संघर्ष चलता ही रहेगा और तब तक किसी न किसी रूप में धर्म रहेगा ही। इस तरह विश्व में हमें धर्म के विभिन्न रूप मिलते हैं। बात कुछ विकट जरूर लगती है; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता, जैसा कुछ लोग कहते हैं कि यह सब निरर्थक परिकल्पना है। इस विस्वरता के मध्य एक समस्वरता भी है; इन समस्त बेसुरी ध्वनियों में समसुरता का भी एक स्वर है, और जो सुनना चाहे, वह उसे सुन सकता है।

वर्तमान काल में सबसे बड़ा प्रश्न है : अगर ज्ञात और ज्ञेय जगत् का आदि और अन्त अज्ञात तथा अनन्त अज्ञेय द्वारा सीमाबद्ध है, तो उस अज्ञात के लिए हम प्रयास ही क्यों करें ? क्यों न हम ज्ञात जगत् में ही सन्तुष्ट रहें ? क्यों न हम खाने, पीने और संसार की किंचित् भलाई करने में ही सन्तुष्ट रहें ? ये प्रश्न अक्सर सुनने को मिलते हैं। विद्वान् प्राध्यापक से लेकर तुतलाते बच्चे तक से कहा जाता है, "संसार की भलाई करो; यही सारा धर्म है; इसके परे क्या है, इससे सम्बन्धित प्रश्नों से व्यर्थ अपने को परेशान मत करो।" यह बात इतनी चल पड़ी है कि उसने एक कहावत का रूप ले लिया है।

किन्तु सौभाग्यवश हम अनन्त के बारे में जिज्ञासा किये बिना नहीं रह सकते। यह जो वर्तमान है, व्यक्त है, वह तो अव्यक्त का एक अंश मात्र है। इन्द्रियों की चेतना के धरातल पर जो अनन्त आध्यात्मिक जगत् प्रक्षेपित है, यह इन्द्रिय-जगत् उसका एक नन्हा सा अंश है। ऐसी स्थिति में उस अनन्त विस्तार को समझे बिना यह नन्हा सा प्रक्षेपित भाग कैसे समझा जा सकता है ? सक्रेटिस के बारे में ऐसा कहा जाता है कि एक बार एथेन्स में भाषण करते समय उससे एक ब्राह्मण की मुलाक़ात हुई। वह ब्राह्मण यूनान की सैर कर चुका था। सक्रेटिस ने उससे कहा कि मनुष्य के अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय मनुष्य ही है। इस पर ब्राह्मण ने तुरंत उत्तर दिया, "ईश्वर को जाने बिना तुम मनुष्य को कैसे जान सकते हो ?" यह ईश्वर, यह शाश्वत अज्ञेय सत्ता, यह ब्रह्म, यह अनन्त अथवा अनाम—चाहे तुम जिस किसी भी नाम से उसे पुकारो—ज्ञात और ज्ञेय जगत् का, वर्तमान जीवन का मूलभूत सिद्धान्त है, उसकी व्याख्या की कुंजी है। तुम अपने सामने की किसी भी वस्तु को ले लो, कोई भी अत्यन्त भौतिक वस्तु—भौतिक विज्ञानों में से ही किसी-को ले लो, चाहे रसायनशास्त्र हो अथवा भौतिकशास्त्र, चाहे नक्षत्र-विज्ञान हो अथवा जीव-विज्ञान—उसको लेकर उसका अध्ययन करो। उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तत्त्वों की ओर बढ़ते बढ़ते तुम एक ऐसे बिन्दु पर आ जाओगे, जहाँ से आगे बढ़ने के लिए तुमको भौतिक से अभौतिक पर चला आना पड़ेगा। ज्ञान के हर क्षेत्र में स्थूल सूक्ष्म में समाहित हो जाता है और भौतिक तात्त्विक में।

इसी प्रकार मनुष्य को बाध्य होकर जगदतीत सत्ता के अध्ययन में उतरना होता है। अगर हम इस जगत् के परे के तत्त्व को न जानें, तो जीवन रेगिस्तान बन जायगा, मानव जीवन निस्सार हो जायगा। यह कहना तो बड़ा अच्छा है कि प्रस्तुत क्षण की वस्तुओं से ही सन्तुष्ट रहो। गाय और कुत्ते तो वैसे सन्तुष्ट हैं ही; सभी जानवर ही उस तरह सन्तुष्ट हैं, और यही उन्हें जानवर बनाये हुए है। तो

फिर मनुष्य भी अगर अनन्त की खोज से मुँह मोड़कर वर्तमान जीवन में ही सन्तुष्ट रहने लगे, तो मानव जाति को एक बार फिर पशुत्व के धरातल पर जाना पड़ेगा। यह धर्म ही है, परे की खोज ही है, जो मनुष्य और पशु में भेद करती है। ठीक ही तो कहा गया है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो स्वभावतः ऊपर की ओर देखता है, अन्य सभी प्राणी स्वभावतः नीचे की ओर देखते हैं। ऊपर की ओर देखना, ऊपर उठना तथा पूर्णता की खोज करना—इसे ही मोक्ष कहते हैं। जितनी जल्दी कोई मनुष्य ऊपर उठने लगता है, उतनी ही जल्दी वह मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। यह बात इस पर नहीं निर्भर करती कि तुम्हारे पास कितने पैसे हैं, तुम कौन सी पोशाक पहनते हो, अथवा तुम कैसे मकान में रहते हो, बल्कि यह इस पर निर्भर है कि तुम्हारे मन में कितनी बड़ी आध्यात्मिक निधि है। यही मानव को उन्नति की ओर ले जाती है, यही भौतिक और बौद्धिक प्रगति का मूलस्रोत है, तथा यही मानव को सदैव आगे बढ़ानेवाला उत्साह, और पृष्ठभूमि में रहनेवाली प्रेरक शक्ति है।

धर्म रोटी में नहीं है, मकान में नहीं है। बार बार लोग प्रश्न करते हैं, "धर्म से आखिर कौन सी भलाई होगी ? क्या यह ग़रीबों की दरिद्रता दूर कर सकेगा, उनके लिए वस्त्रों का प्रबन्ध कर सकेगा ?" मान लो कि धर्म ये सब नहीं कर सकता। तो क्या इससे धर्म की असत्यता सिद्ध हो जायगी ? मान लो, तुम ज्योतिष के किसी सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हो और कोई बच्चा आकर कहने लगे, "क्या यह मीठी रोटी ला देगा ?" तुम कहोगे, "नहीं, यह नहीं लानेवाला है।" इस पर बच्चा कहेगा, "तब तो यह बेकार है।" विश्व को देखने का बच्चों का अपना दृष्टिकोण है—वही रोटी ला देनेवाला। और ठीक ऐसी ही बातें संसार के ये नादान बच्चे भी करते हैं।

हमें उच्च स्तर की वस्तुओं को अपने निम्न स्तरीय मापदण्ड से नहीं मापना चाहिए। हर चीज़ के मापन का अपना स्तर होता है। इसलिए अनन्त तत्त्व का मूल्यांकन भी अनन्त स्तरीय प्रतिमान से ही हो सकता है। धर्म सम्पूर्ण मानव जीवन में परिव्याप्त है, न केवल वर्तमान में, अपितु भूत और भविष्य में भी। अतः उसे हम शाश्वत आत्मा का शाश्वत ब्रह्म से शाश्वत सम्बन्ध कह सकते हैं। पाँच मिनट के इस मानव जीवन पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, केवल इसी बात से हम कैसे इसके मूल्य को जाँच सकते हैं ? पर ये सभी तर्क तो नकारात्मक हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या धर्म सचमुच कुछ कर सकता है ? हाँ, कर सकता है। उससे मानव अनन्त जीवन प्राप्त करता है। मनुष्य वर्तमान में जो है, वह इस धर्म की ही शक्ति से हुआ है, और उससे ही यह मनुष्य नामक प्राणी देवता बनेगा।

धर्म यही करने में समर्थ है। मानव-समाज से धर्म को हटा दो—क्या शेष बचेगा ? ऐसा होने पर संसार हिंस्र जन्तुओं से घिरा अरण्य वन जायगा। इन्द्रिय-सुख मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है, ज्ञान ही सकल प्राणी का लक्ष्य है।

हम देखते हैं कि एक पशु जितना आनन्द अपनी इन्द्रियों के माध्यम से पाता है, उससे अधिक आनन्द मनुष्य अपनी बुद्धि के माध्यम से अनुभव करता है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक प्रकृति का बौद्धिक प्रकृति से भी अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। इसलिए मनुष्य का परम ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही माना जा सकता है। इस ज्ञान के होते ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। संसार की सारी चीज़ें मिथ्या, छाया मात्र हैं, वे परम ज्ञान और आनन्द की तृतीय या चतुर्थ स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं।

एक प्रश्न और : लक्ष्य क्या है ? आजकल लोग कहते हैं कि मनुष्य दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति कर रहा है। किन्तु उसके समक्ष कोई ऐसा विन्दु नहीं, जिसे वह अपने पूर्णतम विकास का प्रतीक मान ले। सतत आगे बढ़ते जाओ, पर पहुँचो कहीं नहीं। इसका जो भी अर्थ हो, कितना ही अद्‌भुत यह क्यों न हो, किन्तु है एकदम अनर्गल। क्या कोई भी गति सीधी रेखा में होती है ? और यदि सीधी रेखा अनन्त दूरी तक बढ़ायी जाय, तो वह एक वृत्त वना देती है, और आदि विन्दु पर लौट आती है। जहाँ से तुमने प्रारम्भ किया था, वहीं लौटकर आना पड़ेगा। अगर तुमने ईश्वर से प्रारम्भ किया है, तो अन्ततः ईश्वर ही के पास आना पड़ेगा। तब शेष क्या रह जायगा ? तुम्हारा स्फुट कार्य। अनन्त काल तक तुमको स्फुट कार्य करते रहना पड़ेगा।

एक दूसरा प्रश्न भी है : क्या प्रगति के पथ में हम नये धार्मिक सत्यों का भी अनुसन्धान कर सकते हैं ? हाँ, और नहीं भी। पहले तो हम धर्म के वारे में इससे अधिक अब नहीं जान सकते। जो ज्ञेय था, वह ज्ञात हो चुका। संसार के सभी धर्म घोषित करते हैं कि हम सवों में एकता का कोई न कोई सूत्र है। अगर हम उस दैवी सत्ता से एक हो चुके, तो इस अर्थ में आगे और प्रगति नहीं हो सकती। ज्ञान का अर्थ है, विविधता में इस एकता की उपलब्धि। मैं तुम लोगों के वीच स्त्री और पुरुष देखता हूँ—यह हुई विविधता। यदि मैं तुम सब लोगों को एक ही वर्ग में रखकर मानव कहूँ, तो यह वैज्ञानिक ज्ञान कहा जायगा। दृष्टान्त के लिए रसायनशास्त्र को लो। सभी ज्ञात पदार्थों को रसायनशास्त्री उनके मौलिक तत्त्वों में विश्लेषित करना और यदि सम्भव हो, तो उस एक तत्त्व को खोज लेना चाहते हैं, जिससे ये सब उद्‌भूत हुए हैं, ऐसा समय आ सकता है, जब वे इस एक तत्त्व को जान लेंगे। उसका पता चल जाने पर वे और आगे नहीं जा सकेंगे, रसा-

यनशास्त्र पूर्ण हो जायगा। ठीक यही बात, आध्यात्मिक विज्ञान के साथ भी है। यदि हम इस मौलिक एकता को जान लेते हैं तो और आगे प्रगति नहीं हो सकती।

इसके बाद प्रश्न यह है; इस प्रकार का एकत्व क्या सम्भव है? भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही धर्म ही दर्शन के विज्ञान के आविष्कार का प्रयत्न चल रहा है; क्योंकि पाश्चात्य देश में जिस प्रकार इन दोनों को पृथक् भाव से देखना ही प्रचलित है, हिन्दू इन दोनों में उस प्रकार का प्रभेद नहीं देखते। हम धर्म और दर्शन को एक वस्तु के ही दो विभिन्न भाव मानते हैं, जो समभाव से युक्ति और वैज्ञानिक सत्य में आधारित होना चाहिए।

सांख्य दर्शन केवल भारत का क्यों, समग्र जगत् का सर्वप्राचीन दर्शन है। इसके महान् व्याख्याता कपिल सकल हिन्दू मनोविज्ञान के जनक हैं, और वे जिस प्राचीन दर्शन-प्रणाली का उपदेश दे गये हैं, वह इस समय भी भारत के वर्तमान सर्वमान्य दर्शन-प्रणाली की आधारशिला है। इन सब दर्शनों के अन्य विषयों में चाहे जितना मतभेद क्यों न रहे, सबने सांख्य का मनोविज्ञान ग्रहण किया है।

सांख्य के युक्तिसंगत परिणामरूप वेदान्त उसके सिद्धान्तों को लेकर और अधिक दूर अग्रसर हुआ है। कपिल के द्वारा उपदिष्ट ब्रह्माण्डविज्ञान के सहित सहमत होने पर भी वेदान्त द्वैतवाद में समाप्त होने में परितुष्ट नहीं हुआ है, लेकिन उसकी खोज अन्तिम एकत्व के लिए, जो विज्ञान और धर्म के समान लक्ष्य है, चलती रहेगी।

ब्रह्माण्डविज्ञान

हमारे सम्मुख दो शब्द हैं—सूक्ष्म ब्रह्माण्ड और बृहत् ब्रह्माण्ड; अन्तः और बहिः। हम अनुभव के द्वारा ही दोनों से सत्य प्राप्त करते हैं। आभ्यन्तर अनुभूति के द्वारा प्राप्त सत्य मनोविज्ञान, दर्शन और धर्म है। बाह्य अनुभव से भौतिक विज्ञान प्राप्त होते हैं। अतः किसी पूर्ण सत्य का इन दोनों जगतों के अनुभव के साथ समन्वय होना चाहिए। सूक्ष्म ब्रह्माण्ड बृहत् ब्रह्माण्ड की साक्षी प्रदान करेगा, बृहत् ब्रह्माण्ड सूक्ष्म ब्रह्माण्ड की। भौतिक सत्य का समनुरूप अन्तर्जगत् में, और अन्तर्जगत् के सत्य का प्रमाण भी बहिर्जगत् में मिलना चाहिए। तथापि इन सब सत्यों का अधिकांश सर्वदा परस्पर विरोधी पाया जाता है। विश्व-इतिहास के एक काल में 'अन्तर्वादी' प्रधान हो उठे; और उन्होंने 'बहिर्वादियों' के साथ विवाद आरम्भ किया। वर्तमान काल में 'बहिर्वादी' अर्थात् भौतिक वैज्ञानिकों ने प्रधानता प्राप्त की है, और उन्होंने मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों के अनेक सिद्धान्तों को उड़ा दिया है। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, मुझे मनोविज्ञान के सच्चे सार-तत्त्व के साथ आधुनिक भौतिक विज्ञान के सार-तत्त्व का पूर्ण सामञ्जस्य लगता है। एक व्यक्ति सब विषयों में महान् नहीं हो सकता; इसी प्रकार एक ही जाति सभी प्रकार के ज्ञान का अनुसन्धान करने में समान रूप से समर्थ नहीं हो सकती। आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र बाह्य भौतिक ज्ञान के अनुसन्धान में सुदक्ष हैं, किन्तु वे मनुष्य की अन्तःप्रकृति के अनुसन्धान में उतने पटु नहीं हैं। दूसरी ओर प्राच्य लोग बाह्य भौतिक जगत् के अनुसन्धान में उतने दक्ष नहीं थे, किन्तु अन्तस्तत्त्व की गवेषणा में उन्होंने विशेष दक्षता का परिचय दिया है। इसीलिए हम देखते हैं कि प्राच्य भौतिक तथा अन्य विज्ञान पाश्चात्य विज्ञानों से नहीं मिलते, और न पाश्चात्य मनोविज्ञान प्राच्य मनोविज्ञान से। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने प्राच्य भौतिक वैज्ञानिकों को विध्वस्त कर दिया है। फिर भी दोनों ही सत्य की भित्ति पर प्रतिष्ठित होने का दावा करते हैं और, हम जैसा पहले ही कह चुके हैं, किसी भी क्षेत्र के सत्य-ज्ञान में कभी परस्पर विरोध नहीं हो सकता; आभ्यन्तर सत्य के साथ बाह्य सत्य का सामञ्जस्य है।

हम सभी आधुनिक ज्योतिष और भौतिक वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड के सृष्टिविषयक सिद्धान्तों को जानते हैं, और यह भी जानते हैं कि उन्होंने यूरोप

का ईश्वरविज्ञान किस भीषणता से ध्वस्त किया है और नये वैज्ञानिक आविष्कार किस प्रकार उनके क़िले पर बम जैसा गिराते हैं, और हम यह भी जानते हैं कि धर्मवैज्ञानिकों ने किस प्रकार सदैव वैज्ञानिक अनुसन्धानों को बन्द कर देने का यत्न किया है।

यहाँ मैं ब्रह्माण्डविज्ञान और उसके आनुषंगिक विषयों के सम्बन्ध में प्राच्य मनोवैज्ञानिक धारणाओं का सिंहावलोकन करना चाहता हूँ, तब तुम देखोगे कि आधुनिक विज्ञान की नूतनतम खोजों के साथ उनका कितना आश्चर्यप्रद सम्बन्ध है, और यदि सामञ्जस्य में कहीं कुछ कमी रह जाती है, तो यह आधुनिक विज्ञान की कमी है, उनकी नहीं। हम सब अंग्रेजी शब्द 'नेचर' (Nature) का व्यवहार करते हैं। प्राचीन सांख्य दार्शनिक उसके लिए दो भिन्न नामों का प्रयोग करते थे; प्रथम, प्रकृति—जो अंग्रेजी के 'नेचर' शब्द का प्रायः समानार्थक है, और दूसरा उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक नाम है 'अव्यक्त'—जो व्यक्त अथवा प्रकाशित या भेदात्मक नहीं है—उससे ही सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, उससे अणु-परमाणु, भूत, शक्ति, मन, बुद्धि सब प्रसूत हुए हैं। यह अत्यन्त विस्मयजनक है कि भारतीय दार्शनिकों ने अनेक युग पहले ही कहा था कि मन भौतिक है। हमारे आधुनिक जड़वादियों ने इसके अतिरिक्त और अधिक क्या दिखाने का प्रयत्न किया है कि मन भी देह की तरह प्रकृति से उत्पन्न है? विचार के सम्बन्ध में भी यही बात है, और क्रमशः हम देखेंगे कि बुद्धि भी उसी एक ही अव्यक्त नामधेय प्रकृति से उत्पन्न हुई है। सांख्यों ने इस अव्यक्त का लक्षण बताया है, तीन शक्तियों की 'साम्यावस्था'। उनमें से एक का नाम सत्त्व, दूसरी का रजस् और तीसरी का तमस् है। तमस् निम्नतम शक्ति है—आकर्षणस्वरूप; रजस् उसकी अपेक्षा किंचित् उच्चतर है—विकर्षणस्वरूप; तथा जो सर्वोच्च शक्ति इन दोनों का सन्तुलनस्वरूप है, सत्त्व है। अतएव जब आकर्षण और विकर्षण की शक्तियाँ सत्त्व के द्वारा पूर्णतः संयत होती हैं अथवा पूर्ण साम्यावस्था में रहती हैं, तब सृष्टि का अस्तित्व नहीं रहता, किन्तु ज्यों ही यह साम्यावस्था नष्ट होती है, त्यों ही उनका सन्तुलन भंग हो जाता है और उनमें से एक शक्ति दूसरी शक्तियों की अपेक्षा प्रबलतर हो उठती है, त्यों ही गति का आरम्भ होता है और सृष्टि होने लगती है। यह व्यापार चक्राकार काल के कल्पों में चला करता है। अर्थात् साम्यावस्था भंग होने का एक समय होता है, तब शक्तियों का संघात और पुनस्संघात होने लगता है और वस्तुएँ प्रक्षिप्त होती हैं। साथ ही हर वस्तु में उसी आदिम साम्यावस्था में फिर से लौटने की प्रवृत्ति होती है, और ऐसा समय आता है, जब जो कुछ व्यक्त भावापन्न है, उन सबका सम्पूर्ण विनाश हो जाता है। फिर कुछ समय के बाद यह अवस्था नष्ट हो जाती है, सम्पूर्ण वस्तुएँ प्रक्षिप्त

होती हैं और धीरे धीरे तरंग के समान फिर तिरोभूत हो जाती हैं। जगत् की सारी गति को, इस विश्व की प्रत्येक वस्तु को तरंग के सदृश माना जा सकता है, जिसमें क्रमशः एक बार उत्थान, फिर पतन होता रहता है। इन दार्शनिकों में से कुछ का मत यह है कि समग्र ब्रह्माण्ड ही कुछ दिनों के लिए लयप्राप्त होता है। कुछ का मत है कि कुछ मण्डलों में ही लय का यह व्यापार घटित होता है। अर्थात्, यदि हमारा यह सौर-जगत् लयप्राप्त होकर अव्यक्त अवस्था में चला जाय, तो भी उसी समय अन्य कोटिशः जगतों में उसके ठीक विपरीत व्यापार होगा, और उनमें सृष्टि चलती रहेगी। मैं इस दूसरे मत के—अर्थात् प्रलय एक साथ समस्त ब्रह्माण्ड में घटित नहीं होता, विभिन्न जगतों में विभिन्न व्यापार चलते रहते हैं—के ही पक्ष में अधिक हूँ। किन्तु मूल बात एक ही रहती है, अर्थात् जो कुछ हम देख रहे हैं—यह समग्र प्रकृति ही, क्रमागत उत्थान-पतन के नियम से अग्रसर हो रही है। इस भंग होने, सन्तुलन पुनः प्राप्त करने, पूर्ण सामंजस्य की अवस्था को प्रलय, एक कल्प का अन्त कहते हैं। विश्व के प्रलय एवं प्रक्षेप की तुलना भारत के ईश्वरवादियों ने ईश्वर के निःश्वास-प्रश्वास के साथ की है। मानो ईश्वर के प्रश्वास से यह जगत् बहिर्गत होता है, और वह उनमें फिर लौट जाता है। जब प्रलय होता है, तब जगत् की क्या अवस्था होती है? वह उस समय भी विद्यमान रहता है, तथापि सूक्ष्म रूप में; अथवा, जैसा सांख्य दर्शन कहता है, कारणावस्था में रहता है। देश-काल-निमित्त से वह मुक्त नहीं होता, किन्तु वे अत्यन्त सूक्ष्म और लघु रूप में रहते हैं। मान लो, विश्व संकुचित होने लगता है, और हम सब एक अणु के बराबर रह जाते हैं। किन्तु तो भी हम इस परिवर्तन का अनुभव नहीं कर पायेंगे, क्योंकि हमसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु का संकोच भी साथ ही साथ होगा। सारी वस्तु विलीन हो जाती है और फिर व्यक्त हो जाती है, कारण कार्य उत्पन्न करता है, और यही क्रम चलता रहता है।

आजकल हम जिसे जड़ कहते हैं, उसे प्राचीन हिन्दू भूत अर्थात् बाह्य तत्त्व कहते थे। उनके मतानुसार एक तत्त्व नित्य है, शेष सब तत्त्व इसी एक से उत्पन्न हुए हैं। इस मूल तत्त्व को 'आकाश' की संज्ञा प्राप्त है। आजकल 'ईथर' शब्द से जो भाव व्यक्त होता है, यह बहुत कुछ उसके सदृश है, यद्यपि पूर्णतः नहीं। इस तत्त्व के साथ प्राण नाम की आद्य ऊर्जा रहती है। प्राण और आकाश संघटित और पुनस्संघटित होकर शेष तत्त्वों का निर्माण करते हैं। कल्पान्त में सब कुछ प्रलयगत होकर आकाश और प्राण में प्रत्यावर्तन करता है। जगत् की प्राचीनतम मानवीय रचना ऋग्वेद में सृष्टि का वर्णन करते हुए एक अत्यन्त सुन्दर और परम काव्यमय पद है—'जब सत् भी नहीं था, असत् भी नहीं था, तम के द्वारा तम

घिरा था, तब क्या था ?"[१] और इसका उत्तर दिया गया है, 'तब वह निस्पन्द अवस्था में था।' इस प्राण की सत्ता तब थी, किन्तु उसमें कोई गति नहीं थी; आनीदवातम् का अर्थ है, 'बिना स्पन्दन के अस्तित्ववान था।' स्पन्दन का विराम हो चुका था। तब एक विशाल विराम के उपरान्त जब कल्प का आरम्भ होता है, तब आनीदवातम् (निस्पन्द परमाणु) स्पन्दन आरम्भ कर देता है। और प्राण आकाश को आघात पर आघात प्रदान करता है। परमाणु घनीभूत होते हैं, और उनके संघटन की इस प्रक्रिया में विभिन्न तत्त्व बन जाते हैं। हम साधारणतः देखते हैं, लोग इन सब बातों का अत्यन्त अद्भुत अंग्रेजी अनुवाद किया करते हैं। लोग अनुवाद के लिए दार्शनिकों और भाष्यकारों की सहायता नहीं लेते, और उनमें भी इतनी विद्या नहीं है कि वे स्वतः यह सब समझ सकें। कोई मूर्ख संस्कृत के तीन अक्षर पढ़ता है और उसीसे एक पूरी पुस्तक का अनुवाद कर डालता है! वे भूत-समूह का वायु, अग्नि आदि के रूप में अनुवाद किया करते हैं। यदि वे भाष्यकारों के भाष्यों की चर्चा करते, तो वे देख पाते कि उनका मतलब वायु या अन्य किसीसे नहीं है।

प्राण के बार बार आघात के द्वारा आकाश से वायु अथवा स्पन्दन उत्पन्न होता है। यह वायु स्पन्दित होती है और जब ये स्पन्दन अधिकाधिक तीव्र हो जाते हैं, तो पहले घर्षण एवं बाद में ताप या तेज की उत्पत्ति होती है। तब यह ताप तरल भाव धारण करता है, उसे अप कहते हैं। अन्त में यह तरल पदार्थ आकार प्राप्त करता है। पहले हमें आकाश (ether) और गति प्राप्त हुई, उसके पश्चात् ताप उत्पन्न होता है, फिर वह तरल हो जाता है, तब घनीभूत होकर जड़ पदार्थ का आकार धारण करता है इसके बाद ठीक विलोम क्रम में यह प्रत्यावर्तन करता है। पदार्थ तरलीभूत होता है, और बाद में उत्तापराशि के रूप में परिणत होता है, वह फिर धीरे धीरे गति को पुनः प्राप्त करता है; उस गति का भी विराम हो जायगा और यह कल्प भी विनष्ट होगा। फिर वह प्रत्यावर्तन करेगा और फिर आकाश (ether) के रूप में विघटित हो जायगा। आकाश की सहायता के बिना प्राण स्वयं कार्य नहीं कर सकता। गति, स्पन्दन या विचार के रूप में हम जो जानते हैं, वे प्राण के ही विकार हैं और जड़ अथवा भूत पदार्थ के नाम से जो कुछ हम जानते हैं, जो कुछ आकृतिमान अथवा बाधात्मक है, वह इसी आकाश का विकार है। यह प्राण स्वयं नहीं रह सकता अथवा

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं...किमावरीवः
...तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतम् ॥ ऋग्वेद ॥१०।१२९॥

किसी मध्यवर्ती के बिना काम नहीं कर सकता; जब यह केवल शुद्ध प्राण ही है, वह आकाश में ही रहता है; और जब वह प्रकृति की शक्ति में—गुरुत्वाकर्षण या केन्द्रापसारी शक्ति के रूप में—परिवर्तित होता है, अवश्य ही उसके लिए जड़ पदार्थ आवश्यक है। तुमने जड़ पदार्थ के बिना शक्ति या शक्ति के बिना जड़ पदार्थ कभी नहीं देखा है। हम जिन्हें शक्ति और पदार्थ कहते हैं, वे उन वस्तुओं की स्थूल अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनके सूक्ष्म स्वरूप को प्राण एवं आकाश कहते हैं, अंग्रेजी में प्राण को तुम जीवन या जीवन-शक्ति कह सकते हो, लेकिन तब इसे केवल मनुष्य जीवन तक ही सीमित न करो। साथ ही इसे आत्मा के साथ भी एकीकृत न करो। इस प्रकार यह सृष्टि-क्रम चलता है। सृष्टि का न कोई आरंभ है, न कोई अंत। वह एक चिरन्तन प्रवाह है।

अब हम इन प्राचीन मनोवैज्ञानिकों के एक अन्य पक्ष का वर्णन करेंगे, जिसके अनुसार समस्त स्थूल पदार्थ सूक्ष्म तत्त्वों के परिणाम हैं। प्रत्येक स्थूल वस्तु सूक्ष्म उपकरणों से निर्मित हुई है, जिन्हें वे तन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म कणिकाएँ कहते हैं। मैं एक फूल सूँघता हूँ। सूँघने की क्रिया में किसी वस्तु का मेरी नासिका से सम्पर्क होना आवश्यक है: फूल तो है, परन्तु इसे हम अपनी ओर खिचते हुए नहीं देखते। जो कुछ फूल से आता है और जिसका हमारी नासिका से सम्पर्क होता है, उसे तन्मात्रा अर्थात् उस पुष्प का अणु कहते हैं। यह बात ताप, प्रकाश और प्रत्येक अन्य वस्तु के सम्बन्ध में घटित होती है। पुनः इन तन्मात्राओं को परमाणुओं की उपश्रेणी में विभाजित किया जा सकता है। विभिन्न दार्शनिकों के भिन्न भिन्न सिद्धान्त हैं और हम जानते हैं कि ये केवल सिद्धान्त हैं। हमारे लिए इतना ही जानना पर्याप्त है कि प्रत्येक स्थूल वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म उपकरणों से बनी हुई है। हमें पहले स्थूल पदार्थों की प्रतीति होती है, जिनकी हमें बाह्य अनुभूति होती है। इसके बाद सूक्ष्म तत्त्वों का अनुभव होता है, जिनके साथ नासिका, चक्षु और कर्ण का सम्पर्क होता है। ईथर-तरंगें मेरे नेत्रों को स्पर्श करती हैं, किन्तु मैं उन्हें देख नहीं सकता। तो भी मैं जानता हूँ कि प्रकाश को देखने में समर्थ होने के पूर्व उनका मेरे नेत्रों के सम्पर्क में आना आवश्यक है।

आँखें हैं, पर आँखें देखती नहीं हैं। यदि मस्तिष्क-केन्द्र को हटा लो, तो आँखें तो तब भी रहेंगी और नेत्र-पट के ऊपर बाह्य जगत् का चित्र अंकित होगा, तथापि आँखें देख न सकेंगी। अतः नेत्र केवल गौण साधन हैं, दृष्टि के अंग नहीं। दर्शनेन्द्रिय मस्तिष्कस्थित स्नायु-केन्द्र है। इसी प्रकार नासिका एक यन्त्र है और उसके पीछे एक इन्द्रिय है। संवेदक अवयव केवल बाह्य साधन—यन्त्र हैं। यह कहा

जा सकता है कि यह विभिन्न केन्द्र ही जिन्हें संस्कृत में इन्द्रिय कहते हैं, प्रत्यक्ष बोध के वास्तविक स्थान हैं।

प्रत्यक्ष बोध के हेतु मन का इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होना आवश्यक है। यह सामान्य अनुभव है कि उस समय जब कि हम अध्ययन में तल्लीन रहते हैं, घड़ी की ध्वनि नहीं सुनते। क्यों? कान अपनी जगह पर होते हैं, उनके द्वारा ध्वनि मस्तिष्क तक पहुँचायी जाती है, तो भी वह सुनी नहीं जाती, क्योंकि मन अपने को श्रोतेन्द्रिय से नहीं जोड़ता।

प्रत्येक भिन्न संवेदक अवयव के लिए एक भिन्न इन्द्रिय होती है। कारण यह है कि यदि एक से ही सबका काम लिया जाय, तो फल यह होगा कि जब मन उससे जुड़ेगा, तब सभी इन्द्रियाँ समान रूप से क्रियाशील होंगी। किन्तु जैसा कि हमने घड़ी के उदाहरण में देखा है, बात ऐसी नहीं है। यदि सभी साधनों के लिए एक ही अवयव होता, तो मन एक ही साथ देखने, सुनने और सूँघने की क्रिया करता और उसके लिए इन सारी क्रियाओं को एक साथ और एक ही समय न करना सम्भव न होता। अतः प्रत्येक इन्द्रिय के लिए एक भिन्न अवयव का होना आवश्यक है, आधुनिक शरीरविज्ञान ने इस बात की पुष्टि की है। निश्चय ही हमारे लिए एक साथ सुनना और देखना सम्भव है, किन्तु ऐसा होने का कारण यह है कि मन अपने को आंशिक रूप से दो केन्द्रों से सम्बद्ध करता है।

इन्द्रियों की रचना किन तत्त्वों से हुई? हम देखते हैं कि नेत्र, नासिका तथा कर्ण आदि साधन या यन्त्र स्थूल पदार्थ से निर्मित हैं। इन्द्रियाँ भी स्थूल पदार्थ से बनी हैं। जिस प्रकार शरीर स्थूल पदार्थों से निर्मित है और वह भिन्न भिन्न स्थूल शक्तियों के रूप में प्राण का निर्माण करता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ आकाश वायु, तेज आदि सूक्ष्म तत्त्वों से निर्मित हैं और वे प्राण को प्रत्यक्ष बोध की सूक्ष्मतर शक्तियों का रूप प्रदान करती हैं। इन्द्रियाँ, प्राण की क्रियाएँ, मन और बुद्धि से मिलकर मनुष्य का सूक्ष्मतर (कारण) शरीर बनता है। इसे लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं। लिंग शरीर का वास्तविक एक रूप होता है, क्योंकि प्रत्येक भौतिक पदार्थ का रूप होता है।

मन को मनस्, वृत्ति में चित्त अथवा स्पंदनशील अर्थात् अस्थिर कहा जाता है। यदि तुम किसी झील में पत्थर फेंको, तो प्रथम उसमें स्पन्दन होगा और फिर प्रतिरोध। एक क्षण जल में स्पन्दन होगा और फिर वह पत्थर के ऊपर प्रतिक्रिया करेगा। इसी प्रकार जब चित्त पर कोई प्रभाव पड़ता है, तब वह प्रथम किंचित् स्पंदित होता है। उसीको मनस् कहते हैं। मन प्रभावों को और भीतर ले जाता है और उन्हें निर्णायक शक्ति बुद्धि के सम्मुख प्रस्तुत करता है, जो स्वयं प्रतिक्रिया

करती है। बुद्धि के पीछे अहंकार अथवा आत्मचेतना है, जो कहती है, 'मैं हूँ।' अहंकार के पीछे महत् अथवा ज्ञान है, जो प्रकृति की सत्ता की सर्वोच्च स्थिति है। इनमें से प्रत्येक क्रमानुसार आनेवाली स्थिति का परिणाम है। झील के उदाहरण में उस पर होनेवाला प्रत्येक प्रहार बाह्य जगत् से होनेवाला प्रहार है, जब कि मन के ऊपर बाह्य अथवा अन्तर्जगत्, दोनों से प्रहार हो सकता है। महत् के परे मनुष्य का स्वरूप, पुरुष अथवा आत्मा है, विशुद्ध और पूर्ण। केवल वही द्रष्टा है और उसीके लिए यह सारा परिवर्तन है।

मनुष्य इन सारे परिवर्तनों का द्रष्टा है, वह स्वयं अशुद्ध कभी नहीं होता। किन्तु वेदान्ती जिसे अध्यास, प्रतिबिम्ब अथवा आरोप कहते हैं, उसके कारण वह अशुद्ध प्रतीत होता है। वह उस स्फटिक के समान भासता है, जिसके सामने लाल अथवा नील वर्ण का पुष्प लाया जाता है। रंग उसके ऊपर प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु स्फटिक स्वयं विशुद्ध है। हम इस बात को मानकर चलेंगे कि आत्माएँ अनेक हैं और प्रत्येक आत्मा शुद्ध और पूर्ण है तथा भिन्न भिन्न प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ उनके ऊपर अध्यस्त होते हैं और उन्हें बहुरंगी बना देते हैं। प्रकृति यह सब क्यों करती है? प्रकृति की यह सब परिवर्तन-क्रिया आत्मा के विकास की हेतु है। यह सारी सृष्टि आत्मा के हित के लिए है, जिससे वह मुक्ति लाभ कर सके। यह महान् पुस्तक, जिसे हम विश्व कहते हैं, मनुष्य के सम्मुख इसलिए खुली हुई है कि वह उसे पढ़ सके और अन्त में जान जाय कि वह (मनुष्य) सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान सत्ता है। मैं यहाँ पर यह बता दूँ कि हमारे कतिपय सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक ईश्वर की सत्ता में उस प्रकार विश्वास नहीं करते हैं, जिस प्रकार तुम लोग विश्वास करते हो। हमारे मनोविज्ञानशास्त्र के जन्मदाता कपिल ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि सगुण ईश्वर बिल्कुल अनावश्यक है। प्रकृति स्वतः समस्त सृष्टि-रचना करने में समर्थ है। जिसे सृष्टि-रचनावाद का सिद्धान्त कहा जाता है, उसके ऊपर तो उन्होंने प्रत्यक्ष प्रहार किया और कहा कि इससे बढ़कर मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन कभी नहीं हुआ। किन्तु वे एक विचित्र प्रकार के ईश्वर को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि हम सभी मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहे हैं और जब हम मुक्त हो जाते हैं, तब मानो हम प्रकृति में लय हो जाते हैं और फिर दूसरे चक्र के प्रारम्भ में उसके शासक के रूप में पुनः आते हैं। हम सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान व्यक्तियों के रूप में आते हैं। उस अर्थ में हम ईश्वर कहे जा सकते हैं। तुम, मैं और तुच्छातितुच्छ प्राणी विभिन्न चक्रों में ईश्वर हो सकते हैं। उनका कथन है कि ऐसा ईश्वर अस्थायी होता है, किन्तु किसी ऐसे अविनाशी ईश्वर

का, जो अनन्त काल तक सर्वशक्तिमान और विश्व का नियन्ता हो, होना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा ईश्वर हो, तो यह समस्या उठ खड़ी होगी : अवश्य ही वह या तो बद्धात्मा होगा या मुक्त पुरुष। पूर्ण मुक्त ईश्वर सृष्टि नहीं रचेगा—उसे इसकी आवश्यकता न होगी। यदि वह बद्ध होगा, तो भी वह रचना नहीं रचेगा, क्योंकि वह कर नहीं सकता—वह शक्तिविहीन होगा। दोनों परिस्थितियों में कोई सर्वज्ञ अथवा सर्वशक्तिमान अनन्त ईश्वर नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि हमारे धर्मशास्त्रों में जहाँ कहीं भी ईश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ उसका आशय उन मनुष्यों से है, जो मुक्त हो चुके हैं।

कपिल समस्त आत्माओं की एकता में विश्वास नहीं करते। जहाँ तक उनके विश्लेषण की बात है, वह बड़ा अद्भुत है। वे भारतीय विचारकों के पितामह हैं। बौद्ध धर्म तथा अन्य मतवाद उन्हींके विचारों के परिणाम हैं।

उनके मनोविज्ञान के अनुसार सभी आत्माएँ अपनी मुक्ति तथा अपने नैसर्गिक अधिकार—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता—का पुनर्लाभ कर सकती हैं। परन्तु एक प्रश्न उठता है : यह बंधन कहाँ है? कपिल कहते हैं कि यह अनादि है। किन्तु यदि इसका आदि नहीं है, तो इसका अन्त भी नहीं होगा और हम कभी भी मुक्त न होंगे। वे कहते हैं कि यद्यपि बंधन अनादि है, तथापि वह इस प्रकार का नित्य और एकरूप नहीं है, जिस प्रकार आत्मा। दूसरे शब्दों में प्रकृति (बंधन का कारण) अनादि और अनन्त है, किन्तु उसी भाव में नहीं, जिसमें आत्मा, क्योंकि प्रकृति का कोई व्यक्तित्व नहीं है। वह उस नदी के समान है, जो प्रत्येक क्षण नवीन जलराशि प्राप्त करती है। इस समस्त जलराशि का योग नदी है। किन्तु नदी एक स्थिर राशि नहीं है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तित हो रही है, किन्तु आत्मा नहीं बदलती। अतः चूँकि प्रकृति सदैव परिवर्तित हो रही है, आत्मा का उसके बंधन से मुक्त होना सम्भव है।

जिस योजना के अनुसार विश्व का एक अंश बना हुआ है, उसीके आधार पर सम्पूर्ण विश्व निर्मित है। अतः जिस प्रकार हमारा मन है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड का भी एक मन है। जो बात पिण्ड में है, वही बात ब्रह्माण्ड में भी है। ब्रह्माण्ड का स्थूल शरीर है और उसके पीछे उसका सूक्ष्म शरीर है, उसके भी पीछे ब्रह्माण्ड का अहंकार और उसके बाद उसका महत्तत्त्व। यह सब कुछ प्रकृति में ही है, प्रकृति की अभिव्यक्ति है, उसके बाहर नहीं।

हम अपने माता-पिता से अपना स्थूल शरीर तथा चेतना प्राप्त करते हैं। कठोर आनुवंशिकता का कहना है कि हमारा शरीर हमारे माता-पिता के शरीर का एक अंश है तथा हमारी चेतना और अहंकार के उपकरण हमारे माता-पिता

का एक अंश हैं। हम अपने माता-पिता से प्राप्त अंश में ब्रह्माण्ड की चेतना से प्राप्त किये हुए अंश को जोड़ सकते हैं। महत्तत्त्व (ज्ञान) का एक अनन्त भण्डार है, जिसमें से हम अपनी आवश्यकतानुसार ग्रहण कर सकते हैं। ब्रह्माण्ड में मानसिक शक्ति का अक्षय भंडार है, जिसमें से हम निरन्तर ग्रहण कर रहे हैं। किन्तु माता-पिता से उस वीज का प्राप्त करना अनिवार्य है। हमारा सिद्धान्त आनुवंशिकता और पुनर्जन्म, दोनों का योग है। आनुवंशिकता से नियम के अनुसार पुनर्जन्म ग्रहण करनेवाली आत्मा माता-पिता से उन उपकरणों को प्राप्त करती है, जिनसे वह मनुष्य की रचना करती है।

कुछ यूरोपीय विद्वानों का कथन है कि यह संसार इसलिए है, क्योंकि मैं हूँ और यदि मैं न होऊँ, तो यह संसार भी न हो। कभी कभी इसी बात को इस प्रकार कहा जाता है : यदि संसार के सभी लोग मर जायँ और मनुष्य शेष न रहें तथा अनुभूति और बुद्धि से समन्वित कोई जीव न रहे, तो यह समस्त अभिव्यक्ति समाप्त हो जायगी। किन्तु ये यूरोपीय दार्शनिक इस (संसार) के मनोविज्ञान को नहीं जानते, यद्यपि वे इसके सिद्धान्त से परिचित हैं। आधुनिक दर्शनशास्त्र को केवल इसकी झलक भर प्राप्त है। यदि सांख्य दृष्टिकोण से देखें, तो इसे समझना सरल हो जाता है। सांख्य मतानुसार किसी वस्तु की सत्ता तव तक सम्भव नहीं है, जव तक हमारे मन के एक अंश से उसके उपकरणों का निर्माण नहीं होता। मुझे इस मेज़ के वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं होता। इसकी एक झलक मेरी आँखों पर, उससे होकर इन्द्रिय पर और फिर मन पर पड़ती है और मन प्रतिक्रिया करता है और जो कुछ प्रतिक्रिया होती है, उसे मैं मेज़ कहता हूँ। ठीक यही वात झील में पत्थर फेंकने में है। झील पत्थर की ओर एक लहर फेंकती है और इस लहर को ही हम जानते हैं। जो कुछ वाह्य है, उसे कोई नहीं जानता। जव हम उसे जानने की चेष्टा करते हैं, तव वह वही वस्तु वन जाता है, जो हम उसे प्रदान करते हैं। मैंने स्वयं अपने मन द्वारा ही अपनी आँखों के लिए उपकरण जुटा लिये हैं। वाहर कुछ वस्तु है, परन्तु वह केवल अवसर है, संकेत मात्र है। मैं उस संकेत के प्रति अपने मन का प्रक्षेपण करता हूँ और वह मन उसी वस्तु का रूप ले लेता है, जो मैं देखता हूँ। हम सव लोग एक ही वस्तु कैसे देखते हैं? क्योंकि हम लोगों के पास ब्रह्माण्ड के मन के अनुरूप अंश हैं। जिनके एक जैसे मन हैं, वे वस्तुओं को एक जैसी देखते हैं और जिनके मन एक जैसे नहीं हैं, वे वस्तुओं को एक जैसी नहीं देखते।

सांख्य दर्शन का एक अध्ययन

सांख्य दार्शनिकों ने प्रकृति को अव्यक्त कहा है और उसकी परिभाषा उसके अन्तर्गत समस्त उपादानों की साम्यावस्था के रूप में की है। इससे स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण साम्यावस्था में किसी प्रकार की गति नहीं हो सकती। आद्य अवस्था में, किसी अभिव्यक्ति के पूर्व जब कि कोई गति नहीं थी, अपितु पूर्ण साम्यावस्था थी, यह प्रकृति अविनाशी थी, क्योंकि विघटन अथवा विनाश अस्थिरता अथवा परिवर्तन से ही होता है। सांख्य का यह भी मत है कि परमाणु आदिम अवस्था के रूप नहीं हैं। इस जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से नहीं होती: वे दूसरी या तीसरी अवस्था हो सकते हैं। सम्भव है कि आद्यतन पदार्थ परमाणुओं का रूप धारण कर स्थूलतर होता हुआ विशालतर वस्तुओं में परिणत हो जाता है। जहाँ तक आधुनिक अनुसन्धानों का सम्बन्ध है, वे यथार्थतः इसी निष्कर्ष का संकेत करते हैं। उदाहरणार्थ आकाश (ether) के सम्बन्ध में आधुनिक सिद्धान्त को लें। यदि तुम कहो कि आकाश या ईथर आणविक हैं, तो कोई बात हल नहीं होती। इस बात को और स्पष्ट करने के लिए मान लो कि वायु परमाणुओं से निर्मित है। हम जानते हैं कि आकाश सर्वत्र, ओतप्रोत और सर्वव्यापी है और वायु के ये परमाणु मानो आकाश में सन्तरण कर रहे हैं। यदि आकाश भी परमाणुओं का बना हुआ है, तो आकाश के प्रत्येक दो परमाणुओं के बीच देश (रिक्त स्थान) होगा। इन रिक्त स्थानों की कौन पूर्ति करता है? यदि तुम यह मान लो कि कोई अन्य सूक्ष्मतर आकाश है, जो यह कार्य करता है, तो उस सूक्ष्मतर आकाश के परमाणुओं के बीच रिक्त स्थान होंगे, जिनकी पूर्ति होनी चाहिए। इस प्रकार सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम आकाश की कल्पना करते करते हम किसी अन्तिम निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकेंगे। इसीको सांख्य दार्शनिक अनवस्था दोष कहते हैं। अतएव परमाणुवाद चरम सिद्धान्त नहीं हो सकता। सांख्य के अनुसार प्रकृति सर्वव्यापी है। वह एक सर्वव्यापी जड़-राशिस्वरूप है, जिसमें इस जगत् की समस्त वस्तुओं के कारण विद्यमान हैं। कारण का क्या तात्पर्य है? कारण व्यक्त अवस्था की सूक्ष्म दशा है—उस वस्तु की अनभिव्यक्त अवस्था, जो अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। विनाश का तुम क्या अर्थ लगाते हो? कारण में प्रत्यावर्तन का नाम विनाश है। यदि तुम्हारे पास मिट्टी का कोई बरतन है और तुम उस पर आघात करो, तो वह

विनष्ट हो जायगा। इसका तात्पर्य यह है कि कार्य का उसके मूल स्वरूप में प्रत्यावर्तन हो जाता है, जिन उपादानों से बरतन बना था, वे अपने मूल रूप में लौट जाते हैं। विनाश का इस भाव से परे यदि कोई अन्य भाव, उन्मूलन आदि का लिया जाता है, तो वह स्पष्टतः असंगत है। आधुनिक भौतिक विज्ञान के अनुसार यह, जिसे कपिल ने युगों पूर्व कहा था, प्रदर्शित किया जा सकता है कि समस्त विनाश कारण में प्रत्यावर्तन मात्र हैं। विनाश का तात्पर्य सूक्ष्मतर अवस्था में प्रत्यावर्तन ही है, और कुछ नहीं। तुम जानते हो कि एक प्रयोगशाला में यह कैसे प्रदर्शित किया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ अविनाशी है। हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति में यदि कोई मनुष्य यह कहता है कि भौतिक पदार्थ अथवा इस आत्मा का उन्मूलन हो जाता है, तो वह अपने को मात्र हास्यास्पद बनाता है। केवल अशिक्षित, मूर्ख लोग ही ऐसी प्रस्थापना प्रस्तुत कर सकते हैं। यह विचित्र बात है कि आधुनिक ज्ञान का पुराने दार्शनिकों की शिक्षा से साम्य है। ऐसा ही होना चाहिए, सत्यता का यही प्रमाण है। मन को आधार मानकर वे अपने अनुसन्धान में अग्रसर हुए, उन्होंने इस विश्व के मानसिक अंश का विश्लेपण किया और कतिपय निष्कर्षों पर पहुँचे, जिन्हें हम भी भौतिक अंश का विश्लेपण करके प्राप्त करेंगे; क्योंकि उन दोनों का एक ही केन्द्र की ओर जाना निश्चित है।

तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्माण्ड में इस प्रकृति की प्रथम अभिव्यक्ति सांख्य के शब्दों में 'महत्' है। हम इससे बुद्धि कह सकते हैं। प्रकृति में जो प्रथम परिवर्तन हुआ, उससे बुद्धि की उत्पत्ति हुई। मैं इसका आत्मचेतना के रूप में अनुवाद नहीं करूँगा, क्योंकि वह ग़लत होगा। चेतना इस बुद्धि का एक अंश मात्र है। महत् सर्वव्यापी है। अवचेतन, चेतन और अतिचेतन सब इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतएव इस महत् के लिए प्रयुक्त चेतना की कोई भी अवस्था पर्याप्त न होगी। उदाहरणार्थ प्रकृति में तुम अपनी आँखों के सामने कुछ परिवर्तन होते पाते हो, जिन्हें तुम देखते और समझते हो; किन्तु कुछ और परिवर्तन होते रहते हैं, जो इतने सूक्ष्म होते हैं कि कोई मानव प्रत्यक्षतः उनको पकड़ नहीं सकता! वे एक ही कारण से उद्भूत होते हैं; वही महत् इन समस्त परिवर्तनों का जनक है। महत् से सर्वव्यापी अहं-तत्त्व की उत्पत्ति हुई है। ये सब द्रव्य हैं। जड़-तत्त्व और मन में परिमाणगत भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है। सूक्ष्म एवं स्थूल स्वरूप में एक ही पदार्थ होता है, एक दूसरे में बदल जाता है; और इसका आधुनिक शरीरविज्ञान के निष्कर्षों से पूर्ण साम्य है। इस शिक्षा में विश्वास करने से कि मन मस्तिष्क से पृथक् नहीं है, तुम बहुत से द्वन्द्व और संघर्षों से बच जाओगे। अहं-तत्त्व दो रूपों में परिवर्तित हो जाता है। इसका एक रूप इन्द्रियों में परिवर्तित हो

जाता है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं : संवेदना की इन्द्रियाँ और प्रतिक्रिया करनेवाली इन्द्रियाँ। ये आँख और कान नहीं हैं, वल्कि इनके पृष्ठ भाग हैं, जिन्हें मस्तिष्क-केन्द्र और स्नायु-केन्द्र आदि कहा जाता है। यह अहं-तत्त्व, यह पदार्थ या द्रव्य परिवर्तित हो जाता है और इस पदार्थ से ये केन्द्र निर्मित होते हैं। इसी द्रव्य से अन्य प्रकारों—तन्मात्राओं, पदार्थ के सूक्ष्म कणों का निर्माण होता है, जो प्रत्यक्ष करनेवाली हमारी इन्द्रियों पर आघात करते हैं और संवेदना उत्पन्न होती है। तुम उन्हें देख नहीं सकते, मात्र जानते हो कि वे हैं। तन्मात्राओं से स्थूल पदार्थ—क्षिति, जल तथा उन सव वस्तुओं का, जिन्हें हम देखते और अनुभव करते हैं, निर्माण होता है। यह मैं तुम्हारे मन में वैठाना चाहता हूँ। इसे समझना वहुत कठिन है, क्योंकि पश्चिमी देशों में मन एवं पदार्थ के विषय में विचार वहुत ही विचित्र हैं। उन प्रभावों को अपने मस्तिष्क से दूर करना कठिन है। पाश्चात्य दर्शन में अपने बाल्य काल में प्रशिक्षित होने से मुझे स्वयं को वड़ी कठिनाई हुई थी। ये सव ब्रह्माण्ड सम्वन्धी वातें हैं। पदार्थ के इस सर्वव्यापी विस्तार, अखण्ड एक द्रव्य, अविभक्त की कल्पना करो, जो प्रत्येक वस्तु की प्रथम अवस्था है और उसी प्रकार परिवर्तित होने लगता है, जिस प्रकार दूध परिवर्तित होकर दही वन जाता है। इस प्रथम परिवर्तन को महत् कहा जाता है। महत् पदार्थ स्थूल-तर पदार्थ में, जिसे अहं-तत्त्व कहते हैं, परिवर्तित हो जाता है। तीसरा परिवर्तन सार्वभौम संवेदक इन्द्रियों तथा सार्वभौम तन्मात्राओं के रूप में अभिव्यक्त होता है और ये अन्तिम वस्तुएँ पुनः संयुक्त होकर इस स्थूल जगत् में, जिसे हम अपनी आँख, नाक तथा कान से देखते, सूँघते और सुनते हैं, परिणत हो जाती हैं। सांख्य के अनुसार ब्रह्माण्ड का यही विधान है और जो ब्रह्माण्ड में है, वह अवश्य पिण्ड में भी होगा। किसी एक व्यक्ति को लो। उसमें प्रथमतः अविभक्त प्रकृति का एक अंश है और उसके अन्दर की यह पदार्थगत प्रकृति इस महत् में—इस सार्व-भौम वुद्धि के एक लघु कण में परिवर्तित हो जाती है, और उसमें निहित सार्वभौम वुद्धि का यह कण अहं-तत्त्व में, और फिर संवेदक इन्द्रियों तथा सूक्ष्म तन्मात्राओं में परिवर्तित हो जाता है, जो उसके शरीर का संयोजन एवं निर्माण करते हैं। मैं चाहता हूँ कि यह वात स्पष्ट हो जाय, क्योंकि सांख्य दर्शन समझने की यह पहली सीढ़ी है। इसे समझना तुम्हारे लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यह समस्त विश्व के दर्शन का आधार है। विश्व में कोई भी ऐसा दर्शन नहीं है, जो कपिल का ऋणी न हो। पाइथागोरस भारत आये और उन्होंने इस दर्शन का अध्ययन किया और वही ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारों का समारम्भ था। वाद में इससे 'अलेक्ज़ेन्ड्रियन' और उससे भी वाद में 'नॉस्टिक' दर्शन-शाखा का जन्म

हुआ। यह दो भागों में विभाजित हो गया; एक भाग यूरोप तथा अलेक्ज़ेन्ड्रिया चला गया और दूसरा भाग भारत में ही रहा; इससे व्यास की दर्शन-पद्धति का विकास हुआ। कपिल का सांख्य दर्शन ही विश्व का सर्वप्रथम ऐसा दर्शन है, जिसने युक्ति-युक्त पद्धति से जगत् के सम्बन्ध में विचार किया है, विश्व के प्रत्येक तत्त्ववादी को उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करनी चाहिए। मैं तुम्हारे मन में यह भाव उत्पन्न करना चाहता हूँ कि दर्शन शास्त्र के पितामह के रूप में उनकी बातें सुनने के लिए हम बाध्य हैं। इस अद्‌भुत् व्यक्ति, इस अत्यंत प्राचीन दार्शनिक का श्रुति में भी उल्लेख है : 'हे भगवान्, आपने (सृष्टि के) प्रारम्भ में कपिल मुनि को उत्पन्न किया।' उनके प्रत्यक्ष-ज्ञान कितने आश्चर्यजनक थे, और यदि योगियों की प्रत्यक्ष-बोध सम्बन्धी असाधारण शक्ति का कोई प्रमाण चाहिए, तो ऐसे व्यक्ति उसके प्रमाण हैं। उनके पास कोई अणुवीक्षण अथवा दूरवीक्षण यंत्र नहीं था। तथापि उनका प्रत्यक्ष-बोध कितना उत्कृष्ट था, उनका वस्तुओं का विश्लेषण कितना पूर्ण एवं अद्‌भुत् है!

इस स्थल पर मैं शापेनहॉवर तथा भारतीय दर्शन के अन्तर का संकेत करूँगा। शापेनहॉवर का कथन है कि इच्छा अथवा संकल्प सब चीज़ का कारण है। 'होने' (अस्तित्व) की इच्छा से ही हमारी अभिव्यक्ति होती है, किन्तु हम इससे इन्कार करते हैं। इच्छा और प्रेरक-नाड़ी एकरूप हैं। जब हम कोई वस्तु देखते हैं, तो इसमें इच्छा की कोई बात नहीं होती; जब इसकी संवेदनाएँ मस्तिष्क के पास पहुँचती हैं, तब प्रतिक्रिया उपस्थित होती है, जो कहती है, 'यह करो', अथवा 'यह न करो', अहं-तत्त्व की इस अवस्था को ही इच्छा कहते हैं। इच्छा का एक भी कण ऐसा नहीं है, जो प्रतिक्रिया का प्रतिफल न हो। अतएव इच्छा के पूर्व बहुत सी बातें होती हैं। यह इच्छा अहं-तत्त्व से मात्र निर्मित कोई चीज़ है, और अहं-तत्त्व का सृजन कुछ और ऊँची वस्तु—बुद्धि से होता है और वह (बुद्धि) भी अविभक्त प्रकृति का परिणाम है। यह बौद्धों का विचार था कि हम जो कुछ भी देखते हैं, वह 'इच्छा' ही है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिल्कुल गलत है; क्योंकि इच्छा केवल प्रेरक-नाड़ियों में ही पायी जा सकती है। यदि तुम प्रेरक-नाड़ियों को निकाल दो, तो मनुष्य में किसी प्रकार की इच्छा नहीं रह जाती। जैसा कि सम्भवत: तुमको भली भाँति मालूम है, यह तथ्य निम्न श्रेणी के पशुओं पर अनेक प्रयोग करने के उपरान्त ज्ञात हुआ है।

हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे। मनुष्य में महत्—महान् तत्त्व—बुद्धि सम्बन्धी बात को समझना बहुत आवश्यक है। यह बुद्धि भी एक वस्तु में परिवर्तित हो जाती है, जिसे अहं-तत्त्व कहते हैं और बुद्धि शरीर की समस्त शक्तियों

का कारण है। इसके अन्तर्गत अवचेतन, चेतन एवं अतिचेतन सब आ जाते हैं। ये तीन अवस्थाएँ कौन सी हैं? अवचेतन की अवस्था हम पशुओं में पाते हैं, जिसे जन्मजात-प्रवृत्ति कहते हैं। इसमें प्रायः भूल नहीं होती, किन्तु यह बहुत सीमित होती है। जन्मजात-प्रवृत्ति कभी ही चूकती है।

पशु खाद्य एवं विषाक्त वनस्पति में सहज ही विभेद कर लेता है; परन्तु उसकी जन्मजात-प्रवृत्ति बहुत सीमित होती है, जैसे ही कोई नयी वस्तु आ जाती है, वह कुछ नहीं समझ पाता। वह यंत्रवत् कार्य करता है। इसके बाद ज्ञान की उच्च अवस्था आती है, जिसमें भूल और बहुधा ग़लतियाँ होती हैं, किन्तु इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत है, यद्यपि यह मन्द है। इसे हम तर्क या बुद्धि की संज्ञा देते हैं। जन्मजात-प्रवृत्ति से यह बहुत विस्तृत है, किन्तु जन्मजात-प्रवृत्ति बुद्धि की अपेक्षा अधिक असंदिग्ध होती है, जन्मजात-प्रवृत्ति की अपेक्षा बुद्धि में अधिक ग़लतियाँ होने की सम्भावना होती है। मन की इससे भी ऊँची एक अवस्था है—अतिचेतन, जो केवल योगियों में होती है, जिन्होंने उसका विकास किया है। यह अमोघ है और बुद्धि की अपेक्षा इसका क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है। यह उच्चतम अवस्था है। अतएव हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह महत् ही उन सबका वास्तविक कारण है, जो कुछ यहाँ है; यानी वह महत् जो अपने को विभिन्न प्रकार से व्यक्त करता है, जिसके अन्तर्गत अवचेतन, चेतन एवं अतिचेतन, तीन अवस्थाएँ हैं, जिनमें ज्ञान का वास है।

अब एक सूक्ष्म प्रश्न उठता है, जो हमेशा पूछा जाया करता है। यदि एक पूर्ण ईश्वर ने विश्व की सृष्टि की है, तो इसमें अपूर्णता क्यों है? जिसे हम विश्व कहते हैं, वह वही है, जो हम देखते हैं और वह है चेतना एवं विवेक का यह लघु स्तर, जिसके परे हम बिल्कुल नहीं देखते। अब हम देखते हैं कि यह प्रश्न ही एक असम्भव प्रश्न है। यदि हम किसी बृहत् राशि के एक छोटे से भाग को लें और उसकी ओर दृष्टिपात करें, तो वह असंगत प्रतीत होता है। यह स्वाभाविक ही है। विश्व अपूर्ण है, क्योंकि हम उसे वैसा बना लेते हैं। कैसे? बुद्धि क्या है? ज्ञान क्या है? ज्ञान का अर्थ है, वस्तुओं की साहचर्य-प्राप्ति। तुम सड़क पर जाते हो, एवं एक मनुष्य को देखते हो, और कहते हो कि मैं जानता हूँ कि यह मनुष्य है; क्योंकि तुमको अपने मन पर पड़े संस्कारों, चित्त पर अंकित चिह्नों का स्मरण हो आता है। तुमने बहुत से मनुष्यों को देखा है और प्रत्येक ने तुम्हारे मन पर एक संस्कार डाला है और तुम जैसे ही इस मनुष्य को देखते हो, इसे अपने ज्ञान-भाण्डार से सम्बद्ध करते हो, और वहाँ पर तुमको इसी प्रकार के बहुत से चित्र दिखायी पड़ते हैं; एवं जब तुम उन्हें देख लेते हो, तो सन्तुष्ट हो जाते हो और उनके साथ इस नये चित्र को भी

रख देते हो। जब कोई नया संस्कार पड़ता है और उसका तुम्हारे मन में साहचर्य होता है, तो तुम सन्तुष्ट हो जाते हो। साहचर्य की इस अवस्था को ज्ञान कहते हैं। अतएव ज्ञान पहले से विद्यमान अनुभव के कोष में किसी अनुभव को उसी प्रकार रखता है, जिस प्रकार कबूतर दरबे में रखे जाते हैं, और इस तथ्य का कि तुमको उस समय तक कोई ज्ञान नहीं हो सकता, जब तक कि तुम्हारे पास ज्ञान का पहले से कोई कोष न हो, यह एक सबसे बड़ा प्रमाण है। यदि तुम अनुभवविहीन हो, जैसा कि कुछ यूरोपीय दार्शनिकों का विचार है, जैसा कि तुम्हारा मन समारम्भ के लिए एक 'अनुत्कीर्ण फलक' (tabula rasa) की भाँति है, तो तुमको कोई ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि ज्ञान का वस्तुतः अर्थ मन में पहले से विद्यमान साहचर्यों द्वारा नूतन की प्रत्यभिज्ञा मात्र है। अपने पास ज्ञान का एक भाण्डार होना चाहिए, जिससे किसी नये संस्कार को सम्बद्ध किया जा सके। मान लो कि एक शिशु बिना ऐसे कोष के इस विश्व में जन्म लेता है, तो उसके लिए कभी भी कोई ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो जायगा। अतएव, शिशु पहले एक ऐसी अवस्था में अवश्य रहा होगा, जब कि उसके पास कोई ज्ञान-कोष था, इस प्रकार ज्ञान की शाश्वत रूप से वृद्धि हो रही है। इस तर्क से मुक्ति का हमें कोई मार्ग बताओ। यह एक गणितीय तथ्य है। पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के भी कुछ दार्शनिकों का मत है कि बिना विगत ज्ञान-कोष के कोई ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। उन्होंने यह धारणा बनायी है कि शिशु को जन्म से ही ज्ञान होता है। इन पाश्चात्य दार्शनिकों का कहना है कि जिन संस्कारों के साथ शिशु विश्व में जन्म लेता है, उसके विगत जीवन के कारण नहीं होते, अपितु उसके पूर्वजों के अनुभव के फलस्वरूप होते हैं। यह मात्र आनुवंशिक संक्रमणवाद है। शीघ्र ही उन्हें पता चलेगा कि यह विचार बिल्कुल ग़लत है; कुछ जर्मन दार्शनिक आनुवंशिकता सम्बन्धी इन विचारों पर अब कठिन प्रहार कर रह हैं। आनुवंशिकता का सिद्धान्त बहुत अच्छा है, किन्तु अपूर्ण है, यह केवल शारीरिक पक्ष पर प्रकाश डालता है। परिवेश का हम पर जो प्रभाव पड़ रहा है, उसकी तुम कैसे व्याख्या करोगे? अनेक कारण मिलकर एक कार्य का प्रादुर्भाव करते हैं। परिवेश रूपान्तरकारी कार्यों में से एक है। जिस प्रकार हमारा अतीत होता है; वैसा ही हम अपना परिवेश स्वयं निर्माण कर लेते हैं और इस प्रकार हमारा वर्तमान परिवेश हमको प्राप्त होता है। इसीलिए एक शराबी शहर की गन्दी बस्तियों की ओर स्वभावतः आकृष्ट हो जाता है।

तुम जानते हो कि ज्ञान का क्या तात्पर्य है। ज्ञान पुराने संस्कारों के साथ किसी नवीन संस्कार को दरबे में कबूतर रखने के सदृश है—नूतन संस्कार की प्रत्यभिज्ञा मात्र है। प्रत्यभिज्ञा का क्या अर्थ है? किसी व्यक्ति के पास पहले से

जो संस्कार हैं, उनके तुल्य संस्कारों की साहचर्य-प्राप्ति प्रत्यभिज्ञा कहलाती है। ज्ञान का और कोई दूसरा अर्थ नहीं है। यदि यह बात है कि ज्ञान का तात्पर्य साहचर्य-प्राप्ति है, तो इसका अर्थ यह होगा कि किसी चीज़ को जानने के लिए हमको उसके सादृश्यों के सम्पूर्ण अनुक्रम को देखना होगा। क्या ऐसी बात नहीं है? मान लो, तुम एक कंकड़ लेते हो, साहचर्य ज्ञात करने के लिए उसीके सदृश कंकड़ के सम्पूर्ण अनुक्रम को तुमको देखना पड़ेगा। किन्तु समग्र रूप से विश्व के प्रत्यक्ष-बोध के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि कबूतर के दरबे के सदृश हमारे मन में प्रत्यक्ष-बोध का मात्र एक ही 'आलेख' है, हमारे पास उसी प्रकृति अथवा वर्ग का कोई अन्य प्रत्यक्ष-बोध नहीं है, हम उसकी किसी अन्य प्रत्यक्ष-बोध से तुलना नहीं कर सकते। हम उसको उसके साहचर्यों से सम्बद्ध नहीं कर सकते। हमारी चेतना से पृथक् विश्व का यह टुकड़ा हमारे लिए विस्मयकारी नूतन पदार्थ है; क्योंकि हम इसके साहचर्यों को नहीं पा सके। अतएव हम इससे संघर्ष कर रहे हैं और इसे भयावह, दुष्ट तथा बुरा समझते हैं; हम किसी समय इसे अच्छा भी समझ सकते हैं, किन्तु हमारा सदैव यह विचार रहता है कि यह अपूर्ण है। विश्व तभी जाना जा सकता है, जब कि हम इसके साहचर्यों को पा सकें। इसकी प्रत्यभिज्ञा हमें तभी हो सकेगी, जब हम विश्व एवं चेतना के परे चले जायँगे और तब विश्व हमें स्वतः व्याख्यात हो जायगा। जब तक कि हम यह नहीं कर पाते, हमारी सारी माथापच्ची विश्व की कभी व्याख्या नहीं कर सकती, क्योंकि ज्ञान सादृश्य की प्राप्ति है, और यह साधारण चेतन-स्तर इसका हमें मात्र एक ही प्रत्यक्ष-बोध प्रदान करता है। यही बात ईश्वर के प्रति हमारी भावना के सम्बन्ध में है। ईश्वर का हमको जो सब कुछ दिखायी पड़ता है, वह अंश मात्र है, उसी प्रकार जिस प्रकार हम विश्व का केवल एक अंश देखते हैं और शेष मानव-बोध के परे है। 'मैं सर्वव्यापक हूँ। मैं इतना महान् हूँ कि यह विश्व तक मेरा एक अंश मात्र है।'[१] यही कारण है कि ईश्वर हमें अपूर्ण दिखायी पड़ता है, और हम 'उसे' समझ नहीं पाते। 'उसे' तथा विश्व को समझने का एकमात्र उपाय यह है कि हम बुद्धि एवं चेतना के परे चले जायें। 'जब श्रुत और श्रवण, विचार तथा चिन्तन, इन सबके परे जाओगे, तभी सत्य-लाभ करोगे।'[२] 'शास्त्र की सीमा के बाहर चले जाओ; क्योंकि वे केवल प्रकृति और तीन गुणों तक की ही शिक्षा देते हैं।'[३]

---

१. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।। गीता ।।१०।४२।।
२. तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। गीता ।।२।५२।।
३. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।। गीता ।।२।४५।।

जब हम इनके परे जाते हैं, तब हमें सामंजस्य की प्राप्ति होती है, इसके पूर्व नहीं।

सूक्ष्म ब्रह्माण्ड तथा बृहत् ब्रह्माण्ड की रचना का विधान एक ही है, और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में हम केवल एक अंश—मध्य भाग—को ही जानते हैं। हम न अवचेतन को जानते हैं, न अतिचेतन को। हम केवल चेतन को ही जानते हैं। यदि कोई व्यक्ति कहता है, "मैं पापी हूँ", तो वह मिथ्या कथन करता है; क्योंकि वह अपने को नहीं जानता। वह मनुष्यों में अत्यन्त अज्ञ है; अपने विषय में वह अंश मात्र जानता है; क्योंकि वह जिस भूमि पर है, उसका ज्ञान उसके केवल एक भाग को स्पर्श करता है। यही बात इस विश्व के सम्बन्ध में है, बुद्धि द्वारा इसके केवल एक अंश को जानना सम्भव है, सम्पूर्ण को नहीं; क्योंकि विश्व का निर्माण अवचेतन, चेतन, अतिचेतन, व्यक्तिगत महत्, सार्वभौम महत् तथा परवर्ती परिणामों से होता है।

प्रकृति परिवर्तित क्यों होती है? अब तक हमने देखा कि प्रत्येक वस्तु, समस्त प्रकृति जड़, अचेतन है। यह सब यौगिक एवं अचेतन है। जहाँ भी नियम है, यह सिद्ध है कि उसका कार्यक्षेत्र अचेतन है। मन, बुद्धि, इच्छा और अन्य सभी अचेतन है। किन्तु ये सब किसी चेतना का, किसी ऐसे सत् पदार्थ के चित् का प्रतिबिंबन कर रहे हैं, जो इन सबसे परे है, जिसे सांख्य दार्शनिक 'पुरुष' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। पुरुष विश्व के सम्पूर्ण परिवर्तनों का साक्षिस्वरूप कारण है। इसका अभिप्राय है कि सार्वभौमिक अर्थ में पुरुष को ग्रहण करने पर वह विश्व का प्रभु है। यह कहा जाता है कि ईश्वर की इच्छा ने विश्व की सृष्टि की। सामान्य भाषा में ऐसा कहना ठीक है, परन्तु हम देखते हैं कि यह बात सत्य नहीं है। इच्छा कारण कैसे बन सकती है? प्रकृति में इच्छा तीसरी या चौथी अभिव्यक्ति है। बहुत से तत्त्वों का अस्तित्व इसके पूर्व है, उनका सर्जन किसने किया? इच्छा एक यौगिक तत्त्व है, और प्रत्येक यौगिक पदार्थ की उत्पत्ति प्रकृति से होती है। अतएव इच्छा प्रकृति की सृष्टि नहीं कर सकती। अतः यह कहना कि ईश्वर की इच्छा से विश्व की सृष्टि हुई, अर्थहीन है। हमारी इच्छा अहंज्ञान के किंचित् अंश को आच्छादित करती है, और हमारे मस्तिष्क को परिचालित करती है। इच्छा वह तत्त्व नहीं है, जिससे हमारा शरीर या विश्व परिचालित हो रहा है। हमारा शरीर जिस शक्ति द्वारा गतिशील होता है, इच्छा उसकी आंशिक अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार विश्व में इच्छा का अस्तित्व है; किन्तु वह विश्व का एक अंश मात्र है। सम्पूर्ण विश्व इच्छा द्वारा नहीं संचालित हो रहा है, यही कारण है हम इसकी व्याख्या 'इच्छा-सिद्धान्त' द्वारा नहीं कर सकते। मान लो कि मैं यह सही मानता हूँ कि इच्छा-शक्ति ही शरीर का परिचालन कर रही है, लेकिन जब मैं यह पाता हूँ कि यह मेरी

इच्छानुसार कार्य नहीं करता, तो मुझे झुंझलाहट होती है। इसी प्रकार जब मैं यह मानता हूँ कि विश्व का नियमन इच्छा-शक्ति ही कर रही है और कुछ ऐसी वस्तुओं को पाता हूँ, जो इसका अनुगमन नहीं करती हैं, तो इसमें मेरा ही दोष है। अतएव पुरुष इच्छा नहीं है, और न तो यह वुद्धि ही हो सकता है; क्योंकि स्वयं वुद्धि भी एक यौगिक पदार्थ है। मस्तिष्क के समानान्तर किसी जड़ पदार्थ के अस्तित्व के विना वुद्धि का कोई अस्तित्व सम्भव नहीं है। जहाँ कहीं भी बुद्धि है, वहाँ मस्तिष्क के सदृश कोई पदार्थ अवश्य ही होगा, जो एक विशिष्ट रूप में गठित होकर मस्तिष्क का कार्य करता है। किन्तु स्वयं वुद्धि एक यौगिक तत्त्व है। तो फिर यह पुरुष क्या है? यह न तो वुद्धि है और न इच्छा ही, बल्कि यह इन सबका कारण है। उसके ही सान्निध्य में इनमें क्रिया उत्पन्न होती है एवं इन सबका परस्पर संयोग होता है। यह प्रकृति से अनासक्त रहता है; यह वुद्धि या महत् नहीं, वल्कि आत्मा—निर्गुण पुरुष है। 'मैं साक्षी हूँ, और मेरे साक्षिस्वरूप होने के कारण ही प्रकृति जड़, चेतन सवको उत्पन्न कर रही है।'[1]

प्रकृति में चेतनता कहाँ से आयी? हम पाते हैं कि यह चेतनता वुद्धि है, जिसे चित् कहा जाता है। चेतनत्व का आधार पुरुष है, पुरुष का यह स्वभाव है। यह वह तत्त्व है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती; लेकिन जिसे हम ज्ञान कहते हैं, उसका वह कारण है। पुरुष अहंकार नहीं है, क्योंकि अहंकार यौगिक है, किन्तु अहंकार में जो कुछ भी शुभ या प्रकाशस्वरूप है, वह पुरुष का अंश है। पुरुष वुद्धि नहीं है, लेकिन बुद्धि में जितना भी प्रकाश है, वह उसे पुरुष से ही ग्रहण करती है। पुरुष में चेतनता तो है, किन्तु पुरुष न तो बुद्धिमान ही है, न ज्ञानवान ही। अपने चारों ओर हम जो कुछ देख रहे हैं, वह प्रकृति एवं पुरुष में निहित चित् का मिश्रण है। विश्व में जो भी सुख, आनन्द एवं प्रकाश है, वह पुरुष का ही है; यह सब कुछ यौगिक है, क्योंकि यह प्रकृति एवं पुरुष का मिश्रण है। 'जहाँ भी कोई सुख है, जहाँ भी कोई आनन्द है, वहाँ उस अमृत-तत्त्व की ही चिनगारी है, जिसे ईश्वर कहते हैं।'[2] 'पुरुष ही विश्व का आकर्षण-केन्द्र है; यद्यपि यह उससे असंस्पृष्ट एवं अनासक्त है, तथापि यह समग्र विश्व को आकृष्ट करता है।' मनुष्य को स्वर्ण के पीछे दौड़ लगाते देखा जाता है, क्योंकि इसके पीछे पुरुष की चिनगारी है, यद्यपि अधिक मात्रा में यह मल से युक्त है। जब कोई मनुष्य अपने बच्चों से प्यार करता

---

१. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥गीता ॥९।१०॥
२. एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।
—बृहदारण्यकोपनिषद्॥४।३।३२॥

है, या कोई स्त्री अपने पति से प्यार करती है, तो उनको आकृष्ट करनेवाली कौन सी शक्ति होती है ? वह उनके पीछे पुरुष का एक स्फुलिंग ही है। यह वहाँ विद्यमान है, केवल वह 'मल' से आवेष्टित है। इसके सिवा कोई आकृष्ट नहीं कर सकता है। 'इस जड़ संसार में केवल पुरुष ही चैतन्य है।' यही सांख्य का पुरुष है। इस धारणा के अनुसार, पुरुष अवश्य ही सर्वव्यापी होगा। जो सर्वव्यापी नहीं है, वह निश्चित रूप से ससीम होगा। सभी सीमाएँ कारणोत्पन्न हैं; जो कार्यस्वरूप हैं, उनका आदि और अन्त है। यदि पुरुष ससीम है, तो यह विनाश को प्राप्त होगा, मुक्त नहीं होगा, चरम तत्त्व नहीं हो पायेगा, वल्कि यह भी कारणोत्पन्न हो जायगा। अतएव यह सर्वव्यापी है। कपिल के अनुसार पुरुष वहुसंख्यक हैं; एक नहीं, वल्कि अनन्तसंख्यक। मुझमें और तुममें एक एक पुरुष है, और इसी प्रकार सबमें अलग अलग पुरुष का निवास है; एक अनन्त वृत्तों की परम्परा, जो प्रत्येक अपने अपने में अनन्त है, विश्व में गतिमान है। पुरुष न तो जड़ है और न तो मन ही, इसके द्वारा प्रेषित प्रतिविम्व को ही हम जान पाते हैं। जब यह सर्वव्यापी है, तो यह निश्चित रूप से जन्म एवं मृत्यु से परे है। प्रकृति इस पर अपनी प्रतिच्छाया-जन्म एवं मृत्यु की प्रतिच्छाया—प्रक्षिप्त करती है; परन्तु यह पुरुष स्वभावतः शुद्ध है। यहाँ तक हम सांख्य दर्शन को अपूर्व पाते हैं।

अब हम इसके विरुद्ध दी गयी युक्तियों पर विचार करेंगे। यहाँ तक व्याख्या पूर्ण है, एवं मनोविज्ञान विवादरहित। संवेदना का इन्द्रियों एवं संवेदनावाहक यन्त्रों में विभक्त हो जाना इस वात का प्रमाण है कि वे अयौगिक नहीं, वल्कि यौगिक हैं। 'अहं' को इन्द्रिय एवं जड़, इन दो भागों में विभक्त कर हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि यह भी जड़ पदार्थ है और महत् भी जड़ पदार्थ की एक अवस्था है। इस प्रकार अन्त में हम 'पुरुष' की उपलब्धि करते हैं। यहाँ तक इस सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं। लेकिन यदि हम सांख्यवादियों से यह प्रश्न करें, "प्रकृति की सृष्टि किसने की ?" तो उनका उत्तर होगा कि पुरुष एवं प्रकृति अनादि एवं सर्वव्यापी हैं, और पुरुष की संख्या अनन्त है। हमें इन वाक्यों का विरोध करना है और एक श्रेष्ठ समाधान की उपलब्धि करनी है। इस रास्ते से हम अद्वैत मत की उपलब्धि करेंगे। हमारा प्रथम प्रतिवाद है, ये दो अनन्त तत्त्व कैसे रह सकते हैं ? और फिर हम यह युक्ति देंगे कि सांख्य एक सर्वांगपूर्ण सामान्यीकरण नहीं है, और इसमें हमें कोई समाधान नहीं प्राप्त होता है। पुनः हम देखेंगे कि वेदान्ती किस प्रकार इन कठिनाइयों को पार करते हैं और एक सर्वांगीण समाधान को प्राप्त करते हैं; तथापि सांख्य को ही समस्त गौरव प्राप्त है। जब एक प्रासाद का निर्माण हो जाता है तो उसका अन्तिम सौन्दर्य-प्रसाधन आसान हो जाता है।

सांख्य एवं वेदान्त

हम जिस सांख्य दर्शन पर विचार कर रहे थे, उसकी मोटी बातों का उल्लेख संक्षेप में यहाँ करेंगे। इस व्याख्यान में हम सांख्य दर्शन के दोष क्या हैं; और वेदान्त ने आकर किस प्रकार इन कमियों की पूर्ति की, यह दिखलाना चाहते हैं। तुमको स्मरण होगा, सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति ही विचार, बुद्धि, तर्क, राग, द्वेष, स्पर्श, रस और भूत द्रव्य, इन सब अभिव्यक्तियों का कारण है। सभी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। वह प्रकृति सत्त्व, रज और तम नामक तीन प्रकार के उपादानों से गठित है। ये तीनों गुण नहीं हैं, जगत् के उपादान हैं, जिनसे समग्र विश्व विकसित हुआ है। कल्प के प्रारम्भ में ये साम्यावस्था में रहते हैं। सृष्टि का आरम्भ होने पर ही ये उपादान परस्पर अनन्त प्रकार से संयुक्त होकर इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। इसका प्रथम विकास महत् (अर्थात् सर्वव्यापी बुद्धि) है और उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार को सांख्य एक तत्त्व मानता है, उससे मन अथवा सर्वव्यापी मनस्तत्त्व का उद्भव होता है। इस अहंकार से ही ज्ञान और कर्म के इंद्रिय तथा तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस आदि के सूक्ष्म परमाणुओं की उत्पत्ति होती है। इस अहंकार से ही सब सूक्ष्म परमाणुओं का उद्भव, और इन सूक्ष्म परमाणुओं से ही स्थूल परमाणुओं की उत्पत्ति होती है, जिसे हम जड़-तत्त्व कहते हैं। तन्मात्राओं का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, किंतु जब वे स्थूल परमाणु बन जाती हैं, तब हम उन्हें अनुभव और इन्द्रियगोचर कर सकते हैं।

बुद्धि, अहंकार और मन, इन तीन माध्यमों से कार्य करनेवाला चित्त, प्राण नामक शक्तियों की सृष्टि करके उन्हें परिचालित कर रहा है। यह प्राण ही केवल श्वास-प्रश्वास है, तुमको यह धारणा यहीं त्याग देनी उचित है। श्वास-प्रश्वास, प्राण का एक कार्य मात्र है। किन्तु यहाँ प्राण शब्द से उन नाड़ी-शक्तियों का बोध होता है, जो समस्त देह का शासन और परिचालन करती हैं एवं विचार तथा देह की विविध क्रियाओं के रूप में भी प्रकाशित हो रही हैं। श्वास-प्रश्वास की गति इस प्राणसमूह का प्रधान और प्रत्यक्षतम रूप है। प्राण ही वायु पर कार्य कर रहा है, वायु प्राण के ऊपर नहीं। श्वास-प्रश्वास की गति के नियमन को ही प्राणायाम कहते हैं। इस गति पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है; केवल श्वास-प्रश्वास का

नियमन अथवा फेफड़ों को सबल बनाना ही इसका उद्देश्य नहीं है। यह सिद्धान्त है, देलसार्ट का, प्राणायाम का नहीं। ये प्राण ही जीवन-शक्ति हैं, जो समस्त शरीर पर कार्य कर रहे हैं, और वे मन तथा अन्य शारीरिक अवयवों द्वारा परिचालित होते हैं। यहाँ तक ठीक है। मनोविज्ञान बहुत स्पष्ट और असंदिग्ध है, और साथ ही वह संसार की प्राचीनतम बुद्धिसंगत विचारधारा है। पाइथागोरस ने उसे भारत में अवगत कर उसकी शिक्षा यूनान में दी। आगे चलकर प्लेटो को उसकी झलक मिली, और भी आगे चलकर ज्ञानवादी नॉस्टिक्स (Gnostics) उसे सिकंदरिया ले गये, और वहाँ से यह विचारधारा यूरोप पहुँची। अतएव दर्शन और मनोविज्ञान के क्षेत्र में जहाँ कोई प्रयत्न होता है, तो उसके पिता के रूप में यही कपिल नामक व्यक्ति सिद्ध होते हैं। यहाँ तक हमने देखा कि यह मनोविज्ञान अत्यन्त अपूर्व है, किन्तु अब आगे बढ़ने पर हमें किसी किसी विषय में इससे भिन्न मत का अवलम्बन करना होगा। कपिल का प्रधान मत है—परिणाम। वे कहते हैं कि हर वस्तु किसी दूसरी वस्तु का परिणाम अथवा विकार है; क्योंकि उनके मत के अनुसार कार्य-कारण-भाव का लक्षण यह है कि कार्य अन्य रूप में परिणत कारण मात्र है,[1] क्योंकि हम जहाँ तक देख पाते हैं, समग्र जगत् विकारशील और प्रगतिशील है। हम मिट्टी को देखते हैं, अन्य रूप में हम इसे घड़ा कहते हैं। मिट्टी है कारण, घड़ा है कार्य। इससे अधिक कारणता की कोई धारणा नहीं की जा सकती। यह समग्र ब्रह्माण्ड निश्चित रूप से एक उपादान से अर्थात् प्रकृति के परिणाम से उत्पन्न हुआ है। अतएव यह विश्व अपने कारण से स्वरूपतः कभी भिन्न हो नहीं सकता। कपिल के अनुसार अव्यक्त प्रकृति से चित्त और बुद्धि तक कोई भी वस्तु पुरुष अर्थात् भोक्ता अथवा प्रशासक नहीं है। मिट्टी का एक ढेला जैसा होता है, वैसा ही मन का पुंज भी। स्वरूपतः मन में चैतन्य नहीं है, किन्तु हम देखते हैं कि वह तर्कना करता है। अतएव उसके परे, निश्चित रूप से ऐसी कोई सत्ता होनी चाहिए, जिसका आलोक महत्, अहंज्ञान और अन्य परवर्ती परिणामों में व्याप्त है। इस सत्ता को कपिल पुरुष कहते हैं, वेदान्ती उसे आत्मा कहते हैं। कपिल के अनुसार पुरुष अमिश्र पदार्थ है—वह यौगिक पदार्थ नहीं, वही एकमात्र अभौतिक पदार्थ है, और सब प्रपञ्च विकार जड़ हैं। मान लो, हम एक श्यामपट देख रहे हैं। पहले बाहर के सब यन्त्र मस्तिष्क-केन्द्र में (कपिल के मत से इन्द्रिय में) उस संवेदन को ले आयेंगे; वह फिर उस केन्द्र से मन में जाकर उस पर आघात करेगा; मन फिर उसे बुद्धि को समर्पित करेगा। किन्तु बुद्धि

---

१. ' कारणभावाच्च॥सांख्यसूत्र॥१।११८॥

स्वतः कार्यशील नहीं है—उसकी पृष्ठभूमि में जो पुरुष विद्यमान है, उसीसे मानो कार्यशीलता आती है। यह सब मानो उसके भृत्य हैं; संवेदन को उसके समीप ला देते हैं, और तब वह मानो आदेश देता है और प्रतिक्रिया करता है। पुरुष ही भोक्ता, बोद्धा, यथार्थ सत्ता, सिंहासन पर बैठा हुआ राजा, मनुष्य की आत्मा है, और वह अभौतिक है। जिस कारण वह अभौतिक है, उसी कारण से वह अवश्य ही असीम है, उसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। इन पुरुषों में प्रत्येक ही सर्वव्यापी है; हम सब सर्वव्यापी हैं, किन्तु हम लिंग शरीर के माध्यम से ही कार्य कर सकते हैं। मन, अहंज्ञान, मस्तिष्क-केन्द्र अथवा इन्द्रिय और प्राण, इन सबके संयोग से सूक्ष्म शरीर अथवा कोष बनता है, जिसे ईसाई दर्शन में मानव की 'आध्यात्मिक देह' कहते हैं। इस देह को ही उद्धार अथवा दण्ड प्राप्त होता है, यही विभिन्न स्वर्गों में जाती रहती है, इसका ही बार बार जन्म और पुनर्जन्म होता है; क्योंकि हम पहले से ही देखते आये हैं कि पुरुष अथवा आत्मा के लिए आवागमन असम्भव है। गति का अर्थ है आना-जाना, और जो एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है, वह कदापि सर्वव्यापी नहीं हो सकता। यहाँ तक हमने कपिल के दर्शन में देखा है कि आत्मा अनन्त है और एकमात्र वही प्रकृति का परिणाम नहीं है। एकमात्र वही प्रकृति के बाहर है, किन्तु वह प्रकृति में बद्ध होकर विद्यमान है, ऐसी प्रतीति मात्र हो रही है। प्रकृति ने पुरुष को घेर लिया है और पुरुष ने अपने को प्रकृति के साथ तादात्म्य कर लिया है। पुरुष सोचते हैं, 'हम लिंग शरीर हैं', 'हम स्थूल शरीर हैं', इसीलिए वे सुख-दुःख भोग रहे हैं; किन्तु वास्तव में सुख-दुःख पुरुष का नहीं है, वह लिंग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर का है।

योगी समाधि अवस्था को सर्वोच्च अवस्था मानता है। वह न सक्रिय है, न निष्क्रिय और उसमें हम पुरुष के निकटतम पहुँच जाते हैं। पुरुष में सुख-दुःख कुछ नहीं है, वह सभी पदार्थ, सभी कर्मों का शाश्वत साक्षी है, किसी कार्य का फल वह ग्रहण नहीं करता। जैसे सूर्य सभी नेत्रों की दृष्टि का कारण है, किन्तु नेत्र के किसी दोष से अस्पृष्ट रहता,[1] अथवा जैसे लाल या नीले फूल स्फटिक के सामने रख दिये जाने पर वह लाल या नीला प्रतीत होने लगता है; किन्तु वह ऐसा होता नहीं, इसी प्रकार पुरुष सक्रिय-निष्क्रिय प्रतीत होता है, वह है इन

---

१. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
—कठोपनिषद् ॥२।२।११॥

दोनों के परे।[1] पुरुष की इस अवस्था को समाधि कहकर व्यक्त किया जा सकता है। यही सांख्य दर्शन है।

इसके पश्चात् सांख्यवादी यह भी कहते हैं कि प्रकृति के ये सब विकार आत्मा के लिए हैं; विभिन्न उपादानों के समस्त संघात उससे स्वतंत्र और किसी अन्य व्यक्ति के लिए हैं। ये नाना प्रकार के संघात, जिसे हम प्रकृति अथवा जगत्प्रपञ्च कहते हैं, ये सब सतत परिवर्तन, आत्मा के भोग, अपवर्ग अथवा मुक्ति के लिए क्रम से चले आ रहे हैं; जिससे आत्मा निम्नतम अवस्था से सर्वोत्तम अवस्था तक का अनुभव प्राप्त कर सके। जब आत्मा यह अनुभव प्राप्त करती है, तब वह समझ सकती है कि वह किसी काल में भी प्रकृतिबद्ध नहीं थी; वह सर्वदा ही उससे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थी—वह अविनाशी है, उसका आना-जाना कुछ भी नहीं है। स्वर्ग में जाना, फिर यहाँ आकर उत्पन्न होना—सभी प्रकृति का है—आत्मा का नहीं है। तब आत्मा मुक्त हो जाती है। इसी प्रकार समस्त प्रकृति आत्मा का भोग अथवा अनुभव का सञ्चय करने के लिए काम करती जा रही है। आत्मा उसी चरम लक्ष्य में, जो मुक्ति है, जाने के लिए यह अनुभव प्राप्त कर रही है। सांख्य दर्शन के अनुसार इस आत्मा की संख्या अनेक है। अनन्तसंख्यक आत्माएँ विद्यमान हैं। कपिल का और एक सिद्धान्त यह है कि जगत् के सृष्टिकर्ता के रूप में कोई ईश्वर नहीं है। प्रकृति ही इन सब विभिन्न रूपों का सर्जन करने में समर्थ है। सांख्यवादी कहते हैं, ईश्वर को स्वीकार करने से कोई प्रयोजन नहीं सधता है।

वेदान्त कहता है, आत्मा स्वरूपतः परम सत्, परम चित् और परम आनन्द है; किन्तु ये आत्मा के लक्षण नहीं हैं; वे तीन नहीं, एक हैं—आत्मा का सार-तत्त्व। तथापि वेदान्त सांख्य के साथ इस विषय में एकमत है कि बुद्धि भी, जहाँ तक वह प्रकृति से उत्पन्न है, प्रकृति की ही एक वस्तु है। वेदान्त यह भी सिद्ध करता है कि बुद्धि एक यौगिक वस्तु है। दृष्टान्तस्वरूप हम किसी विषय के प्रत्यक्षीकरण पर विचार करें। मैं एक श्यामपट देखता हूँ। यह ज्ञान कैसे आता है? श्यामपट का वह—जिसे जर्मन दार्शनिक वस्तुस्वरूप (Thing-in-itself) कहते हैं, अज्ञात है; मैं उसे कभी नहीं जान सकता। मान लो, वह 'क' है। श्यामपट का यह 'क' हमारे चित्त के ऊपर कार्य कर रहा है और चित्त प्रतिक्रिया कर रहा है। चित्त एक सरोवर के समान है। सरोवर में एक पत्थर फेंकने पर सरोवर की प्रतिक्रियास्वरूप एक तरंग पत्थर की ओर आयेगी। यह तरङ्ग

१. सांख्यसूत्र ॥२।३५॥

उस पत्थर के समान जरा भी नहीं होती—वह एक तरङ्ग है। श्यामपटीय 'क' ही पत्थर के रूप में मन पर आघात कर रहा है, तथा मन उसकी दिशा में एक तरङ्ग फेंक रहा है। इसी तरङ्ग को हम श्यामपट की संज्ञा देते हैं। हम तुमको देख रहे हैं। तुम स्वरूपत: जो हो, वह अज्ञात और अज्ञेय है। तुम वही अज्ञात सत्ता 'क' हो—तुम हमारे मन पर कार्य कर रहे हो; और मन आघात प्राप्त होने की दिशा में एक तरङ्ग निक्षेप करता है, तथा उस तरङ्ग को ही हम श्री अथवा श्रीमती अमुक कहा करते हैं। इस प्रत्यक्ष क्रिया के दो उपादान हैं—एक भीतर से तथा दूसरा बाहर से आनेवाला, तथा इन दोनों का ही मिश्रण, 'क'+मन हमारा बाह्य जगत् हैं। सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिक्रिया का फल है। ह्वेल मछली के सम्बन्ध में गणना के द्वारा स्थिर किया गया है कि पूँछ में आघात होने के कितने क्षणों के बाद उसका मन पूँछ पर प्रतिक्रिया करता है और वह पीड़ा का अनुभव करती है। यही बात आन्तरिक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में सत्य है, यथार्थ आत्मा अथवा हम, जो हमारे भीतर विद्यमान है, वह भी अज्ञात और अज्ञेय है। उसे 'ख' कहा जाय। जब हम अपने को अमुक व्यक्तिविशेष के रूप में जानते हैं, तब वह 'ख'+मन होता है। यह 'ख' मन पर आघात करता है। अत: हमारा समग्र जगत् 'क'+मन (बाह्य जगत्) और 'ख'+मन (अन्तर्जगत्) है। 'क' और 'ख' बाह्य और अन्तर्जगत् के पश्चात् 'वस्तुस्वरूप' के रूप में माने जा सकते हैं।

वेदान्त के अनुसार चेतना के तीन मूलभूत तथ्य है: मैं सत् हूँ, मैं चित् हूँ, और मैं आनन्दस्वरूप हूँ। यह भाव, जो कभी कभी आता है, कि मुझे कोई अभाव नहीं है; मैं विश्रामपूर्ण, शान्तिपूर्ण हूँ, मुझे कोई भी विचलित नहीं कर सकता, हमारे अस्तित्व का केन्द्रीय तथ्य, हमारे जीवन का आधारभूत तत्त्व है; और जब यह सीमित बन जाता है एवं यौगिक बन जाता है, यह जागतिक अस्तित्व, जागतिक ज्ञान और प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व है, प्रत्येक मनुष्य अवश्य जानता है, और प्रत्येक मनुष्य प्रेम के निमित्त पागल है। मनुष्य प्रेम किये बिना नहीं रह सकता। उच्चतम और निम्नतम सब प्रकार के माध्यम से सब लोग अवश्य प्रेम करते हैं। 'ख' अथवा अन्त: 'वस्तुस्वरूप' मन के साथ सम्बद्ध होकर सत्, ज्ञान और प्रेम का निर्माण करता है, जो वेदान्तियों द्वारा पूर्ण सत्, पूर्ण चित्, पूर्ण आनन्द कहे जाते हैं। यथार्थ सत् असीम, अमिश्रित, असंहत, अविकारी, मुक्तात्मा है; जब वह मिश्रित या संहत होता है, मन के साथ घुल-मिल जाता है, इसे व्यष्टि-सत्ता, जीवात्मा नाम से पुकारा जाता है। यही उद्भिद्-जीवन, प्राणी-जीवन, मनुष्य-जीवन है—जैसे सर्वव्यापी देश एक कमरे या एक घट, या अन्य किसी वस्तु के भीतर खण्डित हो जाता है। और वह सत्य ज्ञान

वह नहीं है, जिसे हम जानते हैं कि वह यथार्थ ज्ञान है, न वह अतीन्द्रिय ज्ञान है, न वुद्धि, न जन्मजात-प्रवृत्ति ही है। जब वह भ्रष्ट और अव्यवस्थित होता है, हम उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। जब अधिक भ्रष्ट होता है, हम उसे वुद्धि कहते हैं, और जब उससे अधिक भ्रष्ट होता है, हम उसे जन्मजात—मूलप्रवृत्तिज—ज्ञान कहते हैं। ज्ञान स्वरूपतः विज्ञान है—न अतीन्द्रिय ज्ञान, न वुद्धि, न जन्मजात-प्रवृत्ति। उसकी निकटतम अभिव्यंजना है सर्वज्ञत्व। इसमें कोई सीमा नहीं है, कोई संघात नहीं है। यह परमानन्द जब मलिन हो जाता है, तब हम इसे स्थूल या सूक्ष्म विषयों अथवा विचारों के प्रति प्रेम या आकर्षण कहते हैं। यह परमानन्द की ही विकृत अभिव्यक्ति है। पूर्ण सत्, पूर्ण चित्, पूर्ण आनन्द आत्मा के गुण नहीं हैं, वल्कि सार-तत्त्व हैं; आत्मा के साथ उनका कोई प्रभेद नहीं है। और ये तीनों एक ही हैं: हम एक ही वस्तु को तीन विभिन्न पहलुओं के माध्यम से देखते हैं। ये सब सापेक्ष ज्ञान के परे हैं। आत्मा का अनन्त ज्ञान मनुष्यों के मस्तिष्क के माध्यम से अनुश्रवित होकर, अतीन्द्रिय ज्ञान, वुद्धि आदि वनता है। इसे भासमान करनेवाले माध्यम के तारतम्यानुसार इसकी अभिव्यक्ति होती है। आत्मा के रूप में मनुष्य और निम्नतम प्राणियों में कोई अन्तर नहीं, केवल शेषोक्त का मस्तिष्क कम विकसित हुआ है और इसके माध्यम से होनेवाली अभिव्यक्ति, जिसे हम जन्मजात-प्रवृत्ति कहते हैं, अत्यन्त अस्पष्ट है। मनुष्य का मस्तिष्क अधिक सूक्ष्म होता है, इसीलिए अभिव्यक्ति भी स्पष्ट होती है और उच्चतम मानव में यह पूर्णतया स्पष्ट है। अस्तित्व या सत् के वारे में भी यह कहा जा सकता है। सीमित अस्तित्व-वान देश, जिसे हम जानते हैं, यथार्थ अस्तित्व का, जो आत्मा का स्वरूप है, केवल एक प्रतिविम्व है। आनन्द के साथ भी यही घटित होता है। आत्मा के अनन्त परमानन्द का ही वह प्रतिविम्व है, जिसे हम प्रेम या आकर्षण कहते हैं। अभि-व्यक्ति से परिच्छिन्नता आती है, लेकिन अनभिव्यक्त आत्मा का यथार्थ स्वरूप अपरिच्छिन्न, असीम है। उस परमानन्द का कोई परिच्छेद नहीं है। लेकिन प्रेम में परिच्छिन्नता है। किसी दिन मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, और दूसरे दिन घृणा। मेरा प्रेम एक दिन वढ़ता है और दूसरे दिन घटता है; क्योंकि यह केवल एक अभि-व्यक्ति है।

पहले तो ईश्वरविषयक धारणा में कपिल के साथ हमारा विवाद है। जैसे व्यष्टि-वुद्धि से आरम्भ कर व्यष्टि-शरीर तक इस प्रकृति की विकारमाला के पश्चात् उनके नियन्ता और शास्तास्वरूप आत्मा को स्वीकार करने का प्रयोजन है, उसी प्रकार समष्टि में भी—वृहत् व्रह्माण्ड में भी—समष्टि-वुद्धि, समष्टि-मन, समष्टि-सूक्ष्म और स्थूल-जड़ के पश्चात् उनके नियन्ता और शास्ता के रूप

में किसीको अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इस समष्टि-वुद्धयादि क्रम के पश्चात् एक नियन्ता—शास्तास्वरूप सर्वव्यापी पुरुष को स्वीकार न करने पर यह क्रम कैसे पूर्ण होगा? यदि तुम समष्टि-क्रम के पश्चात् एक सर्वव्यापी पुरुष को अस्वीकार करो, तो हमें व्यष्टि-क्रम के पश्चात् भी एक पुरुष को अस्वीकार करना पड़ेगा। अतएव यदि यह सत्य है कि इस अभिव्यक्त व्यष्टि-क्रम के पश्चात् ऐसे पुरुष विद्यमान हैं, जो समस्त प्रकृति के परे हैं, जो किसी प्रकार के जड़-उपादान से निर्मित नहीं हैं अर्थात् पुरुष—तो यही एक युक्ति समष्टि-ब्रह्माण्ड पर भी लागू होगी। जो सर्वव्यापी आत्मा प्रकृति के समस्त विकारों के परे है, उसे प्रधान नियन्ता, ईश्वर कहते हैं।

अव अधिक महत्त्वपूर्ण मतभेद उठता है। क्या एक से अधिक पुरुष हो सकते हैं? हमने देखा कि पुरुष सर्वव्यापी और असीम है। सर्वव्यापी, असीम दो नहीं हो सकते। यदि 'क' और 'ख' दो असीम वस्तुएँ हैं, तो असीम 'क' असीम 'ख' को सीमावद्ध करेगा। क्योंकि असीम 'क' असीम 'ख' नहीं है; तथा असीम 'ख' असीम 'क' नहीं है। अभेद में भेद का अर्थ है, पृथक्करण और पृथक्करण का अर्थ है परिसीमन। अतः 'क' और 'ख' एक दूसरे को 'सीमावद्ध' करने से असीम नहीं रह सकते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल एक ही असीम वस्तु—एक पुरुष विद्यमान है।

अव हम कथित 'क' एवं 'ख' की सहायता लेंगे और दिखायेंगे कि ये दोनों एक हैं। हमने पहले ही देखा है कि जिसे हम वहिर्जगत् कहते हैं, वह 'क'+मन है, तथा अन्तर्जगत् 'ख'+मन है। 'क' और 'ख', ये दोनों अज्ञात और अज्ञेय राशियाँ हैं। समस्त विभेद देश, काल और निमित्त के कारण हैं। ये सब मन के गठन-तत्त्व हैं। इनके बिना कोई मनोवृत्ति सम्भव नहीं है। तुम काल का परित्याग करके कदापि विचार नहीं कर सकते, देश को छोड़कर किसी वस्तु की धारणा नहीं कर सकते, एवं निमित्त अथवा कार्य-कारण का सम्बन्ध छोड़कर किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते। ये सब मन के ही रूप हैं। इन्हें हटा लो, और मन का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। अतः सब विभेद का कारण है मन। वेदान्त के अनुसार मन या इसके रूपों से ही 'क' और 'ख' आपातदृष्टि से सीमावद्ध हुए हैं तथा ये अन्तर्जगत् और वाह्य जगत्, इन दो रूपों में प्रतीयमान हुए हैं। किन्तु 'क' और 'ख', दोनों ही मन के परे होने के कारण भेदरहित हैं और इसलिए एक हैं। हम उन पर किसी गुण का आरोप नहीं कर पाते, क्योंकि गुण मन के द्वारा उत्पन्न होते हैं। जो गुणरहित है, वह अवश्य ही एक है; 'क' गुणरहित है, यह केवल मन के ही गुणों को ग्रहण करता है, इसी प्रकार 'ख' भी; अतः ये 'क' और 'ख' एक हैं।

समग्र ब्रह्माण्ड एक है। जगत् में केवल एक आत्मा है, एक सत्ता है; और वही एक सत्ता जब देश-काल-निमित्त के माध्यम से रूपों में पड़ती है, त्यों ही उसे बुद्धि, अहंज्ञान, सूक्ष्म भूत, स्थूल भूत आदि की संज्ञाएँ दी जाती हैं। इस समग्र ब्रह्माण्ड में सब कुछ वह एक वस्तु है, जो विभिन्न रूपों में प्रतिभासित मात्र हो रही है। जब उसका कुछ अंश मानो इस देश-काल-निमित्त के जाल में पड़ता है, तब यह विभिन्न रूप ग्रहण करती है। उस जाल को हटा दो, सभी एक है। अतः अद्वैत दर्शन के अनुसार समग्र विश्व आत्मा में एक है और यह आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म जब ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि पर प्रतीयमान होने लगता है, तब उसे हम ईश्वर कहते हैं। जब वह इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड के पश्चात् प्रतीयमान होने लगता है, तब उसे आत्मा कहते हैं। अतः यह आत्मा ही मनुष्य का अभ्यन्तरस्थ ईश्वर है। केवल एक ही पुरुष है—वेदान्त का ब्रह्म, जब ईश्वर और मनुष्य, दोनों के स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है, तब दोनों को इस एक रूप में जाना जाता है। यह ब्रह्माण्ड स्वयं 'तुम' है; अविभक्त तुम। तुम इस समग्र जगत् में ओतप्रोत हो। 'समस्त हाथों से तुम काम कर रहे हो, समस्त मुखों से तुम खा रहे हो, समस्त नासा-रन्ध्रों से तुम श्वास-प्रश्वास ले रहे हो, समस्त मन से तुम विचार कर रहे हो।'[१] समग्र जगत् ही तुम हो, यह ब्रह्माण्ड तुम्हारा शरीर है। तुम्हीं व्यक्त और अव्यक्त जगत्, दोनों ही हो। तुम्हीं जगत् की आत्मा हो तथा तुम्हीं उसका शरीर भी हो। तुम्हीं ईश्वर हो, तुम्हीं देवता हो, तुम्हीं मनुष्य हो, तुम्हीं पशु हो, तुम्हीं उद्भिद् हो, तुम्हीं खनिज हो, तुम्हीं सब हो—समग्र व्यक्त जगत् ही तुम हो। जो कुछ है, सब तुम हो। तुम असीम हो। असीम को विभक्त नहीं किया जा सकता। इसका कोई अंश नहीं हो सकता, क्योंकि तब प्रत्येक अंश असीम होगा, और तब अंश और पूर्ण में कोई भेद नहीं रह जायगा, जो एक असंगत बात है। अतएव यह बात कि तुम श्री अमुक हो, कभी सत्य नहीं हो सकती, यह केवल दिवा-स्वप्न है। यह जान लो और मुक्त हो जाओ। यही अद्वैत का निष्कर्ष है। 'मैं न तो देह हूँ, न इन्द्रिय और न मन ही; मैं अखण्ड सच्चिदानन्द हूँ, मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ।'[२] यही यथार्थ ज्ञान है, तर्क तथा बुद्धि तथा अन्य सब अज्ञान है। मैं तब कौन सा ज्ञान-लाभ करूँगा? मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं कौन सा जीवन प्राप्त करूँगा? मैं स्वयं जीवन-

१. गीता ।।१३।१३-१४।।

२. मनोबुद्धयहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।
—निर्वाणषट्कम् ।।१।।

स्वरूप हूँ ! मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि मैं जीवित हूँ; क्योंकि मैं ही जीवन-स्वरूप हूँ, एक सद्वस्तु हूँ और ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मेरे द्वारा प्रकाशित नहीं है, जो मुझमें नहीं है और जो मेरे स्वरूप में अवस्थित नहीं है। मैं ही भूतसमूह के रूप में अभिव्यक्त हुआ हूँ। किन्तु मैं एक मुक्तस्वरूप हूँ। कौन मुक्ति चाहता है ? कोई भी नहीं। यदि तुम अपने को बद्ध सोचो, तो बद्ध ही रहोगे, तुम स्वतः ही अपने बन्धन के कारण होओगे। यदि तुम अनुभव करो कि तुम मुक्त हो, तो इसी क्षण तुम मुक्त हो। यही ज्ञान है—मुक्तिप्रद ज्ञान। समग्र प्रकृति का चरम लक्ष्य ही मुक्ति है।

क्रमविकासवाद

आकाश और प्राण-तत्त्वों का अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप में प्रक्षेपण होने, और पुनः अव्यक्त रूप में लौट आने के विषय में भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान में वहुत कुछ समानता है। आधुनिक लोग विकासवाद को मानते हैं, और योगियों का भी यही मत है। परन्तु मेरी राय में, योगियों द्वारा विकासवाद की जो व्याख्या की गयी है, वह अधिक अच्छी है। **जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्**—अर्थात् एक योनि से दूसरी योनि में परिवर्तन प्रकृति की पूरक प्रक्रिया द्वारा होता है। मूलभूत वात यह है कि हमारा एक योनि से दूसरी में परिवर्तन होता रहता है, और मनुष्य-योनि सर्वश्रेष्ठ है। पतंजलि ने **प्रकृत्यापूरात्** अर्थात् 'प्रकृति की पूरक प्रक्रिया' को किसानों के खेत सींचने की उपमा देकर समझाया है। हमारी शिक्षा और प्रगति का उद्देश्य केवल मार्ग की बाधाओं को हटाना है। इनके हट जाने पर मूल ब्रह्मभाव स्वयं ही प्रकाशित हो जायगा। यह मान लेने पर फिर जीवन-संग्राम का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जीवन में साधारण रूप से केवल दुःखमय अनुभव ही होते हैं, जिनको सम्पूर्ण रूप से हटाया जा सकता है; उन्नति या विकास के लिए उनकी आवश्यकता नहीं। यदि वे न भी होते, तो भी हमारी उन्नति होती। अपने आपको अभिव्यक्त करना वस्तुओं का स्वभाव ही है। गतिशीलता वाहर से नहीं, किन्तु भीतर से आती है। प्रत्येक आत्मा सार्वजनीन अनुभवों की समष्टि होती है, जिसमें वे पहले ही से बीजरूप में विद्यमान रहते हैं; अनुभवों की इस समष्टि में से केवल वे ही व्यक्त हो पाते हैं, जिन्हें उपयुक्त परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं।

तो, वाह्य वस्तुएँ केवल परिवेश प्रदान कर सकती हैं। ये प्रतियोगिताएँ, संघर्ष और वुराइयाँ, जो हम देखते हैं, किसी क्रमसंकोच के कार्य नहीं हैं, न कारण हैं; अपितु वे मार्ग की घटनाएँ मात्र हैं। यदि वे न भी रहें, तो भी मनुष्य विकसित होते होते एक दिन ब्रह्मरूप हो जायगा; क्योंकि वाहर आकर अपने आपको अभिव्यक्त करना ब्रह्म का स्वभाव ही है। मेरी राय में तो प्रतियोगिता के भयानक विचार की अपेक्षा यह विचार कहीं अधिक आशाप्रद है। मैं इतिहास का जितना ही अध्ययन करता हूँ उतना ही प्रतियोगितावाला विचार मुझे भ्रान्त प्रतीत होता है। कुछ लोगों का मत है कि यदि मानव मानव के साथ लड़ाई न ठाने, तो उसकी

प्रगति ही न होगी। मैं भी पहले ऐसा सोचा करता था; पर अब मुझे दीख पड़ रहा है कि प्रत्येक युद्ध ने मानव-उन्नति को आगे ठेलने के बदले पचास वर्ष पीछे फेंक दिया है। वह दिन अवश्य आयेगा, जब हम इतिहास का अध्ययन एक विभिन्न दृष्टिकोण से करेंगे और समझ सकेंगे कि प्रतियोगिता न तो कारण है, न कार्य; वह तो मार्ग की एक घटना मात्र है, और विकास के लिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं।

मैं समझता हूँ कि केवल पतंजलि का सिद्धान्त ही ऐसा है, जिसे विवेकशील मनुष्य मान सकता है। वर्तमान व्यवस्था से कितने दोष उत्पन्न होते हैं! इसके द्वारा प्रत्येक दुष्ट मनुष्य को दुष्टता करने की अनुमति सी प्राप्त है। मैंने इस देश (अमेरिका) में ऐसे भौतिकी वैज्ञानिकों को देखा है, जो कहते हैं कि 'अपराधियों को नेस्त-नाबूत कर देना चाहिए, और यह कि केवल यही एक ऐसा उपाय है, जिससे समाज से अपराध मिटाया जा सकता है।' ये परिस्थितियाँ विकास में बाधा डाल सकती हैं, परन्तु उसके लिए आवश्यक नहीं हैं। प्रतियोगिता की सबसे भयानक बात तो यह है कि कोई एक व्यक्ति परिस्थितियों पर भले ही विजय प्राप्त कर ले, पर जहाँ एक की जीत होती है, वहाँ सहस्रों का नाश भी हो जाता है। अतएव यह बुराई ही है। जिससे केवल एक को सहायता मिले और अधिकांश को बाधा पहुँचे, वह कभी अच्छा नहीं हो सकता। पतंजलि कहते हैं कि ये संघर्ष केवल हमारे अज्ञान के ही कारण हैं, अन्यथा न तो इनकी आवश्यकता है और न ये मानव-विकास के कोई अंश ही हैं। यह हम लोगों की अधीरता है, जो इनका सृजन करती है। हममें इतना धैर्य नहीं कि अपना मार्ग धीरता से तैयार करें। उदाहरणार्थ, नाटकघर में जब आग लग जाती है, तो थोड़े से ही, लोग बाहर निकल पाते हैं। बाक़ी सब जल्दी निकलने की धक्का-धुक्की में एक दूसरे को कुचल डालते हैं। नाटकघर की इमारत की अथवा जो दो-तीन व्यक्ति बचकर बाहर निकल पाये, उनकी रक्षा के लिए वह कुचलना आवश्यक नहीं था। यदि सब धीरे धीरे निकले होते, तो एक को भी चोट न लगती। यही हाल जीवन में भी है। द्वार हमारे लिए खुले पड़े हैं, और हम सब बिना किसी प्रतियोगिता या संघर्ष के, बाहर निकल सकते हैं; किन्तु फिर भी हम संघर्ष करते हैं। हम अपने अज्ञान से, अपनी अधीरता से संघर्ष की सृष्टि कर लेते हैं; हम बड़े जल्दबाज़ हैं—हममें धीरज बिल्कुल है ही नहीं। शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है अपने को प्रशान्त रखना और स्वयं अपने पैरों पर खड़े होना।

समालाप

१

चमत्कार

('मेम्फ़िस कमर्शियल', १५ जनवरी, १८९४)

संवाददाता के द्वारा यह पूछे जाने पर कि उनके ऊपर अमेरिका का कैसा प्रभाव पड़ा, उन्होंने कहा :

"इस देश के सम्बन्ध में मेरे मन में अच्छा भाव उत्पन्न हुआ है, विशेषत: अमेरिका की स्त्रियों के सम्बन्ध में। मैंने अमेरिका में ग़रीबी के अभाव का विशेष उल्लेख किया है।"

इसके बाद बातें धर्म के विषय पर केन्द्रित हुई। स्वामी विवेकानन्द ने यह मत प्रकट किया कि विश्व-धर्म-महासभा इस अर्थ में उपयोगी सिद्ध हुई है कि उसने विचारों को प्रशस्त करने में बड़ा काम किया है।

संवाददाता ने प्रश्न किया, "आपके धर्मवालों की ईसाई धर्मावलम्बियों की मृत्यु के बाद की दशा के बारे में क्या धारणा है?"

"हमारा विश्वास है कि यदि वह अच्छा आदमी है, तो उसका उद्धार होगा। हमारा विश्वास है कि यदि कोई नास्तिक भी है और अच्छा आदमी है, तो उसका अवश्य ही उद्धार होगा। हम मानते हैं कि सभी धर्म अच्छे हैं। जो लोग उनको मानते हैं, उनके लिए केवल यह आवश्यक है कि वे झगड़ा न करें।"

स्वामी विवेकानन्द से भारत के जादू के आश्चर्यजनक करिश्मों, हवा में ऊपर उठने और प्राणावरोध इत्यादि के विषय में प्रश्न किया गया। विवेकानन्द ने कहा :

"हम चमत्कारों में बिल्कुल विश्वास नहीं करते, किन्तु प्राकृतिक नियमों की क्रिया के अन्तर्गत प्रत्यक्षत: अद्भुत कार्य किये जा सकते हैं। इन विषयों से सम्बन्धित भारत में विपुल साहित्य है और वहाँ लोगों ने इन विषयों का अध्ययन किया है।

"हठयोगियों ने मनोभावों को जानने और घटनाओं की भविष्यवाणी करने के अभ्यास में सफलता प्राप्त की है।

"जहाँ तक हवा में ऊपर उठने की बात है, मैंने किसीको गुरुत्वाकर्षण के ऊपर विजय प्राप्त कर इच्छानुसार हवा में ऊपर उठते कभी नहीं देखा, किन्तु मैंने ऐसे

बहुत लोगों को देखा है, जो इसकी साधना कर रहे थे। वे इस विषय में प्रकाशित पुस्तकें पढ़ते हैं और चमत्कार-सिद्धि के लिए वर्षों प्रयत्न करते हैं। अपने इस प्रयास में कुछ लोग प्राय: निराहार रहते हैं और अपने को इतना दुबला-पतला बना देते हैं कि यदि कोई उनके पेट में अँगुली लगाये, तो रीढ़ छू ले।

"इन हठयोगियों में से बहुत से दीर्घजीवी होते हैं।"

प्राणावरोध का प्रश्न फिर उठाये जाने पर हिन्दू संन्यासी ने 'कर्मशियल' के संवाददाता को बताया कि वे स्वयं एक मनुष्य को जानते हैं, जो एक बन्द गुफा में प्रविष्ट हो जाता था और जिसे एक गुप्त द्वार से बन्द कर दिया जाता था तथा जो वहाँ अनेक वर्षों तक निराहार रहता था। जिन उपस्थित लोगों ने इस कथन को सुना, उनमें निश्चित रूप से उत्सुकता की एक लहर दौड़ गयी। विवेकानन्द को इसकी सत्यता में किंचित् सन्देह नहीं है। वे कहते हैं कि प्राणावरोध की दशा में उस अवधि में वृद्धि स्थगित रहती है। उनका कहना है कि भारत में उस आदमी की बात, जो जीवित दफ़ना दिया गया था, जिसकी समाधि के ऊपर जौ के पौधे उगा दिये गये तथा जो अन्त में जीवित निकाला गया था, पूर्ण रूप से सही है। उनका विचार है कि जिस अध्ययन ने व्यक्तियों को यह असाधारण कार्य करने में समर्थ बनाया, वह हिमशायी प्राणियों से सूझा होगा।

विवेकानन्द ने कहा कि उन्होंने उस करिश्मे को कभी नहीं देखा, जिसके बारे में कुछ लेखकों का दावा है कि भारत में सिद्ध किया गया है—हवा में रस्सी फेंकना और उस पर चढ़कर सुदूर ऊँचाई में अदृश्य हो जाना।

जिस समय संवाददाता विवेकानन्द से वार्तालाप कर रहा था, एक उपस्थित महिला ने कहा कि किसीने उससे पूछा था कि क्या विवेकानन्द आश्चर्यजनक करिश्मे कर लेते हैं और क्या वे अपने सम्प्रदाय में दीक्षित होने के एक अंग के रूप में जीवित, पृथ्वी के भीतर समाधि में रह चुके थे। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर पूर्ण नकारात्मक था। उन्होंने कहा, "इन बातों का धर्म से क्या प्रयोजन? क्या ये मनुष्य को पवित्रतर बनाती हैं? आपकी बाइबिल का 'शैतान' भी तो शक्तिशाली है, परन्तु वह पवित्र न होने के कारण ईश्वर से भिन्न है।"

हठयोग सम्प्रदाय की बात करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि उनमें अपने शिष्यों की दीक्षा से सम्बन्धित एक प्रथा है, जो ईसा के जीवन की एक रस्म की ओर संकेत करती है, चाहे यह एक संयोग हो अथवा न हो। वे भी अपने शिष्यों को ठीक चालीस दिन तक एकाकी रहने के लिए बाध्य करते हैं।

२

लन्दन में भारतीय योगी

('वेस्ट मिनिस्टर गज़ट', २३ अक्तूबर, १८९५ ई०)

भारतीय दर्शन इधर विगत कुछ वर्षों से बहुत से लोगों के लिए गम्भीर और वर्धमान आकर्षण का विषय रहा है, यद्यपि अभी तक जिन लोगों ने इस देश में उस दर्शन की व्याख्या की है, उनकी चिन्तन-प्रणाली और शिक्षा-दीक्षा पूरी तरह पाश्चात्य होने के कारण वेदान्त-तत्त्व के गम्भीर रहस्यों के सम्बन्ध में वास्तव में लोगों को बहुत ही थोड़ी जानकारी प्राप्त हुई है; और जो कुछ हुई, वह भी इने-गिने व्यक्तियों तक सीमित है। प्राच्य परंपरा में शिक्षित-दीक्षित योग्य आचार्यगण वेदान्त-शास्त्र से जिस गम्भीर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं, उस ज्ञान-भाण्डार को भाषाविज्ञानियों की दृष्टि से किये गये विशाल अनुवादों से प्राप्त करने की अन्तर्दृष्टि और साहस बहुतों में नहीं होता।

एक संवाददाता लिखते हैं—उपर्युक्त कारणों से—कुछ तो जिज्ञासा और कुछ कौतूहलवश मैं पाश्चात्य लोगों के लिए एक नितान्त नये व्याख्याता स्वामी विवेकानन्द से भेंट करने गया। वे सचमुच एक भारतीय योगी हैं। युग-युगान्तर से संन्यासी और योगी शिष्य-परंपरा से जिस ज्ञान का प्रचार करते आ रहे हैं, उसीकी व्याख्या करने के लिए वे साहसपूर्वक पाश्चात्य जगत् में आये हुए हैं, एवं उसी उद्देश्य से उन्होंने कल रात को प्रिंसेज़ हॉल में एक भाषण भी दिया।

सिर पर पगड़ी धारण किये हुए, शान्त और सौम्य मुखमुद्रायुक्त स्वामी विवेकानन्द एक भव्य व्यक्ति हैं।

मेरे यह पूछने पर कि क्या उनके नाम का कोई विशेष अर्थ है, यदि है तो क्या, उन्होंने कहा :

"अब मैं जिस (स्वामी विवेकानन्द) नाम से परिचित हूँ, उसके प्रथम शब्द का अर्थ है संन्यासी, अर्थात् वह जिसने विधिपूर्वक संसार का परित्याग कर दिया हो। दूसरा शब्द (विवेकानन्द) एक उपाधि मात्र है, जिसको संसार त्यागते समय मैंने ग्रहण किया था। सभी संन्यासी ऐसा करते हैं। इसका अर्थ है—विवेक अर्थात् सदसद्विचार का आनन्द।"

मैंने फिर पूछा, "स्वामी जी, आपने संसार के सामान्य जीवन का त्याग क्यों कर दिया ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "बाल्य काल से ही धर्म और दर्शन में मेरी विशेष रुचि थी। हमारे शास्त्रों का उपदेश है कि त्याग ही मनुष्य का श्रेष्ठतम आदर्श है। मुझमें उस

मार्ग का अनुसरण करने के अन्तिम निश्चय की प्रेरणा देने के लिए महान् धर्मगुरु रामकृष्ण परमहंस के दर्शन प्राप्त होने भर की ही देर थी। वे स्वयं इसी मार्ग पर चल रहे थे और उनमें मैंने अपने सर्वोच्च आदर्श की निष्पत्ति के दर्शन किये।

"तब क्या उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसका प्रतिनिधित्व आप इस समय कर रहे हैं?"

स्वामी जी ने तत्काल उत्तर दिया, "नहीं, उनका सारा जीवन साम्प्रदायिकता और कट्टरता के तोड़ने में ही व्यतीत हुआ। उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। उसका ठीक विपरीत ही किया। वे पूर्ण विचार-स्वातन्त्र्य के समर्थक थे और उसकी स्थापना के निमित्त उन्होंने पूर्ण प्रयास किया। वे एक महान् योगी थे।"

प्रश्न—तब तो इस देश के किसी समाज या सम्प्रदाय जैसे, थियोसॉफ़िकल सोसाइटी, क्रिश्चियन साइन्टिस्ट[1] अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय के साथ आपका कुछ भी सम्बन्ध न होगा?

स्वामी जी ने स्पष्ट और हृदयस्पर्शी स्वर में उत्तर दिया, "नहीं, तनिक भी नहीं।" (स्वामी जी का मुख ऐसा सरल, निष्कपट और ईमानदार है कि उनका मुखमण्डल बालक की तरह चमक उठता है)। "अपने गुरु के उपदेशों के आलोक में मैंने अपने प्राचीन शास्त्रों को जैसा समझा है, मैं उसी की शिक्षा देता हूँ। अलौकिक उपाय से प्राप्त किसी अलौकिक प्रामाण्य का दावा मैं नहीं करता। मेरे उपदेशों में सर्वोच्च बुद्धि को जो ग्राह्य प्रतीत हो और विचारशील व्यक्ति जो कुछ स्वीकार कर सकें, उसीको मैं अपना पुरस्कार समझूँगा।"

वे कहते गये—"सभी धर्मों का लक्ष्य है किसी पूर्व रूप में भक्ति, ज्ञान अथवा योग की शिक्षा। वेदान्त इन साधना-पद्धतियों का अमूर्त विज्ञान है और मैं इसी विज्ञान का प्रचार करता हूँ। अपने निजी मूर्त मार्ग पर उसे लागू करने का कार्य मैं व्यक्तियों पर ही छोड़ देता हूँ। मैं प्रत्येक व्यक्ति को उसके अनुभव को ही प्रमाण-रूप से ग्रहण करने का उपदेश देता हूँ। और मैं यदि किन्हीं ग्रन्थों का उल्लेख करता हूँ,

---

१. क्रिश्चियन साइन्टिस्ट (Christian Scientist)—अमेरिका के एक धर्म-संप्रदाय का नाम है। श्रीमती एडी नामक एक अमेरिकन महिला इस संप्रदाय की प्रतिष्ठात्री हैं। इनके मतानुसार रोग, दुःख, पाप आदि मन के भ्रम मात्र हैं; इसलिए हमें यदि दृढ़ विश्वास हो जाय कि 'हममें कोई भी रोग नहीं है'; तो हम अवश्य रोगमुक्त हो जायँगे। ये लोग कहते हैं कि हमीं वास्तव में ईसा के मत का पालन कर रहे हैं; और वे (ईसा) जिस अलौकिक उपाय से रोगी को रोगमुक्त कर देते थे, हम भी पूर्वोक्त दृढ़ विश्वास के बल से वैसा कर सकते हैं। स०

तो उन्हींका जो प्राप्य है, और जिन्हें प्रत्येक स्वयं ही पढ़ सकता है। और सर्वोपरि मैं साधारण लोगों के लिए सर्वथा अदृश्य रहनेवाले उन अलौकिक महात्माओं की प्रामाणिकता का उपदेश नहीं करता, जो किसी व्यक्ति को माध्यम बनाकर अपनी बात कहते हैं; और न मैं यह दावा करता हूँ कि किन्हीं गुप्त पुस्तकों या पाण्डुलिपियों से मैंने कुछ सीखा है। न मैं किसी गुह्य समाज का प्रचारक हूँ और न मैं उस प्रकार की संस्थाओं से किसी प्रकार कल्याण होने में विश्वास ही रखता हूँ। सत्य स्वयं प्रमाण है और वह दिन के प्रकाश को सह सकता है।"

मैंने पूछा, "तो, स्वामी जी, कोई समाज आदि स्थापित करने का विचार आपका नहीं है?"

उत्तर—नहीं, कोई भी समिति या समाज नहीं। मैं तो केवल उस आत्मा का उपदेश करता हूँ, जो सब प्राणियों के हृदय में गूढ़ भाव से अवस्थित है और जो सबमें व्याप्त है। आत्मा का ज्ञान रखनेवाले और उसके प्रकाश में अपना जीवन-यापन करनेवाले मुट्ठी भर शक्तिशाली लोग सारी दुनिया में आज भी ऐसी क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं, जैसी प्राचीन काल में एक एक दृढ़चित्त महापुरुष ने अपने अपने समय में की थी।

चूँकि स्वामी जी का मुख प्राच्य सूर्य का संकेत देता है, इसलिए मैंने पूछा, "क्या आप भारत से यहाँ हाल ही में आये हैं?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "नहीं, १८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो शहर में, जो धर्म-महासभा का अधिवेशन हुआ था, उसमें मैंने हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व किया था। तब से मैं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भ्रमण करते हुए वक्तृताएँ दे रहा हूँ। अमेरिकन लोग मेरे व्याख्यानों के अत्यन्त आग्रहवान श्रोता और मेरे सहानुभूतिशील मित्र रहे हैं। वहाँ मेरा कार्य इतना जम गया है कि मुझे शीघ्र ही वहाँ अवश्य लौट जाना पड़ेगा।"

प्रश्न—स्वामी जी, पाश्चात्य धर्म-मतों के विषय में आपकी क्या राय है?

उत्तर—मैं एक ऐसे दर्शन का प्रचार कर रहा हूँ, जो संसार के सारे धर्म-मतों की आधारशिला बन सकता है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त सहानुभूति रखता हूँ—मेरा उपदेश किसी धर्म का विरोधी नहीं है। मैं व्यक्ति की ओर ही विशेष ध्यान देता हूँ, उसे तेजस्वी बनाने की चेष्टा करता हूँ। मैं तो यही शिक्षा देता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म है, और सबको उनके इसी आन्तरिक ब्रह्म भाव के सम्बन्ध में सचेत होने के लिए आह्वान करता हूँ। जानकर हो या बिना जाने, वस्तुतः यही सब धर्मों का आदर्श है।

प्रश्न—इस देश में आपका कार्य किस प्रकार का रूप लेगा?

उत्तर—मैं मनुष्यों को इन उपदेशों से, जिनका उल्लेख मैंने किया, भर देने की, और अपने अपने ढंग से दूसरों के पास उनके प्रचारार्थ उत्साहित करने की आशा करता हूँ। वे मेरे उपदेशों को अपनी इच्छानुसार रूपान्तरित करें। मैं मतों के रूप में उनकी शिक्षा नहीं देता हूँ। अन्ततः सत्य की ही अवश्य जय होती है।

"प्रकृत कार्य-यन्त्र, जिसके माध्यम से मैं कार्य कर रहा हूँ, उसका भार मेरे दो-एक बन्धुओं पर है। २२ अक्टूबर की शाम को साढ़े आठ बजे 'पिकेडिली प्रिन्सेज हॉल' में अंग्रेज श्रोताओं के लिए उन्होंने मेरे एक भाषण की व्यवस्था की है। इस विषय की घोषणा की जा रही है। विषय है मेरे दर्शन का मूल तत्त्व—'आत्म-ज्ञान'। उसके बाद अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो भी उपाय दिखेंगे, मैं उनका अवलम्बन करने के लिए तैयार हूँ—लोगों के बैठकख़ाने में या अन्य किसी स्थान की सभा में उपस्थित होना, पत्र का उत्तर देना अथवा स्वयं ही विचार-विमर्श करना इत्यादि। इस अर्थ-लिप्सा-प्रधान युग में मैं इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा कोई भी कार्य अर्थ-प्राप्ति के लिए नहीं है।"

इसके उपरान्त, जितने लोगों से मुझे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनमें इस अत्यन्त मौलिक व्यक्ति से मैंने विदा ली।

३

भारत का मिशन

('संडे टाइम्स', लंडन, १८९६)

इंग्लैण्डवासी इस तथ्य को अच्छी तरह जानते हैं कि वे भारत के 'प्रवाल तटों'[१] को मिशनरी भेजते हैं। वास्तव में, वे इस धर्माज्ञा का, 'तुम समस्त संसार में जाओ और ईश्वर के सन्देश का प्रचार करो' इतनी पूर्णता के साथ पालन करते हैं, कि मुख्य ब्रिटिश सम्प्रदायों में कोई भी ईसा की शिक्षा के प्रचार के इस आदेश का पालन करने में पीछे नहीं रहा है। पर लोग इस बात को इतनी अच्छी तरह नहीं जानते कि भारत भी इंग्लैण्ड में धर्म-प्रचारक भेजता है।

संयोग की बात है, यदि इस शब्द का उपयोग किया जा सके, मैं स्वामी विवेकानन्द के अस्थायी निवास ६३, सेण्ट जॉर्ज रोड, एस० डब्ल्यू० में उनके सामने पड़ गया;

---

१. इस धारणा के अनुसार कि भारत के सागर-तट पर प्रवाल पाये जाते हैं, प्राचीन समय में पाश्चात्य लोग भारत के साथ इसी नाम से परिचित थे। स०

और क्योंकि उन्होंने अपने कार्य की रूपरेखा और अपने इंग्लैण्ड आगमन के विषय में वातचीत करने में कोई आपत्ति नहीं की, इसलिए मैं उनके निकट पहुँचा, और अपने अनुरोध की स्वीकृति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए वात आरम्भ की।

"मैं अमेरिका में इण्टरव्यू लेनेवालों से पूर्ण अभ्यस्त हो गया हूँ। क्योंकि मेरे देश में ऐसा रिवाज़ नहीं है, इसलिए यह कोई कारण नहीं है कि मैं जिस देश में जाऊँ, वहाँ सुलभ साधनों का उपयोग उन वातों को फैलाने के लिए न करूँ, जिनका मैं प्रचार करना चाहता हूँ! वहाँ मैं १८९३ में, शिकागो की विश्व-धर्म-महासभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि था। मैसूर के राजा और कुछ दूसरे मित्रों ने मुझे वहाँ भेजा था। मैं समझता हूँ कि मैं अमेरिका में कुछ सफलता प्राप्त करने का दावा कर सकता हूँ। शिकागो के अतिरिक्त मुझे अमेरिका के अन्य वड़े नगरों से भी वहुत से निमन्त्रण मिले। मैं वहाँ वहुत दिनों तक ठहरा; क्योंकि पिछली गर्मियों में और, जैसा कि आप देख रहे हैं, इन गर्मियों में इंग्लैण्ड आने के अतिरिक्त, मैं अमेरिका में लगभग तीन वर्ष रहा। मेरी राय में अमेरिका की सभ्यता एक महान् सभ्यता है। मैंने अमेरिकी मस्तिष्क को नये विचारों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील पाया है। वहाँ कोई वात इसलिए त्याज्य नहीं है, क्योंकि वह नयी है। वह अपनी अच्छाई और वुराई के आधार पर जाँची जाती है और केवल इसी आधार पर स्वीकार अथवा अस्वीकार की जाती है।"

"जव कि इंग्लैण्ड में—क्या आप संकेत से कुछ कहना चाहते हैं?"

"हाँ। इंग्लैण्ड में सभ्यता पुरानी है। ज्यों ज्यों सदियाँ वीतीं हैं, उसमें वहुत विस्तार हुआ है। विशेष रूप से, आपके वहुत से पूर्वाग्रह वन गये हैं, जिनको जीतने की आवश्यकता है, और जो कोई आपसे विचारों का आदान-प्रदान करता है, उसे यह काम करना होगा।"

"ऐसा कहा जाता है। मैं समझता हूँ कि आपने अमेरिका में किसी धर्म अथवा नये मत की स्थापना नहीं की है।"

"यह सच है। संगठनों की संख्या वढ़ाना हमारे सिद्धान्तों के विपरीत है; क्योंकि, सव प्रकार से, उनकी संख्या पहले ही काफ़ी है। और जव संगठन वनाये जाते हैं, तो उनकी देख-रेख के लिए व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। और वे जिन्होंने संन्यास ले लिया है—अर्थात् जिन्होंने सव सांसारिक पद, सम्पदा और ख्याति त्याग दी है—तथा जिनका उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञान की खोज है, इस काम को नहीं सँभाल सकते, और वह फिर दूसरों के हाथों में चला जाता है।"

"क्या आपकी शिक्षा एक तुलनात्मक धर्म-प्रणाली है?"

"इस विषय में अधिक सुनिश्चित धारणा हमें शायद यह कहने से प्राप्त हो

सकती है कि वह धर्म के सब रूपों का सार है; उनके ऊपर से अ-सार को हटाकर उसके ऊपर बल देना है जो उनका वास्तविक आधार है। मैं रामकृष्ण परमहंस का शिष्य हूँ। वे एक पूर्ण संन्यासी थे। मैं उनके प्रभाव और विचारों से प्रभावित हुआ। इस महान् संन्यासी ने दूसरे धर्मों के प्रति कभी नकारात्मक अथवा आलोचनात्मक दृष्टिकोण नहीं रखा, वरन् उनके सकारात्मक पक्ष को प्रदर्शित किया अर्थात् जीवन में उनका कैसे पालन और अभ्यास किया जा सकता है। झगड़ना, विरोध का दृष्टकोण रखना उनकी शिक्षा के बिल्कुल विपरीत पड़ता है; उनकी शिक्षा का विषय यह सत्य है कि संसार प्रेम से चलता है। आप जानते हैं कि हिन्दू धर्म विधर्मियों को कभी कष्ट नहीं पहुँचाता। यह एक ऐसा देश है, जहाँ सब धर्म शान्ति और सद्भावना के साथ रह सकते हैं। मुसलमान अपने साथ हत्या और वध लाये, पर उनके आने से पहले शान्ति का शासन था। इस प्रकार जैन, जो किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करते और ऐसे विश्वास को भ्रम समझते हैं, सहन किये गये और वे आज भी हैं। भारत वास्तविक शक्ति, नम्रता का उदाहरण उपस्थित करता है। आक्रमण, दुस्साहस, संघर्ष ये सब बातें दुर्बलता हैं।"

"यह वहुत कुछ टाल्स्टाय के सिद्धान्त के समान जान पड़ता है, इससे व्यक्तियों का काम चल सकता है, यद्यपि मैं स्वयं इस पर सन्देह करता हूँ। पर इससे राष्ट्रों का काम कैसे चलेगा ?"

"उनका काम भी वहुत अच्छी तरह से चलेगा। यह भारत का कर्म था, उसका भाग्य था, कि वह जीता जाय, और अपनी वारी आने पर, अपने विजेता पर विजय प्राप्त करे। वह अपने मुसलमान विजेताओं के प्रति यह कर चुका है: शिक्षित मुसलमान सूफ़ी हैं, उनमें और हिन्दुओं में विशेष भेद नहीं है। हिन्दू विचार उनकी सभ्यता में रम गया है और उन्होंने शिक्षार्थी की स्थिति ले ली है। मुग़ल सम्राट् महान् अकवर व्यवहारतः हिन्दू था। और समय आने पर इंग्लैण्ड भी विजित होगा। आज उसके हाथों में तलवार है, पर विचारों के संसार में वह व्यर्थ से भी अधिक गया-बीता है। आप जानते हैं कि शापेनहॉवर ने भारतीय चिन्तन के बारे में क्या कहा है। उन्होंने भविष्यवाणी की है कि जब ये विचार हमारे सुपरिचित हो जायँगे, तो यूरोप पर उनका प्रभाव उतना ही गम्भीर पड़ेगा, जितना कि अन्ध युग के बाद यूनानी और लेटिन संस्कृति के पुनर्जीवन का पड़ा था।"

"क्षमा करें, यदि मैं कहूँ कि अभी तो इसके कोई लक्षण दिखायी नहीं देते।"

"शायद नहीं", स्वामी जी गम्भीरता से बोले। "मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि वहुत से लोगों को पुराने नवजागरण के चिह्न भी दिखायी नहीं दिये थे, और उन्हें उसके आगमन का पता उस समय भी नहीं चला था, जब कि वह आ

चुका था। पर एक महान् गति आ रही है, जिसे वे लोग ही पहचान सकते हैं, जो समय के संकेतों को समझते हैं। पिछले कुछ वर्षों में प्राच्य अन्वेषणों में बहुत प्रगति हुई है। अभी वे विद्वानों के हाथों में हैं, और जो कार्य उन्होंने किया है, उसमें वे नीरस और भारी दिखायी देते हैं। पर धीरे धीरे समझ का प्रकाश फैलेगा।"

"और भारत भविष्य का महान् विजेता होगा। पर वह अपने विचारों के प्रचार के लिए अधिक धर्मोपदेशक नहीं भेजता। मैं समझता हूँ कि वह उस समय तक प्रतीक्षा करेगा, जब तक कि संसार उसके चरणों में नहीं आ जाता।"

"एक समय था, जब भारत धर्म-प्रचार-कार्य की एक महान् शक्ति था। इंग्लैण्ड के ईसाई धर्म स्वीकार करने से सैकड़ों वर्ष पहले बुद्ध ने एशिया की दुनिया को अपने सिद्धान्त में दीक्षित करने के लिए धर्म-प्रचारक भेजे थे। विचारों के संसार में परिवर्तन आ रहा है। हम अभी केवल आरम्भ कर रहे हैं। उन लोगों की संख्या जो धर्म के किसी रूपविशेष को स्वीकार करने से इन्कार करते हैं, बहुत बढ़ रही है, और यह हलचल शिक्षित वर्ग में है। अभी हाल की एक अमेरिकी जन-गणना में बहुत से लोगों ने अपने को किसी विशिष्ट धार्मिक वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाला लिखवाना अस्वीकार किया है। सब धर्म एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं; वे आगे बढ़ते हैं, नहीं तो मर जाते हैं। वे एक ही सत्य-स्वरूप केन्द्र की त्रिज्याएँ हैं; वे रूप हैं, जिनकी विविध मस्तिष्कों को आवश्यकता होती है।"

"अब हम समस्या के निकट पहुँच रहे हैं। यह केन्द्रीय सत्य क्या है?"

"वह है भीतर का ईश्वर। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही पतित हो, ईश्वर की—दिव्यत्व की अभिव्यक्ति है। दिव्यत्व पर आवरण आ जाता है, वह दृष्टि से छिप जाता है। मुझे भारतीय विद्रोह की एक घटना याद आती है। वर्षों तक चिर मौन रहने के व्रत की साधना करनेवाले एक स्वामी जी को एक मुसलमान ने छुरा भोंक दिया। लोग हत्यारे को खींचकर आहत के सामने ले गये और बोले, 'स्वामी जी, आप कहें, तो हम इसे ठिकाने लगा दें।' अनेक वर्षों तक मौन रहने के बाद उसने अपना व्रत अपने अन्तिम समय में यह कहने के लिए तोड़ा, 'मेरे बच्चो, तुम सब भूल में हो। यह मनुष्य साक्षात् ईश्वर है।' महान् शिक्षा यह है कि सबके पीछे वही एक है। उसे गॉड, प्रेम, आत्मा, अल्लाह, जिहोवा—चाहे जो कहिए, वह है वही एक, जो निम्नतम जन्तु से लेकर उच्चतम मनुष्य तक, सब जीवों को प्राणवान बनाता है। आप बहुविध छिद्रों से विद्ध हिम से आवेष्ठित एक महासागर की कल्पना कीजिए, इनमें से प्रत्येक छिद्र एक आत्मा है, एक मनुष्य है, जो अपनी बुद्धि की मात्रा के अनुसार मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है और बर्फ़ को तोड़कर निकलने का प्रयास कर रहा है।"

"मैं समझता हूँ कि मुझे पूर्व और पश्चिम के आदर्श में एक अन्तर दिखायी देता है। आप संन्यास, मनन और ऐसे ही उपायों द्वारा अत्यन्त पूर्ण व्यक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं। और पश्चिम का आदर्श यह जान पड़ता है कि वह समाज-व्यवस्था को पूर्ण बनाये और इसलिए हम राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर कार्य करते हैं, क्योंकि हम समझते हैं कि हमारी सभ्यता का स्थायित्व लोगों के कल्याण पर निर्भर है।"

स्वामी जी ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "पर सभी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ मनुष्यों के भलेपन पर टिकती हैं। कोई राष्ट्र इसलिए महान् और अच्छा नहीं होता कि पार्लियामेण्ट ने यह या वह पास कर दिया है, वरन् इसलिए होता है कि उसके निवासी महान् और अच्छे होते हैं। मैं चीन गया हूँ, उसका संगठन, सब राष्ट्रों से अधिक प्रशंसनीय है। फिर भी चीन आज एक अव्यवस्थित भीड़ है, क्योंकि उसके निवासी अब प्राचीन काल में बनायी गयी व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार सक्षम नहीं हैं। धर्म इस समस्या की जड़ तक पहुँचता है। यदि वह ठीक रहता है, तो सब ठीक होता है।"

"ईश्वरत्व प्रत्येक के भीतर है, पर आच्छन्न है, यह बात अस्पष्ट और व्यावहारिक जीवन से दूर मालूम होती हैं। मनुष्य सदा उसीकी खोज में नहीं रह सकता।"

"बहुत से लोग अक्सर एक ही उद्देश्य के लिए काम करते हैं, पर इस तथ्य को पहचान नहीं पाते। यह तो हमें मान ही लेना चाहिए कि क़ानून, सरकार, राजनीति ऐसी अवस्थाएँ हैं, जो किसी प्रकार अन्तिम नहीं हैं। उनसे परे एक ध्येय है, जहाँ क़ानून की आवश्यकता नहीं होती। और साथ ही स्वयं संन्यासी शब्द का अर्थ है : विधित्यागी ब्रह्मतत्त्वान्वेषी, या यह कह सकते हैं, 'नेतिवादी' ब्रह्मज्ञानी। पर यह भी है कि जो लोग ऐसे शब्द का उपयोग करते हैं, उन्हें सदा भ्रम बना रहता है। ईसा ने देखा कि विधि-नियम उन्नति का मूल नहीं है, केवल नैतिकता और पवित्रता ही शक्ति हैं। अपने इस कथन के बारे में कि पूर्व का उद्देश्य उच्चतर आत्म-विकास और पश्चिम के सामाजिक शासन को पूर्ण करना है, आप निश्चय ही यह नहीं भूल रहे हैं कि एक हमारा दृश्य व्यक्तित्व है और एक वास्तविक व्यक्तित्व है।"

"आपका तात्पर्य निश्चय ही यह है कि हम दृश्य के लिए काम करते हैं और आप वास्तविक के लिए।"

मन पूर्ण विकास प्राप्त करने के लिए विभिन्न अवस्थाओं में होकर आगे बढ़ता है। पहले वह ठोस को पकड़ता है और फिर धीरे धीरे सिद्धान्तों में पहुँचता है। यह भी देखिए कि हम विश्व-बन्धुत्व के विचार तक कैसे पहुँचते हैं। पहले हम उसे

एक दृढ़, संकीर्ण और पृथक् सम्प्रदाय के भीतर ग्रहण करते हैं। फिर धीरे धीरे हम विस्तृत सामान्यीकरण और सूक्ष्म विचारों के संसार में पदार्पण करते हैं।"

"तो आप समझते हैं कि वे सम्प्रदाय जो इंग्लैण्डनिवासियों को इतने प्रिय हैं, समाप्त हो जायेंगे ? आप जानते हैं कि एक फ्रांसीसी ने कहा था कि 'इंग्लैण्ड ऐसा देश है, जहाँ सम्प्रदाय तो हज़ार हैं, पर सबकी रुचि एक ही है।'

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि उन्हें समाप्त होना है। उनकी स्थापना अ-सार बातों के आधार पर हुई है : उनका सार भाग रहेगा और एक दूसरी इमारत के रूप में निर्मित होगा। आप इस पुरानी कहावत को तो जानते हैं कि किसी सम्प्रदाय में पैदा होना तो ठीक है, पर उसीमें मरना ठीक नहीं है।"

"शायद आप इस विषय में कुछ कहेंगे कि इंग्लैण्ड में आपका काम कैसा चल रहा है ?"

"धीरे धीरे, उसी कारण से, जो मैंने अभी बताया है। जब आप मूल और आधार के प्रति कुछ करना चाहते हैं, तो समस्त वास्तविक प्रगति मन्द ही होगी। निश्चय ही मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये विचार, इस रीति से नहीं, तो किसी दूसरी से, फैले बिना न रहेंगे, और हममें से बहुतों का विचार है कि उनके प्रचार का उचित समय अब आ गया है।"

इसके बाद मैंने वह विवरण सुना कि उनका काम किस प्रकार चलाया जाता है। बहुत से पुराने सिद्धान्तों के समान यह नया सिद्धान्त भी बिना शुल्क और बिना मूल्य वितरित किया जाता है, यह पूर्णतया उन्हीं लोगों के निजी प्रयासों पर निर्भर होता है, जो उसे अपनाते हैं।

स्वामी जी अपनी पूर्वीय वेश-भूषा में एक दर्शनीय व्यक्ति हैं। उनका सरल और प्रेमपूर्ण ढंग, जिससे उदासीपन की सामान्य धारणा की तनिक भी गन्ध नहीं आती, अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार और वार्तालाप की महान् क्षमता उनके व्यक्तित्व की रोचकता में काफ़ी वृद्धि करती है। उनके संन्यास व्रत का अर्थ है पद, सम्पदा और ख्याति का त्याग और आध्यात्मिक ज्ञान की निरन्तर खोज।

भारत और इंग्लैण्ड

('इण्डिया', लन्दन, १८९६)

'लन्दन सीज़न' में, स्वामी विवेकानन्द उन बहुसंख्यक लोगों को शिक्षण और भाषण देते रहे हैं, जो उनके सिद्धान्त और दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रति आकृष्ट हुए हैं। अधिकतर अंग्रेज़ समझते हैं कि फ्रांस द्वारा किये जानेवाले थोड़े से काम को छोड़कर, मिशनरी कार्य पर इंग्लैण्ड का लगभग एकच्छत्र एकाधिकार है। इसलिए मैं स्वामी जी से उनके अस्थायी निवास स्थान साउथ बेलग्रेविया में यह जानने के लिए मिला कि भारत उन प्रतिवादों के अतिरिक्त, जो वह गृह-खर्च, शासन और न्याय के अधिकारों के एक ही व्यक्ति में निष्ठ होने, सूडान और दूसरी चढ़ाइयों पर होनेवाले व्यय के निपटारे से सम्बन्धित विषयों पर अक्सर भेजता रहता है, क्या सम्भवतया इंग्लैण्ड को कोई दूसरा सन्देश भी भेज सकता है।

स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा, "यह कोई नयी बात नहीं है कि भारत बाहर धर्म-प्रचारक भेजे। वह सम्राट् अशोक के समय में यह काम किया करता था, उन दिनों जब बौद्ध धर्म नया था और उसके पास आसपास के राष्ट्रों को सिखाने के लिए कोई बात थी।"

"तो क्या हम यह पूछ सकते हैं कि उसने यह काम बन्द क्यों कर दिया था और उसे अब फिर आरम्भ क्यों किया है?"

"यह बन्द इसलिए हो गया था कि वहाँ स्वार्थ बढ़ गया था और यह सिद्धान्त भुला दिया गया था कि राष्ट्र और व्यक्ति समान रूप से आपस में लेन-देन के द्वारा ही क़ायम रहते हैं और उन्नति करते हैं। संसार के प्रति उसका सन्देश सदा एक ही रहा है। वह आध्यात्मिक है : अन्तर्मुखी विचारों का क्षेत्र युगों से उसका रहा है; अमूर्त विज्ञान, तत्त्वमीमांसा, न्याय उसके अपने विशेष क्षेत्र हैं। वास्तव में इंग्लैण्ड के प्रति मेरा सन्देश भारत के प्रति इंग्लैण्ड के सन्देश से उत्पन्न हुआ है। विजय करना, शासन करना, अपने और हमारे लाभ के लिए भौतिक विज्ञान के अपने ज्ञान का उपयोग करना, उसका काम रहा है। संसार के प्रति भारत की देन को संक्षेप में कहने का प्रयत्न करते हुए मुझे एक संस्कृत और एक अंग्रेज़ी मुहावरे की याद आती है। जब मनुष्य मरता है, तो आप कहते हैं कि 'उसने आत्मा त्याग दी है', जब कि हम कहते हैं कि 'उसने शरीर त्याग दिया है।' इसी प्रकार जब आप यह कहते हैं कि 'शरीर में एक आत्मा होती है', तो यह इस बात का केवल संकेत ही नहीं देता, वरन् आपके इस दृष्टिकोण को स्पष्ट दर्शाता है कि शरीर मनुष्य का प्रमुख भाग है। जब कि हम कहते हैं कि मनुष्य आत्मा है और उसके एक शरीर होता है।

ये सतह के ऊपर की नन्हीं लहरियाँ हैं, फिर भी ये आपके राष्ट्रीय विचारधारा को दर्शाती हैं। मैं आपको याद दिलाना चाहूँगा कि शापेनहॉवर ने यह भविष्यवाणी की है कि जब भारतीय दर्शन यूरोप में सुपरिचित हो जायगा, तो उसका प्रभाव यहाँ उतना ही गहरा पड़ेगा, जितना कि अन्ध युग के अन्त में यूनानी और लेटिन ज्ञान के पुनर्जीवन का पड़ा था। प्राच्य अन्वेषणों में बड़ी प्रगति हो रही है। विचारों का एक नया संसार सत्य के अन्वेषी के सामने खुल रहा है।"

"और भारत अन्त में अपने विजेताओं पर विजयी होगा?"

"हाँ विचारों के क्षेत्र में। इंग्लैण्ड के पास हथियार है, सांसारिक समृद्धि है, वैसे ही जैसे उससे पहले हमारे मुसलमान विजेताओं के पास थी। फिर भी महान् अकबर व्यावहारिक रूप में हिन्दू हो गया था, शिक्षित मुसलमानों, सूफ़ियों को हिन्दुओं से अलग कर पाना बहुत कठिन है। वे गोमांस नहीं खाते और दूसरी बातों में भी उनका रहन-सहन हमारे समान है। हमारे विचार उनके विचारों में रम गये हैं।"

"तो आप साहब बहादुर के भविष्य को इस रूप में देखते हैं? पर अभी, इस क्षण तो वह बहुत दूर जान पड़ता है।"

"नहीं, वह इतना दूर नहीं है, जितना कि आप समझते हैं। धार्मिक विचारों के क्षेत्र में हिन्दू और अंग्रेज़ में बहुत सी बातें एक सी हैं; और दूसरे धार्मिक समाजों के बीच में भी इसी बात के प्रमाण उपस्थित हैं। जहाँ अंग्रेज़ शासक अथवा सिविल सर्वेण्ट को भारत के साहित्य, विशेषतया उसके दर्शन का ज्ञान है, वहाँ एक संवेदन का क्षेत्र है, ऐसा क्षेत्र, जो निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि बिलगाव का—कभी कभी अवहेलना का भी—जो रुख़ कुछ लोगों द्वारा अपनाया जाता है, उसका एकमात्र कारण अज्ञान है।"

"हाँ, यह कुछ मूर्खता है। क्या आप बतायेंगे कि आप अपने सन्देश के लिए इंग्लैण्ड आने के बजाय अमेरिका क्यों गये?"

"केवल संयोगवश—इसलिए कि विश्व-धर्म-महासभा लन्दन में होने के बजाय, जहाँ कि उसे होना चाहिए था, विश्व-मेले के अवसर पर शिकागो में की गयी। मैसूर के राजा और दूसरे मित्रों ने मुझे हिन्दू प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका भेजा। मैं वहाँ, पिछली गर्मी और इस गर्मी में भाषण देने के लिए लन्दन आने के अतिरिक्त, तीन वर्ष ठहरा। अमेरिकन एक महान् जाति है, उनका भविष्य उज्ज्वल है। मैं उनका बड़ा प्रशंसक हूँ, और मैंने उनमें बहुत से दयालु मित्र पाये हैं। अंग्रेज़ों की तुलना में उनमें पूर्वाग्रह कम है, वे किसी नये विचार को परखने और तोलने के लिए, उसके नये होने पर भी उसे मान देने के लिए अधिक तैयार है। वे अत्यधिक

अतिथि-सत्कारी भी हैं; वहाँ मानो किसीको परिचित होने में बहुत कम समय लगता है। मैंने जैसा किया था, आप भी वैसा अमेरिका में नगर से नगर भाषण देते हुए यात्रा कर सकते हैं—सदैव आपको मित्र मिलेंगे। मैंने बोस्टन, न्यूयार्क, फ़िलाडेल्फ़िया, वाल्टिमोर, वाशिंगटन, डेसमोनीस, मेम्फ़िस और दूसरे बहुत से स्थान देखे हैं।"

"और उनमें से प्रत्येक में अपने शिष्य छोड़े हैं ?"

"शिष्य, हाँ; पर संगठन नहीं। वह मेरे कार्य का भाग नहीं है। सब प्रकार से इनकी संख्या पहले ही काफ़ी है। संगठनों के प्रवन्ध के लिए मनुष्यों की आवश्यकता होती है; वे शक्ति, धन और प्रभाव प्राप्त करना चाहते हैं। वे अक्सर शासन हथियाने के लिए संघर्ष करते हैं, लड़ते तक हैं।"

"क्या आपके सन्देश का सार कुछ शब्दों में कहा जा सकता है ? क्या यह तुलनात्मक धर्म है, जिसका आप प्रचार करना चाहते हैं ?"

"यह वास्तव में धर्म का दर्शन है, उसके समस्त वाह्य रूपों की भीतरी आत्मा है। धर्म के सब रूपों में एक सार भाग और एक अ-सार भाग होता है। यदि हम उनसे अ-सार को अलग कर दें, तो सब धर्मों का वह वास्तविक आधार वच रहता है, जो धर्म के सव रूपों में सामान्यतः मिलता है। उन सबके पीछे वही एक है। हम उसे गॉड, अल्लाह, जिहोवा, चेतना, प्रेम जो चाहें, कहें। यह वही एक है, जो समस्त जीवन को, उसके न्यूनतम रूप से लेकर मनुष्य में उसकी उच्चतम अभिव्यक्ति तक, सबको अनुप्राणित करता है। यही एकता है, जिस पर हमें वल देना चाहिए, जब कि पश्चिम में, और वास्तव में सभी जगह, मनुष्य की प्रवृत्ति अ-सार पर वल देने की रही है। वे इन रूपों के लिए, अपने साथियों को सहमत वनाने के लिए, आपस में लड़ते हैं, एक दूसरे की हत्या करते हैं। यह देखते हुए कि सार-तत्त्व ईश्वर का प्रेम और मनुष्य का प्रेम है, कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह वड़ी विचित्र वात है।"

"मैं समझता हूँ कि एक हिन्दू कभी उत्पीड़न नहीं कर सकता।"

"उसने अभी तक ऐसा नहीं किया है; वह मनुष्य की जातियों में सबसे अधिक सहनशील है। यदि हम इस वात पर ध्यान दें कि वह कितनी गंभीरता से धार्मिक है, तो हम यह सोच सकते हैं कि वह नास्तिकों को अवश्य उत्पीड़ित करेगा। जैन इस विश्वास को कोरा भ्रम मानते हैं, पर किसी जैन को कभी उत्पीड़ित नहीं किया गया। भारत में सर्वप्रथम मुसलमान ने ही तलवार उठायी।"

"इंग्लैण्ड में सारभूत एकता के सिद्धांत ने क्या प्रगति की है ? यहाँ तो हमारे हज़ार सम्प्रदाय हैं।"

"ज्यों ज्यों स्वतंत्रता और ज्ञान में वृद्धि होगी, उन्हें धीरे धीरे समाप्त हो जाना होगा। वे उस अ-सार पर आधारित हैं, जो अपनी प्रकृति के कारण ही सदा जीवित नहीं रह सकता। सम्प्रदायों ने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया है; यह था उनके सदस्यों की कल्पना के अनुरूप एक एकान्तिक बन्धुत्व का निर्माण। हम धीरे धीरे विभाजन की उन दीवारों को गिराकर, जो व्यक्तियों के ऐसे समूहों को अलग अलग करती हैं, विश्वबंधुत्व के विचार पर पहुँचते हैं। इंग्लैण्ड में काम की गति मंद है, सम्भवतया इसलिए कि अभी इसका समय नहीं आया है। पर, फिर भी, उसमें प्रगति हो रही है। मैं आपका ध्यान एक ऐसे ही काम की ओर आकृष्ट करूँ, जिसमें इंग्लैण्ड भारत में लगा हुआ है। जाति-पाँति का आधुनिक भेद-भाव भारत की प्रगति में बाधक है। यह संकीर्ण बनाता है, बाधा डालता है, बिलग करता है। यह विचारों की प्रगति के सामने ढह जायगा।"

"पर कुछ अंग्रेज़ हैं, और जिनमें न भारत के प्रति सहानुभूति का अभाव है और जो न उसके इतिहास से अनभिज्ञ हैं, वे इस जाति-भेद को मुख्य रूप से लाभ-कारी मानते हैं। कोई भी सरलता से आवश्यकता से अधिक यूरोपियन बन सकता है। आप स्वयं हमारे बहुत से विचारों को भौतिकतावादी कहकर उनकी निन्दा करते हैं।"

"यह सच है। किसी बुद्धिमान व्यक्ति का उद्देश्य यह नहीं है कि भारत को इंग्लैण्ड का अंग बना लिया जाय। शरीर अपने पीछे निहित विचार द्वारा निर्मित होता है। इस प्रकार सामाजिक संगठन राष्ट्रीय विचार की अभिव्यक्ति होता है, और भारत में वह हज़ारों वर्षों के विचारों की अभिव्यक्ति है। इसलिए भारत का यूरोपीयकरण एक असम्भव और मूर्खतापूर्ण कार्य है। प्रगति के तत्त्व भारत में सदा सक्रिय रूप से उपस्थित रहे हैं। जब कभी वहाँ शांतिपूर्ण शासन आया है, वे सदा उभरकर सामने आये हैं। उपनिषदों के काल से लेकर आज तक हमारे लगभग सभी महान् शिक्षकों ने जाति-भेद की दीवारों को तोड़ने का प्रयत्न किया है, मेरा तात्पर्य है, पतित अवस्था में जाति-भेद की दीवारों को, मौलिक प्रणाली को नहीं। आप वर्तमान जाति-व्यवस्था में जो अच्छाई देखते हैं, वह उसमें उस आर-म्भिक जाति-व्यवस्था का अवशेष है, जो एक शानदार सामाजिक संस्था थी। बुद्ध ने जाति-व्यवस्था को उसके आरम्भिक रूप में फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था। भारतीय जागरण के प्रत्येक काल में जाति-भेद को तोड़ डालने के सदा महाप्रयत्न किये गये हैं। पर यह सदा 'हम' होंगे, जो जहाँ कहीं से प्राप्त सहा-यक विदेशी तत्त्वों को आत्मसात करते हुए नवीन भारत को उसके अतीत के प्रति-फलन और उसीके एक अंग के रूप में बनायेंगे; यह 'वे' कभी नहीं हो सकते। विकास

भीतर से होना चाहिए। इंग्लैण्ड जो कर सकता है, वह यही है कि वह स्वयं भारत को अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करने में सहायता दे। मेरी राय में, किसी ऐसे दूसरे की, जिसका हाथ भारत की गर्दन पर है, आज्ञा से होनेवाली सब प्रगति सारहीन है। उच्चतम कार्य भी उस समय केवल पतित ही होता है, जब उसे करने के लिए दासता का श्रम काम में लाया जाता है।"

"क्या आपने इंडियन नेशनल कांग्रेस आन्दोलन की ओर कुछ ध्यान दिया है?"

"मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने काफ़ी ध्यान दिया है; मेरा कार्यक्षेत्र दूसरा है। पर मैं इस आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण मानता हूँ और हृदय से उसकी सफलता चाहता हूँ। भारत की विभिन्न जातियों से एक राष्ट्र का निर्माण किया जा रहा है। कभी कभी मैं सोचता हूँ कि उनकी भिन्नता यूरोप के विभिन्न लोगों से कम नहीं है। अतीत में यूरोप ने भारतीय वाणिज्य के लिए संघर्ष किया है, वह वाणिज्य, जिसने संसार की सभ्यता का स्वरूप निश्चित करने में बहुत बड़ा भाग लिया है; और जिसकी प्राप्ति को मनुष्य के इतिहास में लगभग एक मोड़ कहा जा सकता है। हम देखते हैं कि डचों, पुर्तगालियों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने क्रमिक रूप से इसके लिए लड़ाइयाँ लड़ी हैं। अमेरिका के अन्वेषण को वह क्षतिपूर्ति कहा जा सकता है, जिसे वेनिसवासियों ने पूर्व में उठायी गयी हानि के बदले में सुदूर पश्चिम में खोजा था।"

"पर इसका अंत कहाँ होगा?"

"इसका अंत निश्चय ही भारत की एकता सम्पादित करने में, और उसके द्वारा वह प्राप्त करने में होगा, जिन्हें हम जनतांत्रिक विचार कह सकते हैं। मनीषा को कुछ संस्कृत लोगों का ही एकाधिकार नहीं रहना चाहिए; वह ऊपर से नीचे के वर्गों में फैलायी जायगी। शिक्षा आ रही है, और इसके बाद अनिवार्य शिक्षा आयेगी। हमारे लोगों में कार्य कर सकने की जो महान् क्षमता है, उसका उपयोग किया जायगा। भारत की सम्भावनाएँ बड़ी हैं और उनको प्रस्फुटित किया जायगा।"

"क्या कभी कोई राष्ट्र बिना महान् सैनिक शक्ति बने महान् हुआ है?"

स्वामी जी ने बिना एक क्षण झिझके उत्तर दिया, "हाँ, चीन हुआ है। अन्य देशों के साथ मैंने चीन और जापान की भी यात्रा की है। चीन आज एक अव्यवस्थित भीड़ के समान है, पर अपनी महानता के शिखर पर उसका तत्कालीन संगठन अन्य सब देशों से अधिक प्रशंसनीय था। वे बहुत सी युक्तियाँ और विधियाँ, जिन्हें हम आज आधुनिक कहते हैं, चीनियों द्वारा सैकड़ों, और हज़ारों वर्षों से भी, इस्तेमाल की जा रही हैं। प्रतियोगिता-परीक्षा इसका एक उदाहरण है।"

"वह अव्यवस्थित क्यों हो गया?"

"इसलिए कि वह ऐसे क्षमतावान लोग नहीं पैदा कर सका, जो इस व्यवस्था को चालू रखते। आपके यहाँ एक कहावत है कि लोगों को पार्लियामेंट के क़ानून से पुण्यात्मा नहीं बनाया जा सकता। चीनियों ने यह अनुभव आपसे पहले प्राप्त कर लिया था। और इसलिए धर्म राजनीति की अपेक्षा अधिक गहरे महत्त्व की वस्तु है, वह जड़ तक पहुँचता है और आचरण के सार से संबंध रखता है।"

"क्या भारत को उस जागरण का ज्ञान है, जिसकी आप चर्चा कर रहे हैं?"

"अच्छी तरह संसार उसे शायद मुख्यतया कांग्रेस आन्दोलन और सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में देखता है, पर यह जागरण धर्म में भी उतना ही वास्तविक है, यद्यपि वह वहाँ अधिक निस्तब्धता से काम करता है।"

"पश्चिम और पूर्व के जीवन के आदर्शों में बड़ा अन्तर है। हमारा आदर्श सामाजिक व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करना मालूम होता है। जब कि हम इन कामों में लगे हुए हैं, पूर्व के लोग सूक्ष्म तत्त्वों पर मनन कर रहे हैं। यहाँ पार्लियामेंट सूडान में भारतीय सेना के ख़र्च पर बहस कर रही है। सब प्रतिष्ठित कंज़र्वेटिव समाचारपत्रों ने सरकार के इस अन्यायपूर्ण निर्णय के विरुद्ध बहुत ज़ोर से आवाज उठायी है, जब कि आप कदाचित् इस सम्पूर्ण मामले को ध्यान देने योग्य भी नहीं समझते।"

"पर यहाँ आप एक बड़ी भूल कर रहे हैं।" स्वामी जी ने समाचारपत्र उठाकर कंज़र्वेटिव अख़बारों के उद्धरणों पर अपनी दृष्टि दौड़ाते हुए कहा, "इस संबंध में मेरी सहानुभूति स्वाभाविक रूप से अपने देश के साथ है। फिर भी इस पर मुझे एक संस्कृत कहावत की याद आती है: 'जब तुमने हाथी बेच दिया है, तो अंकुश के ऊपर झगड़ा क्यों करते हो?' भारत सदा ही अदा करता है। राजनीतिज्ञों के झगड़े बहुत विचित्र होते हैं। धर्म को राजनीति में पहुँचाने में अभी युग लगेंगे।"

"फिर भी हमें इसका प्रयत्न जल्दी ही करना चाहिए।"

"हाँ, इस महान् लंदन के बीच में, जो निश्चय ही मनुष्य का सबसे विशाल गतिशील शासन-यंत्र है, एक विचार का रोपण किया जाना चाहिए। मैं अक्सर इसकी उस शक्ति और पूर्णता को, जिससे वह सूक्ष्मतम शिरा तक पहुँचता है, और इसकी प्रसारण तथा वितरण की आश्चर्यजनक प्रणाली को काम करते हुए देखता हूँ। यह हमें इस बात को अनुभव करने में सहायता देता है कि साम्राज्य कितना विशाल है और इसका काम कितना बड़ा है। और अन्य सब वस्तुओं के साथ यह विचारों का वितरण करता है। मनुष्य का यह कार्य उचित ही होगा कि वह इस विशाल यंत्र के हृदय में कुछ विचार रख दे, जिससे कि वे दूरतम भागों में फैल सकें।"

स्वामी जी एक विशिष्ट आकृति के व्यक्ति हैं। उनकी लम्बी, चौड़ी और सुन्दर

आकृति उनकी दर्शनीय पूर्वी वेश-भूषा से और भी उभर आती है। उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावोत्पादक है। वे जन्म से बंगाली, और शिक्षा से कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट हैं। भाषणकर्ता के रूप में उनकी प्रतिभा उच्च कोटि की है। वे बिना किसी नोट की सहायता लिये और किसी शब्द के लिए बिना तनिक भी अटके डेढ़ घंटे तक बोल सकते हैं।

सी० एस० बी०

५

इंग्लैंड में भारत के मिशनरी का उद्देश्य

('दि इको', लंदन, १८९६)

. . . मैं समझता हूँ कि अपने देश में स्वामी जी किसी वृक्ष के नीचे रहते, अथवा अधिक से अधिक किसी मंदिर के आसपास रहते, उनका सिर घुटा होता और वे अपने देश के वस्त्र पहनते। पर लंदन में ये बातें नहीं की जातीं, इसलिए मैंने स्वामी जी को बहुत कुछ दूसरे लोगों के समान पाया, और गहरे नारंगी रंग का एक लम्बा कोट पहनने के अतिरिक्त वे अन्य लोगों के समान ही वस्त्र धारण किये हुए थे। उन्होंने हँसते हुए बताया कि उनका पहनावा, विशेषतया उस समय जब वे साफ़ा बाँधे हुए होते हैं, लंदन की गलियों में भटकनेवाले छोकरों को बिल्कुल पसंद नहीं आता; और वे उसकी जो आलोचना करते हैं, उसे मुँह से न निकालना ही अच्छा है। मैंने इस भारतीय योगी से वार्तालाप आरम्भ करते हुए कहा कि आप अपने नाम का बहुत धीरे धीरे हिज्जे कीजिए। . . .

"क्या आप समझते हैं कि आजकल लोग अ-सार वस्तुओं पर बहुत बल दे रहे हैं?"

"मैं समझता हूँ कि पिछड़े हुए राष्ट्रों और पश्चिम के सभ्य लोगों में, जो कम संस्कृत हैं, ऐसा किया जा रहा है। आपके प्रश्न में से यह ध्वनि निकलती है कि संस्कृत और समृद्ध लोगों की बात दूसरी है। और सचमुच वैसा है भी; जो समृद्ध हैं, वे अपनी सम्पदा के उपयोग में अथवा अधिक बटोरने में डूबे हुए हैं। वे, और कामकाजी लोगों का एक बड़ा भाग कहता है कि धर्म सड़ाँध, बकवास और मूर्खता है, और वे ईमानदारी से ऐसा समझते हैं। आजकल जिस एकमात्र धर्म का फ़ैशन है, वह है देशभक्ति और लोकाचार। लोग चर्च में उसी समय जाते हैं, जब वे विवाह करते हैं अथवा किसीको दफ़नाते हैं।"

"क्या आपके उपदेश उन्हें चर्च में अधिक बार ले जायँगे ?"

"मैं ऐसा नहीं समझता : क्योंकि मेरा किसी अनुष्ठान या मान्यता से कोई संबंध नहीं है। मेरा उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि धर्म सब कुछ है और सब वस्तुओं में है...और यहाँ इंग्लैण्ड में जो व्यवस्था है, हम उसके विषय में क्या कह सकते हैं ? सब बातों से यही प्रकट हो रहा है कि समाजवाद अथवा जनता द्वारा शासन का कोई स्वरूप, उसे आप चाहे जिस नाम से पुकारें, उभरता आ रहा है। लोग निश्चय ही यह चाहेंगे कि उनकी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति हो, वे कम काम करें, उनका शोषण न हो, युद्ध न हो और भोजन अधिक मिले। इस बात का हमारे पास क्या प्रमाण है कि यह अथवा कोई दूसरी सभ्यता, जब तक कि वह धर्म पर, मनुष्य के भीतर के शुभ पर आधारित न हो, स्थायी होगी ? विश्वास कीजिए कि धर्म इस समस्या की जड़ तक पहुँचता है। यदि वह ठीक है, तो सब ठीक है।"

"लोगों के मस्तिष्क में धर्म के सार भाग को, तत्त्वमीमांसा को, पहुँचाना अवश्य कठिन काम है। वह उनके विचारों और रहन-सहन से काफ़ी दूर है।"

"हम सब धर्मों में निम्न सत्य से उच्च सत्य की ओर जाते हैं, कभी असत्य से सत्य की ओर नहीं जाते। सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे एक एकता है, पर मनों में बड़ी विविधता है। 'वह जो है, एक है; ज्ञानी उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।' मेरा तात्पर्य यह है कि हम छोटे सत्य से बड़े सत्य की ओर बढ़ते हैं। निम्नतम धर्म केवल सत्य के निम्न पाठ मात्र हैं। हम धीरे धीरे समझते हैं। शैतान की उपासना भी चिरन्तन सत्य और अनन्त ब्रह्म का ही विकृत पाठ मात्र है। धर्म की अन्य अवस्थाओं में भी सदा सत्य की कम या अधिक मात्रा उपस्थित रहती है। धर्म के किसी भी स्वरूप में उसका पूर्ण रूप नहीं पाया जाता।"

"क्या हम पूछ सकते हैं कि जिस धर्म का आप इंग्लैण्ड में प्रचार करने आये हैं, उसकी उद्भावना आपने ही की है ?"

"निश्चय ही नहीं। मैं भारत के एक महान् ज्ञानी रामकृष्ण परमहंस का शिष्य हूँ। वे ऐसे नहीं थे, जिन्हें हम बहुत विद्वान् कह सकें, जैसा कि हमारे बहुत से ज्ञानी हैं, पर वे बहुत पवित्र थे, और वेदांत दर्शन की चेतना में गहरे डूबे हुए थे। जब मैं दर्शन कहता हूँ, तो मुझे लगता है कि शायद मुझे धर्म कहना चाहिए था, क्योंकि वह वास्तव में दोनों है। आपको 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' के एक हाल के अंक में मेरे गुरु के बारे में प्रो० मैक्स मूलर का विवरण पढ़ना चाहिए। रामकृष्ण का जन्म हुगली ज़िले में १८३६ ई० में हुआ था और १८८६ ई० में उनकी मृत्यु हुई। केशवचन्द्र सेन और दूसरे लोगों के जीवन पर उनका प्रभाव बहुत गंभीर पड़ा है। अपने शरीर को संयमित करके और अपने मन को जीतकर उन्होंने

आध्यात्मिक संसार में आश्चर्यजनक गहरी पैठ प्राप्त की थी। उनका चेहरा उनकी शिशुवत् कोमलता, गंभीर नम्रता और कथन की उल्लेखनीय मधुरता के कारण असाधारण था। उसे देखकर कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था।"

"तो क्या आपके उपदेश वेदों से लिये गये हैं?"

"हाँ। वेदांत का अर्थ है वेदों का अंत, तीसरा भाग अर्थात् उपनिषद्, जिनमें वे विचार प्रौढ़ रूप में उपस्थित हैं, जो आरम्भिक भाग में अंकुर रूप में वर्तमान थे। वेदों का सबसे प्राचीन भाग संहिता है, जो बहुत पुरानी संस्कृत में है, और वह केवल एक बहुत पुराने कोश, यास्क के निरुक्त की सहायता से समझा जा सकता है।"

"मैं समझता हूँ कि हम अंग्रेजों का विचार कुछ ऐसा है कि भारत को हमसे बहुत कुछ सीखना है; यहाँ औसत मनुष्य इस बात को विशेष नहीं जानता कि भारत से क्या सीखा जा सकता है।"

"बात ऐसी ही है। पर विद्वानों का जगत् अच्छी तरह जानता है कि कितना सीखना है और यह पाठ कितना महत्त्वपूर्ण है। आप मैक्स मूलर, मोनियर विलियम्स, सर विलियम हंटर अथवा प्राच्य विद्या के जर्मन विद्वानों को भारतीय तत्त्वज्ञ मीमांसा को हँसी में उड़ाते हुए नहीं पायेंगे।"

...स्वामी जी अपना भाषण ३९ विक्टोरिया स्ट्रीट पर देते हैं। सबका स्वागत किया जाता है; और जैसा कि प्राचीन धर्म-प्रचार के युग में होता था, यह नवीन उपदेश निःशुल्क और बिना मूल्य दिया जाता है। ये भारतीय धर्मोपदेशक असाधारण सुन्दर शरीर के पुरुष हैं; अंग्रेज़ी पर उनके अधिकार का वर्णन केवल पूर्ण कहकर ही किया जा सकता है।

सी० एस० बी०

६

मदुरा में स्वामी विवेकानन्द के साथ

(दि हिन्दू, मद्रास, फ़रवरी १८९७)

प्र०—यह सिद्धांत कि जगत् मिथ्या है, निम्नलिखित अर्थों में समझा जाता जान पड़ता है। (अ) इस अर्थ में कि नाशवान रूपों और नामों की आयु अनन्त काल की तुलना में अनन्त रूप से छोटी है; (आ) इस अर्थ में कि किन्हीं दो प्रलयों (विश्व

के संकोचन) के बीच की अवधि अनन्त काल की तुलना में अनन्त रूप से छोटी है; (इ) इस अर्थ में कि विश्व अंतिम रूप से मिथ्या है, यद्यपि वह, एक प्रकार की चेतना के अनुसार, इस समय उसी तरह वास्तविक दिखायी देता है, जैसे कि सीपी में चाँदी की धारणा अध्यस्त होती है, अथवा रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, जो कुछ समय के लिए सत्य होता है और मन की एक विशेष स्थिति पर आश्रित रहता है; (ई) इस अर्थ में कि विश्व उसी तरह कल्पना मात्र है, जैसे कि वंध्या-पुत्र और शश-शृंग।

अद्वैत दर्शन में यह सिद्धांत इन अर्थों में से किसमें समझा जाता है?

उ०—अद्वैतवादियों में बहुत से मत हैं और प्रत्येक ने इस सिद्धांत को अलग अलग अर्थ में समझा है। शंकर ने इस सिद्धांत का (इ) अर्थ में प्रचार किया और उनका उपदेश यह है कि विश्व, जैसा कि वह दिखायी देता है, प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी वर्तमान चेतना में सब कार्यों के लिए वास्तविक है, पर जब चेतना एक उच्च-तर रूप ग्रहण करती है, तो यह अंतर्धान हो जाता है। आप एक वृक्ष के तने को अपने सामने खड़ा देखते हैं और उसे भ्रमवश भूत समझते हैं। कुछ समय के लिए भूत का विचार सत्य होता है, क्योंकि वह आपके मन पर कार्य करता है और उसके ऊपर ऐसा प्रभाव डालता है, मानो वह सचमुच भूत हो। पर ज्यों ही आपको उसके तने होने का पता चल जाता है, भूत का विचार समाप्त हो जाता है। तने का विचार और भूत का विचार साथ साथ नहीं रह सकते। जब एक होता है, तो दूसरा नहीं होता।

प्र०—क्या शंकर की कुछ रचनाओं में (ई) अर्थ नहीं लिया गया है?

उ०—नहीं। कुछ ऐसे लोगों ने, जो शंकर के विचारों को अति की सीमा तक ले गये हैं, भ्रमवश अपनी रचनाओं में (ई) अर्थ का उपयोग किया है। अर्थ (अ) और (आ) कुछ अन्य मतों के अद्वैत दार्शनिकों की रचनाओं में पाये जाते हैं, पर शंकर ने उन्हें कभी स्वीकार नहीं किया।

प्र०—इस आपातप्रतीयमान सत्य का कारण क्या है?

उ०—आपको तने में भूत का भ्रम होने का कारण क्या है? वास्तव में, विश्व तो वही है, यह आपका मन है, जो उसके लिए विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है।

प्र०—इस कथन का वास्तविक अर्थ क्या है कि वेद अनादि और नित्य हैं? क्या इसका संबंध वैदिक वाणी से अर्थात् वेद में दिये हुए कथनों से है? यदि यह ऐसे कथनों में निहित सत्य की ओर संकेत करता है, तो क्या न्याय, ज्यामिति, रसा-यनशास्त्र आदि जैसे विज्ञान उतने ही अनादि और नित्य नहीं हैं? क्योंकि उनमें नित्य सत्य निवास करता है।

उ०---एक समय था, जब वेद स्वयं इस अर्थ में नित्य समझे जाते थे कि उनमें निहित दैवी सत्य अपरिवर्तनशील तथा स्थायी है, और केवल मनुष्य के प्रति उद्घाटित किया गया है। उसके वाद के समय में ऐसा मालूम होता है कि अर्थों के ज्ञान सहित वैदिक मंत्रों का पाठ महत्त्वपूर्ण था, और यह विश्वास किया जाता था कि मंत्र स्वयं ईश्वर द्वारा रचे गये होंगे। उसके और भी वाद के काल में मंत्रों के अर्थों से यह पता चला कि वे दैवी रचना नहीं हो सकते ; क्योंकि वे मनुष्य को, पशुओं को कष्ट देने के समान अनेक अपवित्र काम करने को कहते हैं; इसके अतिरिक्त, हम वेदों में वहुत सी हास्यास्पद कथाएँ भी पाते हैं। इस कथन का कि 'वेद अनादि और नित्य हैं', शुद्ध अर्थ यह है कि उनके द्वारा मनुष्य के प्रति जो नियम अथवा सत्य उद्घाटित होता है, वह स्थायी और अपरिवर्तनशील है। न्याय, ज्यामिति, रसायन-शास्त्र आदि भी ऐसे नियम या सत्य को उद्घाटित करते हैं, जो स्थायी और अपरिवर्तनशील हैं और इस अर्थ में वे अनादि और नित्य हैं। पर ऐसा कोई सत्य या नियम नहीं है, जो वेदों में अनुपस्थित हो, और मैं आपमें से प्रत्येक से कहूँगा कि आप मुझे ऐसा कोई भी सत्य वतायें, जिसका विवेचन वेदों में न किया गया हो।

प्र०---अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्ति का तात्पर्य क्या है, अथवा दूसरे शब्दों में क्या वह एक चेतन अवस्था है? क्या अद्वैतवाद की मुक्ति और वौद्ध मत के निर्वाण में कोई अंतर है?

उ०---मुक्ति में एक चेतना है, जिसे हम अतिचेतना कहते हैं। वह आपकी इस समय की चेतना से भिन्न है। यह कहना तर्कसंगत नहीं होगा कि मुक्ति में चेतना नहीं है। चेतना तीन प्रकार की होती है---मंद, मध्यम और तीव्र---जैसा कि प्रकाश में होता है। जव कम्पन तीव्र होता है, तो चमक इतनी शक्तिशाली होती है कि उससे दृष्टि चौंधिया जाती है, और परिणामत: वह उतनी ही व्यर्थ होती है, जितना कि मंदतम प्रकाश। वौद्ध लोग चाहे कुछ भी कहें, उनके निर्वाण में भी चेतना की मात्रा इतनी ही होनी चाहिए। हमारी मुक्ति की परिभाषा अपनी प्रकृति में सकारात्मक है, जव कि वौद्धों के निर्वाण की नकारात्मक है।

प्र०---निरुपाधिक व्रह्म संसार की सृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए उपाधि क्यों स्वीकार करता है?

उ०---यह प्रश्न स्वयं में अत्यधिक तर्करहित है। व्रह्म अवाङ्मनसगोचरम् है अर्थात् वह शब्द और मन द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। देश, काल और कार्य-कारण के क्षेत्र से जो परे है, वह मानव-मस्तिष्क की कल्पना से वाहर है; और तर्क तथा जिज्ञासा का क्षेत्र केवल देश, काल और कार्य-कारण की सीमा के भीतर ही

है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठाना कि मानव-कल्पना की संभावनाओं से परे क्या है, एक निरर्थक प्रयत्न है।

प्र०—कहीं कहीं पुराणों में ऐसे छिपे हुए विचारों की स्थापना का प्रयत्न किया जाता है, जो कहा जाता है कि उनमें रूपकों के रूप में उपस्थित हैं। कभी यह कहा जाता है कि यह आवश्यक नहीं कि पुराणों में कोई ऐतिहासिक सत्य हो; वे वास्तव में काल्पनिक पात्रों की सहायता से चित्रित केवल उच्चतम विचारों के निरूपण हैं। विष्णुपुराण, रामायण अथवा महाभारत इसके उदाहरण हैं: क्या उनमें ऐतिहासिक सत्य है, अथवा वे तात्त्विक सत्यों के रूपकात्मक निरूपण हैं, अथवा वे मानव के आचरण के लिए उच्चतम आदर्शों के निरूपण हैं अथवा वे होमर की रचनाओं की भाँति केवल महाकाव्य मात्र हैं?

उ०—प्रत्येक पुराण के केन्द्र में कोई न कोई ऐतिहासिक सत्य है। पुराणों का उद्देश्य मनुष्य मात्र को विभिन्न रूपों में उदात्त सत्य की शिक्षा देना है; और यदि उनमें कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं है, तो भी वे उस उच्चतम सत्य के विषय में, जिसका वे प्रचार करते हैं, हमारे लिए प्रामाणिक रचनाएँ हैं। उदाहरण के लिए रामायण को लीजिए। चरित्र-निर्माण के संबंध में उसको एक प्रामाणिक रचना की दृष्टि से देखने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राम के समान कोई व्यक्ति कभी रहा हो। रामायण अथवा महाभारत के द्वारा उपस्थित की गयी व्यवस्था की उदात्तता राम अथवा कृष्ण के समान किसी व्यक्ति के सत्य होने पर निर्भर नहीं है, और हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा व्यक्ति कभी हुआ ही नहीं; इसके साथ ही इन रचनाओं को मानव-जाति के सम्मुख उनके द्वारा रखे जानेवाले महान् विचारों के लिए उच्च प्रामाणिकता प्रदान कर सकते हैं। हमारा दर्शन अपने सत्य के लिए किसी व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। कृष्ण ने संसार को कोई बात नयी अथवा मौलिक नहीं बतायी और न रामायण में कोई ऐसी बात कही गयी है, जो धर्मशास्त्रों में नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि ईसाई मत ईसा के अभाव में, इस्लाम मुहम्मद के बिना, बौद्ध मत बुद्ध के बिना खड़ा नहीं रह सकता, पर हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति पर आश्रित नहीं है; और पुराणों के दार्शनिक सत्य के मूल्यांकन के उद्देश्य से हमें इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि उनमें जिन व्यक्तियों का वर्णन किया गया है, वे वास्तव में हाड़-मांस के मनुष्य थे अथवा कल्पित पात्र। पुराणों का उद्देश्य मनुष्यों को शिक्षा देना है और जिन ऋषियों ने उनकी रचना की है, उन्होंने कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों को लिया, उनके ऊपर बिल्कुल अपनी इच्छा के अनुसार सर्वोत्तम अथवा सबसे हीन गुणों का आरोपण किया और मनुष्य-जाति के आचरण के लिए नैतिक नियम निर्धारित किये। क्या यह आवश्यक है

कि जैसा रामायण में वर्णित है, दस शिरोंवाले (दशमुख) एक राक्षस, को यथार्थ में होना ही चाहिए था! यह सत्य विशेष का निरूपण है, जो असल में इस प्रश्न से अलग अध्ययन की वस्तु है कि दशमुख वास्तविक था अथवा काल्पनिक पात्र। अब आप कृष्ण को कुछ अधिक आकर्षक रीति से चित्रित कर सकते हैं, और यह चित्रण आपके आदर्श की उदात्तता पर निर्भर करता है, पर पुराणों के भीतर महान् दर्शन निहित है।

प्र०—क्या यह सम्भव है कि यदि कोई मनुष्य सिद्ध हो तो, वह अपने पूर्व जन्मों की घटनाओं को याद रखे? पिछले जन्म में उसका जो शारीरिक मस्तिष्क था और जिसमें उसके अनुभवों के प्रभाव संचित थे, अब उपस्थित नहीं है। इस जन्म में उसे एक नया शारीरिक मस्तिष्क मिला है, और ऐसी स्थिति में वर्तमान मस्तिष्क के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह एक ऐसे दूसरे उपकरण द्वारा प्राप्त किये गये प्रभावों तक पहुँच जाय, जिसका अब अस्तित्व ही नहीं है?

स्वमी जी—सिद्ध से आपका क्या तात्पर्य है?

संवाददाता—वह जिसने अपनी प्रकृति की गुप्त शक्तियों को विकसित कर लिया है।

स्वामी जी—मेरी समझ में नहीं आता कि गुप्त शक्तियाँ किस प्रकार विकसित की जा सकती हैं। मैं समझ रहा हूँ कि आप क्या कहना चाहते हैं, पर मैं सदा यह चाहता हूँ कि जिन शब्दों का उपयोग किया जाय, वे सुनिश्चित और ठीक हों। आप कह सकते हैं कि गुप्त शक्तियों का उद्घाटन किया जाता है। यह सम्भव है कि वे लोग, जिन्होंने अपनी प्रकृति की गुप्त शक्तियों को उद्घाटित कर लिया है, अपने पूर्व जन्मों से संबंधित घटनाओं को स्मरण रखें, क्योंकि उनके वर्तमान मस्तिष्क का बीज मृत्यु के उपरांत सूक्ष्म मनुष्य में होता है।

प्र० क्या हिन्दू धर्म की भावना उसमें बाहरी लोगों को सम्मिलित होने की अनुमति देती है? और क्या ब्राह्मण चांडाल के द्वारा की हुई दर्शन की व्याख्या को सुन सकता है?

उ०—निज धर्म में दूसरों का सम्मिलित होना हिन्दुओं द्वारा सहन किया जाता है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह शूद्र हो या चांडाल, ब्राह्मण के प्रति भी दर्शन की व्याख्या कर सकता है। सत्य निम्नतम व्यक्ति से भी सीखा जा सकता है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा सम्प्रदाय का हो।

यहाँ स्वामी जी ने अपने कथन के समर्थन में उच्च प्रामाणिकता के संस्कृत श्लोक उद्धृत किये।

वार्तालाप समाप्त हो गया, क्योंकि कार्यक्रम में उनके मंदिर जाने का निश्चित समय हो गया था। इसलिए उन्होंने उपस्थित सज्जनों से विदा ली और मन्दिर चले गये।

७

विदेशों की बात और देश की समस्याएँ

('दि हिन्दू', मद्रास, फ़रवरी, १८९७)

हमारे एक प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द से गाड़ी में चिंगलपुट स्टेशन पर मिले और उनके साथ मद्रास तक आये। इस भेंट का विवरण यहाँ दिया जा रहा है :

"स्वामी जी, आप अमेरिका किसलिए गये थे ?"

"यह प्रश्न कुछ ऐसा गंभीर है कि इसका उत्तर संक्षेप में देना कठिन है। मैं अभी इसका उत्तर अंशतः देता हूँ। क्योंकि मैंने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की थी और मैं दूसरे देशों की भी यात्रा करना चाहता था। मैं अमेरिका सुदूर पूर्व होकर गया।"

"आपने जापान में क्या देखा, और क्या ऐसी सम्भावना है कि भारत जापान के प्रगतिशील चरणों का अनुसरण करे ?"

"बिल्कुल नहीं, जब तक कि भारत के तीस करोड़ एक सम्पूर्ण राष्ट्र की भाँति परस्पर मिल नहीं जाते, यह सम्भव नहीं। संसार ने कभी जापानियों के समान देशभक्त और कलाप्रिय जाति नहीं देखी; और उनकी एक विशेषता यह है कि जब कि यूरोप और दूसरे देशों में कला, साधारणतया गंदगी के साथ पायी जाती है, जापान में कला का अर्थ होता है कला+परम स्वच्छता। मेरी इच्छा है कि हमारे नवयुवकों में से प्रत्येक अपने जीवन में कम से कम एक बार जापान अवश्य जाय। वहाँ जाना बहुत आसान है। जापानी समझते हैं कि हिन्दुओं की प्रत्येक वस्तु महान् है; और विश्वास करते हैं कि भारत पवित्र भूमि है। जापानी बुद्धमत उससे बिल्कुल भिन्न है, जो हमें लंका में दिखायी देता है। वह बिल्कुल वेदांत है। वह सकारात्मक और ईश्वरवादी बुद्धमत है, लंका का नकारात्मक निरीश्वरवादी बुद्धमत नहीं।

"जापान की हठात् महानता की कुंजी क्या है ?"

"जापानियों का अपने में विश्वास और अपने देश के लिए उनका अनुराग। जब आपके पास ऐसे मनुष्य होंगे, जो अपना सब कुछ देश के लिए होम कर देने को तैयार

हों, भीतर तक एकदम सच्चे, जब ऐसे मनुष्य उठेंगे, तो भारत प्रत्येक अर्थ में महान् हो जायगा। ये मनुष्य हैं, जो देश को महान् बनाते हैं! देश का अर्थ क्या होता है? यदि आप जापानियों की सामाजिक नैतिकता और राजनीतिक नैतिकता ले लेते हैं, तो आप उतने ही महान् हो जायँगे, जितने जापानी हैं। जापानी अपने देश के लिए सब कुछ बलिदान करने को तैयार हैं और वे एक महान् राष्ट्र बन गये हैं। पर आप ऐसे नहीं हैं और आप नहीं बन सकते; आप अपना सब कुछ केवल अपने परिवारों और अपनी सम्पत्ति के लिए ही बलिदान कर सकते हैं।"

"क्या आपकी यह इच्छा है कि भारत जापान के समान हो जाय?"

"निश्चय ही नहीं। भारत को वही रहना चाहिए, जो वह है। भारत कभी जापान के समान कैसे हो सकता है, और वास्तव में कोई भी देश उसके समान कैसे हो सकता है? प्रत्येक राष्ट्र का, जैसा कि संगीत में होता है, एक मुख्य स्वर होता है, एक केन्द्रीय विषय-वस्तु होती है, जिस पर अन्य सब बातें घूमती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है, अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता धर्म है। समाज-सुधार और अन्य सब बातें गौण हैं। इसलिए भारत जापान के जैसा नहीं हो सकता। यह कहा जाता है कि जब हृदय को ठेस लगती है, तो भावनाएँ उमड़ती हैं। भारत के हृदय को ठेस पहुँचनी चाहिए और आध्यात्मिकता का प्रवाह फूट निकलेगा। भारत भारत है। हम जापानियों जैसे नहीं हैं, हम हिन्दू हैं। भारत का वातावरण ही शांति देनेवाला है। मैं यहाँ निरन्तर काम कर रहा हूँ और इस काम में मुझे विश्राम मिल रहा है। हमें भारत में केवल आध्यात्मिक कार्य से ही विश्राम मिल सकता है। यदि आप यहाँ पार्थिव कार्य करते हैं, तो आप मरते हैं—मधुमेह से।"

"यह तो जापान की बात रही। स्वामी जी, आपका अमेरिका का प्रथम अनुभव कैसा रहा?"

"वह आदि से अंत तक बहुत अच्छा रहा। मिशनरियों और 'चर्च-नारियों' (Church-women) को छोड़कर, अमेरिका के लोग अत्यन्त अतिथि-सत्कारी, दयालु, उदार और अच्छे स्वभाववाले हैं।"

"ये 'चर्च-नारियाँ', जिनकी आप बात कह रहे हैं, कौन हैं, स्वामी जी?"

"जब कोई नारी अपने लिए पति खोजने का अधिक से अधिक प्रयत्न करती है, तो वह सभी फ़ैशनेबुल समुद्रतटीय स्नान-स्थानों पर जाती है, और किसी पुरुष को पकड़ पाने के लिए सब प्रकार के छल-छद्म काम में लाती है। जब वह अपने प्रयत्नों में असफल रहती है तो वह, जैसा कि अमेरिका में कहते हैं, 'ओल्ड मेड' हो जाती है और चर्च में सम्मिलित हो जाती है। उनमें से कुछ चर्च के काम में बहुत उत्साह

प्रदर्शित करती हैं। ये चर्च-नारियाँ बहुत दुराग्रही होती हैं। वे वहाँ पादरियों के कठोर शासन में रहती हैं। वे और पादरी मिलकर पृथ्वी को नरक बनाते हैं और धर्म की मिट्टी पलीत करते हैं। इनके अतिरिक्त अमेरिका के निवासी बहुत अच्छे हैं। वे मुझसे स्नेह करते थे, और मैं उन्हें बहुत स्नेह करता हूँ। मुझे लगता था कि मानो मैं भी उन्हींमें से एक हूँ।"

"धर्मों की महासभा के परिणामों के विषय में आपकी क्या राय है?"

"जैसा कि मुझे लगता है, कि धर्म-महासभा इस विचार से की गयी थी कि संसार के सामने गैर-ईसाइयों का प्रदर्शन हो, पर वहाँ हुआ यह कि ग़ैर-ईसाइयों के हाथ ही बाज़ी रही और सब प्रकार से ईसाइयों का ही प्रदर्शन हो गया। इसलिए ईसाइयों के दृष्टिकोण से वह सफल नहीं हुई। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जो रोमन कैथोलिक उस महासभा के संगठनकर्ता थे, वे ही अब, जब कि पेरिस में दूसरी महासभा बुलाने की बात चल रही है, उसका दृढ़तापूर्वक विरोध कर रहे हैं। पर शिकागो की महासभा भारत और भारतीय विचारों के लिए अत्यन्त महान् सफलता थी। उसने वेदांत की लहर को सहायता दी, जो अब संसार भर में फैल गयी है। अमेरिका के लोग निश्चय ही, कट्टर पादरियों और चर्च-नारियों को छोड़कर, महासभा के परिणामों से बहुत प्रसन्न हैं।"

"स्वामी जी, आपके संदेश के इंग्लैण्ड में फैलने की क्या सम्भावना है?"

"सम्भावना काफ़ी अच्छी है। थोड़े से वर्षों में ही अंग्रेज़ों का बहुत बड़ा बहुमत वेदांती हो जायगा। इंग्लैण्ड में इसकी सम्भावना अमेरिका से अधिक है। बात यह है कि अमेरिकी प्रत्येक वस्तु का बड़ा धूम-धड़ाका करते हैं, अंग्रेजों के विषय में ऐसी बात नहीं है। ईसाई भी अपने नवीन व्यवस्थान को बिना वेदांत समझे नहीं समझ सकते। वेदांत सब धर्मों का बौद्धिक सार है। वेदांत के बिना सब धर्म अंधविश्वास हैं; इसके साथ मिलकर प्रत्येक वस्तु धर्म बन जाती है।"

"आपने अंग्रेज़ों के चरित्र में कौन सी विशेषता परिलक्षित की?"

"अंग्रेज़ ज्यों ही किसी वस्तु में विश्वास करने लगता है, तुरंत व्यावहारिक कार्य में जुट जाता है। व्यावहारिक कार्य के लिए उसकी क्षमता अद्भुत है। समस्त संसार में अंग्रेज़ भद्र पुरुष अथवा महिला से बढ़िया कोई दूसरा मानव प्राणी नहीं है। अंग्रेज़ों में मेरा विश्वास होने का कारण यही है। जॉन बुल व्यवहार में कुछ मोटी बुद्धि के सज्जन हैं। आपको किसी विचार को उस समय तक दोहराना चाहिए, जब तक कि वह उनके मस्तिष्क में न पहुँच जाय, पर एक बार वहाँ पहुँच जाने के बाद वह फिर बाहर नहीं निकलता। इंग्लैण्ड में एक भी धर्म-प्रचारक अथवा व्यक्ति नहीं था, जिसने मेरे विरुद्ध कुछ कहा हो, एक भी

ऐसा नहीं, जिसने किसी प्रकार मेरी बदनामी करने का प्रयत्न किया हो। मुझे आश्चर्य है कि मेरे मित्रों में से बहुत से इंग्लैण्ड के चर्च के हैं। मुझे पता लगा है कि ये धर्म-संघ के सदस्य इग्लैण्ड के ऊँचे वर्गों में से नहीं आते। जाति वहाँ भी उतनी कठोर है, जितनी कि यहाँ, और अंग्रेज़ी चर्च के लोग भद्र जनों के वर्ग के हैं। उनका मत आपसे भिन्न हो सकता है, पर इससे उनके आपके मित्र होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसलिए, मैं अपने देशवासियों को छोटी सी सलाह दूँगा और वह यह है कि तीखा बोलनेवाले धर्म-प्रचारकों की ओर ध्यान न दीजिए, क्योंकि अब मैं जानता हूँ कि वे क्या हैं। जैसा कि अमेरिकी लोग कहते हैं, हमने उन्हें 'नाप लिया' है। उनके प्रति हमें जो रुख़ अपनाना है, वह यही है कि हम उन्हें मानते ही नहीं।"

"स्वामी जी, क्या आप मुझे अमेरिका और इंग्लैण्ड के समाज-सुधार-आन्दोलनों के बारे में कुछ बताने की कृपा करेंगे?"

"हाँ। सब सामाजिक उथल-पुथल करनेवाले, कम से कम उनके नेता यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उनके समस्त साम्यवादी सिद्धान्तों का आधार आध्यात्मिक होना चाहिए, और वह आध्यात्मिक आधार केवल वेदांत में है। मुझसे मेरा भाषण सुननेवाले कितने ही नेताओं ने कहा है कि उन्हें नयी व्यवस्था के आधार के रूप में वेदांत की आवश्यकता है।"

"भारतीय जनसमुदाय के विषय में आपकी क्या राय है?"

"हम अत्यंत दरिद्र हैं, और हमारी जनता को पार्थिव वस्तुओं के बारे में बहुत कम ज्ञान है। हमारे जन बहुत अच्छे हैं, क्योंकि यहाँ दरिद्र होना अपराध नहीं है। हमारी जनता हिंसक नहीं है। अमेरिका और इंग्लैण्ड में मैं बहुत बार केवल अपनी वेश-भूषा के कारण भीड़ों द्वारा प्रायः आक्रांत किया गया हूँ। पर भारत में मैंने ऐसी बात कभी नहीं सुनी कि भीड़ किसी मनुष्य की वेश-भूषा के कारण उसके पीछे पड़ गयी हो। अन्य सभी बातों में, हमारी जनता यूरोप की जनता की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य है।"

"हमारी जनता के सुधार के लिए आप क्या सुझाव देंगे?"

"उन्हें हमें लोकोपयोगी शिक्षा देनी होगी। हमें अपने पूर्वजों द्वारा निश्चित की हुई योजना के अनुसार चलना होगा, अर्थात् सब आदर्शों को धीरे धीरे जनता में पहुँचाना होगा। उन्हें धीरे-धीरे ऊपर उठाइए, अपने बराबर उठाइए। उन्हें लौकिक ज्ञान भी धर्म के द्वारा दीजिए।"

"पर स्वामी जी, क्या आप समझते हैं कि यह काम सरलता से पूरा किया जा सकता है?"

"निश्चय ही इसे धीरे धीरे आगे बढ़ाना होगा। पर यदि यहाँ काफ़ी आत्म-बलिदानी युवक हों, जैसा कि मैं आशा करता हूँ, मेरे साथ काम करेंगे, तो यह कल किया जा सकता है। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि कितने उत्साह और कितने आत्म-बलिदान से कार्य किया जाता है।"

"पर स्वामी जी, यदि उनकी वर्तमान पतित अवस्था उनके पूर्व जन्मों के कर्म के कारण है, तो आप कैसे समझते हैं कि वे सरलता से उससे छुटकारा पा सकेंगे; और आप उनकी सहायता के लिए क्या उपाय सुझायेंगे?"

स्वामी जी ने तुरंत उत्तर दिया, "कर्म मनुष्य की स्वतंत्रता की एक चिर प्रतिज्ञा है। यदि हम स्वयं को अपने कर्म से नीचे गिरा सकते हैं, तो निश्चय ही यह हमारी क्षमता में है कि हम उसके द्वारा अपने को ऊँचा उठायें। इसके अतिरिक्त जनता ने अपने को केवल अपने कर्म से ही नीचे नहीं गिराया है। इसलिए हमें उनको काम करने के लिए अधिक अच्छी परिस्थितियाँ देनी चाहिए। मैं जातियों को किसी प्रकार मिटाने की बात नहीं कहता। जाति-प्रथा बहुत अच्छी व्यवस्था है। जाति वह योजना है, जिसके अनुसार हम चलना चाहते हैं। जाति वास्तव में क्या है, यह लाखों में से एक भी नहीं समझता। संसार में एक भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ जाति-भेद न हो। भारत में हम जाति के द्वारा ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं, जहाँ जाति नहीं रह जाती। जाति-प्रथा सदा इसी सिद्धांत पर आधारित है। भारत में योजना है कि प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया जाय; ब्राह्मण मानवता का आदर्श है। यदि आप भारत का इतिहास पढ़ेंगे, तो पायेंगे कि सदा नीचे वर्गों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है। बहुत से वर्ग हैं, जो उठाये गये हैं और भी अधिक उठाये जायँगे, जब तक कि सब ब्राह्मण नहीं हो जायँगे।

"यह योजना है। हमें उन्हें ऊपर ही उठाना है, किसीको नीचे नहीं गिराना है। और यह काम स्वयं ब्राह्मणों को करना है, क्योंकि यह प्रत्येक अभिजात वर्ग का कर्तव्य है कि वह अपनी क़ब्र आप ही खोदे, और वह जितनी जल्दी खोदता है, वह उतना ही सबके लिए अच्छा होता है। इसमें बिल्कुल देर नहीं लगानी चाहिए। यूरोप और अमेरिका में जिस तरह का जाति-भेद है, भारतीय जाति-भेद उससे अच्छा है। मैं यह नहीं कहता कि वह एकदम अच्छा है। यदि जाति न होती, तो आज आप कहाँ होते? यदि जाति न होती, तो आपका ज्ञान-भंडार और दूसरी वस्तुएँ कहाँ होतीं? यदि जाति न होती तो, आज यूरोपवालों के अध्ययन करने के लिए कुछ भी न बचा होता। मुसलमानों ने सब कुछ नष्ट कर दिया होता। वह कौन सा स्थल है, जहाँ हम भारतीय समाज को स्थिर खड़ा पाते हैं? यह सदा गतिमान रहा है। कभी कभी, जैसे कि विदेशी आक्रमणों के समय में, यह गति

मंद रही है, पर दूसरे अवसरों पर अधिक तेज़ रही है। मैं अपने देशवासियों से यही कहता हूँ। मैं उन्हें दोष नहीं देता। मैं उनके अतीत में देखता हूँ। मैं देखता हूँ कि ऐसी परिस्थितियों में कोई भी देश इससे अधिक शानदार काम नहीं कर सकता था। मैं उन्हें बताता हूँ कि आपने बहुत अच्छा काम किया है। और उनसे केवल और अच्छा करने के लिए कहता हूँ।"

"स्वामी जी, जाति के साथ अनुष्ठानों के संबंध के विषय में आपके क्या विचार हैं?"

"जाति निरंतर बदल रही है, अनुष्ठान निरंतर बदल रहे हैं, यही दशा विधियों की है। यह केवल सार है, सिद्धांत है, जो नहीं बदलता। हमें अपने धर्म का अध्ययन वेदों में करना है; वेदों को छोड़कर अन्य सब ग्रंथों में परिवर्तन अनिवार्य है। वेदों की प्रामाणिकता सदा के लिए है; उनके अतिरिक्त हमारे दूसरे ग्रंथों की प्रामाणिकता केवल विशिष्ट समय के लिए है। उदाहरण के लिए, एक स्मृति एक युग में शक्तिशाली होती है, तो दूसरी दूसरे युग में। महान् पैग़म्बर सदा आते रहते हैं और काम करने का मार्ग बताते रहते हैं। कुछ पैग़म्बरों ने निम्न वर्गों के लिए काम किया है, और मध्व के समान दूसरों ने नारी को वेदों के अध्ययन का अधिकार दिया है। जाति-व्यवस्था का नाश नहीं होना चाहिए; उसे केवल समय समय पर परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाना चाहिए। हमारी पुरानी व्यवस्था के भीतर इतनी जीवनी-शक्ति है कि उससे दो लाख नयी व्यवस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। जाति-व्यवस्था को मिटाने की बात करनी कोरी बुद्धिहीनता है। नयी रीति यह है कि—पुरातन का विकास हो।"

"क्या हिन्दुओं को सामाजिक सुधारों की आवश्यकता नहीं है?"

"निश्चय ही, हमें सामाजिक सुधारों की आवश्यकता है। समय समय पर महान् पुरुष प्रगति के नये विचारों का विकास करते है और राजा उन्हें क़ानून का समर्थन देते हैं। पुराने समय में भारत में समाज-सुधार इसी प्रकार किये गये हैं और वर्तमान समय नें ऐसे प्रगतिशील सुधार करने के लिए हमें पहले एक ऐसी अधिकारी सत्ता का निर्माण करना होगा। राजा अब नहीं रहे, अधिकार जनता के पास है। इसलिए हमें उस समय तक ठहरना होगा, जब तक कि लोग शिक्षित न हो जायँ, जब तक वे अपनी आवश्यकताओं को न समझने लगें और अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए तैयार न हो जायँ और ऐसा करने की क्षमता न प्राप्त कर लें। अल्पमत का अत्याचार संसार में सबसे दारुण अत्याचार है। इसलिए, उन आदर्श सुधारों पर, जो कभी व्यावहारिक नहीं होंगे, अपनी शक्ति व्यर्थ नष्ट करने के स्थान पर, यह अच्छा होगा कि हम इस समस्या की जड़ तक पहुँचें और एक

व्यवस्थापिका संस्था का निर्माण करें; तात्पर्य यह कि लोगों को शिक्षित करें, जिससे कि वे स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकें। जब तक यह नहीं किया जाता, तब तक ये सब आदर्श सुधार केवल आदर्श ही रहेंगे। नये युग का विधान है कि जनता ही जनता का परित्राण करे; और इसे विशषतया भारत में, जो अतीत में सदा राजाओं द्वारा शासित रहा है, कार्यान्वित करने में समय लगेगा।"

"क्या आप समझते हैं कि हिन्दू समाज यूरोपीय सामाजिक नियमों को सफलतापूर्वक अपना सकता है?"

"नहीं, पूर्णतया नहीं। मेरा कहना है कि यूरोपीय राष्ट्रों की वहिर्मुखी शक्ति जिस यूनानी मस्तिष्क का परिचय देती है, उसका और हिन्दू आध्यात्मिकता का संयोग भारत के लिए एक आदर्श समाज होगा। उदाहरण के लिए, आपके वास्ते यह नितांत आवश्यक है कि अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करने और अवसर निरर्थक वातें वनाने के स्थान पर, आप अंग्रजों से नेताओं की आज्ञा का तुरंत पालन, ईर्ष्याहीनता, अथक लगन और अटूट आत्मविश्वास की शिक्षा प्राप्त करें। जब वह किसी काम के लिए एक नेता चन लेता है, तो अंग्रेज़ हार-जीत में सदा उसका साथ देता है और उसकी आज्ञा पालन करता है। यहाँ भारत में प्रत्येक व्यक्ति नेता वनना चाहता है, आज्ञा-पालन करनवाला कोई भी नहीं है। आज्ञा देने की क्षमता प्राप्त करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा-पालन करना सीखना चाहिए। हमारी ईर्ष्याओं का कहीं अंत नहीं है; और जो हिन्दू जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह उतना ही अधिक ईर्ष्यालु है। जब तक हिन्दू ईर्ष्या से बचना और नेताओं की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखता, उसमें संगठन की क्षमता नहीं आयेगी। हम उस समय तक आज की तरह अत्यंत अव्यवस्थित भीड़ बने रहेंगे; हम कोरी आशा करते रहेंगे, कर कुछ भी नहीं सकेंगे। भारत को यूरोप से वाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना है और यूरोप को भारत से अंतःप्रकृति की विजय सीखनी होगी। तव न हिन्दू होंगे और न यूरोपियन, होगी आदर्श मानव-जाति, जिसने वाह्य और अंतः, दोनों प्रकृतियों को जीत लिया होगा। हमने मानव-जाति के एक पहलू का विकास किया है, तो उन्होंने दूसरे का। चाहिए यह कि दोनों का मेल हो। मुक्ति शब्द, जो हमारे धर्म का मूलमंत्र है, वास्तव में, भौतिक मुक्ति, मानसिक मुक्ति और आध्यात्मिक मुक्ति का वोध कराता है।"

"स्वामी जी, अनुष्ठान और धर्म के बीच में क्या संबंध है?"

"अनुष्ठान धर्म की शिशुशाला है। संसार आजकल जैसा है, उसके लिए वे नितांत आवश्यक हैं। हमें लोगों को नये और ताज़े अनुष्ठान देने होंगे। यह

काम चिन्तकों के एक दल को अपने ऊपर लना होगा। पुराने अनुष्ठानों को समाप्त किया जाना चाहिए और उनके स्थान पर नयों की स्थापना होनी चाहिए।"

"तो आप अनुष्ठानों को मिटाने का समर्थन करते हैं; ठीक है न ?"

"नहीं, मेरा ध्येय निर्माण है, विनाश नहीं। वर्तमान अनुष्ठानों में से नये अनुष्ठानों का विकास करना होगा। प्रत्येक वस्तु में विकास की अनन्त क्षमता है, ऐसा मेरा विश्वास है। एक परमाणु के पीछे समस्त ब्रह्मांड की शक्ति है। हिन्दू जाति के इतिहास में सदा केवल निर्माण का प्रयत्न रहा है, विनाश का कभी नहीं किया गया। एक सम्प्रदायवालों ने विनाश करना चाहा और वे भारत से बाहर निकाल दिये गये; वे बौद्ध थे। हमारे यहाँ से सुधारक—शंकर, रामानुज, मध्व और चैतन्य—हुए हैं। ये महान् सुधारक थे, जो सदा निर्माता रहे और उन्होंने अपने समय की परिस्थिति के अनुसार निर्माण किया। यह काम करने की हमारी विशिष्ट विधि है। सब आधुनिक सुधारक युरोप के विनाशात्मक सुधार की नक़ल करना चाहते हैं, इससे न कभी किसी की भलाई हुई है और न होगी। केवल एक आधुनिक सुधारक हुए हैं, जो अधिकतर निर्माता रहे हैं और वे थे राजा राममोहन राय। हिन्दू जाति की प्रगति वेदांती आदर्शों को प्राप्त करने की दिशा में रही है। भारतीय जीवन का समस्त इतिहास वह प्रयत्न है, जो उसने सुख अथवा दुःख में होकर वेदांत के आदर्शों तक पहुँचने के लिए किया है। जब कभी कोई ऐसा सुधारवादी सम्प्रदाय अथवा धर्म उदित हुआ, जिसने वेदांती आदर्श की अवहेलना की, तो उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया।"

"आपका यहाँ का कार्यक्रम क्या है ?"

"मैं अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए दो संस्थाएँ चलाना चाहता हूँ, एक मद्रास में और एक कलकत्ते में। संक्षेप में वह योजना है : वेदांती आदर्शों को संत और पापी, ज्ञानी और मूर्ख, ब्राह्मण और चांडाल के नित्यप्रति के व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठित करना।"

यहाँ हमारे प्रतिनिधि ने उनसे भारतीय राजनीति के विषय में कुछ प्रश्न पूछे, पर इससे पहले कि स्वामी जी उनका कुछ उत्तर देते, गाड़ी एगमोर प्लेटफ़ार्म पर पहुँच गयी। जल्दी में स्वामी जी के मुँह से जो निकला, वह यह था कि वे भारतीय और यूरोपीय समस्याओं के राजनीतिक उलझाव के परम विरोधी हैं। यहाँ यह समालाप समाप्त हो गया।

८

पश्चिम में प्रथम हिन्दू संन्यासी का मिशनरी कार्य और भारत के पुनर्जागरण के लिए उनकी योजना

('मद्रास टाइम्स', फरवरी, १८९७)

पिछले कुछ सप्ताहों से मद्रास की हिन्दू जनता बड़ी उत्सुकता के साथ विश्व-विख्यात महान् हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के आगमन की राह देख रही है। इस समय उनका नाम प्रत्येक की ज़बान पर है। स्कूल में, कॉलेज में, हाईकोर्ट में, मेरीना पर और मद्रास की गलियों तथा बाजारों में हज़ारों उत्सुक लोग यह पूछते सुने जा सकते हैं कि स्वामी जी कब आ रहे हैं। मुफ़स्सिल से विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिए आनेवाले अनेक विद्यार्थी स्वामी जी की प्रतीक्षा में यहीं ठहरे हुए हैं और अपने माता-पिता के तुरंत घर लौट आने के आदेशों के बावजूद अपने होस्टल का बिल बढ़ा रहे हैं। कुछ दिनों में स्वामी जी हमारे बीच में होंगे। इस प्रेसीडेंसी में उनका दूसरे स्थानों पर जो स्वागत हुआ है उससे, यहाँ होनेवाली तैयारियों से, जहाँ यह 'पैग़म्बर' हिन्दू जनता के खर्च पर ठहराये जायेंगे, उस कैंसिल करनान पर निर्मित तोरण-द्वारों से, और उस रुचि से, जो इस कार्य में माननीय श्रीमान् न्यायाधीश सुब्रह्मण्य अय्यर जैसे नगर के प्रमुख हिन्दू द्वारा इस आन्दोलन में प्रदर्शित की गयी है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि स्वामी जी का शानदार स्वागत होगा। यहाँ मद्रास में ही स्वामी जी की महान् क्षमताएँ सबसे पहले पहचानी गयीं और उन्हें शिकागो भेजने का प्रबंध किया गया। अब मद्रास को फिर इस असंदिग्ध रूप से महान् व्यक्ति का स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त होगा, जिसने अपनी मातृभूमि का मान बढ़ाने के लिए इतना काम किया है। चार वर्ष पहले जब स्वामी जी यहाँ आये थे, तो वे लगभग एक अज्ञात व्यक्ति थे। सेंट थोमे में एक अज्ञात बंगले में उन्होंने लगभग दो महीने बिताये। इस अवधि में उन्होंने निरंतर धार्मिक विषयों पर वार्तालाप किया और उन सब आनेवालों को शिक्षा तथा उपदेश दिया, जो उनकी बात सुनना चाहते थे। उस समय भी कुछ साधारण से अधिक पैनी दृष्टि के शिक्षित युवकों ने कहा था कि इस मनुष्य में कुछ विशिष्टता है, और भविष्यवाणी की थी कि इनकी यह 'शक्ति' इन्हें अन्य सब लोगों से ऊँचा उठायेगी और उन्हें मनुष्यों का नेता बनने में विशेष रूप से सहायता करेगी। जिनकी उस समय 'भटके हुए उत्साही' और 'स्वप्नदर्शी पुनर्जागरणवादी' कहकर अवज्ञा की जाती थी, इन युवकों को अब इस बात का अत्यंत संतोष है कि उनके स्वामी जी, जैसा कि उन्हें कहना पसंद करते हैं, महान्

यूरोपीय और अमेरिकी ख्याति प्राप्त करके उनके पास लौट आये हैं। स्वामी जी का संदेश अनिवार्यतः आध्यात्मिक है। उनका दृढ़ विश्वास है कि भारत का, इस आध्यात्मिकता की मातृभूमि का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। उनको आशा है कि जिसे वे वेदांत का उदात्त सत्य कहते हैं, पश्चिम के लोग उसे अधिकाधिक समझने लगेंगे। उनका आदर्श-वाक्य है, 'सहायता, झगड़ा नहीं', 'स्वांगीकरण, विनाश नहीं,' 'समन्वय और शांति, संघर्ष नहीं।' उनके साथ अन्य धर्मावलम्बियों का चाहे कुछ भी मतभेद हो, केवल कुछ ही इस बात को अस्वीकार करेंगे कि स्वामी जी ने 'हिन्दू धर्म में स्थित शुभ' के प्रति पश्चिमी संसार की आँखें खोलकर अपने देश की महान् सेवा की है। वे सदा उस प्रथम हिन्दू संन्यासी के रूप में स्मरण किये जायँगे, जिन्होंने पश्चिम को उस बात का सन्देश पहुँचाने के लिए समुद्र पार करने का साहस किया था, जिसे वे धार्मिक शांति समझते हैं।

हमारे पत्र के एक प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द से पश्चिम में उनके संदेश की सफलता का कुछ विवरण प्राप्त करने की दृष्टि से मिले। स्वामी जी ने बहुत नम्रतापूर्वक हमारे प्रतिनिधि का स्वागत किया और उन्हें अपनी बगल की कुर्सी पर बैठने का संकेत किया। स्वामी जी पीले वस्त्र धारण किये हुए शांत, गंभीर और गौरवयुक्त दिखायी देते थे, और किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के लिए तैयार जान पड़ते थे। हम स्वामी जी के अपने प्रतिनिधि द्वारा शीघ्रलिपि में लिखे गये शब्दों को यथावत् यहाँ दे रहे हैं।

"क्या मैं आपके आरम्भिक जीवन के बारे में कुछ बातें जान सकता हूँ?" हमारे प्रतिनिधि ने पूछा।

स्वामी जी ने कहा, "जब मैं कलकत्ते में विद्यार्थी था, तब मेरी प्रकृति धार्मिक थी। मैं अपने जीवन के उस काल में भी विवेचक था, मुझे केवल शब्दों से संतोष नहीं होता था। बाद में मैं रामकृष्ण परमहंस से मिला, मैं उनके साथ बहुत समय तक रहा और मैंने उनके चरणों में अध्ययन किया। अपने पिता की मृत्यु के बाद मैं भारत में भ्रमण करने लगा और कलकत्ते में एक छोटा सा आश्रम आरम्भ किया। अपनी यात्राओं में मद्रास आया। यहाँ मैंने मैसूर के महाराजा और रामनाड़ के राजा से सहायता पायी।"

"वह क्या बात थी, जिसने आपको पश्चिमी देशों में हिन्दू धर्म का संदेश ले जाने की प्रेरणा दी?"

"मैं अनुभव प्राप्त करना चाहता था। मेरे विचार से हमारे राष्ट्रीय पतन का असली कारण यह है कि हम दूसरे राष्ट्रों से नहीं मिलते-जुलते—यही अकेला और एकमात्र कारण है। हमें कभी दूसरों के अनुभवों के साथ अपने

अनुभवों के मिलान करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। हम कूपमंडूक—कुँए के मेढक बने रहे।"

"आपने पश्चिम में काफ़ी अधिक यात्रा की है?"

"मैं यूरोप में जर्मनी और फ्रांस सहित काफ़ी स्थानों पर गया हूँ, पर मेरे कार्य के मुख्य क्षेत्र इंग्लैंड और अमेरिका थे। आरम्भ में मैंने वहाँ अपने को एक विकट स्थिति में पाया। कारण यह था कि जो लोग भारत से वहाँ गये थे, उनका रुख़ इस देश के निवासियों के प्रति विरोधपूर्ण था। मेरा विश्वास है कि भारतीय राष्ट्र समस्त राष्ट्रों में अत्यधिक सदाचारी और धार्मिक राष्ट्र है। किसी दूसरे राष्ट्र से हिन्दुओं की तुलना करना ईश-निन्दा करने के समान पातक होगा। पहले-पहल बहुत से लोगों ने मेरा विरोध किया, बड़ी बड़ी मिथ्या बातों की उद्भावना की; यह कहा गया कि मैं एक कपटी पुरुष हूँ, मेरे यहाँ पत्नियों का एक हरम, और बच्चों की आधी सेना है। पर इन मिशनरियों का मुझे जो अनुभव हुआ, उससे मेरी आँखें खुल गयीं कि ये लोग धर्म के नाम पर क्या कुछ कर सकते हैं? इंग्लैंड में मिशनरी कहीं नहीं थे। वहाँ मुझसे लड़ने के लिए कोई नहीं आया। मिस्टर लंड मुझे पीठ पीछे गालियाँ देने के लिए अमेरिका गये, पर लोगों ने उनकी बात नहीं सुनी। मैं वहाँ बहुत जनप्रिय था। जब मैं इंग्लैंड लौटा, तो मने सोचा था कि यह मिशनरी वहाँ मेरे ऊपर आक्रमण करेगा, पर सत्य ने उसका मुँह बंद कर दिया। इंग्लैंड में सामाजिक स्थिति भारत के जाति-भेद की तुलना में अधिक कठोर है। अंग्रेजी चर्च के लोग सब भद्र जनों की संतान हैं, जो कि बहुत से मिशनरी नहीं हैं। उन्होंने मेरे प्रति बहुत सहानुभूति प्रदर्शित की। मैं समझता हूँ कि अंग्रेजी चर्च के लगभग तीस पादरी धार्मिक विवेचन की सभी बातों में मेरे साथ पूर्ण रूप से सहमत हैं। मुझे यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि अंग्रेज धर्माचार्यों ने मुझसे मतभेद होने पर भी, न तो पीठ पीछे मुझे गालियाँ दीं और न धोखा देकर मुझे हानि ही पहुँचायी। यहाँ जाति और आनुवंशिक संस्कृति का लाभ स्पष्ट दिखायी देता है।"

"पश्चिम में आपको कितनी सफलता मिली है?"

"अमेरिका में इंग्लैंड की अपेक्षा बहुत अधिक लोगों की सहानुभूति मेरे साथ थी। वहाँ नीची जातिवाले मिशनरियों की गालियों की बौछारों के कारण मेरे उद्देश्य को अधिक सफलता मिली। मेरे पास रुपया बिल्कुल नहीं था। भारत के लोगों ने मुझे मार्ग-व्यय भर दिया था, और वह थोड़े ही समय में ख़र्च हो गया। मुझे यहाँ की भाँति वहाँ भी व्यक्तियों के दान पर ही निर्भर रहना पड़ा। अमेरिकी लोग बहुत अतिथि-सत्कारी हैं। अमेरिका में एक तिहाई लोग ईसाई हैं, पर शेष

का कोई धर्म नहीं है अर्थात् उनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से नहीं है, पर उनमें वहुत से अत्यंत आध्यात्मिक व्यक्ति पाये जाते हैं। मैं समझता हूँ कि इंग्लैंड में काम पक्का है। यदि मैं कल मर जाऊँ और किसी संन्यासी को न भेज सकूँ, तो भी इंग्लैंड का काम चलता रहेगा। मनुष्य के रूप में अंग्रेज वहुत अच्छा होता है। उसे वचपन से ही अपनी भावना को दवाकर रखना सिखाया जाता है। वह कुछ मोटी वुद्धिवाला होता है, फ्रांसीसी अथवा अमेरिकी के समान तेज़ नहीं होता। वह अत्यधिक व्यावहारिक होता है। अमेरिकी जाति की आयु अभी इतनी कम है कि त्याग की वात उनकी समझ में नहीं आ सकती। इंग्लैंड ने युगों से सम्पत्ति और विलास का आनन्द लिया है। वहाँ वहुत से लोग त्याग के लिए तैयार हैं। जव मैंने इंग्लैंड में पहला भाषण दिया, तो मेरी कक्षा छोटी सी, वीस या तीस व्यक्तियों की थी। वह मेरे जाने के वाद भी चलती रही, और जव मैं अमेरिका से वापस लौटा, तो मुझे एक हजार श्रोता प्राप्त हुए। अमेरिका में मुझे और भी अधिक श्रोता मिलते थे; वहाँ मैंने तीन वर्ष लगाये थे, जव कि इंग्लैंड को केवल एक वर्ष दिया था। वहाँ मेरे दो संन्यासी हैं—एक इंग्लड में और दूसरा अमेरिका में, और मेरी इच्छा है कि मैं दूसरे देशों में भी संन्यासी भेजूँ।

"अंग्रेज़ लोग अत्यंत मेहनती हैं। उन्हें एक विचार दे दीजिए, और आप विश्वास रखिए कि वह नष्ट नहीं होगा; शर्त यह है कि बात उनकी समझ में आ जाय। यहाँ लोगों ने वेदों को छोड़ दिया है, और आपका समस्त दर्शन रसोई में है। आजकल भारत का धर्म 'मत छुओ-वाद' है। यह ऐसा धर्म है, जिसे अंग्रेज़ कभी स्वीकार नहीं करेंगे। हमारे पूर्वजों के विचारों को और उनके द्वारा अन्वेषित आश्चर्यजनक जीवनदायी सिद्धांतों को प्रत्येक राष्ट्र ग्रहण कर लेगा। अंग्रेज़ी चर्च के उच्चतम अधिकारियों ने मुझसे कहा है कि आप वेदांत को वाइविल में स्थापित किये दे रहे हैं। वर्तमान हिन्दू धर्म एक अध:पतन है। आजकल लिखी जानेवाली दर्शनशास्त्र की एक भी पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें हमारे वेदांत के बारे में कुछ न कहा गया हो—हर्बर्ट स्पेन्सर की रचनाओं में भी यह उपस्थित है। इस युग का दर्शन अद्वैतवाद है, सब इसकी चर्चा करते हैं; केवल यूरोप में लोग मौलिक होने का प्रयत्न करते हैं। वे हिन्दुओं की चर्चा अवज्ञा से करते हैं, पर उसके साथ ही हिन्दुओं द्वारा दिये गये सत्यों को निगल लेते हैं। प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर पूर्ण वेदांती हैं और उन्होंने वेदांत में शानदार काम किया है। वे पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।"

"आप भारत के पुनर्जागरण के लिएं क्या करना चाहते हैं?"

"मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे वड़ा राष्ट्रीय पाप जनसमुदाय की उपेक्षा है, और वह भी हमारे पतन का एक कारण है। हम कितनी ही राजनीति बरतें,

उससे उस समय तक कोई लाभ नहीं होगा, जब तक कि भारत का जनसमुदाय एक बार फिर सुशिक्षित, सुपोषित और सुपालित नहीं होता। वे हमारी शिक्षा के लिए धन देते हैं, हमारे मंदिर बनाते हैं, और बदले में ठोकरें पाते हैं। वे व्यवहारतः हमारे दास हैं। यदि हम भारत को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, तो हमें उनके लिए काम करना होगा। मैं युवकों को धर्म-प्रचारक के रूप में प्रशिक्षित करने के लिए पहले दो केन्द्रीय संस्थाएँ आरम्भ करना चाहता हूँ, एक मद्रास में और दूसरी कलकत्ते में। कलकत्ते की संस्था बनाने के लिए मेरे पास धन है। मेरे उद्देश्य के लिए अंग्रेज प्रबंध कर देंगे।

"मेरा विश्वास युवा पीढ़ी में, नयी पीढ़ी में है; मेरे कार्यकर्ता उनमें से आयेंगे। सिंहों की भाँति वे समस्त समस्या का हल निकालेंगे। मैंने अपना आदर्श निर्धारित कर लिया है और उसके लिए अपना समस्त जीवन दे दिया है। यदि मुझे सफलता नहीं मिलती, तो मेरे बाद कोई अधिक उपयुक्त व्यक्ति आयेगा और इस काम को सँभालेगा, और मैं अपना संतोष प्रयत्न करने में ही मानूँगा। आपके सामने है जनसमुदाय को उसका अधिकार देने की समस्या। आपके पास संसार का महानतम धर्म है और आप जनसमुदाय को सारहीन और निरर्थक बातों पर पालते हैं। आपके पास चिरंतन बहता हुआ स्रोत है और आप उन्हें गंदी नाली का पानी पिलाते हैं। आपका मद्रास का स्नातक एक नीची जाति के व्यक्ति का स्पर्श नहीं करेगा, पर वह अपनी शिक्षा के लिए उससे रुपया खींचने को तैयार है। मैं पहले इन दोनों संस्थाओं को धर्म-प्रचारकों को शिक्षा देने के लिए खोलना चाहता हूँ। ये धर्मोपदेशक हमारे जनसमुदाय के दोनों प्रकार के, आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षक होंगे। वे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में उस समय तक फैलेंगे, जब तक कि हम सम्पूर्ण भारत पर नहीं छा जायँगे। सबसे बड़ी बात यह है कि अपने में विश्वास रहे, ईश्वर में विश्वास होने से भी पहले; पर कठिनाई यह मालूम होती है कि दिन-प्रतिदिन अपने ऊपर से हमारा विश्वास घटता जा रहा है। सुधारकों के विरुद्ध मेरी यही आपत्ति है। अमार्जित होने के बावजूद सनातनी लोगों में अपने ऊपर अधिक विश्वास और अधिक शक्ति है, पर सुधारक केवल युरोपीय लोगों के चंगुल में फँसते हैं और उनके अहंकार को उभारने में सहायक होते हैं। दूसरे देशों के जनसमुदायों की तुलना में हमारे जनसमुदाय देवता हैं। केवल यही देश ऐसा है, जहाँ दरिद्रता अपराध नहीं है। वे मानसिक और शारीरिक रूप से सुन्दर हैं; पर हमने उनकी इतनी अवज्ञा की है, उनसे इतनी घृणा की है कि उनका अपने ऊपर से विश्वास उठ गया है। वे समझने लगे हैं कि वे जन्मजात दास हैं। उन्हें उनका अधिकार दीजिए और उन्हें अपने अधिकारों पर खड़ा होने दीजिए। यह है अमेरिकी सभ्यता

की महिमा। अभी जहाज से उतरे हुए झुके घुटनेवाले और अधभूखे आयरिश, जिसके पास केवल एक छोटी सी छड़ी और कपड़े की पोटली है, उसकी तुलना उसके उस रूप से कीजिए, जब वह कुछ महीने अमेरिका में रह लेता है। अब वह दृढ़तापूर्वक और तनकर चलता है। वह उस देश से जहाँ वह दास था, एक ऐसे देश में आया है, जहाँ वह भाई है।

"विश्वास कीजिए कि आत्मा अमर है, अनन्त है और सर्वशक्तिमान है। मैं शिक्षा को गुरु के साथ सम्पर्क—गुरु-गृहवास—समझता हूँ। गुरु के व्यक्तिगत जीवन के अभाव में शिक्षा नहीं हो सकती। अपने विश्वविद्यालयों को लीजिए। अपने पचास वर्ष के अस्तित्व में उन्होंने क्या किया है? उन्होंने एक भी मौलिक व्यक्ति पैदा नहीं किया। वे केवल परीक्षा लेने की संस्थाएँ हैं। सबके कल्याण के लिए बलिदान की भावना का अभी हमारे राष्ट्र में विकास नहीं हुआ है।"

"श्रीमती बेसेंट और थियोसॉफ़ी के बारे में आपका क्या विचार है?"

"श्रीमती बेसेंट बहुत अच्छी महिला हैं। मैंने लंदन में उनके लॉज में भाषण दिया था। मैं व्यक्तिगत रूप से उनके बारे में विशेष नहीं जानता। हमारे धर्म के विषय में उनका ज्ञान बहुत सीमित है। वे यहाँ-वहाँ से कुछ टुकड़े उठा लेती हैं। उन्हें कभी इसका पूर्ण अध्ययन करने का समय नहीं मिला है। उनका बड़े से बड़ा शत्रु भी यह स्वीकार करेगा कि वे श्रेष्ठतम सच्ची महिलाओं में से एक हैं। वे इंग्लैण्ड में सर्वोत्तम वक्ता समझी जाती हैं। वे एक संन्यासिनी हैं। पर मैं महात्माओं और कुथुमियों (Kuthumis) में विश्वास नहीं करता। वे थियोसॉफ़िकल सोसाइटी से अपना सम्बन्ध तोड़ लें, अपने पैरों पर खड़ी हों और जिस बात को वे ठीक समझती हों, उसका प्रचार करें।"

सामाजिक सुधारों की बात करते समय विधवा-विवाह के सम्बन्ध में स्वामी जी ने कहा, "मैंने अभी तक ऐसा देश नहीं देखा है, जिसके भाग्य का निर्णय इस बात से होता हो कि वहाँ की विधवाओं को कितने पति प्राप्त होते हैं।"

हमारे प्रतिनिधि यह जानते थे कि नीचे कई व्यक्ति स्वामी जी से भेंट करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसलिए पत्रकारिता सम्बन्धी यन्त्रणा की स्वीकृति देकर जो कृपा की थी, उसके लिए उन्होंने स्वामी जी को धन्यवाद दिया, और उनसे विदा ली।

यह भी उल्लेखनीय है कि स्वामी जी के साथ श्री और श्रीमती जे० एच० सेवियर, श्री टी० जी० हैरिसन, कोलम्बो के एक बौद्ध सज्जन और श्री जे० जे० गुडविन हैं। ऐसा जान पड़ता है कि श्री और श्रीमती सेवियर इस विचार से स्वामी जी के साथ हैं कि वे हिमालय में बसेंगे; और वहाँ वे स्वामी जी के भारत आने के इच्छुक पश्चिमी

शिष्यों के लिए एक निवास बनायेंगे। बीस वर्षों से श्री और श्रीमती सेवियर किसी विशेष धर्म के अनुयायी नहीं रहे हैं। उन्हें जिन धर्मों का उपदेश मिला था, उनमें से किसीसे सन्तोष नहीं हुआ। पर स्वामी जी के भाषणों का एक क्रम सुनने के बाद उन्होंने स्वीकार किया कि उन्हें हृदय और मस्तिष्क को सन्तोष देनेवाला एक धर्म मिल गया है। तब से वे स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी और इटली में, और अब भारत में स्वामी के साथ हैं। श्री गुडविन, जो इंग्लैण्ड के एक पत्रकार हैं, चौदह महीने पहले जब वे स्वामी जी से प्रथम बार न्यूयार्क में मिले थे, उनके शिष्य बने थे। उन्होंने अपनी पत्रकारिता छोड़ दी है। वे अब स्वामी जी के साथ रहते हैं और उनके भाषणों को शीघ्रलिपि में लिखते हैं। वे प्रत्येक अर्थ में एक सच्चे 'शिष्य' हैं, और कहते हैं कि वे अपनी मृत्युपर्यन्त स्वामी जी के साथ रहने की आशा करते हैं।

९

राष्ट्रीय आधार पर हिन्दू धर्म का पुनर्जागरण

('प्रबुद्ध भारत', सितम्बर, १८९८)

'प्रबुद्ध भारत' के एक प्रतिनिधि ने अभी हाल में स्वामी विवेकानन्द से भेंट की और उन महान् उपदेशक से पूछा, "स्वामी जी, आप अपने कार्यक्रम की सबसे विशिष्ट बात क्या समझते हैं?"

"आक्रमण", स्वामी जी ने तुरन्त उत्तर दिया, "आक्रमण केवल धार्मिक अर्थ में। दूसरे सम्प्रदायों और दलों ने आध्यात्मिकता का भारत भर में प्रचार किया, पर बुद्ध के समय से हमीं पहले हैं, जिन्होंने सीमाओं को तोड़ा है और संसार को मिशनरी के उत्साह से आप्लावित करने का प्रयत्न किया है।"

"और भारत के सम्बन्ध में आप अपने आन्दोलन की कार्य-पद्धति क्या समझते हैं?"

"हिन्दू धर्म के व्यापक आधारों को प्राप्त करना और उनके प्रति राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करना। आजकल भारत में 'हिन्दू' शब्द के अन्तर्गत तीन दल आते हैं: सनातनी, मुसलमान काल के सुधारवादी सम्प्रदाय और आधुनिक युग के सुधारवादी सम्प्रदाय। उत्तर से दक्षिण तक हिन्दुओं का केवल एक बात में एक मत है, और वह है गोमांस न खाना।"

"वेदों के प्रति व्यापक प्रेम के बारे में नहीं है?"

"निश्चय ही नहीं। यही है, जिसे हम फिर से जगाना चाहते हैं। भारत ने अभी बुद्ध के कार्य को आत्मसात नहीं किया है। वह उनकी वाणी से सम्मोहित हो गया है, उसके द्वारा अनुप्राणित नहीं।"

"आप आज के भारत में बुद्धमत का महत्त्व किस प्रकार देखते हैं ?"

"यह स्पष्ट और अत्यधिक है। आप देखते हैं कि भारत किसी वस्तु को खोता नहीं; उसे प्रत्येक वस्तु को हाड़-मांस में परिवर्तित करने में समय लगता है। बुद्ध ने पशु-वलि पर प्रहार किया था और भारत उससे अभी तक नहीं सँभला है; और बुद्ध ने कहा, 'गाय को मत मारो', और अब गोवध हमारे लिए असम्भव हो गया है।"

"स्वामी जी, आपने जिन तीन दलों के नाम लिये हैं, उनमें से आप किसके साथ हैं ?"

"हम सभीके साथ हैं। हम सनातनी हिन्दू हैं", स्वामी जी ने कहा और वे अचानक बड़ी गम्भीरता से बलपूर्वक बोले, "पर हम अपने आपको 'मत छुओ-वाद' में बिल्कुल सम्मिलित नहीं करना चाहते। वह हिन्दू धर्म नहीं है : वह हमारे किसी ग्रन्थ में नहीं है; वह एक सनातनी अन्धविश्वास है, जिसने हमारी राष्ट्रीय क्षमता को सदा हानि पहुँचायी है।"

"तब आप वास्तव में जो चाहते हैं, वह है राष्ट्रीय क्षमता ?"

"निश्चय ही। क्या आप कोई ऐसी बात बता सकते हैं, जिसके कारण भारत आर्य राष्ट्रों में निचले स्थान पर पड़ा रहे ? क्या वह बुद्धि में मन्द है ? क्या वह कौशल में कम है ? आप उसकी कला को देखिए, उसके गणित को देखिए, उसके दर्शन को देखिए, और फिर कहिए कि क्या आप मेरे प्रश्नों के उत्तर में 'हाँ' कह सकते हैं ? केवल इस बात की आवश्यकता है कि वह सम्मोह को दूर करे, युगों की निद्रा से जाग जाय और राष्ट्रों की पंक्ति में अपना वास्तविक स्थान ग्रहण करे।"

"पर भारत का अपना गम्भीर आन्तरिक जीवन रहा है। स्वामी जी, क्या आपको इसका भय नहीं है कि उसको क्रियाशील बनाने के प्रयत्न में आप उससे उसकी एक महान् निधि ले लेंगे ?"

"बिल्कुल नहीं। अतीत के इतिहास ने भारत के आन्तरिक जीवन का और पश्चिम की सक्रियता (अर्थात् बाह्य जीवन) का विकास किया है। अभी तक ये एक दूसरे से दूर रहे हैं। अब समय आ गया है कि वे परस्पर मिलें। रामकृष्ण परमहंस जीवन की गहराइयों के प्रति जाग्रत थे, फिर भी बाहरी तल पर उनसे अधिक सक्रिय और कौन था ? यही भेद की बात है। आप अपने जीवन को महासागर के समान गहरा बनाइए, पर उसे आकाश के समान विस्तृत भी होने दीजिए।

स्वामी जी कहते रहे, "यह एक विचित्र बात है कि आन्तरिक जीवन अक्सर वहाँ अत्यन्त गहराई के साथ विकसित होता है, जहाँ बाहरी दशाएँ अत्यन्त बाधक और सीमित होती हैं। पर यह संयोग अवसर की बात है—अनिवार्य नहीं है, और यदि हम यहाँ भारत में अपने आपको ठीक कर लेते हैं, तो संसार भी 'ठीक हो जायगा।' क्योंकि क्या हम सब एक नहीं हैं?"

"स्वामी जी, आपकी पिछली बात से एक दूसरा प्रश्न उठता है। श्री रामकृष्ण किस अर्थ में इस जाग्रत हिन्दू धर्म के एक अंश हैं?"

स्वामी जी ने कहा, "यह निश्चय करने का काम मेरा नहीं है। मैंने कभी व्यक्तियों का प्रचार नहीं किया। स्वयं मेरे जीवन का पथ इस महान् आत्मा के उत्साह से प्रदर्शित है। पर दूसरे लोग स्वयं अपने लिए इस बात का निर्णय करें कि वे इस मत से कितने सहमत हैं। संसार को अंतःस्फुरण केवल एक स्रोत से नहीं मिलता, चाहे वह कितना ही विशाल हो। प्रत्येक पीढ़ी को नये सिरे से स्फुरित किया जाना चाहिए। क्या हम सब ईश्वर नहीं हैं?"

"धन्यवाद। अब मुझे आपसे केवल एक प्रश्न और पूछना है। आपने अपने देशवासियों के प्रति अपने आन्दोलन का रुख़ और कार्य-प्रणाली स्पष्ट की है। क्या इसी प्रकार आप व्यापक रूप से अपनी कार्य-विधि के बारे में कुछ कह सकेंगे?"

स्वामी जी ने कहा, "हमारी कार्य-विधि बहुत सरलता से बतायी जा सकती है। वह केवल राष्ट्रीय जीवन को पुनः स्थापित करना है। बुद्ध ने 'त्याग' का प्रचार किया था। भारत ने सुना और फिर भी छः शताब्दियों में वह अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। भेद यहाँ है। भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं: त्याग और सेवा। आप इसकी इन धाराओं में तीव्रता उत्पन्न कीजिए, और शेष सब अपने आप ठीक हो जायगा। इस देश में आध्यात्मिकता का झंडा कितना ही ऊँचा क्यों न किया जाय, वह पर्याप्त नहीं होता। केवल इसीमें भारत का उद्धार है।"

१०

भारतीय नारियाँ—उनका भूत, वर्तमान और भविष्य

('प्रबुद्ध भारत', दिसम्बर, १८९८)

हमारा प्रतिनिधि लिखता है:

यह हिमालय की एक सुहावनी घाटी में एक रविवार के तड़के की बात है कि मैं अन्त में अपने सम्पादक की आज्ञा पालन करने और स्वामी विवेकानन्द से भारतीय

नारियों की स्थिति और भविष्य के बारे में उनके विचारों का कुछ पता लगाने के लिए मिलने में सफल हुआ।

जब मैंने अपना कार्य बताया, तो स्वामी जी ने कहा, "चलो, टहलने चलें।" और हम तुरन्त संसार के कुछ सबसे अधिक रमणीक दृश्यों के बीच चल दिये।

हम चले धूप और छाया के मार्गों से, शान्त गाँवों के बीच, खेलते हुए बच्चों में होकर और सुनहरे मक्के के खेतों के पार। यहाँ ऊँचे वृक्ष ऊपर आकाश में छेद करते हुए मालूम होते थे और वहाँ किसान कन्याओं का दल कलगीदार मक्के के पौधों को काटकर जाड़े के भण्डारों के लिए ले जाने के वास्ते हाथ में हँसिया लिए झुका हुआ था। अब सड़क एक सेबों के बाग़ में से गुज़रती थी; यहाँ हरे, गुलाबी फलों के बड़े ढेर वृक्षों के नीचे छाँटे जाने के लिए पड़े हुए थे। और फिर हम खुले में आ गये। हमारे सामने हिमाद्रि था, जो आकाश की पृष्ठभूमि पर सफ़ेद बादलों से ऊपर सौन्दर्य की महान् प्रतिमा की भाँति उठा हुआ था।

अन्त में मेरे साथी ने मौन तोड़ा। उन्होंने कहा, "नारी के आर्य और सेमेटिक आदर्श सदा ही एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत रहे हैं। सेमेटिक लोगों में नारी की उपस्थिति भक्ति में बाधक मानी गयी है, और वहाँ वह कोई धार्मिक कृत्य नहीं करती, जैसे कि भोजन के लिए एक पक्षी को मारना तक भी : आर्य लोगों के अनुसार पुरुष कोई भी धार्मिक कृत्य अपनी पत्नी के बिना नहीं कर सकता।"

"पर स्वामी जी!" मैंने इतनी व्यापक और अप्रत्याशित स्थापना से चौंककर कहा, "क्या हिन्दू धर्म आर्य धर्म नहीं है?"

स्वामी जी शान्त भाव से बोले, "आधुनिक हिन्दू धर्म अधिकतर पौराणिक है, अर्थात् बुद्ध के बाद उत्पन्न हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि यद्यपि पत्नी गार्हपत्य अग्नि में आहुति प्रदानरूप वैदिक अनुष्ठान के लिए नितान्त आवश्यक है; पर वह शालग्राम-शिला अथवा घर में ठाकुर जी की मूर्ति को नहीं छू सकती, क्योंकि वे पिछले पुराण-काल की उत्पत्ति हैं।"

"और इसलिए आपका विचार है कि हम लोगों में नारी की असमानता पूर्णतया बौद्ध मत के प्रभाव के कारण है?"

"जहाँ वह है, निश्चय ही ऐसा है," स्वामी जी ने कहा, "पर हमें यूरोपीय आलोचना की अचानक आयी हुई बाढ़ और उसके कारण अपने में उत्पन्न हुई अन्तर की भावना के वशीभूत होकर अपनी नारियों की असमानता के विचार को स्वीकार करने में अत्यधिक शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। परिस्थितियों ने हमारे लिए अनेक शताब्दियों से नारी की रक्षा की आवश्यकता को अनिवार्य बनाया है। हमारे इस रिवाज का कारण इस तथ्य में है, नारी की हीनता में नहीं।"

"तो स्वामी जी, आप हमारे बीच नारियों की स्थिति से पूर्णतया सन्तुष्ट हैं ?"

"कदापि नहीं", स्वामी जी ने कहा, "पर हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल शिक्षा का प्रचार कर देने तक ही सीमित है। हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुँचा देना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्या को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें। उनके लिए यह काम न कोई कर सकता है और न किसीको करना ही चाहिए। और हमारी भारतीय नारियाँ संसार की अन्य किन्हीं भी नारियों की भाँति इसे करने की क्षमता रखती हैं।"

"वह बुरा प्रभाव, जिसका कारण आप बुद्धमत को बतात्ते हैं, क्यों आया ?"

"वह केवल धर्म के क्षय से आया।" स्वामी जी ने कहा, "प्रत्येक आन्दोलन अपने कुछ असाधारण लक्षणों के कारण विजय प्राप्त करता है, और जब वह गिरता है, तो यही गर्व का विषय उसकी दुर्बलता का मुख्य तत्त्व बन जाता है। भगवान् बुद्ध, मनुष्यों में महानतम, अद्भुत संगठनकर्ता थे, और उन्होंने इस साधन से संसार को विजित किया। पर उनका धर्म भिक्षुओं का धर्म था। इसलिए इसका बुरा प्रभाव यह पड़ा कि स्वयं भिक्षुक का वेश ही आदर का पात्र हो गया। उन्होंने पहली बार धर्म-स्थानों पर सामूहिक जीवन का भी आरम्भ किया और उससे नारियों को अनिवार्यतः नरों से हीन बना दिया; क्योंकि महा भिक्षुणियाँ कुछ विशिष्ट भिक्षुओं की सलाह के बिना कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकती थीं। इससे उनके तात्कालिक उद्देश्य, धर्म की दृढ़ता, की तो पूर्ति हो गयी; पर आप देखते हैं कि उसके जो दूरगत परिणाम निकले, वही शोचनीय हुए।"

"पर संन्यास को तो वेदों की स्वीकृति प्राप्त है !"

"निश्चय ही है; पर उसमें नर और नारी के बीच कोई भेद नहीं किया गया है। आपको याद होगा कि राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से किस प्रकार प्रश्न पूछे गये थे ? उनकी मुख्य प्रश्न करनेवाली थी, वाचक्नवी, वाग्मी कन्या—ब्रह्मवादिनी, जैसा कि उन दिनों कहा जाता था। वह कहती है, "मेरे प्रश्न एक कुशल धनुर्धर के हाथ में दो चमकदार तीरों के समान हैं।" उसके नारी होने की चर्चा भी नहीं की गयी है। और फिर, क्या वनों में स्थित हमारे पुरातन विश्वविद्यालयों में लड़कों और लड़कियों की समानता से अधिक पूर्ण कुछ और हो सकता है। हमारे संस्कृत नाटकों को पढ़िए, शकुन्तला की कहानी पढ़िए और देखिए कि क्या टेनीसन की 'प्रिन्सेज़' हमें कुछ सिखा सकती है ?"

"स्वामी जी, हमारे अतीत के गौरव को उद्घाटित करने की आपकी रीति अद्भुत है !"

"शायद इसलिए कि मैंने संसार को दोनों तरफ़ से देखा है", स्वामी जी ने नम्रता-

पूर्वक कहा, "और मैं जानता हूँ कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया है—चाहे उसने उसकी कल्पना ही की हो—नारी के प्रति उसका आदर पृथ्वी पर अद्वितीय है। पश्चिमी नारी के कन्धों पर क़ानूनी दृढ़ता से बँधे हुए बहुत-से बोझ हैं, जिनका हमारी नारियों को पता भी नहीं है। निश्चय ही हमारे अपने दोष हैं और अपने अपवाद हैं, पर इसी प्रकार उनके भी हैं। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि संसार भर में सबका प्रयत्न यह रहा है कि प्रेम, दया और ईमानदारी को अभिव्यक्ति दी जाय, और यह भी कि इस अभिव्यक्ति के लिए निकटतम माध्यम राष्ट्रीय रीति-रिवाज हैं। जहाँ तक घरेलू गुणों का सम्बन्ध है, मुझे यह कहने में तनिक भी झिझक नहीं है कि हमारे भारतीय रीति-रिवाज़ बहुत सी बातों में सभी दूसरों से अच्छे हैं।"

"तो स्वामी जी, क्या हमारी नारियों की कोई समस्या है भी ?"

"निश्चय ही हैं, उनकी समस्याएँ बहुत सी हैं और गम्भीर हैं, पर उनमें एक भी ऐसी नहीं है, जो जादू भरे शब्द 'शिक्षा' से हल न की जा सकती हो। पर वास्तविक शिक्षा की तो अभी हम लोगों में कल्पना भी नहीं की गयी है।"

"और आप उसकी परिभाषा कैसे करेंगे ?"

"मैं कभी किसी बात की परिभाषा नहीं करता", स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा, "फिर भी हम इसे मानसिक शक्तियों का विकास—केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं, अथवा व्यक्तियों को ठीक तरह से और दक्षतापूर्वक इच्छा करने का प्रशिक्षण देना कह सकते हैं। इस प्रकार हम भारत की आवश्यकता के लिए महान् निर्भीक नारियाँ तैयार करेंगे—नारियाँ जो संघमित्ना, लीला, अहल्याबाई, और मीराबाई की परम्पराओं को चालू रख सकें—नारियाँ जो वीरों की माताएँ होने के योग्य हों, इसलिए कि वे पवित्र और आत्मत्यागी हैं, और उस शक्ति से शक्तिशाली हैं, जो भगवान् के चरण छूने से आती है।"

"तो, स्वामी जी, आप समझते हैं कि शिक्षा में धार्मिक तत्त्व भी होना चाहिए ?"

"मैं धर्म को शिक्षा का अन्तरतम अंग समझता हूँ", स्वामी जी ने गम्भीरता से कहा। "ध्यान रखिए कि धर्म के विषय में मैं अपना अथवा किसी दूसरे की राय की बात नहीं कहता। मैं समझता हूँ कि शिक्षक को, जैसा कि दूसरी बातों में किया जाता है, चाहिए कि वह विद्यार्थिनी को उसके आरम्भिक बिन्दु से ले और उसे इस योग्य बनाये कि वह स्वयं अपने अल्पतम बाधा के मार्ग से विकसित हो सके।"

"पर निश्चय ही ब्रह्मचर्य को धर्म में उच्च आसन देकर, और माँ तथा पत्नी से उच्चतम स्थान लेकर और उसे इन सम्बन्धों से बचनेवाले लोगों को देकर नारी पर सीधा प्रहार किया गया है।"

स्वामी जी ने कहा, "आपको याद रखना चाहिए कि यदि धर्म नारी के लिए ब्रह्मचर्य को ऊँचा स्थान देता है, तो वह बिल्कुल वही बात पुरुष के लिए भी करता है। इसके अतिरिक्त आपके प्रश्न से मालूम होता है कि स्वयं आपके मन में कुछ अस्पष्टता है। हिन्दू धर्म मानवात्मा के लिए एक, केवल एक कर्तव्य बताता है। वह नश्वरता के बीच अविनश्वर को पाने की खोज है। कोई भी मनुष्य ऐसा एक मार्ग बताने का साहस नहीं करता, जिसके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है। विवाह अथवा अ-विवाह, भलाई अथवा बुराई, विद्वत्ता अथवा अज्ञान, इनमें से कोई भी उचित है, यदि वह हमें ध्येय की ओर ले जाता है। इस तरह, इस बात में और बुद्धमत में बड़ा अन्तर है, क्योंकि बुद्धमत का प्रमुख निर्देश यह है कि बाह्य के अस्थायित्व का अनुभव प्राप्त किया जाय, साधारणतः जो केवल एक तरह से किया जा सकता है। क्या आपको महाभारत में उस युवक योगी की कहानी याद है, जो अपनी मनोशक्ति पर इसलिए गर्व करता था कि उसने एक कौवे और एक सारस के शरीर को अपनी तीव्र इच्छा के अनुसार क्रोध से उत्पन्न हुई अग्नि से जला दिया था। क्या आपको याद है कि वह युवक योगी नगर में जाता है और पहले एक पत्नी को अपने रोगी पति की सेवा करते हुए पाता है और फिर कसाई धर्म-व्याध को देखता है, जिन दोनों ने सामान्य सच्चाई और कर्तव्य के मार्ग से ज्ञान प्राप्त किया है।"

"तो स्वामी जी, आप इस देश की नारियों को क्या सन्देश देंगे ?"

स्वामी जी ने कहा, "इस देश की नारियों को ही क्यों, मैं उनसे भी वही बात कहूँगा, जो पुरुषों से कहता हूँ। भारत में विश्वास करो और हमारे भारतीय धर्म में विश्वास करो। शक्तिशाली बनो, आशावान बनो और संकोच छोड़ो; और याद रखो कि यदि हम बाहर से कोई वस्तु लेते हैं, तो संसार की किसी अन्य जाति की तुलना में हिन्दू के पास उसके बदले में देने को अनन्त गुना अधिक है।"

११

हिन्दू धर्म की सीमा

('प्रबुद्ध भारत', अप्रैल १८९९)

हमारा प्रतिनिधि लिखता है :

सम्पादक का आदेश था कि मैं हिन्दू धर्म ग्रहण करने के प्रश्न पर स्वामी विवेकानन्द से भेंट करूँ। इस काम के लिए मुझे एक सन्ध्या को गंगा में बजरे की छत पर

अवसर मिला। अँधेरा हो चुका था और हम रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के बाँध पर रुक गये थे और स्वामी जी मुझसे बातें करने के लिए नीचे बजरे पर आयें।

समय और स्थान, दोनों एक से सुहावने थे। ऊपर तारे थे और चारों ओर—बहती हुई गंगा; और एक ओर खड़ा था अस्पष्ट रूप से आलोकित मठ-भवन, जिसकी पृष्ठभूमि में ताड़ और ऊँचे छायादार वृक्ष थे।

मैंने आरम्भ किया, "स्वामी जी, इस प्रश्न पर मैं आपसे समालाप करना चाहता हूँ कि हिन्दू धर्म से जो लोग बाहर निकल गये थे, उनको वापस लेने के विषय में आपकी क्या राय है। क्या आपकी राय है कि उनको स्वीकार किया जाना चाहिए ?"

स्वामी जी ने कहा, "निश्चय ही वे लिये जा सकते हैं और लिये जाने चाहिए।"

वे एक क्षण गम्भीर, विचारमग्न बैठे रहे और फिर बोले, "इसके अतिरिक्त यह भी है कि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो हमारी संख्या घट जायगी। जब मुसलमान पहले-पहल यहाँ आये, तो कहा जाता है—मैं समझता हूँ, प्राचीनतम मुसलमान इतिहास-लेखक फ़रिश्ता के प्रमाण से—कि हिन्दुओं की संख्या साठ करोड़ थी। अब हम लोग बीस करोड़ हैं। और फिर हिन्दू धर्म में से जो एक व्यक्ति बाहर जाता है, उससे हमारा एक व्यक्ति केवल कम ही नहीं होता, वरन् एक शत्रु भी बढ़ता है।

"फिर जो हिन्दू मुसलमान अथवा ईसाई बने हैं, उनमें से अधिकतर या तो तलवार के भय से बने हैं या जो इस प्रकार बने हैं, उनके वंशज हैं। इन लोगों पर किसी प्रकार की अयोग्यता आरोपित करना स्पष्ट ही अन्याय होगा। क्या कहा, जन्मत: परायों के बारे में ? क्यों, जन्मत: परायों के तो समूहों के समूह अतीत में हिन्दू धर्म में लिये गये हैं, और यह उपक्रम आज भी चल रहा है।

"मेरी अपनी राय में, यह कथन न केवल आदिम जातियों, सीमांत के राष्ट्रों और मुसलमानी विजय से पहले के लगभग सभी विजेताओं पर लागू होता है, वरन् उन जातियों के लिए भी सत्य है, जिनकी पुराणों में विशेष उत्पत्ति हुई है। मैं समझता हूँ कि वे लोग बाहर के थे और इस प्रकार स्वीकृत कर लिये गये।

"निश्चय ही प्रायश्चित्त का अनुष्ठान अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन करनेवालों के अपने मातृधर्म में लौटने के लिए उपयुक्त है; पर उन लोगों के लिए जो विजय के द्वारा—जैसे कि काश्मीर और नेपाल में—हमसे अलग कर दिये गये हैं, अथवा उन नये लोगों के लिए जो हममें सम्मिलित होना चाहते हैं, किसी प्रकार के प्रायश्चित की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।"

"पर ये लोग किस जाति के होंगे, स्वामी जी ?" मैंने पूछने का साहस किया, "उनकी कोई जाति होनी चाहिए, नहीं तो वे हिन्दुओं के इस विशाल समाज में कभी भी अंगीकृत नहीं हो सकते। हम उन्हें देने के लिए उचित स्थान कहाँ खोजें ?"

स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा, "लौटनेवाले लोग, निश्चय ही अपनी पहली जाति प्राप्त कर लेंगे। और नये लोग अपनी बना लेंगे।" आगे उन्होंने कहा, "आपको याद होगा कि वैष्णव धर्म में ऐसा पहले किया जा चुका है। विभिन्न जातियों से आये हुए और बाहर के लोग एक झण्डे के नीचे मिले और उन्होंने एक अपनी जाति बना ली—और वह भी बहुत आदरणीय। रामानुज से लेकर बंगाल के चैतन्य तक, सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने यही किया है।"

"और ये नये लोग शादी-विवाह कहाँ करेंगे?" मैंने पूछा।

"आपस में, जैसे कि अब करते हैं।" स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा।

"और उनके नाम?" मैंने पूछा, "मैं समझता हूँ कि बाहर से आनेवालों के और उन लोगों के, जो अहिन्दू नाम धारण किये हुए हैं, नाम फिर से रखे जाने चाहिए। आप उन्हें जाति के नाम देंगे अथवा और क्या?"

"निश्चय ही", स्वामी जी ने विचारपूर्वक कहा, "नाम में बहुत कुछ है!" और इस प्रश्न पर वे अधिक नहीं बोले।

पर मेरे दूसरे प्रश्न से वे उद्दीप्त हो उठे; मैंने पूछा, "स्वामी जी, क्या आप इन नव आगन्तुकों को बहुमुखी हिन्दू धर्म में से अपनी इच्छानुसार कोई धार्मिक विश्वास चुन लेने की स्वतन्त्रता देंगे, अथवा आप उनके लिए एक धर्म निश्चित कर देंगे।"

"क्या आप यह पूछ सकते हैं?" उन्होंने कहा, "वे अपने लिए आप चुनेंगे। क्योंकि जब तक मनुष्य स्वयं अपने लिए नहीं चुनता, हिन्दू धर्म की भावना ही नष्ट हो जाती है। हमारे धर्म का सार केवल इष्ट चुनने की इस स्वतन्त्रता में है।"

मैं इस कथन को बहुत महत्त्वपूर्ण समझता हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ, मेरे सामने जो व्यक्ति है, और किसी जीवित व्यक्ति की तुलना में उसने, वैज्ञानिक और सहानुभूतिपूर्ण भावना से हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों का अध्ययन करने में सबसे अधिक समय लगाया है; और इष्ट की स्वतन्त्रता स्पष्ट ही इतना बड़ा सिद्धान्त है कि उसमें समस्त संसार को स्थान दिया जा सकता है।

पर अब बात दूसरे विषयों पर चली गयी; और तब प्रेमपूर्वक नमस्कार के बाद इन महान् धर्मोपदेशक ने अपनी लालटेन उठायी और मठ में वापस चले गये, जब कि मैं गंगा के पथहीन पथ से उसकी विविध आकारों की नौकाओं के बीच निकलता-पैठता अपने घर, कलकत्ते वापस लौटा।

पत्रावली–४

पत्रावली–४

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

५४ पश्चिम ३३ वीं स्ट्रीट, न्यूयार्क
२४ अप्रैल, १८९५

प्रिय मित्र,

मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि थोड़े दिन से जो 'रहस्यवाद' पश्चिमी संसार में अकस्मात् आविर्भूत हुआ है, उसके मूल में यद्यपि कुछ सत्यता है, परन्तु अधिकांश में वह हीन और उन्मादी प्रवृत्ति से प्रेरित है। इस कारण मैंने धर्म के इस अंग से कुछ सम्बन्ध नहीं रखा है—न भारत में, न कहीं और ही। और ये रहस्यवादी मेरे अनुकूल भी नहीं हैं।...

मैं तुमसे पूर्णतः सहमत हूँ कि, चाहे पूर्व में या पश्चिम में, केवल अद्वैत दर्शन ही मानव-जाति को 'शैतान-पूजा' एवं इसी प्रकार के जातीय कुसंस्कारों से मुक्त कर सकता है और वही मनुष्य को अपनी प्रकृति में प्रतिष्ठित कर उसे शक्तिमान बना सकता है। स्वयं भारत में इसकी इतनी आवश्यकता है, जितनी की पश्चिम में, या कदाचित् वहाँ से भी अधिक। परन्तु यह काम कठिन और दुःसाध्य है। पहले इसमें रुचि उत्पन्न करनी पड़ेगी, फिर शिक्षा देनी पड़ेगी, और अन्त में समग्र प्रासाद का निर्माण करने में अग्रसर होना पड़ेगा।

पूर्ण निष्कपटता, पवित्रता, विशाल बुद्धि और सर्वविजयी इच्छा-शक्ति। इन गुणों से सम्पन्न मुट्ठी भर आदमियों को यह काम करने दो और सारे संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायगा। पिछले वर्ष इस देश में मैंने बहुत सा कार्य व्याख्यान रूप में किया, प्रचुर मात्रा में प्रशंसा प्राप्त की, परन्तु यह अनुभव हुआ कि वह कार्य मैं अपने लिए ही कर रहा था। धीरज से चरित्र का गढ़ना, सत्यानुभव के लिए कठिन संघर्ष करना—मनुष्य-जाति के भावी जीवन पर इसीका प्रभाव पड़ेगा। इसलिए इस वर्ष मैं इसी दिशा में कार्य करने की आशा रखता हूँ—स्त्री-पुरुषों की एक छोटी सी मण्डली को व्यावहारिक अद्वैत की उपलब्धि की शिक्षा देने की चेष्टा करना। मुझे मालूम नहीं कि कहाँ तक मुझे इस कार्य में सफलता प्राप्त होगी। यदि कोई अपने देश और सम्प्रदाय की अपेक्षा मनुष्य-जाति का भला करना चाहे, तो पश्चिम ही कार्य का उपयुक्त क्षेत्र है। मैं तुम्हारे पत्रिका

सम्बन्धी विचार से पूरी तरह सहमत हूँ। परन्तु यह सब करने के लिए व्यवसाय-बुद्धि का मुझमें पूरा अभाव है। मैं शिक्षा और उपदेश दे सकता हूँ और कभी कभी लिख सकता हूँ। परन्तु सत्य पर मुझे पूर्ण श्रद्धा है। प्रभु मुझे सहायता देंगे और मेरे साथ काम करने के लिए मनुष्य भी वे ही देंगे। मैं पूर्णतः शुद्ध, पूर्णतः निष्कपट और पूर्णतः निःस्वार्थी रहूँ—यही मेरी एकमेव इच्छा है।

सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः।—'सत्य की ही केवल विजय होती है, असत्य की नहीं। ईश्वर की ओर जाने का मार्ग सत्य में से है।' (अथर्ववेद) जो निजी क्षुद्र स्वार्थ को संसार के कल्याणार्थ त्यागता है, वह सम्पूर्ण सृष्टि को अपनाता है।...मैं इंग्लैण्ड आने के विषय में अनिश्चित हूँ। मैं वहाँ किसीको नहीं जानता, और यहाँ कुछ कार्य कर रहा हूँ। प्रभु अपने नियत समय पर मेरा पथ-प्रदर्शन करेंगे।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

१९ पश्चिम ३८ वीं स्ट्रीट,
न्यूयार्क

प्रिय मित्र,

तुम्हारा अन्तिम पत्र यथासमय मिला। इसी अगस्त महीने के अन्त में यूरोप जाने की व्यवस्था पहले ही हो चुकी थी, इसलिए तुम्हारे आमन्त्रण को मैं तो भगवान् का ही आह्वान समझता हूँ।

सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः। मिथ्या का कुछ पुट रहने पर सत्य का प्रचार सहज ही सम्भव है—ऐसी जिनकी धारणा है, वे भ्रान्त हैं। समय आने पर वे पायेंगे कि विष की एक बूंद भी सारे खाद्य पदार्थ को दूषित कर देती है।...जो पवित्र तथा साहसी है, वही जगत् में सब कुछ कर सकता है। माया-मोह से प्रभु सदा तुम्हारी रक्षा करें। मैं तुम्हारे साथ काम करने के लिए सदैव प्रस्तुत हूँ एवं हम लोग यदि स्वयं अपने मित्र रहें तो प्रभु भी हमारे लिए सैकड़ों मित्र भेजेंगे, **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः।**

हमेशा यूरोप सामाजिक तथा एशिया आध्यात्मिक शक्तियों का उद्गम-स्थल रहा है एवं इन दोनों शक्तियों के विभिन्न प्रकार के संमिश्रण से ही जगत् का सम्पूर्ण इतिहास बना है। वर्तमान मानवेतिहास का एक और नवीन पृष्ठ धीरे धीरे विकसित हो रहा है एवं चारों ओर उसीका चिह्न दिखायी दे रहा है। सैकड़ों नयी योजनाओं

का उद्भव तथा नाश होगा, किन्तु योग्यतम ही जीवित रहेगा और सत्य और शिव की अपेक्षा योग्यतम और हो ही क्या सकता है ?

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि वुल को लिखित)

न्यूयार्क,
५४ पश्चिम ३३वीं स्ट्रीट,
२५ अप्रैल, १८९५

प्रिय श्रीमती वुल,

परसों मुझे कुमारी फ़ार्मर का कृपा-पत्र मिला, उसके साथ बार्बर-हाउस के भाषणों के लिए सौ डॉलर का एक 'चेक' भी प्राप्त हुआ। आगामी शनिवार को वे न्यूयार्क आ रही हैं। अवश्य ही मैं उनसे उनकी भाषण-विज्ञप्ति में अपना नाम न रखने के लिए कहूँगा। इस समय मेरे लिए ग्रीनेकर जाना असम्भव है। सहस्रद्वीपोद्यान (Thousand Islands) जाने की मैं व्यवस्था कर चुका हूँ—चाहे वह स्थान कहीं भी क्यों न हो। वहाँ पर मेरी एक छात्रा कुमारी डचर का एक 'कॉटेज' है। अपने कुछ साथियों तथा कुछ शिष्यों के साथ वहाँ एकान्त में रहकर मैं शान्तिपूर्वक विश्राम् लेना चाहता हूँ। मेरे क्लास में जो लोग शामिल होते हैं उनमें से कुछ व्यक्तियों को मैं योगी बनाना चाहता हूँ। ग्रीनेकर जैसा कर्मव्यस्त मेला सा स्थान उसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है, जब कि दूसरा स्थान (सहस्र-द्वीपोद्यान) बस्ती से बिल्कुल दूर है, कोई केवल मात्र कौतुक एवं आनन्दप्रिय व्यक्ति वहाँ पहुँचने का साहस न करेगा।

मैं इसलिए बेहद प्रसन्न हूँ कि कुमारी हैमलिन ने, ज्ञानयोग के क्लास में जो लोग शामिल होते थे, ऐसे १३० व्यक्तियों के नाम लिख रखे हैं। इसके अलावा ५० व्यक्ति बुधवार के दिन योग के क्लास में तथा प्रायः ५० व्यक्ति सोमवार के क्लास में भी आते हैं। श्री लैण्ड्सबर्ग ने सब नाम लिख रखे थे—चाहे नाम हो या न हो—वे सभी शामिल होंगे। श्री लैण्ड्सबर्ग मुझसे अलग हो गये हैं, किन्तु उन नामों को यहीं मेरे पास छोड़ गये हैं, वे लोग सभी शामिल होंगे—और यदि वे शामिल न भी हों, तो और लोग आयेंगे, अतः कार्य इस प्रकार चलता रहेगा—प्रभु, सब कुछ तुम्हारी ही महिमा है !!

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाम लिख रखना तथा सूचना- देना एक बड़ा भारी कार्य है और इस कार्य को करने के लिए मैं उन दोनों का अत्यन्त आभारी हूँ। किन्तु मैं यह अच्छी तरह से जानता हूँ कि दूसरों पर निर्भर रहना एकमात्र

मेरे निजी आलस्य का फल है, इसलिए वह अधर्म है एवं आलस्य के द्वारा ही सदा अनिष्ट हुआ करता है। अत: अब मैं उन सभी कार्यों को स्वयं कर रहा हूँ तथा आगे भी सब कुछ स्वयं ही करता रहूँगा, जिससे भविष्य में दूसरों को अथवा मुझे स्वयं उद्विग्न न होना पड़े।

अस्तु, कुमारी हैमलिन के 'उपयुक्त व्यक्तियों' में से किसी भी एक को अपने साथ शामिल करने में मुझे प्रसन्नता ही होगी, किन्तु दुर्भाग्य है कि अभी तक ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं आया। अत्यन्त 'अनुपयुक्त' व्यक्तियों में से 'उपयुक्त' का निर्माण करना ही आचार्य का सदा से कर्तव्य रहा है। अन्ततोगत्वा यद्यपि मैं उस सम्भ्रान्त युवती कुमारी हैमलिन का अत्यन्त ही आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने न्यूयार्क के 'उपयुक्त' व्यक्तियों के साथ मेरा परिचय करा देने की आशा दिलायी थी तथा उत्साह प्रदान किया था तथा यथार्थ रूप से मेरे कार्यों में सहायता भी की थी, फिर भी मैं यह उचित समझता हूँ कि मेरा जो भी कुछ थोड़ा-बहुत कार्य है, उसे अपने ही हाथों करूँ। दूसरों की सहायता लेने का समय अभी उपस्थित नहीं हुआ है—क्योंकि कार्य अभी स्वल्प है।

उक्त कुमारी हैमलिन के बारे में आपकी धारणा बहुत ऊँची है—इससे मैं आनन्दित ही हूँ। आप उसकी सहायता करना चाहती हैं, यह जानकर चाहे और लोगों को प्रसन्नता हुई हो या नहीं, मुझे तो विशेष प्रसन्नता हुई, क्योंकि उसके लिए सहायता की आवश्यकता है। किन्तु माँ, श्री रामकृष्ण की कृपा से किसी व्यक्ति के चेहरे की ओर देखते ही मैं अपने सहज ज्ञान से तत्काल ही यह भाँप लेता हूँ कि वह व्यक्ति कैसा है और मेरी धारणा प्राय: ठीक हुआ करती है। उसका परिणाम यह हुआ है कि आप अपनी इच्छानुसार मेरे विषय में जो चाहें, कर सकती हैं, मैं भुनाऊँगा भी नहीं;—मैं केवल कुमारी फ़ार्मर की सलाह लेने में प्रसन्न ही हूँगा, चाहे भूत-प्रेत की ही बात हो। इन भूत-प्रेतों के पीछे मैं पाता हूँ एक प्रेमगम्भीर हृदय, जिस पर प्रशंसनीय उच्चाभिलाष का एक सूक्ष्म परदा पड़ा हुआ है—कुछ वर्षों में उसका भी नाश अवश्यम्भावी है। यहाँ तक कि लैण्ड्सबर्ग भी यदि मेरे कार्यों में बीच बीच में हस्तक्षेप करे, तो भी मैं उससे किसी प्रकार की आपत्ति न करूँगा, किन्तु इस विषय को मैं यहाँ तक ही सीमित रखना चाहता हूँ। इनके अलावा मेरी सहायता के लिए और किसी व्यक्ति के अग्रसर होने पर मैं बहुत डर जाता हूँ—सिर्फ़ मैं इतना ही कह सकता हूँ। इसलिए नहीं कि आप मेरी सहायता कर रही हैं, किन्तु मैं अपने सहज ज्ञान से (अथवा जिसे मैं अपने गुरु महाराज की अन्त:प्रेरणा कहा करता हूँ) आपकी अपनी माता की तरह श्रद्धा करता हूँ। अत: जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध है, आप मुझे जो भी कुछ सलाह देंगी,

मैं सदा उसका पालन करूँगा। यदि आप किसीको माध्यम बनाना चाहें, तो मैं प्रार्थना करता हूँ कि चुनाव करने के लिए मुझे स्वेच्छा से छोड़ दें। इत्यलम्।

उस अंग्रेज सज्जन का पत्र भी इसके साथ मैं भेज रहा हूँ। हिन्दुस्तानी शब्दों को समझाने के लिए पत्र के हाशिये पर मैंने कुछ टिप्पणियाँ दे दी हैं।

आपका आज्ञाकारी पुत्र,
विवेकानन्द

पु०—कुमारी हैमलिन अभी तक नहीं पहुँची हैं। उनके आने पर मैं संस्कृत की पुस्तकें भेज दूंगा। क्या उन्होंने भारत के बारे में श्री नौरोजीकृत कोई ग्रन्थ आपको भेजा है? यदि आप अपने भाई साहब को उसे आद्योपान्त पढ़ने के लिए कहें, तो मुझे बहुत ही प्रसन्नता होगी। गाँधी अब कहाँ हैं?

वि०

(कलकत्ते के एक व्यक्ति को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो,
२ मई, १८९५

भाई,

तुम्हारे अनुकम्पापूर्ण सुन्दर पत्र को पढ़कर मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। हम लोगों के कार्य का तुमने जो सादर अनुमोदन किया है, तदर्थ तुमको असंख्य धन्यवाद। श्रीयुत नाग महाशय एक महान् पुरुष हैं। ऐसे महात्मा की कृपा जब तुम पर हुई है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम महाभाग्यशाली हो। महापुरुषों का कृपालाभ करना ही जीवन के लिए सर्वोच्च सौभाग्य की बात है। तुम उस सौभाग्य के अधिकारी बने हो। मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः, उनके एक शिष्य को जब तुमने अपने जीवन के मार्गप्रदर्शक के रूप में पाया है, तो जान लेना कि तुमने उन्हींको पा लिया है।

अब संसार त्यागने का तुमने निश्चय किया है। तुम्हारी इस इच्छा के साथ मेरी सहानुभूति है। स्वार्थ-त्याग से बढ़कर जगत् में और कुछ भी नहीं है। किन्तु तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपने हृदय की प्रबल आकांक्षा का दमन करना उनके कल्याण के लिए, जो तुम्हारे ऊपर निर्भर हैं, भी कम बड़ा बलिदान नहीं है। श्री रामकृष्ण के उपदेश तथा उनके निष्कलंक जीवन का अनुसरण करो और उसके बाद अपने परिवार के सुख की ओर ध्यान दो। तुम अपने कर्तव्य का पालन करते रहो, शेष प्रभु पर छोड़ दो।

प्रेम मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद नहीं उत्पन्न करता; चाहे आर्य और म्लेच्छ हो, चाहे ब्राह्मण और चाण्डाल हो, यहाँ तक कि नर और नारी में भी।

समग्र विश्व को प्रेम अपने घर जैसा बना लेता है। वास्तविक उन्नति धीरे-धीरे होती है। किन्तु निश्चित रूप से। जो सच्चे हृदय से भारतीय कल्याण का व्रत ले सकें तथा उसे ही जो अपना एकमात्र कर्तव्य समझें—ऐसे युवकों के साथ कार्य करते रहो। उन्हें जाग्रत करो, संगठित करो तथा उनमें त्याग का मन्त्र फूँक दो। भारतीय युवकों पर ही यह कार्य सम्पूर्ण रूप से निर्भर है।

आज्ञा-पालन के गुण का अनुशीलन करो, लेकिन अपने धर्मविश्वास को न खोओ। गुरुजनों के अधीन हुए विना कभी भी शक्ति केन्द्रीभत नहीं हो सकती, और विखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत किये बिना कोई महान् कार्य नहीं हो सकता। कलकत्ते का मठ प्रमुख केन्द्र है; सभी दूसरी शाखाओं के सदस्यों को चाहिए कि केन्द्र की नियमावली के अनुसार एक साथ मिलकर दत्तचित्त होकर कार्य करें।

ईर्ष्या तथा अहंभाव को दूर कर दो—संगठित होकर दूसरों के लिए कार्य करना सीखो। हमारे देश में इसकी वहुत बड़ी आवश्यकता है।

शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

पु०—श्रीयुत नाग महाशय से मेरे असंख्य साष्टांग प्रणाम कहना।

(हेल वहनों को लिखित)

न्यूयार्क,
५ मई, १८९५

प्यारी वच्चियो,

मैंने जो आशा की थी, वही हुआ। यद्यपि प्रो० मैक्स मूलर ने हिन्दू धर्म पर अपनी सभी गण्य रचनाओं पर एक अपमानजनक मन्तव्य जोड़ा है, किन्तु मैंने हमेशा यह सोचा है कि अन्ततः उन्हें अवश्य ही पूर्ण सत्य के दर्शन होंगे। जितना शीघ्र हो सके, तुम उनकी अन्तिम पुस्तक 'वेदान्तवाद' की एक प्रति उपलब्ध करो। तुम समझ जाओगी कि उन्होंने पुनर्जन्म के पूरे सिद्धान्त को आत्मसात कर लिया है। निश्चय ही तुम्हें समझने में कुछ कठिनाई नहीं होगी; क्योंकि अब तक मैं जो तुम्हें वतलाता रहा हूँ, उसका वह एक अंश भर है। कई स्थलों पर शिकागो के मेरे निबन्ध का भी तुम्हें आभास मिलेगा।

मुझे प्रसन्नता है कि उस वृद्ध पुरुष ने सत्य का दर्शन कर लिया है, क्योंकि आधुनिक अनुसन्धान और विज्ञान के युग में धर्म समझने का वही एकमात्र उपाय है।

आशा है, तुम 'टॉड का राजस्थान' का आनन्द ले रही होंगी।

सस्नेह तुम्हारा भाई,
विवेकानन्द

पुनश्च—कुमारी मेरी कब बोस्टन आ रही है ?

वि०

(श्री आलसिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका,
६ मई, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

आज सवेरे मुझे तुम्हारा पिछला पत्र और रामानुजाचार्य-भाष्य का पहला खण्ड मिला। कुछ दिनों पहले मुझे तुम्हारा दूसरा पत्र भी मिला था। श्री मणि अय्यर का पत्र भी मुझे मिल गया। मैं ठीक हूँ और उसी पुरानी रफ़्तार से सब कुछ चल रहा है। तुमने श्री लंड के भाषणों के विषय में लिखा है। मैं नहीं जानता कि वह कौन है और कहाँ है। वह हो सकता है, चर्चों में व्याख्यान देता हो, क्योंकि उसके पास यदि बड़े प्लेटफ़ार्म होते, तो हम लोग उसे अवश्य सुनते। खैर, वह कुछ पत्रों में अपने भाषणों को प्रकाशित कराता है और उन्हें भारत भेजता है। शायद मिशनरी लोग इससे लाभ भी उठाते हैं। हाँ, तुम्हारे पत्रों से इतनी ध्वनि निकलती है।

यहाँ पर जनता में इस विषय में किसी प्रकार की चर्चा नहीं है, जिससे आत्म-पक्ष-समर्थन करना पड़े। क्योंकि ऐसा होने से यहाँ प्रतिदिन मुझे सैकड़ों लोगों से जूझना पड़ेगा। क्योंकि अब यहाँ भारत की धूम मच गयी है, और डॉ० बरोज़ के साथ साथ कट्टर ईसाई और बाक़ी लोग इस आग को बुझाने में बेहद प्रयत्नशील हैं। दूसरी बात, भारत के विरुद्ध इन सभी कट्टर ईसाइयों के व्याख्यानों में मुझे लक्ष्य बनाकर ख़ूब गाली-गलौज होनी चाहिए। कट्टर ईसाई नर-नारी जो मेरे विरुद्ध गन्दी अफ़वाहें फैला रहे हैं, उन्हें थोड़ा भी सुनो, तो आश्चर्यचकित रह जाओ। अब, क्या तुम कहना चाहते हो कि इन स्वार्थी नर-नारियों के कायरतापूर्ण और पाशविक आक्रमणों के विरुद्ध एक संन्यासी को निरन्तर आत्मसमर्थन करना पड़ेगा? यहाँ मेरे कई एक बहुत प्रभावशाली मित्र हैं, जो बीच बीच में उनको क़रारा जवाब देकर बैठा देते हैं। फिर यदि हिन्दू सब निद्रित अवस्था में रहेंगे, तो मैं हिन्दू धर्म का समर्थन करने में अपनी शक्ति क्यों क्षीण करूँ? तुम तीस करोड़ आदमी वहाँ क्या कर रहे हो? विशेषत: वे, जिन्हें अपनी विद्वत्ता आदि का अभिमान है? तुम क्यों नहीं इस संग्राम का भार अपने कन्धों पर लेते और मुझे केवल शिक्षा और प्रचार करने का अवकाश देते? मै अजनबी लोगों में रातोंदिन संघर्ष कर रहा हूँ...भारत से मुझे क्या सहायता मिलती है? कभी संसार में

कोई ऐसा देशभक्तिहीन राष्ट्र देखा है, जैसा कि भारत है? अगर तुम यूरोप और अमेरिका में उपदेश देने के लिए बारह सुशिक्षित दृढ़चेता मनुष्यों को यहाँ भेज सको, और कुछ साल तक उन्हें यहाँ रख सको, तो इस भाँति राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से, दोनों तरह की भारत की अपरिमित सेवा हो जाय। प्रत्येक मनुष्य जो नैतिक दृष्टि से भारत के प्रति सहानुभूतिशील है, वह राजनीतिक विषयों में भी उसका मित्र बन जाता है। बहुत से पश्चिमी राष्ट्र तुम्हें अर्धनग्न बर्बर समझते हैं। इसलिए वे तुम्हें कोड़े के बल पर सभ्य बनाना उचित समझते हैं। यदि तुम तीस करोड़ लोग मिशनरी लोगों की धमकियों में आ गये, तो तुम सब कायर हो और कुछ भी कहने के अधिकारी नहीं हो। दूर देश में एक आदमी अकेला क्या कर सकता है? जो मैंने किया भी है, उसके योग्य भी तुम नहीं हो।

अमेरिकन पत्रिकाओं में अपने पक्ष-समर्थन संबंधी लेख तुम क्यों नहीं भेजते? तुम्हें क्या बाधा है? तुम कायरों की जाति—शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक रूप से। तुम जानवर लोग, जिनके सामने दो ही भाव हैं—काम और कांचन—जैसे हो, तुम्हारे साथ वैसा ही बर्ताव किया जाना चाहिए। तुम 'साहब लोगों' से, यहाँ तक कि मिशनरियों से भी डरते हो। और एक संन्यासी को जीवन भर लड़ाई में रत, हमेशा रत रहने देना चाहते हो। और तुम लोग बड़े काम करोगे, छिः। क्यों नहीं, तुममें से कुछ लोग एक सुन्दर हिन्दू धर्म-समर्थनयुक्त लेख लिखते और बोस्टन की 'ऐरेना पब्लिशिंग कम्पनी' को भेजते? 'ऐरेना' एक ऐसा पत्र है, जो खुशी से उसे प्रकाशित करेगा और शायद काफ़ी पैसा भी दे। इत्यलम्। इस पर सोचो, जब तुम अहमक़ की तरह मिशनरियों से प्रलोभित होते हो! अब तक जितने हिन्दू पश्चिमी देशों में गये हैं, उन्होंने प्रशंसा या धन के लोभ में अधिकतर अपने धर्म और देश का छिद्रान्वेषण ही किया है। तुम जानते हो कि नाम और यश ढूंढ़ने मैं नहीं आया था। वह मुझ पर लादा गया है। मैं क्यों भारत में लौटकर जाऊँ? मेरी वहाँ कौन सहायता करेगा? तुम लोग बच्चे हो, तुम लोग लड़कपन करते हो, कुछ जानते-बूझते नहीं। मद्रास में वे मनुष्य कहाँ हैं जो धर्म का प्रचार करने के लिए संसार त्याग देंगे? सांसारिकता तथा ईश्वर का साक्षात्कार साथ साथ सम्भव नहीं। मैं ही एक व्यक्ति हूँ, जिसने अपने देश के पक्ष में बोलने का साहस किया है, और मैंने उन्हें ऐसे विचार प्रदान किये हैं, जिसकी आशा हिन्दुओं से वे स्वप्न में भी न रखते थे। यहाँ पर बहुत से मेरे विरोधी हैं, किन्तु मैं तुम लोगों की तरह कायर कभी भी नहीं हूँगा। इस देश में हजारों मेरे मित्र भी हैं और सैकड़ों मेरा आमरण अनुसरण करेंगे। प्रतिवर्ष वे बढ़ते जायँगे और यदि मैं उनके साथ

रहकर काम करता रहा, तो मेरे जीवन का ध्येय और धर्म का मेरा आदर्श पूरा होगा। यह तुम समझते हो?

अमेरिका में जो सार्वजनीन मन्दिर (Temple Universal) बननेवाला था, उसके विषय में मैं अब बहुत नहीं सुनता; परन्तु फिर भी न्यूयार्क, जो अमेरिकन जीवन का केन्द्र है, उसमें मैंने सुदृढ़ जड़ पकड़ ली है, और इसलिए मेरा काम चलता रहेगा। मैं अपने कुछ शिष्यों को, ग्रीष्म-काल के निमित्त बने हुए एक एकान्त स्थान में ले जा रहा हूँ। वहाँ योग, भक्ति और ज्ञान में उनकी शिक्षा समाप्त होगी और फिर वे काम करने में सहायता कर सकेंगे।

ख़ैर, जो भी हो, मेरे बच्चों, मैंने तुम लोगों को बहुत डाँटा है; डाँटने की आवश्यकता भी थी। मेरे बच्चों, अब काम करो। एक माह के भीतर मैं पत्रिका के लिए कुछ धन भेज सकूँगा। हिन्दू भिखारियों से भिक्षा मत माँगो। मैं अपने मस्तिष्क और बाहुबल द्वारा ही स्वयं सब करूँगा। मैं किसी मनुष्य से सहायता नहीं चाहता, चाहे वह यहाँ हो, या भारत में...श्री रामकृष्ण को अवतार मानने के लिए लोगों पर ज़ोर न दो।

अब मैं तुम्हें अपने एक नूतन आविष्कार के विषय में बतलाऊँगा। समग्र धर्म वेदान्त में ही है अर्थात् वेदान्त दर्शन के द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत, इन तीन स्तरों या भूमिकाओं में है और ये एक के बाद एक आते हैं तथा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की क्रम से ये तीन भूमिकाएँ हैं। प्रत्येक भूमिका आवश्यक है। यही सार-रूप से धर्म है। भारत के नाना प्रकार के जातीय आचार-व्यवहारों और धर्ममतों में वेदान्त के प्रयोग का नाम है 'हिन्दू धर्म'। यूरोप की जातियों के विचारों में उसकी पहली भूमिका अर्थात् द्वैत का प्रयोग है 'ईसाई धर्म'। सेमिटिक (semetic) जातियों में उसका ही प्रयोग है 'इस्लाम धर्म'। अद्वैतवाद ही अपनी योगानुभूति के आकार में हुआ 'बौद्ध धर्म'—इत्यादि, इत्यादि। धर्म का अर्थ है वेदान्त; उसका प्रयोग विभिन्न राष्ट्रों के विभिन्न प्रयोजन, परिवेश एवं अन्यान्य अवस्थाओं के अनुसार विभिन्न रूपों में बदलता ही रहेगा। मूल दार्शनिक तत्त्व एक होने पर भी तुम देखोगे कि शैव, शाक्त आदि हर एक ने अपने अपने विशेष धर्ममत और अनुष्ठान-पद्धति में उसे रूपान्तरित कर लिया है। अब अपनी पत्रिका में तुम इन तीन प्रणालियों पर अनेक लेख लिखो, जिनमें उसका सामंजस्य दिखाओ कि वे अवस्थाएँ कैसे एक के बाद एक क्रमानुसार आती हैं। उसके साथ साथ धर्म के अनुष्ठानिक अंग को बिल्कुल दूर रखो; अर्थात् दार्शनिक एवं आध्यात्मिक भाव का प्रचार करो और लोगों को अपने अपने अनुष्ठानों एवं क्रिया-कल्पादि में उसका प्रयोग करने दो। मैं इस विषय पर पुस्तक लिखना चाहता हूँ; इसलिए मैं

तीनों भाष्य चाहता था। परन्तु अभी तक रामानुज-भाष्य का एक ही भाग मुझे मिला है!

अमेरिकी थियोसॉफ़िस्ट दूसरों से अलग हो गये हैं और अब वे भारत से नफ़रत करते हैं। टुच्ची बात! और इंग्लैण्ड के स्टर्डी ने, जो हाल में भारत गये थे और मेरे भाई शिवानन्द से मिले थे, मुझे एक पत्र लिखा है, जिसमें वह जानना चाहता है कि मैं कब इंग्लैण्ड जा रहा हूँ। मैंने उसे एक अच्छी चिट्ठी लिखी है। बाबू अक्षयकुमार घोष के क्या हाल हैं? मैंने उनके विषय में और अधिक कुछ नहीं सुना। मिशनरी लोगों और दूसरों को उनका प्राप्य दे दो। हममें से कुछ बहुत मज़बूत लोग उठें और भारत के वर्तमान धार्मिक पुनर्जागरण पर अच्छे ढंग से, एक सुन्दर और जोरदार लेख लिखें तथा कुछ अमेरिकी पत्रों में उसे भेजें। मैं उनमें से केवल एक या दो से अवगत हूँ। तुम तो जानते हो कि मैं कुछ विशेष लेखक नहीं हूँ। मुझे द्वार द्वार भीख माँगने का अभ्यास नहीं है। मैं चुपचाप बैठता हूँ और अपने आप जिस चीज़ को आना हो आने देता हूँ।...मेरे बच्चों, यदि मैं संसारी, पाखण्डी होता, तो यहाँ पर एक बड़ा संघ स्थापित करने में बड़ी भारी सफलता प्राप्त करता! हाय! यहाँ इतने ही में धर्म है; धन और उसके साथ नाम-यश की लालसा—यही है पुरोहितों का दल; और धन के साथ काम का योग होने से होता है साधारण गृहस्थों का दल। मैं यहाँ मनुष्य-जाति में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करूँगा, जो ईश्वर में अन्तःकरण से विश्वास करेगा और संसार की परवाह नहीं करेगा। यह कार्य मन्द, अति मन्द, गति से होगा। उस समय तक तुम अपना काम करो और मैं अपनी नौका को सीधा चलाकर ले जाऊँगा। पत्रिका को बकवादी न होना चाहिए; परन्तु शान्त, स्थिर और उच्च आदर्शयुक्त।... उत्तम और नियमित रूप से लिखनेवाले लेखकों का दल ढूंढ़ लो।...पूर्णतः निःस्वार्थ हो, स्थिर रहो, और काम करो। हम बड़े बड़े काम करेंगे, डरो मत।...एक बात और है। सबके सेवक बनो। और दूसरों पर शासन करने का तनिक भी यत्न न करो, क्योंकि इससे ईर्ष्या उत्पन्न होगी और इससे हर चीज़ बर्बाद हो जायगी।...आगे बढ़ो। तुमने बहुत अच्छा काम किया है। हम अपने भीतर से ही सहायता लेंगे—अन्य सहायता के लिए हम प्रतीक्षा नहीं करते। मेरे बच्चे, आत्मविश्वास रखो, सच्चे और सहनशील बनो। मेरे दूसरे मित्रों के विरुद्ध मत जाओ। सबसे मिलकर रहो। सबको मेरा असीम प्यार।

आशीर्वादपूर्वक सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

पु०—यदि तुम स्वयं ही नेता के रूप में खड़े हो जाओगे, तो तुम्हें सहायता देने के लिए कोई भी आगे न बढ़ेगा।...यदि सफल होना चाहते हो, तो पहले 'अहं' का नाश कर डालो।

वि०

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

५४ पश्चिम ३३वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
७ मई, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

कुमारी फ़ार्मर के साथ उक्त विषय को तय कर लेने के लिए आपको विशेष धन्यवाद। भारत से मुझे एक समाचारपत्र मिला है; उसमें डॉ० बरोज़ को भारत की ओर से जो धन्यवाद प्रदान किया गया था, उसका संक्षिप्त उत्तर छपा है; कुमारी थर्सबी उसे आपको भेज देंगी।

कल मुझे भारत से मद्रास की अभिनन्दन-सभा के सभापति का और एक पत्र मिला—उसमें उन्होंने अमेरिकावासियों को धन्यवाद प्रदान किया है, साथ ही मुझे भी एक अभिनन्दन भेजा है। मैंने उनसे अपने मद्रासी मित्रों के साथ मिलकर कार्य करने के लिए कहा था। यह सज्जन मद्रास के नागरिकों में प्रधान हैं तथा उच्चतम न्यायालय के एक न्यायाधीश हैं—भारत में यह एक अत्यन्त उच्च पद माना जाता है।

न्यूयार्क में और दो भाषण दूँगा—ये भाषण 'माट' स्मृतिभवन के ऊपर की मंजिल में होंगे। पहला भाषण आगामी सोमवार को होगा; उसका विषय होगा—धर्म-विज्ञान। द्वितीय भाषण का विषय—'योग की युक्तिसंगत व्याख्या' रखा गया है।

कुमारी थर्सबी मेरे क्लास में प्रायः आती हैं। श्री फ़्लान मेरे कार्यों में अब काफ़ी हमदर्दी दिखा रहे हैं तथा उसके विस्तार के लिए यत्नशील हैं। लैण्ड्सबर्ग नहीं आता है। मुझे ऐसी शंका होती है कि वह मुझ पर बहुत ही नाराज़ है। क्या कुमारी हैमलिन ने भारत की आर्थिक दशाविषयक पुस्तक आपको भेजी है? मेरी इच्छा है कि आपके भाई साहब उस पुस्तक को पढ़ें तथा स्वयं यह अनुभव करें कि अंग्रेज़ी शासन का तात्पर्य भारत में क्या समझा जाता है।

आपका चिरकृतज्ञ पुत्र,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

न्यूयार्क,
१४ मई, १८९५

प्रिय आलसिंगा,

तुम्हारी भेजी हुई पुस्तकें सकुशल आ पहुँची हैं, इसके लिए बहुत बहुत धन्यवाद। शीघ्र ही मैं तुम्हें कुछ रूपये भेज सकूंगा—यद्यपि यह राशि कुछ एक सौ से अधिक नहीं, फिर भी यदि मैं जीवित रहा, तो समय समय पर कुछ भेजता रहूँगा।

न्यूयार्क में अब मेरे प्रभाव का विस्तार हो गया है; मुझे कुछ कार्यकर्ताओं के समूह की मिलने की आशा है, जो यहाँ से मेरे चले जाने पर भी कार्य करते रहेंगे। मेरे बच्चे, तुम यह देख ही रहे हो कि अखबारी हो-हल्ले कितने निरर्थक हैं। मेरे लिए जाते समय अपने कार्यों का एक स्थायी असर यहाँ छोड़ जाना आवश्यक है। प्रभु के आशीर्वाद से यह कार्य जल्दी ही होगा। यद्यपि इसे आर्थिक सफलता नहीं कहा जा सकता, फिर भी जगत् की समग्र धनराशि से 'मनुष्य' कहीं अधिक मूल्यवान है।

मेरे लिए तुम चिन्तित न होना—प्रभु सदा मेरी रक्षा कर रहे हैं। इस देश में मेरा आना तथा इतना परिश्रम करना व्यर्थ नहीं जायगा।

प्रभु दयालु हैं; यद्यपि यहाँ पर ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिन्होंने हर तरह से मुझे चोट पहुँचाने की चेष्टा की है, किन्तु ऐसे लोग भी बहुत हैं, जो कि अन्ततः मेरे सहायक बनेंगे। अनन्त धैर्य, अनन्त पवित्रता तथा अनन्त अध्यवसाय—सत्कार्य में सफलता के रहस्य हैं।

आशीर्वादपूर्वक सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

द्वारा कुमारी मेरी फिलिप्स,
१९ पश्चिम ३८ वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
२८ मई, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

मैं इसके साथ सौ डॉलर, जो कि अंग्रेजी मुद्रा के अनुसार २० पौण्ड, ८ शिलिंग,

७ पेन्स होते हैं, भेज रहा हूँ। आशा है, इसके द्वारा पत्र-प्रकाशन में तुम्हें कुछ सहायता मिलेगी, अनन्तर क्रमशः और भी कुछ सहायता कर सकूँगा।

आशीर्वादपूर्वक सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

पु०—उपर्युक्त पते पर शीघ्र ही उत्तर देना। अब से न्यूयार्क मेरा प्रधान केन्द्र है। इस देश में अन्त में मैं कुछ करने में समर्थ हुआ।

वि०

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

५४ पश्चिम ३३ वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
मई १८९५, बृहस्पतिवार

प्रिय श्रीमती बुल,

कुमारी थर्सबी को कल मैं २५ पौण्ड दे चुका हूँ। कक्षाएँ चल तो रही है, किन्तु दुःख के साथ यह लिखना पड़ता है कि यद्यपि उनमें विद्यार्थियों की संख्या अधिक है, फिर भी उनसे जो कुछ मिलता है, उससे मकान का किराया तक भी पूरा नहीं होता है। इस हफ़्ते और कोशिश कर देखना है, नहीं तो छोड़ दूंगा।

मैं इसी ग्रीष्म ऋतु में 'सहस्रद्वीपोद्यान' में अपनी एक छात्रा कुमारी डचर के यहाँ जा रहा हूँ। भारत से वेदान्त के विभिन्न भाष्य मेरे पास भेजे जा रहे हैं। इसी ग्रीष्म ऋतु में वहाँ रहकर वेदान्त दर्शन की विभिन्न तीन प्रणालियों पर अंग्रेज़ी में एक ग्रन्थ लिखने का मेरा विचार है; तदनन्तर ग्रीनेकर जा सकता हूँ।

कुमारी फ़ार्मर चाहती हैं कि इस ग्रीष्म ऋतु में मैं वहाँ भाषण करूँ। मैं यह निर्णय नहीं कर सका हूँ कि इसके उत्तर में मैं क्या लिखूं। आशा है कि आप किसी तरह से विषय को टाल देंगी—इस विषय में मैं पूर्णतया आप पर निर्भर हूँ।

प्रेस समिति (Press Association) के लिए 'अमरत्व' (immortality) पर लेख लिखने में इस समय मैं अत्यन्त व्यस्त हूँ।

आपका,
विवेकानन्द

५४ पश्चिम ३३, न्यूयार्क
मई, १८९५

प्रिय—,

मैं आपको लिख ही रहा था कि मेरे विद्यार्थी सहायता लेकर मेरे पास आ गये। और अब कक्षाएँ निस्सन्देह सुचारु रूप से चला करेंगी।

मैं इससे बहुत खुश हुआ, क्योंकि शिक्षण मेरे जीवन का एक अंग बन गया है—भोजन करने और साँस लेने के समान ही मेरे जीवन के लिए आवश्यक हो गया है।

आपका,
विवेकानन्द

पुनश्च—मैंने—के विषय में बहुत सारी बातें अंग्रेजी के एक समाचारपत्र 'बॉर्डरलैण्ड' में देखीं।—भारत में अच्छा कार्य कर रहे हैं, उससे हिन्दू अपने ही धर्म को भली प्रकार समझने लगे हैं।...मुझे—के लेखन में कोई विद्वत्ता नहीं दिखायी देती...न ही उसमें मुझे कोई आध्यात्मिकता ही दीखती है। फिर भी जो संसार के हित के लिए कार्य करना चाहते हैं, ईश्वर उन्हें सफलता दे।

दुनिया को किस सरलता से मक्कार लोग उल्लू बना सकते हैं, और सभ्यता के उदय से विचारी मानवता के सिर पर कितनी कितनी प्रवंचनाओं की राशि लद चुकी है!

वि०

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

पर्सी, न्यू हैम्पशायर,
७ जून, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

आख़िर में मैं यहाँ पर श्री लेगेट के साथ हूँ। मुझे अपने जीवन में जितने सुन्दर से सुन्दर स्थान देखने को मिले हैं, यह स्थान उनमें से एक है। कल्पना कीजिए कि चारों ओर एक विशाल जंगल से आच्छादित पर्वतश्रेणियों के बीच में एक झील है—जहाँ हम लोगों के सिवा और कोई भी नहीं है। कितना मनोरम, निस्तब्ध तथा शान्तिपूर्ण! शहर के कोलाहल के बाद मुझे यहाँ पर कितना आनन्द मिल रहा है, इसका अन्दाज़ा आप सहज ही में लगा सकती हैं।

यहाँ आकर मानो मुझे फिर नवीन जीवन प्राप्त हुआ है। मैं अकेला जंगल में जाता हूँ, गीता-पाठ करता हूँ तथा पूर्णतया सुखी हूँ। क़रीब दस दिन के अन्दर इस स्थान को छोड़कर मुझे 'सहस्रद्वीपोद्यान' जाना है। वहाँ कुछ दिन एकान्त में रहकर भगवान् का ध्यान करने का विचार है। इस प्रकार की कल्पना ही मन को उन्नत बना देती है।

भवदीय,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका,
१८९५ (शरत्काल)

प्रिय आलासिंगा,

हम लोगों का कोई संघ नहीं है और न हम कोई संघ बनाना ही चाहते हैं। पुरुष अथवा महिला जो कोई भी जो कुछ शिक्षा प्रदान तथा जो कुछ भी उपदेश करना चाहें, उन कार्यों को करने के लिए वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं।

यदि तुम्हारे अन्दर भावना है, तो कभी भी लोगों को आकृष्ट करने में तुम असफल न रहोगे। हम कभी 'थियोसॉफ़िस्टों' की कार्य-प्रणाली का अनुसरण नहीं कर सकते, इसका एकमात्र कारण यह है कि वे एक संघबद्ध सम्प्रदाय हैं और हम उस प्रकार के नहीं हैं।

मेरा मूलमन्त्र है—व्यक्तित्व का विकास। शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उपयुक्त बनाने के सिवाय मेरी और कोई उच्चाकांक्षा नहीं है। मेरा ज्ञान अत्यन्त सीमित है, मैं उस सीमित ज्ञान की शिक्षा बिना किसी संकोच के देता रहता हूँ। जिस विषय को मैं नहीं जानता हूँ उसके बारे में मैं यह स्पष्ट कह देता हूँ कि उक्त विषय में मेरा कोई ज्ञान नहीं है। थियोसॉफ़िस्ट, ईसाई, मुसलमान अथवा अन्य किसी व्यक्ति से संसार में लोगों को कुछ भी सहायता मिल रही है, यह सुनने से मुझे जो आनन्द मिलता है, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। मैं तो एक संन्यासी हूँ—मैं अपने को सबका सेवक समझता हूँ, न कि गुरु। . . .यदि लोग मुझसे प्यार करना चाहें, तो प्यार करें और यदि वे मुझे घृणा की दृष्टि से देखना चाहें, तो देख सकते हैं, यह उनकी खुशी है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना उद्धार स्वयं करना होगा—उसका कार्य उसीको करना होगा। मैं किसीसे सहायता की भीख नहीं माँगता, न मैं किसीकी दी हुई सहायता की उपेक्षा करता हूँ। न तो संसार में किसीसे सहायता लेने का कोई अधिकार मुझको है। जिस किसीने मेरी सहायता की है या जो कोई भविष्य में ऐसा करेगा, यह मुझ पर उसकी उदारता है, मेरा अधिकार नहीं, और इस प्रकार मैं उसका सतत आभारी हूँ।

जब मैंने संन्यास ग्रहण किया, अपना यह क़दम सोच-समझकर उठाया, यह जानते हुए कि यह शरीर भूख से पीड़ित होकर विनष्ट हो जायगा। ग़रीब मेरे मित्र हैं, मैं ग़रीबों से प्रीति करता हूँ। मैं दरिद्रता को आदरपूर्वक अपनाता हूँ। जब कभी मुझे भोजन के बिना उपवास रखना पड़ता है, तब मैं आनन्दित ही होता हूँ। मैं किसीसे सहायताप्रार्थी नहीं हूँ—उससे लाभ ही क्या है? सत्य अपना प्रचार

आप ही करेगा, मेरी सहायता के बिना वह विनष्ट नहीं हो सकता। सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व---'सुख-दुःख, लाभ-हानि जय-पराजय में समदृष्टि रखकर युद्ध में प्रवृत्त हो।'[1]

इस प्रकार के अनन्त प्रेम, सब अवस्थाओं में अविचलित साम्य भाव तथा ईर्ष्या-द्वेष से सर्वथा मुक्ति—ये ही वे चीजें हैं, जिनसे सब कार्य हो सकता है। एकमात्र इसीसे कार्य हो सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। . . .

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि वुल को लिखित)

५४ पश्चिम ३३वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
जून, १८९५

प्रिय श्रीमती वुल,

अभी हाल में ही मैं घर पहुँचा हूँ। इस स्वल्पकालीन यात्रा से मैंने गाँव तथा पहाड़ों—ख़ासकर श्री लेगेट के न्यूयार्क प्रदेशस्थित ग्राम्य-निवास का आनन्द लिया है।

बेचारे लैण्ड्सवर्ग इस मकान से चले गये हैं। वे अपना पता तक मुझे नहीं दे गये हैं। वे जहाँ कहीं भी जायँ—भगवान् उनका मंगल करे। अपने जीवन में मुझे जिन दो-चार निष्कपट व्यक्तियों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे उनमें से एक हैं।

सभी कुछ भले के लिए होता है। मिलन के बाद विच्छेद अवश्यम्भावी है। आशा है कि मैं अकेला ही अच्छी तरह से कार्य कर सकूँगा। मनुष्य से जितनी कम सहायता ली जाती है, उतनी ही अधिक सहायता भगवान् की ओर से मिलती है! अभी अभी मुझे लन्दन के एक अंग्रेज़ महोदय का पत्र मिला—मेरे दो गुरुभाइयों के साथ कुछ दिन वे भारत के हिमालय प्रदेश में रह चुके हैं। उन्होंने मुझे लन्दन बुलाया है। आपको पत्र लिखने के बाद से ही मेरे छात्र मुझे सहायता पहुँचाने के लिए तत्पर हो उठे हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अब मेरा क्लास अच्छी तरह से चलता रहेगा। इससे मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ, क्योंकि शिक्षा प्रदान करना मेरे जीवन के लिए भोजन अथवा श्वास-प्रश्वास की तरह एक अत्यावश्यकीय कार्य बन चुका है।

आपका स्नेहास्पद
विवेकानन्द

---

१. गीता ॥२॥३८॥

पुनश्च—'—' के सम्बन्ध में मुझे 'बार्डरलैण्ड' नामक एक अंग्रेज़ी समाचारपत्र में बहुत कुछ पढ़ने को मिला है। हिन्दुओं को अपने धर्म से गुण-ग्रहण की शिक्षा प्रदान करती हुई वे भारत में निःसन्देह एक अच्छा कार्य कर रही हैं।... उक्त महिला के लेखों को पढ़कर उनमें मुझे कोई पाण्डित्य का परिचय नहीं मिला।...अथवा किसी प्रकार की आध्यात्मिक भावना भी नहीं मिली। अस्तु, जो कोई भी जगत् का भला करना चाहे, भगवान् उसकी सहायता करे।

पाखण्डी लोग कितनी आसानी से इस जगत् को धोखे में डाल देते हैं! सभ्यता के प्राथमिक विकास-काल से लेकर भोली-भाली मानव-जाति पर न जाने कितना छल-कपट किया जा चुका है।

वि०

(कुमारी जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

२१ पश्चिम ३४वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
जून, १८९५

प्रिय जो,

तुम्हें निविड़ अनुभूति हो रही है, निश्चय ही वह कई आवरण हटा देगी।

श्री लेगेट ने तुम्हारे फोनोग्राफ़ के विषय में बतलाया। मैंने उन्हें कुछ सिलीण्डर (cylinder) उपलब्ध करने को कहा है। किसीके फोनोग्राफ में उन सिलीण्डरों की सहायता से मैंने बात की। मैंने जो के पास उन्हें भेज देने को कहा, जिसके उत्तर में उसने कहा कि वह एक ख़रीद लेगा, 'क्योंकि मैं सदा जो के कहे अनुसार करता हूँ।' मुझे प्रसन्नता है कि उसके स्वभाव में इतना कवित्व छुपा हुआ है। आज मैं गर्नसी के साथ रहने जा रहा हूँ, क्योंकि डॉक्टर मेरी देख-भाल कर आरोग्य करना चाहता है।...अन्य चीज़ों की परीक्षा करने के बाद डॉ० गर्नसी मेरी नाड़ी देख रहे थे, जब कि अचानक लैण्ड्सबर्ग, (जिसे घर आने से उसने मना कर दिया था) अन्दर आया और मुझे देखकर शीघ्र लौट गया। डॉ० गर्नसी खिल-खिलाकर हँस पड़ा और कहा कि ऐसे समय पर आने के लिए उसे पुरस्कार देता, क्योंकि उसी समय रोग का कारण उसे मालूम हो गया था। इसके पूर्व मेरी नाड़ी एकदम नियमित थी, किन्तु लैण्ड्सबर्ग को देखते ही संवेगरहित हो गयी। निश्चय ही यह एक अधैर्य की अवस्था है। उसने मुझे डॉ० हेल्मर के इलाज में रहने के लिए ज़ोर दिया। वह सोचता है कि हेल्मर से मुझे बहुत स्वास्थ्य लाभ होगा और अभी मुझे इसीकी आवश्यकता है। क्या वे उदार नहीं हैं?

आज शहर में 'पवित्र गौ' देखने की आशा करता हूँ। कुछ दिन और न्यूयार्क में होऊँगा। हेल्मर चाहते हैं कि चार सप्ताह तक प्रति सप्ताह तीन बार मेरा उपचार होना चाहिए, फिर अगले चार सप्ताह तक दो बार प्रति सप्ताह और तब मैं एकदम ठीक हो जाऊँगा। अगर मैं बोस्टन जाता हूँ, तो वह मेरी सिफ़ारिश एक बहुत अच्छे उस्ताद (विशेषज्ञ) से कर देंगे। और उसे उक्त विषय पर सलाह भी देंगे।

मैंने लैण्ड्सबर्ग से कुछ प्रिय बातें कहीं और ऊपर माँ गर्नसी के पास चला गया, जिससे लैण्ड्सबर्ग परेशानी से बच जाय।

प्रभुपदाश्रित तुम्हारा,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)
(भोजपत्र पर लिखा पत्र)

पर्सी, नार्थ हिल,
१७ जून, १८९५

प्रिय बहन,

कल मैं कुमारी डचर, सहस्रद्वीपोद्यान न्यूयार्क के यहाँ जा रहा हूँ। तुम इन दिनों कहाँ हो? ग्रीष्म में तुम सब कहाँ रहोगी। अगस्त में मुझे यूरोप जाने की संभावना है। जाने से पहले मैं मिलने आऊँगा। इसलिए मुझे पत्र दो। भारत से किताबों और पत्रों की भी आशा करता हूँ। कृपया उन्हें कुमारी फ़िलिप्स, १९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क के पते पर भेज दो। यह वही छाल है, जिस पर भारत में सभी धर्मग्रन्थ लिखे जाते हैं। इसलिए मैं संस्कृत में लिख रहा हूँ: उमा-पति (शिव) सदा तुम्हारी रक्षा करें।

तुम सबों का सदा शुभ हो—
विवेकानन्द

(श्री एफ़० लेगेट को लिखित)

द्वारा कुमारी डचर,
सहस्रद्वीपोद्यान,
न्यूयार्क,
१८ जून, १८९५

प्रिय मित्र,

कुमारी स्टारगीज़ के जाने के एक दिन पूर्व मुझे उनका एक पत्र—५० डॉलर

के चेक के साथ—मिला। प्राप्ति की सूचना—दूसरे ही दिन उनकी सेवा में प्रेषित करना सम्भव नहीं था। इसलिए आपसे निवेदन है कि मेरा हार्दिक धन्यवाद तथा धन-प्राप्ति की सूचना अपने पत्र में उन्हें दे दें।

हमारा समय यहाँ आनन्दपूर्वक कट रहा है। किन्तु बंगला में एक कहावत है कि ढेंकी स्वर्ग जाय, तो वहाँ भी उसको धानकुटाई ही करनी पड़ती है। जो कुछ हो, मुझे बेहद परिश्रम करना पड़ता है। मैं अगस्त के प्रारम्भ में शिकागो जा रहा हूँ। आप कब चल रहे हैं?

हमारे यहाँ के सभी मित्र आपको अभिवादन भेज रहे हैं। आपके लिए सम्पूर्ण आनन्द, प्रसन्नता एवं स्वास्थ्य की आशा करता हूँ और उसके लिए सतत प्रार्थना करता हूँ।

स्नेहाधीन,
विवेकानन्द

(श्री सिंगारावेलू मुदालियर को लिखित)

१९ पश्चिम ३८ वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
२२ जून, १८९५

प्रिय किडी,

एक लाइन के बजाय मैं तुमको एक पूरा पत्र लिख रहा हूँ।

मैं खुश हूँ कि तुम उन्नति कर रहे हो। तुम जो यह सोच रहे हो कि मैं अब भारत नहीं लौटूंगा—यह तुम्हारी भूल है। मैं जल्द ही भारत लौट रहा हूँ। असफल होकर किसी विषय को त्याग देना, मेरी आदत नहीं है। यहाँ पर मैंने एक बीज बोया है, शीघ्र ही वह वृक्षरूप में परिणत होने को है और अवश्य होगा। केवल मुझे यह शंका है कि यदि शीघ्रता में आकर मैं उस पर ध्यान देना छोड़ दूँ, तो उसकी अभिवृद्धि में बाधा पहुँचेगी। जहाँ तक जल्दी हो सके, तुम लोग पत्रिका प्रकाशित कर डालो। यहाँ के लोगों के साथ तुम्हारा सम्बन्ध स्थापित कर मैं शीघ्र ही भारत लौट रहा हूँ।

मेरे बच्चे, कार्य करते चलो—रोम का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ। मैं प्रभु के द्वारा परिचालित हो रहा हूँ, अतः अंत में सब कुछ ठीक ही होगा। सदा सदा के लिए तुम्हें मेरा प्यार,

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

५४ पश्चिम ३३वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
२२ जून, १८९५

प्रिय बहन,

भारत से भेजे गये पत्र और पुस्तकों का पार्सल मुझे सुरक्षित मिल गया। श्री सैम के पहुँचने की ख़बर जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैं आश्वस्त हूँ कि वे विडर्स (vidders) से अच्छी तरह सचेत हैं।

एक दिन रास्ते में सैम के एक मित्र से मेरी मुलाक़ात हुई। वह एक अंग्रेज़ है, जिसके नाम का अंत 'नी' से होता है। वह बहुत भद्र आदमी था। उसने कहा कि वह ओहियो में कहीं सैम के साथ उसी घर में रह रहा है।

मैं अच्छी दशा में क़रीब क़रीब उसी पुराने ढंग से रह रहा हूँ। कभी इच्छा होने पर जब बोल सकता हूँ, बोलता हूँ और जब कि मौन रहने के लिए कहा जाता है, तो बलपूर्वक मौन रहता हूँ। मैं नहीं जानता कि क्या इस ग्रीष्म में ग्रीनेकर जा सकूँगा ? किसी अन्य दिन कुमारी फ़ार्मर से मुलाक़ात हुई थी। वह जाने की जल्दी में थीं, इसलिए बहुत थोड़ी बात उनसे हो सकी। वह बड़ी ही भद्र और कुलीन महिला हैं।

तुम्हारा ईसाई विज्ञान का पाठ कैसा चल रहा है ? आशा करता हूँ, तुम ग्रीनेकर जाओगी। वहाँ वैसे लोगों की एक बड़ी संख्या तथा साथ में प्रेतवादी, मेज़ आदि घुमाने की क्रिया, हस्तरेखा-पण्डित, ज्योतिषी आदि तुम्हें मिलेंगे। वहाँ तुम्हें सभी उपचार मिल जायँगे। तथा कुमारी फ़ार्मर की अध्यक्षता में सभी 'वादों' का भी परिचय मिल जायगा।

लैण्ड्सबर्ग किसी दूसरी जगह रहने के लिए चला गया है। इसलिए मैं अकेला हो गया हूँ। मैं अधिकतर बादाम, फल और दूध पर ही रह रहा हूँ और यह मुझे बहुत अच्छा और स्वास्थ्यकर भी लगता है। आशा करता हूँ कि इस ग्रीष्म में मेरा वज़न तीस या चालीस पौंड कम हो जायगा। मेरे आकार के लिए वह बिल्कुल ठीक होगा। श्रीमती एडम्स द्वारा दिये गये टहलने से सम्बन्धित पाठों को एकदम भूल गया हूँ।

जब वह न्यूयार्क दुबारा आयेंगी, मुझे उन्हें पुनः सीखना होगा। मैं समझता हूँ, गाँधी बोस्टन से भारत के रास्ते इंग्लैण्ड गये हैं।

मैं उनकी 'अभिभाविका' श्रीमती हावर्ड तथा उसकी असहाय अवस्था के बारे में जानना चाहूँगा। मुझे यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि वह लँगोटीवाला अटलांतिक में डूबा नहीं, बल्कि अन्ततः पहुँच रहा है।

इस वर्ष मैं मुश्किल से अपना मस्तिष्क स्वस्थ रख सका और व्याख्यान देते नहीं फिरा। भारतवर्ष से वेदांत दर्शन के तीन महान् भाष्य द्वैत, विशिष्टाद्वैत, एवं अद्वैत, इन तीन महान् सम्प्रदायों से जिनका सम्बन्ध है, मेरे पास भेजे जा रहे हैं। आशा करता हूँ, वे सुरक्षित पहुँचेंगे। तब सचमुच मुझे एक बौद्धिक तृप्ति मिलेगी। इस ग्रीष्म में वेदांत दर्शन पर एक पुस्तक लिखने की सोचता हूँ। यह संसार सदा सुख और दुःख, शुभ और अशुभ का मिश्रण रहेगा; यह चक्र सदा नीचे-ऊपर चलता रहेगा, विनाश और प्रतिस्थापन अनिवार्य विधान हैं। वे धन्य हैं, जो इनसे परे जाने के लिए संघर्षरत हैं। हाँ, मुझे प्रसन्नता है कि सभी बच्चियाँ अच्छी तरह काम कर रही हैं, किन्तु दुःख है कि इस शरद् में भी कोई 'पकड़' में नहीं आया, और प्रत्येक शरद् में अवसर क्षीण होता जायगा। यहाँ मेरे आवास के निकट 'वाल्डोर्फ़ होटल' है, जो बहुत पदवीधारी किन्तु दरिद्र यूरोपियनों की प्रदर्शनी का अड्डा है, जहाँ 'यांकी' धनाधिकारिणियाँ उन्हें ख़रीद सकती हैं। तुम यहाँ कोई भी चुनाव कर सकती हो, स्टाक बहुत है और विविध है। यहाँ वैसा आदमी भी होता है, जो अंग्रेज़ी में बात नहीं करता, कुछ दूसरे ऐसे हैं, जो तुतलाते हुए बोलते हैं, जिसे कोई नहीं समझ सकता और अन्य अच्छी अंग्रेज़ी में बातें करते हैं, किन्तु उनका संयोग उतना बड़ा नहीं होता है, जितना गूँगे लोगों का—लड़कियाँ उन्हें पूरा विदेशी नहीं समझतीं, जो साधारण अंग्रेजी बोलते हैं।

एक अजीब पुस्तक में मैंने कहीं पढ़ा है कि एक अमेरिकन जहाज़ पानी भरने के कारण डूब रहा था, लोग हताश हो चुके थे और अंतिम सान्त्वना के रूप में वे चाहते थे कि धार्मिक उपासना की जाय। जहाज़ पर एक 'अंकल जौश' थे, जो प्रेसबिटेरियन चर्च के गुरुजन थे। वे सभी अनुनय-विनय करने लगे, "अंकल जौश! कुछ धार्मिक उपचार करो। हम सभी लोग मरनेवाले हैं।" अंकल जोश ने अपना हैट अपने हाथ में लिया और शीघ्र ही उसने ढेर सा चंदा इकट्ठा कर लिया!

उतना ही वह धर्म के विषय में जानता था। ऐसे अधिकांश लोगों का क़रीब क़रीब यही लक्षण है। वे जानते हैं और सदा यही जानेंगे कि सभी धर्मों में चंदा ही इकट्ठा किया जाता है। प्रभु उन्हें सुखी रखे। अभी विदा-नमस्कार। मैं भोजन करने जा रहा हूँ; मुझे बहुत भूख लगी है।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

द्वारा कुमारी डचर,
सहस्रद्वीपोद्यान,
न्यूयार्क,
२६ जून, १८९५

प्रिय बहन,

भारत से आयी डाक के लिए बहुत धन्यवाद। उससे मुझे सारे अच्छे समाचार मिले। आत्मा की अमरता पर प्रो० मैक्स मूलर के निबन्धों का, जिसे मैंने मदर चर्च के पास भेजा था, तुम आनन्द तो ले रही होगी। उस वृद्ध आदमी ने वेदान्त की सभी प्रमुख बातों पर विचार किया है और साहसपूर्वक सामने आया है। दवाओं के पहुँचने की बात जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। क्या उसके लिए कुछ चुंगी देनी पड़ी? अगर वैसा है, तो मैं उसका मूल्य चुकाऊँगा, ऐसा मेरा आग्रह है। कुछ शाल (दुशाला), ज़रीदार कपड़ा और छोटे-मोटे सामानों का एक बड़ा पैकेट खेतड़ी के राजा के यहाँ से आयेगा। मैं विभिन्न मित्रों को उन्हें उपहारस्वरूप देना चाहता हूँ। किन्तु मैं निश्चय जानता हूँ कि उसके आने में कुछ महीने लग जायँगे।

मुझे बार बार भारत आने को कहा जा रहा है, जैसा कि तुम भारत से आये पत्रों से जान जाओगी। वे हतोत्साह हो रहे हैं। अगर मैं यूरोप जाता हूँ, तो न्यूयार्क के श्री फ़्रांसिस लेगेट के अतिथि के रूप में जाऊँगा। वे छः सप्ताह तक पूरा जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्विटज़रलैंड का भ्रमण करेंगे। वहाँ से मैं भारत जाऊँगा या अमेरिका लौट आ सकता हूँ। मैंने यहाँ बीजारोपण किया है और चाहता हूँ कि वह फले-फूले। इस शरद् में न्यूयार्क का कार्य शानदार रहा और अगर मैं अचानक भारत चला जाता हूँ, तो वह बिगड़ जायगा। अतः मैं शीघ्र भारत जाने के विषय में निश्चित नहीं हूँ।

इस बार के सहस्रद्वीपोद्यान के अल्पवास में कुछ भी उल्लेख्य नहीं घटित हुआ है। दृश्य बहुत सुन्दर हैं और यहाँ कुछ मित्र हैं, जिनसे आत्मा-परमात्मा पर खुलकर बातें होती हैं। मैं फल खाता हूँ, दूध पीता हूँ और इसी तरह की अन्य चीजें और वेदान्त पर संस्कृत में विशद पुस्तकें पढ़ता हूँ, जिनको लोगों ने कृपापूर्वक भारत से भेजा है।

अगर मैं शिकागो आता हूँ, तो कम से कम छः सप्ताह या उससे कुछ अधिक के अन्दर नहीं आ सकता। मेरे लिए बच्ची को अपनी योजना में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। प्रस्थान करने से पहले किसी भी तरह तुम सबों से मिल लूँगा।

मद्रास भेजे गये उत्तर के सम्बन्ध में तुमने बहुत शोर मचाया, किन्तु उसका वहाँ ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है। मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज के अध्यक्ष श्री मिलर के इधर के एक भाषण में मेरे विचार ही बहुत बड़े परिमाण में सन्निहित हैं। और उन्होंने घोषित किया है कि पश्चिम को भगवान् और मनुष्य सम्बन्धी विचारों के लिए हिन्दू-विचार की आवश्यकता है और युवकों से जाकर प्रचार करने का भी आग्रह किया है। वास्तव में मिशन में उससे खलबली मच गयी है। तुमने जो 'एरेना' में प्रकाशित होने के सम्बन्ध में संकेत किया है, उसका कुछ भी अंश मैंने नहीं देखा। न्यूयार्क में मेरे सम्बन्ध में तो स्त्रियाँ कोई कोलाहल नहीं मचातीं। तुम्हारे मित्र ने अवश्य कल्पना से बात गढ़ी होगी। वे थोड़ा भी 'बॉसिंग टाइप' या प्रभुत्व जमानेवाले नहीं हैं। आशा है, फ़ादर पोप, और मदर चर्च भी यूरोप जायँगी। यात्रा करना जीवन में सबसे अच्छी चीज़ है। अगर एक स्थान पर बहुत लम्बे समय तक रहना पड़ा, तो भय है कि मेरी तो मत्य हो जायगी। यायावरी वृत्ति से अच्छा कुछ भी नहीं है।

जीवन-अंधकार जितना ही चारों तरफ़ बढ़ता है, लक्ष्य उतना ही निकट आता है, उतना ही अधिक आदमी जीवन का सही अर्थ समझता है कि यह एक स्वप्न है; और तब हम इसका अनुभव करने में प्रत्येक की व्यर्थता को समझने लगते हैं, क्योंकि उन्होंने किसी अर्थहीन वस्तु से अर्थ प्राप्त करने का प्रयत्न भर किया था। स्वप्न से सत्य पाने की इच्छा एक बालोचित उत्साह है। 'प्रत्येक वस्तु क्षणिक हैं', 'प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील हैं'—यह जानकर, संत सुख और दुःख, दोनों का परित्याग कर देता है और किसी भी वस्तु के लिए आसक्ति न रखकर इस (विश्व), परिदृश्य का एक द्रष्टा बन जाता है।

'सचमुच उन लोगों ने इसी जीवन में स्वर्ग को जीत लिया है, जिनका मन समत्व में स्थित हो गया है।'

'भगवान् पवित्र है और सबके लिए समान हैं, इसीलिए वे भगवान् में स्थित कहे जाते हैं।' (गीता ५।१९)

इच्छा, अज्ञान और असमानता, यही बंधन के त्रिविध द्वार हैं।

जीने की इच्छा का निषेध, ज्ञान तथा समदर्शिता मुक्ति के त्रिविध द्वार हैं।

मुक्ति विश्व का ध्येय है।

'न प्रेम, न घृणा, न सुख, न दुःख, न मृत्यु, न जीवन, न धर्म, न अधर्म; कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ भी नहीं।'

सदा तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९५

कल्याणीय,

तुम लोगों के एक पत्र में बहुत समाचार ज्ञात हुए। किंतु उसमें सब लोगों का विशेष समाचार नहीं है। निरंजन के पत्र से पता चला कि वह लंका जा रहा है। सारदा जो कुछ कर रहा है, वही मेरा अभिमत है; परन्तु श्री रामकृष्ण परमहंस अवतार हैं, इत्यादि प्रचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जगत् के हित के लिए उनका आविर्भाव हुआ था, अपने ख्याति-विस्तार के लिए नहीं; तुम्हें इसे हमेशा स्मरण रखना चाहिए। शिष्यवर्ग गुरु की ख्याति करते हैं, किन्तु जिस बात की शिक्षा देने के लिए उनका आविर्भाव हुआ था, उसे वे एकदम त्याग देते हैं और उसका फल होता है दलबन्दी इत्यादि। आलासिंगा ने चारु के विषय में लिखा है। लेकिन मुझे उसका स्मरण नहीं। उसके विषय में सब कुछ लिखो और उसे मेरा धन्यवाद दो। सभी के विषय में विस्तारपूर्वक लिखो; मेरे पास बेकार की बातों के लिए समय नहीं है।...कर्मकांड को त्यागने का प्रयास करना, वह संन्यासी के लिए नहीं है। जब तक ज्ञान की प्राप्ति न हो, तभी तक कर्म आवश्यक है। दलबंदी, गुटबन्दी, कूपमण्डूकता में मैं नहीं हूँ, चाहे और कुछ भी, मैं क्यों न करूँ। रामकृष्ण परमहंस के सार्वलौकिक विचारों का उपदेश तथा उसी समय संप्रदाय का निर्माण असम्भव है। एकमात्र परोपकार को ही मैं कार्य मानता हूँ, बाक़ी सब कुकर्म है। इसीलिए मैं भगवान् की शरण लेता हूँ। मैं वेदान्ती हूँ, मेरी अपनी आत्मा का महान् रूप सच्चिदानन्द हैं, उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा ईश्वर मेरी दृष्टि में प्रायः नहीं दिखायी दे रहा है। अवतार का अर्थ है, जीवन्मुक्त अर्थात् जिन्होंने ब्रह्मत्व प्राप्त किया है। अवतारविषयक और कोई विशेषता मेरी दृष्टि में नहीं है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सभी प्राणी समय आने पर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करेंगे। उस अवस्थाविशेष की प्राप्ति में सहायक बनना ही हमारा कर्तव्य है। इस सहायता का नाम धर्म है, बाक़ी अधर्म है। इस सहायता का नाम कर्म है, शेष कुकर्म है; मुझे और कुछ नहीं दिखायी दे रहा है। विभिन्न प्रकार के तांत्रिक अथवा वैदिक कर्मों के द्वारा भी फल की प्राप्ति हो सकती है, किंतु उससे केवल मात्र व्यर्थ में ही जीवन नष्ट हो जाता है—क्योंकि पवित्रतारूप कर्म-फल की प्राप्ति एकमात्र परोपकार से ही सम्भव है। यज्ञादि कर्मों से भोगादि की प्राप्ति सम्भव है, किन्तु आत्मा की पवित्रता असम्मव है। संन्यास लेकर जीव की उच्च गति की शिक्षा न देकर निरर्थक कर्मकांड में रत रहना, मेरी राय में दूषणीय है।...

प्राणिमात्र की आत्मा में सब कुछ विद्यमान है। जो अपने को मुक्त कहता है, वही मुक्त होगा जो यह कहता है कि मैं बद्ध हूँ, वह बद्ध ही रहेगा। मेरे मतानुसार अपने को दीन-हीन समझना पाप तथा अज्ञता है। नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।[1] अस्ति ब्रह्म वदसि चेदस्ति भविष्यसि, नास्ति ब्रह्म वदसि चेन्नास्त्येव भविष्यसि।[2] जो सदा अपने को दुर्बल समझता है, वह कभी भी शक्तिशाली नहीं बन सकता; और जो अपने को सिंह समझता है, वह निर्गच्छति जगज्जालात् पिञ्जरादिव केशरी।[3] दूसरी बात यह है कि श्री रामकृष्ण परमहंस किसी नवीन तत्त्व को प्रचार करने के लिए आविर्भूत नहीं हुए थे, किंतु उसे प्रकाश में लाना उनका उद्देश्य था। अर्थात् He was the embodiment of all past religious thoughts of India. His life alone made me understand what the Shastras really meant and the whole plan and scope of the old Shastras.[4]

मिशनरियों का उद्देश्य इस देश में सफल न हो सका। भगवदिच्छा से यहाँ के लोग मुझसे स्नेहभाव रखते हैं, ये किसीकी बातों में आनेवाले नहीं हैं। मेरे ideas (विचारों) को ये लोग जितना अधिक समझते हैं, उतना मेरे देशवासी भी नहीं समझ पाते, साथ ही ये लोग अत्यन्त स्वार्थी भी नहीं हैं। यानी जब कोई कार्य करना होता है, तब ये लोग jealousy (ईर्ष्या) तथा बड़प्पन आदि भावनाओं को अपने पास नहीं फटकने देते। इस समय सब लोग मिल-जुलकर किसी योग्य अनुभवी व्यक्ति के निर्देशानुसार कार्य करते हैं। इसीसे ये लोग इतने उन्नत हैं। किन्तु ये लोग 'धनदेवता' के उपासक हैं, हर बात में पैसे का ही प्राधान्य है; हमारे देश के लोग धन के विषय में अत्यन्त उदार हैं, किन्तु इन लोगों में उस प्रकार की उदारता नहीं है। सर्वत्र कंजूसी है और इसे धर्म माना जाता है। किन्तु अनुचित आचरण करने पर उन्हें पादरियों के चक्कर में आना पड़ता है, तब धन देकर स्वर्ग पहुँचते हैं! ऐसी घटनाएँ प्रायः सभी देशों में समान हैं, इसीका नाम है—

---

१. दुर्बल व्यक्ति इस आत्म-तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

२. यदि कहो कि ब्रह्म—आत्मा—है, तो अस्तित्वरूप हो जाओगे और यदि कहो कि ब्रह्म—आत्मा—नहीं है, तो नास्तित्वरूप हो जाओगे।

३. पिंजरे से सिंह की तरह वह इस जगद्रूपी जाल को भेदकर निकल जाता है।

४. वे भारत की समग्र अतीत धार्मिक भावनाओं के मूर्त विग्रहस्वरूप थे। प्राचीन शास्त्रों का यथार्थ तात्पर्य क्या है और उसकी रचना किस प्रणाली के अनुसार तथा किस उद्देश्य से हुई, इन तत्त्वों को केवल मात्र उनके जीवन से ही मैं हृदयंगम कर सका हूँ।

priest-craft (पुरोहित-प्रपंच)। मैं कब तक भारत लौटूँगा अथवा नहीं—इस बारे में कुछ भी नहीं कह सकता। मेरे लिए तो यहाँ भी भ्रमण करना है और वहाँ भी। किन्तु यहाँ पर हज़ारों व्यक्ति मेरी बातें सुनते हैं, समझते हैं—हज़ारों व्यक्तियों का भला होता है; मगर क्या यही चीज़ भारत के विषय में कही जा सकती है? मैं सारदा के कार्यों से पूर्णतया सहमत हूँ। उसे शतशः धन्यवाद! मद्रास तथा बम्बई में मेरे मनोनुकूल अनेक व्यक्ति हैं। वे विद्वान् हैं तथा सभी बातों को समझते हैं, साथ ही दयालु भी हैं; अतः परहितचिकीर्षा क्या वस्तु है—यह भली भाँति समझ सकते हैं।...मेरे जीवन की अतीत घटनाओं की पर्यालोचना से मुझे किसी प्रकार का अनुताप नहीं होता। लोगों को कुछ न कुछ शिक्षा देते हुए मैंने विभिन्न देशों का पर्यटन किया है और उसके बदले रोटियों के टुकड़ों से अपनी उदर-पूर्ति की है। यदि मैं यह देखता कि लोगों को ठगने के सिवाय मैंने और कुछ भी कार्य नहीं किया है, तो आज स्वयं अपने गले में फाँसी लगाकर मैं मर जाता। लोगों को शिक्षा देने में जो अपने को अयोग्य समझते हैं, ऐसे लोग शिक्षकों का चोग़ा पहनकर क्यों दूसरों को ठगकर अपना पेट भरते हैं? क्या यह महापाप नहीं है?...इति।

तुम्हारा,
नरेन्द्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका,
१ जुलाई, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हारी भेजी हुई मिशनरियों की पुस्तक के साथ रामनाड़ के राजा साहब का फोटो मुझे मिला। राजा साहब तथा मैसूर के दीवान साहब, इन दोनों को ही मैंने पत्र लिखा है। रमाबाई के दल के लोगों के साथ डॉ० जेन्स के वाद-विवाद से यह स्पष्ट है कि मिशनरियों की उक्त पुस्तक बहुत दिन पहले ही यहाँ आ पहुँची है। उस पुस्तक में एक बात असत्य है। मैंने इस देश में किसी बड़े होटल में कभी भोजन नहीं किया है, साथ ही मैं होटल में रहा भी बहुत ही कम हूँ। चूँकि 'बाल्टिमोर' के छोटे होटलवाले अज्ञ हैं—नीग्रो समझकर किसी काले आदमी को वे स्थान नहीं देते, इसलिए डॉ० ब्रूमन को—जिनका कि मैं अतिथि था—मुझे वहाँ के एक बड़े होटल में ले जाने को बाध्य होना पड़ा था; क्योंकि इन लोगों को नीग्रो तथा विदेशियों का भेद मालूम है। आलासिंगा, मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम लोगों को स्वयं अपनी रक्षा करनी है, दुधमुँहे बच्चों की तरह तुम क्यों आचरण कर रहे हो? यदि कोई तुम्हारे धर्म पर आक्रमण करता है, तुम उससे क्यों नहीं अपने धर्म-

समर्थन द्वारा बचाव करते ? जहाँ तक मेरा प्रश्न है, तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है; यहाँ पर शत्रुओं की अपेक्षा मेरे मित्रों की संख्या कहीं अधिक है। यहाँ के निवासियों में ईसाइयों की संख्या एक-तिहाई है और शिक्षित व्यक्तियों में से मात्र थोड़े व्यक्ति मिशनरियों की परवाह करते हैं। दूसरी तरफ़ बात और है कि मिशनरी लोग जिस विषय का विरोध करते हैं, मिशनरियों के विरुद्ध होने की बात से शिक्षित लोग इसे पसन्द करते हैं। मिशनरियों का प्रभाव अब यहाँ काफ़ी घट चुका है तथा दिनोंदिन और भी घटता जा रहा है। हिन्दू धर्म पर उनके आक्रमण यदि तुम्हें चोट पहुँचाते हैं, तो चिड़चिड़े बच्चों की तरह क्यों तुम मेरे पास अपना रोना रोते हो ? क्या तुम उसका जवाब नहीं दे सकते तथा उनके धर्म के दोषों को नहीं दिखला सकते ? कायरता तो कोई धर्म नहीं है !

यहाँ पहले से ही मेरे अनुगामी हैं। आगामी वर्ष उनका संगठन कार्य-संचालन के आधार पर करूँगा। और मेरे भारत चले जाने पर भी यहाँ मेरे ऐसे अनेक मित्र रहेंगे, जो कि यहाँ पर मेरे सहायक होंगे तथा भारत में भी मेरी सहायता करते रहेंगे; अतः तुम्हारे लिए डरने की कोई बात नहीं है। किंतु जब तक तुम लोग मिशनरियों द्वारा किये गये आक्रमण का कोई प्रतिकार न कर केवल मात्र चिल्लाते तथा कूदते रहोगे, तब तक मैं तुम्हारे कृत्यों को देखकर हँसता रहूँगा। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम लोग तो मानो बच्चों के हाथ के खिलौने हो, हाँ, खिलौने हो। 'स्वामी जी, मिशनरी लोग हमें काट रहे हैं, उफ़, बड़ी जलन है, क्या करना चाहिए।' स्वामी जी, आख़िर बूढ़े बच्चों के लिए कर ही क्या सकते हैं ?

वत्स, मैं तो यह समझता हूँ कि वहाँ जाकर मुझे तुम लोगों को मनुष्य बनाना होगा। मैं यह जानता हूँ कि भारत में केवल मात्र नपुंसक तथा नारियों का निवास है। इसमें उद्विग्न होने की कोई बात नहीं है। भारत में कार्य करने के लिए मुझे साधन जुटाने की भी व्यवस्था करनी होगी। दुर्बलमस्तिष्क तथा अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में मैं नहीं पड़ना चाहता हूँ।

तुम लोगों को घबड़ाना नहीं चाहिए, जितना सम्भव हो, कार्य करते रहो, चाहे वह कितना भी कम क्यों न हो। मुझे अकेला ही आद्योपान्त सब कुछ करना है। कलकत्ते के लोग इतने संकुचित मनोवृत्ति के हैं! और तुम मद्रासी लोग इतने डरपोक हो कि कुत्ते की आवाज़ से भी चौंक उठते हो !! 'कायर लोग इस आत्म-तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते।' मेरे लिए तुम्हें डरना नहीं चाहिए, प्रभु मेरे साथ हैं। तुम लोग केवल मात्र अपनी ही रक्षा करते रहो और मुझे यह दिखलाओ कि तुम इस कार्य को कर सकते हो, तभी मुझे सन्तोष होगा। कौन मेरे बारे में क्या कह रहा है, इस विषय को लेकर मुझे तंग न करो। किसी मूर्ख की मेरी

समालोचना सुनने के लिए मेरे पास समय नहीं है। तुम बच्चे हो, तुम्हें क्या पता है कि असीम धैर्य, महान् साहस तथा कठोर प्रयत्न से ही उत्कृष्ट फल की प्राप्ति हुआ करती है। किडी की अन्तरात्मा जिस प्रकार समय समय पर पल्टा खाने में अभ्यस्त है, मुझे शंका है कि उसके फलस्वरूप उसके भावों का भी परिवर्तन हो रहा है। ज़रा बाहर निकलकर वह क़लम क्यों नहीं पकड़ता? 'स्वामी जी, स्वामी जी, की रट न लगाकर क्या मद्रासी लोग उन दुष्टों के विरुद्ध संग्राम की घोषणा नहीं कर सकते, जिससे कि उन्हें दयाप्रार्थी बनकर 'त्राहि, त्राहि' की आवाज़ लगानी पड़े? तुम्हें डर किस बात का है? केवल साहसी व्यक्ति ही महान् कार्यों को कर सकते हैं—कायर व्यक्ति नहीं। अविश्वासियो, सदा के लिए यह जान रखना कि प्रभु मेरा हाथ पकड़े हुए है। जब तक मैं पवित्र तथा उसका दास बना रहूँगा, तब तक कोई भी मेरा बाल बाँका न कर सकेगा।

तुम लोग जल्दी ही पत्रिका प्रकाशित कर डालो। जैसे भी हो, मैं बहुत शीघ्र ही तुम लोगों को और रुपये भेज रहा हूँ तथा बीच बीच में भेजता रहूँगा। कार्य करते चलो! अपनी जाति के लिए कुछ करो—इससे वे लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। पहले मिशनरियों के विरुद्ध चाबुक लेकर उनकी ख़बर लो। तब समग्र जाति तुम्हारे साथ होगी। साहसी बनो, साहसी बनो—मनुष्य सिर्फ़ एक बार ही मरा करता है। मेरे शिष्य कभी भी किसी भी प्रकार से कायर न बनें।

सदा प्रीतिबद्ध,
विवेकानन्द

(श्रीमती बेटी स्टारगीज़ को लिखित)

द्वारा कुमारी डचर,
सहस्रद्वीपोद्यान,
जुलाई, १८९५

माँ,

मेरा विश्वास है कि आप अब न्यूयार्क पहुँच गयी हैं और वहाँ अभी बहुत गर्मी नहीं है। यहाँ हमारा कार्य सुचारु रूप से चल रहा है। मेरी लुई कल आ पहुँची है। अब हम लोग सब मिलकर सात हुए।

दुनिया भर की नींद मेरे ऊपर सवार हो गयी है। मैं दोपहर में कम से कम दो घंटे और सारी रात लकड़ी के कुंदे की तरह सोता रहता हूँ। मैं समझता हूँ, यह न्यूयार्क की अनिद्रा की प्रतिक्रिया है। थोड़ी-बहुत लिखाई-पढ़ाई करता हूँ और रोज़ सुबह जलपान करने के बाद क्लास लेता हूँ। भोजन एकदम निरामिष-नियम के अनुसार बनता है और मैं ख़ूब उपवास कर रहा हूँ।

मैं यहाँ जाने के पहले कई सेर चर्बी घटाने को दृढ़संकल्प हूँ। यह मेधा-

डिस्टों का स्थान है और वे अगस्त में अपनी 'शिविर-गोष्ठी' करेंगे। यह बहुत ही रम्य प्रदेश है, लेकिन मुझे भय है कि मौसम के दौरान यहाँ बहुत भीड़ हो जायगी।

मेरा विश्वास है, कुमारी जो जो का मक्खी-दंश अब ठीक हो गया होगा। . . . माँ कहाँ हैं? उन्हें पत्र लिखें, तो दया करके मेरा अभिवादन भी दे दें।

पर्सी के आनन्दपूर्ण दिनों की याद मुझे सदा आयेगी और श्री लेगेट की उस ख़ातिरदारी के लिए सदा धन्यवाद। मैं उनके साथ यूरोप जा सकता हूँ। उनसे भेंट हो, तो मेरा आंतरिक प्यार और कृतज्ञता दे दें। उन्हीं जैसे सज्जनों के प्यार से यह संसार सदा सुन्दर हुआ है। क्या आप अपनी मित्र श्रीमती डोरा (एक लंबा जर्मन नाम) के साथ हैं? वे बहुत ही भली और सही अर्थों में महात्मा हैं। कृपया उन्हें मेरा प्यार और अभिवादन दें।

मैं फ़िलहाल—निद्रित—अलस और आनन्दपूर्ण अवस्था में हूँ और यह वेजा नहीं लगता मुझे। मेरी लुई न्यूयार्क से अपना पालतू कछुआ ले आयी थीं। यहाँ पहुँचने के वाद कच्छप ने अपने को समस्त प्राकृतिक परिवेश में घिरा हुआ पाया। अनवरत हाथ-पाँव मारकर—रेंगता-लुढ़कता मेरी लुई के प्यार और दुलार को बहुत पीछे छोड़कर—चला गया। पहले तो वे बहुत दुःखित हुईं। किंतु, हम लोगों ने मिलकर मुक्ति का ऐसा ज़ोरदार प्रचार किया कि वे तुरत सँभल गयीं।

भगवान् आपका सर्वदा मंगल करे—यही आपके इस स्नेहाधीन की प्रार्थना है।

विवेकानन्द

पुनश्च—जो जो ने भोजपत्र की पोथी नहीं भेजी। श्रीमती बुल को मैंने एक प्रति दी थी—बहुत प्रसन्न हुई थीं। भारत से बहुत से सुन्दर पत्र आये हैं। वहाँ सब ठीक-ठाक हैं। उस ओर के बच्चों को प्यार—सचमुच के 'वहाँ के भोले-भाले'।

वि०

(श्री एफ़० लेगेट को लिखित)

द्वारा कुमारी डचर,
सहस्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क,
७ जुलाई, १८९५

प्रिय मित्र,

मुझे प्रतीत होता है कि आप न्यूयार्क का बहुत ही आनन्द ले रहे हैं, अतः पत्र से अपने स्वप्न-भंग के लिए मुझे क्षमा करें।

कुमारी मैक्लिऑड और श्रीमती स्टारगीज़ के दो सुन्दर पत्र प्राप्त हुए। उन्होंने दो सुन्दर भोजपत्र की पुस्तकें भी भेजीं। मैंने उन्हें संस्कृत के मूल तथा अनुवादों से भर दिया है, और वे आज की डाक से जा रही हैं।

श्रीमती डोरा[1] 'महात्मीय' दिशा में कुछ चमत्कारिक प्रदर्शन कर रही हैं, ऐसा मैंने सुना है। पर्सी से प्रस्थान के बाद अप्रत्याशित स्थानों से लंदन जाने के लिए मुझे निमंत्रण मिले हैं और मैं इसके लिए अत्यन्त आशान्वित हूँ।

मैं लन्दन में कार्य करने के इस अवसर को खोना नहीं चाहता। और इसलिए मैं जानता हूँ कि भविष्य-कार्य के लिए आपका निमंत्रण लन्दन के निमंत्रण के साथ मिलकर एक ईश्वरीय आह्वान हुआ है। मैं पूरे महीने यहीं रहूँगा और केवल अगस्त में कुछ दिनों के लिए शिकागो अवश्य जाऊँगा।

पिता लेगेट, आप खीझें नहीं, जब हम निश्चित रूप से मैत्रीपूर्ण हैं, प्रत्याशा के लिए यही उचित अवसर है। प्रभु सदा-सर्वदा आपका कल्याण करे, और चूँकि आप इसके योग्य पात्र हैं, इसलिए प्रभु सदैव आपको सुख प्रदान करे।

सदा प्रेम और प्रीतिबद्ध,
विवेकानन्द

(कुमारी अल्बर्टा स्टारगीज़ को लिखित)

१९ पश्चिम ३८, न्यूयार्क,
८ जुलाई, १८९५

प्रिय अल्बर्टा,

अवश्य ही तुम अपने संगीत सम्बन्धी अध्ययन में तल्लीन होगी। आशा है, तुमने सरगम के सम्बन्ध में सब कुछ जान लिया है। अब अगली बार मिलने पर मैं तुमसे सप्तकों के सम्बन्ध में कुछ सीखूँगा।

पर्सी में श्री लेगेट के साथ समय बड़े आनन्द में बीता। क्या उन्हें सन्त न कहें?

मुझे विश्वास है कि होलिस्टर भी जर्मनी का खूब आनन्द ले रहा है और आशा है, तुम लोगों में से किसीने जर्मन शब्दों—विशेषत: sch, tz, tsz से प्रारम्भ होनेवाले शब्दों तथा अन्य मधुर शब्दों के उच्चारण से अपनी जीभ छलनी नहीं की होगी।

मैंने जहाज़ में लिखा हुआ तुम्हारा पत्र तुम्हारी माता जी को सुना दिया। बहुत सम्भव है कि मैं आगामी सितम्बर में यूरोप जाऊँ। अभी तक मुझे यूरोप जाने का अवसर नहीं मिला। आख़िर वह संयुक्त राज्य से बहुत भिन्न न होगा और अब तो मैं इस देश के रहन-सहन और रीति-रिवाज़ में पूर्ण अभ्यस्त हो चुका हूँ।

पर्सी में हम लोगों ने नाव खेने का बहुत आनन्द उठाया और मैंने नाव खेने की एक-दो बातें सीखीं। कुमारी जो जो को अपनी मधुरता का मूल्य चुकाना पड़ा,

---

१. श्रीमती डोरा रस्थलेसबर्गर—ये गुप्तविद्या की अनुगामिनी थीं, जिन्होंने कुमारी मैक्लिऑड तथा श्रीमती स्टारगीज़ के साथ स्वामी जी का परिचय कराया।

क्योंकि मक्खियों और मच्छरों ने उन्हें क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ा। उन्होंने मुझे काफ़ी तरह दी, शायद इसलिए कि वे अति कट्टर सब्बाटेरियन मक्खियाँ थीं और एक ग़ैर-ईसाई को कभी भी स्पर्श नहीं कर सकती थीं। मैं सोचता हूँ कि पर्सी में मैं फिर बहुत गाने लगा और अवश्य ही इसने उन्हें डरा दिया होगा। भोजपत्र के वृक्ष बड़े सुन्दर थे। मेरे मन में उनकी छाल से पुस्तकें बनाने का विचार आया, जैसा प्राचीन काल में मेरे देश में रिवाज था और तुम्हारी माता जी तथा चाची जी के लिए संस्कृत श्लोकों की रचना की।

अल्बर्टा, मुझे विश्वास है कि तुम शीघ्र ही अति महान् विदुषी नारी बनोगी।

तुम दोनों के लिए प्रेम और आशीर्वाद।

तुम्हारा चिर स्नेही,
स्वामी विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

प्राणाधिक, १८९५

समाचारपत्र आदि अब बहुत कुछ इकट्ठे हो चुके हैं, और भेजने की आवश्यकता नहीं है। अब भारत में ही आन्दोलन चलने दो।...

प्रत्येक दिन सनसनी फैलाना कोई विशेष लाभकारक नहीं है। किन्तु यह जो सारे देश में उत्तेजना फैल रही है, इसीके आधार पर तुम लोग चारों ओर फैल जाओ अर्थात् जगह जगह शाखाएँ स्थापित करने का प्रयत्न करो। मौक़ा ख़ाली न जाने पाये। मद्रासियों से मिलकर जगह जगह समिति आदि की स्थापना करनी होगी। उस पत्रिका के विषय में क्या हुआ, जो मैंने सुना था कि प्रकाशित होने जा रही है। इसको चलाने में तुम लोग क्यों घबड़ा रहे हो? ···आगे बढ़ो। अपनी बहादुरी तो दिखाओ। प्रिय भाई, मुक्ति नहीं मिली, तो न सही, दो-चार बार नरक ही जाना पड़े, तो हानि ही क्या है? क्या यह बात असत्य है?

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणुं पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥[1]

---

१. ऐसे साधु कितने हैं, जिनके कार्य, मन तथा वाणी पुण्यरूप अमृत से परिपूर्ण हैं और जो विभिन्न उपकारों के द्वारा त्रिभुवन की प्रीति सम्पादन कर दूसरों के परमाणु तुल्य अर्थात् अत्यन्त स्वल्प गुण को भी पर्वतप्रमाण बढ़ाकर अपने हृदयों का विकास साधन करते हैं ॥भर्तृहरि॥

भले ही न हो तुम्हारी मुक्ति। यह कैसी बच्चों की सी बकवास? राम राम! 'नहीं है', 'नहीं है' कहने से साँप का ज़हर भी उतर जाता है। क्या यह सत्य नहीं है? 'मैं कुछ नहीं जानता', 'मैं कुछ भी नहीं हूँ'—ये किस प्रकार के वैराग्य और विनय हैं भाई? यह तो मिथ्या वैराग्य एवं व्यंग्यपूर्ण विनय है। इस प्रकार के दीन-हीन भावों को दूर करना होगा। यदि मैं नहीं जानता हूँ, तो और कौन जानता है? यदि तुम नहीं जानते हो, तो अब तक तुमने क्या किया? ये सब नास्तिकों की बात है, अभागे आवारों की विनयशीलता है। हम सब कुछ कर सकते हैं और करेंगे; जिनका सौभाग्य है, वे गर्जना करते हुए हमारे साथ निकल आयेंगे और जो भाग्यहीन हैं, वे बिल्ली की तरह एक कोने में बैठकर म्याऊँ म्याऊँ करते रहेंगे। एक महापुरुष लिखते हैं कि 'आन्दोलन बहुत कुछ हो चुका है, और अधिक की क्या आवश्यकता है, अब घर लौटना चाहिए।' मैं तो उनको मर्द तब जानता, जब मेरे रहने के लिए कोई मठ बनवाकर वे मुझे बुलाते। मेरे दस वर्ष के अनुभव ने मुझे पक्का बना दिया है। केवल मात्र बातों से कुछ होने-जाने का नहीं है। जिसके मन में साहस तथा हृदय में प्यार है, वही मेरा साथी बने—मुझे और किसी-की आवश्यकता नहीं है। जगन्माता की कृपा से मैं अकेला ही एक लाख के बराबर हूँ तथा स्वयं ही बीस लाख बन जाऊँगा। अब एक कार्य समाप्त होने से मैं निश्चिन्त हो जाता। भाई राखाल, तुम उत्साहपूर्वक उसे कर दो। वह है माता जी के लिए ज़मीन ख़रीदना। मेरे पास रुपये-पैसे मौजूद हैं। सिर्फ़ तुम उद्यम के साथ ज़मीन को देखकर ख़रीद लेना। ज़मीन के लिए ३-४ या ५ हज़ार तक लग जाय, तो कोई हर्ज़ नहीं है।...मेरा भारत लौटना अभी अनिश्चित है। मेरे लिए जैसे वहाँ भ्रमण करना, वैसे यहाँ भी है, भेद केवल मात्र इतना ही है कि यहाँ पर पण्डितों का संग है, वहाँ मूर्खों का—यही स्वर्ग-नरक का भेद है। यहाँ के लोग मिल-जुलकर कार्य करते हैं और हम लोगों के तमाम कार्यों में तथाकथित वैराग्य यानी आलस्य है, ईर्ष्या आदि के कारण सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

हरमोहन बीच बीच में बहुत ही लम्बा-चौड़ा पत्र लिखते हैं, उसका आधा भी मैं नहीं समझ पाता, हालाँकि यह मेरे लिए परम लाभजनक ही है। क्योंकि उसमें अधिकांश समाचार इस प्रकार के होते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक की दूकान पर बैठकर मेरे विरुद्ध इस प्रकार की बातें बना रहा था, जो उनके लिए असहनीय हो गया एवं इस बात पर उससे उनका झगड़ा हो गया आदि। मेरे पक्ष के समर्थन के लिए उनको अनेक धन्यवाद। किंतु मुझे कौन क्या कह रहा है, उसे ध्यानपूर्वक सुनने में मुख्य बाधा यही है कि **स्वल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः**।—'समय अत्यन्त कम है और विघ्न अनेक हैं।'...

एक organised society (संगठित समिति) की आवश्यकता है। शशि घरेलू कार्यों की व्यवस्था करे, रुपया-पैसा तथा बाजार आदि का भार सान्याल सम्हाले तथा शरत् secretary (मंत्री) बने, अर्थात् पत्र-व्यवहार आदि कार्य वह करता रहे। एक स्थायी केन्द्र स्थापित करो, क्यों व्यर्थ के झगड़े में पड़े हुए हो, समझे न? अख़बारी प्रकाशन बहुत कुछ हो चुका है, अब तो कुछ करके दिखलाओ। यदि कोई मठ बना सको, तब मैं समझूंगा कि तुम बहादुर हो, नहीं तो कुछ नहीं। मद्रासियों से परामर्श कर कार्य करना, उनमें कार्य करने की बड़ी भारी शक्ति है। इस वर्ष श्री रामकृष्णोत्सव को इस शान के साथ सम्पन्न करो कि एक उदाहरण प्रस्तुत हो सके। भोजनादि का प्रचार जितना ही कम हो सके, उतना ही अच्छा। हाथोंहाथ प्रसाद का वितरण भी हो जाय, तो अच्छा ही है।

श्री रामकृष्ण देव की एक अत्यन्त संक्षिप्त जीवनी अंग्रेज़ी में लिखकर मैं भेज रहा हूँ। उसके बंगानुवाद के साथ उसे छपवाकर महोत्सव में बेचना; मुफ़्त वितरण की हुई पुस्तकों को लोग प्रायः नहीं पढ़ते हैं, इसलिए कुछ मूल्य अवश्य रखना चाहिए। खूब धूम-धाम के साथ महोत्सव करना।...

बुद्धि प्रशस्त होनी चाहिए, तब कहीं कार्य होता है। गाँव अथवा शहर में जहाँ कहीं भी जाओ, श्री परमहंस देव के प्रति श्रद्धासम्पन्न दस व्यक्ति भी जहाँ मिलें, वहीं एक सभा स्थापित करो। गाँवों में जाकर अब तक तुमने क्या किया? हरि-सभा इत्यादि को धीरे धीरे स्वाहा करना होगा। क्या कहूँ, यदि मुझ जैसा एक भूत और मुझे मिलता! समय आने पर प्रभु सब कुछ जुटा देंगे।...यदि शक्ति विद्यमान है, तो उसका विकास अवश्य दिखाना होगा।...मुक्ति-भक्ति की भावना को दूर कर दो। परोपकाराय हि सतां जीवितं, परार्थं प्राज्ञ उत्सृजेत्— 'साधुओं का जीवन परोपकार के लिए ही है, प्राज्ञ व्यक्तियों को दूसरों के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए।' संसार में यही एकमात्र रास्ता है। तुम्हारी भलाई करने से मेरी भी भलाई है, दूसरा कोई उपाय नहीं है, बिलकुल नहीं है।...तुम भगवान् हो, मैं भगवान् हूँ और मनुष्य भगवान् है। यह वही भगवान् है, जो मानवता के रूप में अभिव्यक्त होकर दुनिया में सब कुछ कर रहा है, फिर क्या भगवान् कहीं अन्यत्र बैठा हुआ है? अतः कार्य में संलग्न हो जाओ।

शशि (सान्याल) द्वारा लिखित एक पुस्तक विमला ने मुझे भेजी है। उस ग्रंथका अध्ययन कर विमला को यह ज्ञान प्राप्त हुआ है कि इस दुनिया में जितने भी लोग हैं, सभी अपवित्र हैं तथा उन लोगों के संस्कार ही इस प्रकार के हैं कि उनसे धर्म का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता, केवल मात्र कुछ भारतीय ब्राह्मण लोग ही धर्मानुष्ठान कर सकते हैं। उनमें भी शशि (सान्याल) और विमला चन्द्र-सूर्य-

स्वरूप हैं। शावाश, कितना शक्तिशाली धर्म है! खासकर वंगाल में इस प्रकार का धर्मानुष्ठान अत्यन्त ही सहज है। ऐसा कोई दूसरा सहज मार्ग ही नहीं है। यही तो तप-जप आदि का सार सिद्धान्त है कि मैं पवित्र हूँ और वाक़ी सव लोग अपवित्र। यह कितना पैशाचिक, राक्षसी तथा नारकीय धर्म है। यदि अमेरिका के लोग धर्मानुष्ठान नहीं कर सकते, यदि इस देश में धर्म का प्रचार उचित नहीं है, तो फिर इन लोगों से सहायता माँगने की क्या आवश्यकता है? एक ओर अयाचित-वृत्ति का गुणगान और दूसरी ओर पोथी में ऐसे आक्षेपों की भरमार कि मुझे कोई भी कुछ नहीं देता है। विमला तो इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यदि भारत के लोग शशि (सान्याल) तथा विमला के चरणों पर धनराशि अर्पित नहीं करते, तो इसका अर्थ यह है कि भारत का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं है। क्योंकि शशि वावू को सूक्ष्म व्याख्या मालूम है और उसे पढ़कर विमला को यह निश्चित रूप से विदित हो चुका है कि उनके सिवाय इस दुनिया में और कोई भी पवित्र नहीं है। इस रोग की दवा क्या है? शशि वावू से कहना कि वे मलावार चले जायँ। वहाँ के राजा ने प्रजा से ज़मीन छीनकर ब्राह्मणों के चरणों में अर्पित की है, गाँव गाँव में वड़े वड़े मठ हैं, उत्तम भोजन की व्यवस्था है, साथ में दक्षिणा भी।...भोग करते समय ब्राह्मणेतर जाति के स्पर्श से कोई दोष नहीं होता—भोग समाप्त होते ही स्नान आवश्यक है, क्योंकि ब्राह्मणेतर जाति तो अपवित्र है, अन्य समय में उसे स्पर्श करने की आवश्यकता भी नहीं है। साधु-संन्यासी तथा ब्राह्मण दुष्टों ने देश को रसातल पहुँचाया है। 'देहि, देहि' की रट लगाना तथा चोरी-वदमाशी करना—किन्तु हैं धर्म के प्रचारक। धन कमायेंगे, सर्वनाश करेंगे, साथ ही यह भी कहेंगे कि हमें न छूना। कितने महान् कार्यों को वे लोग सम्पन्न करते रहे हैं!—यदि आलू से वैंगन का स्पर्श हो जाय, तो कितने समय के अन्दर यह ब्रह्माण्ड रसातल को पहुँच जायगा? चौदह वार हाथ मिट्टी न करने से पूर्वजों के चौदह पुश्त नरकगामी होते हैं अथवा चौवीस, इन उलझनपूर्ण प्रश्नों की मीमांसा में ये लोग आज दो हज़ार वर्षों से लगे हुए हैं, जव कि दूसरी ओर one fourth of the people are starving (जनता का एक-चौथाई भाग भूखा मर रहा है)। आठ वर्ष की कन्या के साथ तीस वर्ष के पुरुष का विवाह करके कन्या के पिता-माताओं के आनन्द की सीमा नहीं रहती!...फिर इस काम में वाधा पहुँचने से वे कहते हैं कि हमारा धर्म ही चला जायगा! आठ वर्ष की लड़की के गर्भाधान की जो लोग वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं, उनका धर्म कहाँ का धर्म है? वहुत से लोग इस प्रथा के लिए मुसलमानों को दोषी ठहराते हैं। वास्तव में क्या, मुसलमान इसके लिए दोषी हैं? सम्पूर्ण गृह्यसूत्रों को तो एक वार पढ़कर देखो, हस्तात् योनिं न गूहति—

दशा जब तक है, तभी तक कन्या मानी जाती है, इसके पहले ही उसका विवाह कर देना चाहिए। तमाम गृह्यसूत्रों का यही आदेश है।

वैदिक अश्वमेध यज्ञानुष्ठान की ओर ध्यान दो—**तदनन्तरं महिर्षी अश्वसन्निधौ पातयेत्**—आदि वाक्य देखने को मिलेंगे। होता, ब्रह्मा, उद्‌गाता इत्यादि नशे में चूर होकर कितना घृणित आचरण करते थे। अच्छा हुआ कि जानकी के वन-गमन के वाद राम ने अकेले ही अश्वमेध यज्ञ किया, इससे चित्त को बड़ी शान्ति मिली।

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका उल्लेख विद्यमान है तथा सभी टीकाकारों ने माना है, फिर कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल में वहुत सी चीजें अच्छी भी थीं और बुरी भी। उत्तम वस्तुओं की रक्षा करनी होगी, किन्तु Ancient India (प्राचीन भारत) से Future India (भावी भारत) अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। जिस दिन श्री रामकृष्ण देव ने जन्म लिया है, उसी दिन से Modern India (वर्तमान भारत) तथा सत्ययुग का आविर्भाव हुआ है। तुम लोग सत्ययुग का उद्‌घाटन करो और इसी विश्वास को लेकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हो।

एक ओर तो तुम श्री रामकृष्ण देव को अवतार कहते हो और उसके साथ ही साथ अपने को अज्ञ भी बतलाते हो, यही कारण है मैं कि बिना किसी संकोच के तुम लोगों को liar (झूठा) कहता हूँ। यदि श्री रामकृष्ण देव सत्य हैं, तो तुम भी सत्य हो। किंतु तुमको यह प्रमाणित कर दिखाना होगा।...तुम्हारे अन्दर महाशक्ति विद्यमान है, नास्तिकों में कुछ भी नहीं है। आस्तिक लोग वीर होते हैं। जो महाशक्ति उनमें विद्यमान है, उसका विकास अवश्य होगा और उससे जगत् परिप्लावित हो जायगा। 'ग़रीबों का उपकार करना ही दया है'; 'मनुष्य भगवान् है, नारायण है'; 'आत्मा में स्त्री-पुरुष-नपुंसक तथा ब्राह्मण, क्षत्रियादि भेद नहीं है'; 'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सब कुछ नारायण है।' कीट स्वल्प अभिव्यक्त (less manifested) तथा ब्रह्म अधिक अभिव्यक्त (more manifested) है।

'धीरे धीरे ब्रह्मभाव की अभिव्यक्ति के लिए जिन कार्यों से जीव को सहायता मिलती है, वे ही अच्छे हैं और जिनके द्वारा उसमें वाधा पहुँचती है, वे बुरे हैं।'

'अपने में ब्रह्मभाव को अभिव्यक्त करने का यही एकमात्र उपाय है कि इस विषय में दूसरों की सहायता करना।'

'यदि स्वभाव में समता न भी हो, तो भी सबको समान सुविधा मिलनी चाहिए। फिर भी यदि किसीको अधिक तथा किसीको कम सुविधा देनी हो, तो बलवान की अपेक्षा दुर्बल को अधिक सुविधा प्रदान करनी आवश्यक है।'

अर्थात् चाण्डाल के लिए शिक्षा की जितनी आवश्यकता है, उतनी ब्राह्मण के

लिए नहीं। यदि किसी ब्राह्मण के पुत्र के लिए एक शिक्षक आवश्यक हो, तो चाण्डाल के लड़के के लिए दस शिक्षक चाहिए। कारण यह है कि जिस की बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता प्रकृति के द्वारा नहीं हुई है, उसके लिए अधिक सहायता करनी होगी। चिकने-चुपड़े पर तेल लगाना पागलों का काम है। The poor, the downtrodden, the ignorant, let these be your God. 'दरिद्र, पददलित तथा अज्ञ तुम्हारे ईश्वर बनें।'

तुम्हारे सामने एक भयानक दलदल है—उससे सावधान रहना; सब कोई उस दलदल में फँसकर ख़त्म हो जाते हैं। वर्तमान हिन्दुओं का धर्म न तो वेद में है और न पुराण में, न भक्ति में है और न मुक्ति में—धर्म तो भात की हाँड़ी में समा चुका है—यही वह दलदल है। वर्तमान हिन्दू धर्म न तो विचार-प्रधान ही है और न ज्ञान-प्रधान, 'मुझे न छूना, मुझे न छूना', इस प्रकार की अस्पृश्यता ही उसका एकमात्र अवलम्ब है, बस इतना ही। इस घोर वामाचाररूप अस्पृश्यता में फँसकर तुम अपने प्राणों से हाथ न धो लेना। आत्मवत् सर्वभूतेषु, क्या यह वाक्य केवल मात्र पोथी में निवद्ध रहने के लिए है? जो लोग ग़रीबों को रोटी का एक टुकड़ा नहीं दे सकते, वे फिर मुक्ति क्या दे सकते हैं? दूसरों के श्वास-प्रश्वासों से जो अपवित्र बन जाते हैं, वे फिर दूसरों को क्या पवित्र बना सकते हैं? अस्पृश्यता is a form of mental disease. (एक प्रकार की मानसिक व्याधि है); उससे सावधान रहना। 'सब प्रकार का विस्तार ही जीवन है और सब प्रकार की संकीर्णता मृत्यु है। जहाँ प्रेम है, वहीं विस्तार है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं संकोच। अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है। जो प्रेम करता है, वही जीवित है; जो स्वार्थी है, वह मृतक है। अतः प्रेम प्रेम के निमित्त, क्योंकि यह जीवन का वैसा ही एकमात्र विधान है, जैसा जीने के लिए श्वास लेना। निष्काम प्रेम, निष्काम कर्म इत्यादि का यही रहस्य है।' . . .यदि हो सके, तो शशि (सान्याल) की कुछ भलाई का प्रयत्न करना। वह अत्यन्त उदार तथा निष्ठावान हैं, किन्तु उसका हृदय संकीर्ण है। दूसरों के दुःख में दुःखी होना सबके लिए सम्भव नहीं है। हे प्रभो, सब अवतारों में श्री चैतन्य महाप्रभु श्रेष्ठ हैं, किन्तु उनमें प्रेम की तुलना में ज्ञान का अभाव था, श्री रामकृष्णावतार में ज्ञान, भक्ति तथा प्रेम—तीनों ही विद्यमान हैं। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम, अनन्त कर्म तथा प्राणियों के लिए अनन्त दया है। अभी तक तुम्हें इसका अनुभव नहीं हुआ है। श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्—'इनके बारे में सुनकर भी कोई कोई इनको जान नहीं पाते हैं।' 'युग-युगान्त से समग्र हिन्दू जाति के लिए जो चिन्तन का विषय रहा, उन्होंने अपने एक ही जीवन में उसकी उपलब्धि की।

उनका जीवन सब जातियों के शास्त्रों का सजीव भाष्यस्वरूप है।' लोगों को धीरे धीरे इसका पता लगेगा। मेरी तो यही पुरानी वाणी है—Struggle, struggle up to light! Onward! (अपनी पूरी शक्ति के साथ ज्योति की ओर अग्रसर हो।) इति।

दास,
नरेन्द्र

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम,
रीडिंग, इंग्लैण्ड,
१८९५

स्नेहास्पद,

तुम्हारे पत्र से सविशेष समाचार ज्ञात हुए। तुम्हारा संकल्प अत्यन्त सुन्दर है, किन्तु तुम लोगों में organisation (संगठन) की शक्ति का एकदम अभाव है। यही अभाव सब अनर्थों का मूल है। मिल-जुलकर कार्य करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। Organisation के लिए सबसे पहले obedience (आज्ञा-पालन) की आवश्यकता है, इच्छा हुई तो कुछ किया, अन्यथा चुपचाप—इस तरह कोई कार्य नहीं होता है। Plodding industry and perseverance (धैर्य के साथ परिश्रम तथा लगन) चाहिए। Regular correspondence (नियमित पत्र-व्यवहार) अर्थात् तुम लोग क्या कर रहे हो तथा उसका फल क्या हो रहा है, इसका पूरा विवरण हर महीने अथवा महीने में दो बार मुझे लिखकर भेजोगे। यहाँ (इंग्लैण्ड) के लिए एक ऐसे संन्यासी की आवश्यकता है, जो अंग्रेजी तथा संस्कृत अच्छी तरह से जानता हो। मुझे शीघ्र ही यहाँ से अमेरिका जाना है, और मेरी अनुपस्थिति में यहाँ पर उसको कार्य करना होगा। शरत् और शशि, इन दोनों के सिवाय और कोई मेरी नजर में नहीं आ रहा है। शरत् को मैं रुपया भेज चुका हूँ तथा पत्र के देखते ही उसे रवाना होने के लिए मैंने लिखा है। राजा जी को भी मैं यह लिख चुका हूँ कि वे बम्बईस्थित अपने agent (एजेण्ट) के द्वारा शरत् को अच्छी तरह से जहाज में बैठालने की व्यवस्था करें। यदि हो सके, तो ख्याल कर तुम उसके साथ एक बोरी मूंग, चना तथा अरहर की दाल तथा कुछ मेथी भेजना, पत्र लिखते समय मुझे इन वस्तुओं की याद नहीं रही। पं० नारायणदास, मा० शंकरलाल, ओझा जी, डॉक्टर तथा अन्यान्य सभी लोगों से मेरी प्रीति कहना। क्या गोपी की

आँख की दवा यहाँ मिल जायगी ? सर्वत्र ही 'पेटेन्ट' दवाओं में धोकाधड़ी चलती है। उससे तथा अन्यान्य शिष्यवर्गों से मेरा आशीर्वाद कहना। यज्ञेश्वर बाबू ने मेरठ में कोई सभा स्थापित की है, वे हम लोगों के साथ मिलकर कार्य करना चाहते हैं। सुना है कि उनकी कोई पत्रिका भी है; काली को वहाँ भेज दो, यदि हो सके, तो वहाँ जाकर वह एक केन्द्र स्थापित करे और ऐसा प्रयत्न करे कि हिन्दी में उस पत्रिका का प्रकाशन हो। बीच बीच में मैं कुछ रुपया भेजता रहूँगा। काली मेरठ जाकर वहाँ की यथार्थ स्थिति ज्यों ही मुझे लिखेगा, मैं कुछ रुपया भेज दूँगा। अजमेर में एक केन्द्र स्थापित करने का प्रयत्न करना। सहारनपुर में पं० अग्निहोत्री जी ने कोई सभा स्थापित की है। उन लोगों ने मुझे एक पत्र भी लिखा है। उन लोगों के साथ correspondence (पत्र-व्यवहार) करते रहना। सबके साथ मेल-जोल रखना। work, work. (कार्य, कार्य।) इस तरह केन्द्र स्थापित करते रहो। कलकत्ता तथा मद्रास में केन्द्र पहले से है ही, यदि मेरठ और अजमेर में सम्भव हो सके, तो बहुत ही अच्छा होगा। धीरे धीरे इस प्रकार विभिन्न स्थानों में केन्द्र स्थापित करते रहो। यहाँ पर मुझे पत्रादि इस पते पर भेजना—द्वारा श्री ई० टी० स्टर्डी, हाई व्यू, कैवरशम, रीडिंग, इंग्लैण्ड। मेरा अमेरिका का पता इस प्रकार है—द्वारा कुमारी फिलिप्स १९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क। क्रमशः दुनिया में छा जाना होगा। सर्वप्रथम आज्ञा-पालन आवश्यक है। अग्नि में कूदने के लिए तैयार रहना चाहिए—तब कहीं कार्य होता है।...उसी प्रकार राजपूताने के गाँव गाँव में सभा स्थापित करो।

किमधिकमिति,
विवेकानन्द

(अपने गुरुभाइयों को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९५

प्रियवर,

सान्याल ने जो पुस्तकें भेजी थीं, वे मिल गयीं। मैं यह लिखना भूल गया। उसे यह समाचार बता देना। तुम लोगों को मैं निम्नलिखित बातें बतलाना चाहता हूँ—

१. पक्षपात ही सब अनर्थों का मूल है, यह न भूलना। अर्थात् यदि तुम किसीके प्रति अन्य की अपेक्षा अधिक प्रीति-प्रदर्शन करते हो, तो याद रखो, उसीसे भविष्य में कलह का बीजारोपण होगा।

२. 'यदि कोई तुम्हारे समीप अन्य किसी साथी की निन्दा करना चाहे, तो तुम उस ओर बिल्कुल ध्यान न दो। इन बातों को सुनना भी महान् पाप है, उससे भविष्य में विवाद का सूत्रपात होगा।

३. दूसरों के दोषों को सर्वदा सहन करना, लाख अपराध होने पर भी उसे क्षमा करना। यदि निःस्वार्थभाव से तुम सबसे प्रीति करोगे, तो उसका फल यह होगा कि सब कोई आपस में प्रीति करने लगेंगे। एक का स्वार्थ दूसरे पर निर्भर है, इसका विशेष रूप से ज्ञान होने पर सब लोग ईर्ष्या को त्याग देंगे; आपस में मिल-जुलकर किसी कार्य को सम्पादित करने की भावना हमारे जातीय चरित्र में सुलभ नहीं है; अतः इस प्रकार की भावना को जाग्रत करने के लिए तुम्हें अत्यधिक परिश्रम करना पड़ेगा तथा उसके लिए हमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा भी करनी होगी। सचमुच मैं तुम लोगों में किसीको छोटा-बड़ा नहीं देख पाता हूँ; मैं यह अनुभव करता हूँ कि आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक एक महान् शक्ति का परिचय दे सकता है। शशि का कितना सुन्दर व्यक्तित्व है, उसकी दृढ़निष्ठा महान् आधारस्वरूप है। काली तथा योगेन ने कैसे अच्छी तरह से 'टाउन हॉल' की मीटिंग को सफल बनाया। वास्तव में कितना कठिन कार्य था यह। निरञ्जन ने लंका आदि स्थानों में बहुत कुछ कार्य किया है। सारदा ने विभिन्न देशों में पर्यटन कर कितने ही महान् कार्यों का बीजारोपण किया। हरि के अद्भुत त्याग, दृढ़बुद्धि तथा तितिक्षा से मुझे नवीन प्रेरणा मिलती रहती है। तुलसी, गुप्त, बाबूराम, शरत् इत्यादि सभी के अन्दर एक विशाल शक्ति विद्यमान है। श्री रामकृष्ण जौहरी थे, इस बारे में अब भी यदि किसीको सन्देह हो, तो उसमें तथा एक पागल में क्या अन्तर है? इस देश में सैकड़ों व्यक्तियों ने अपने प्रभु को सब अवतारों में श्रेष्ठ मानकर उनकी पूजा करनी प्रारम्भ कर दी है। महान् कार्य धीरे-धीरे सम्पन्न होता है। बारूद के स्तरों को धीरे धीरे सजाना पड़ता है, फिर एक दिन सामान्य अग्नि ही पर्याप्त है—उसीसे चारों ओर ज्वालाएँ दौड़ने लगती हैं।

वे स्वयं कर्णधार हैं, फिर डरने की क्या बात है? तुम लोग अनन्त शक्ति के आधार हो—थोड़ी सी ईर्ष्या तथा अहन्ताबुद्धि को प्रशमित करने के लिए तुम्हें कितना समय चाहिए? जिस समय उस प्रकार की बुद्धि का उदय हो, तत्क्षण ही प्रभु की शरण लो। अपने शरीर तथा मन को उनके कार्यों में सौंप दो, देखोगे, सारी विपत्ति दूर हो जायगी।

इस समय तुम लोग जिस मकान में हो, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह तुम्हारे लिए पर्याप्त नहीं है। एक बड़े मकान की आवश्यकता है, अर्थात् एक कोठरी के अन्दर संकुचित रूप से सब कोई रहें, ऐसा आवश्यक नहीं है। सम्भव होने पर एक

कोठरी में दो व्यक्तियों से अधिक लोगों का रहना उचित नहीं है। एक बड़ा कक्ष भी चाहिए, जहाँ पर पुस्तकादि रखी जा सकें।

मैं चाहता हूँ कि प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल काली, हरि, तुलसी, शशि आदि परस्पर कुछ शास्त्र-चर्चा करें एवं सायंकाल शास्त्र-चर्चा के बाद कुछ समय के लिए ध्यान-धारणा तथा संकीर्तन होना चाहिए। किसी दिन योग, किसी दिन भक्ति तथा किसी दिन ज्ञान सम्बन्धी आलोचनाएँ हों। इस प्रकार क्रम के अनुसार चलने पर बहुत कुछ लाभ होगा। सायंकालीन कार्यक्रम में साधारण लोगों को शामिल करना चाहिए तथा प्रति रविवार को दिन के दस बजे से रात्रि तक क्रमशः शास्त्र-चर्चा तथा कीर्तनादि होना चाहिए। यह अनुष्ठान साधारण जनता के लिए हो। इस प्रकार के नियमादि बनाकर कुछ दिन प्रयासपूर्वक आयोजन करने पर आगे चलकर अपने आप वह चलता रहेगा। अध्ययन-कक्ष में धूम्र-पान न करना चाहिए; इसके लिए कोई दूसरा स्थान निर्धारित कर देना। यदि परिश्रम कर धीरे धीरे तुम इस प्रकार की व्यवस्था कर सको, तो मैं समझूँगा कि बहुत कुछ कार्य सम्पन्न हुआ। किमधिकमिति—

विवेकानन्द

पुनश्च—मैंने सुना था कि हरमोहन एक पत्रिका प्रकाशित करने में लगा हुआ है। वह कार्य कहाँ तक अग्रसर हुआ? काली, शरत्, हरि, मास्टर, जी० सी० घोष आदि सब मिलकर यदि ऐसी व्यवस्था कर सकें, तो बहुत ही अच्छा हो।

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९५

अभिन्नहृदय,

अभी अभी तुम्हारे पत्र से सब समाचार विदित हुए। भारत में अधिक कार्य हो या न हो, इस देश में कार्य की विशेष आवश्यकता है। इस समय किसीको आने की ज़रूरत नहीं है। मैं भारत पहुँचकर कुछ लोगों को यहाँ पर कार्य करने के लिए उपयुक्त शिक्षा प्रदान करूँगा, तब फिर पाश्चात्य देशों में आने के लिए किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा। गुणनिधि के बारे में ही मैंने लिखा था। हरि सिंह आदि को मेरा हार्दिक प्रेमाशीर्वाद देना। किसी प्रकार के विवाद-कलह में न फँसना। खेतड़ी के राजा साहब को दबाने का सामर्थ्य इस पृथ्वी पर किसको है? माँ जगदम्बा उनकी सहायक हैं। काली का पत्र मिला है। काश्मीर में यदि कोई केन्द्र स्थापित कर सको, तो बहुत ही अच्छा कार्य होगा। जहाँ भी हो सके, एक केन्द्र स्थापित करो।...अब यहाँ पर तथा इंग्लैण्ड में मैं अपनी दृढ़ भित्ति

स्थापित कर चुका हूँ, किसकी ताक़त है कि उसे हिला सके ! न्यूयार्क तो इस बार उन्मत्त हो उठा है ! अगली गर्मी में लन्दन को आलोड़ित करना है। बड़े बड़े दिग्गज बह जायँगे। छोटे-मोटे की तो बात ही क्या है ! तुम लोग कमर कसकर कार्य में जुट जाओ, हुंकार मात्र से हम दुनिया को पलट देंगे। अभी तो केवल मात्र प्रारम्भ ही है, मेरे बच्चो। अपने देश में क्या 'मनुष्य' हैं ? वह तो श्मशानसदृश है। यदि निम्न श्रेणी के लोगों को शिक्षा दे सको, तो कार्य हो सकता है। ज्ञानबल से बढ़कर और क्या बल है ! क्या उन्हें शिक्षित बना सकते हो ? बड़े आदमियों ने कब किस देश में किसका उपकार किया है ? सभी देशों में मध्यमवर्गीय लोगों ने ही महान् कार्य किये हैं। रुपये मिलने में क्या देर लगती है ? मनुष्य मिलते कहाँ हैं ? अपने देश में ऐसे 'मनुष्य' कहाँ हैं ? अपने देश के रहनेवाले बालक जैसे हैं, उनके साथ बालक की तरह व्यवहार करना होगा। उनकी बुद्धि दस वर्ष की लड़की के साथ विवाह करके एकदम ख़त्म हो चुकी है।

किसीके साथ विवाद न कर हिल-मिलकर अग्रसर हो—यह दुनिया भयानक है, किसी पर विश्वास नहीं है। डरने का कोई कारण नहीं है, माँ मेरे साथ हैं—इस बार ऐसे कार्य होंगे कि तुम चकित हो जाओगे।

भय किस बात का ? किसका भय ? वज्र जैसा हृदय बनाकर कार्य में जुट जाओ। किमधिकमिति—

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—सारदा एक बंगाली पत्रिका प्रकाशित करने की बात कर रहा है। अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इसमें मदद देना। यह कोई बुरा विचार नहीं है। किसीको उसकी योजनाओं में हतोत्साह नहीं करना चाहिए। आलोचना की प्रवृत्ति का पूर्णतः परित्याग कर दो। जब तक वे सही मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं, तब तक उनके कार्य में सहायता करो; और जब कभी तुमको उनके कार्य में कोई ग़लती नज़र आये, तो नम्रतापूर्वक ग़लती के प्रति उनको सजग कर दो। एक दूसरे की आलोचना ही सब दोषों की जड़ है। किसी भी संगठन को विनष्ट करने में इसका बहुत बड़ा हाथ है।...

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते श्री रामकृष्णाय

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९५

कल्याणीय,

कल तुम्हारा पत्र मुझे मिला, जिसमें समाचार कुछ अल्प अंश में था, परन्तु

सविस्तर वर्णन किसी चीज़ का नहीं था। मैं पहले से बहुत अच्छा हूँ। ईश्वर की कृपा से इस वर्ष के विकट शीत से मैं सुरक्षित हूँ। अरे, यहाँ की भयंकर ठंड! परन्तु वैज्ञानिक ज्ञान से ये लोग इसे सब दबाकर रखते हैं। हर मकान में ज़मीन के नीचे एक तलघर होता है, जहाँ एक बहुत बड़ा पानी उबालने का पात्र है, वहाँ की भाप को दिन-रात हर कमरे में प्रवेश कराया जाता है। इस प्रकार कमरे गर्म रहते हैं, परन्तु इसमें एक दोष है, वह यह कि घरों के अन्दर यद्यपि ग्रीष्म ऋतु होती है, परन्तु बाहर शून्य से तीस-चालीस डिग्री नीचे पारा रहता है। इस देश के अधिकांश धनवान शीतकाल में यूरोप—जो कि यहाँ की तुलना में गर्म रहता है—चले जाते हैं।

अब मैं तुम्हें कुछ उपदेश देता हूँ। यह पत्र विशेष रूप से तुम्हारे लिए है। कृपया प्रतिदिन इसे एक बार पढ़ना और इसे व्यवहार में लाना। मुझे सारदा का पत्र मिला, वह अच्छा काम कर रहा है, परन्तु अब हमें संगठन की आवश्यकता है। उसे, तारक दादा को, तथा औरों को मेरा विशेष प्रेम और आशीष कहना। तुम्हें इन थोड़े से आदेशों को देने का मुख्य कारण यह है कि तुममें संगठन की शक्ति है—ईश्वर ने मुझे यह दिखलाया है—परन्तु उसका अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है। ईश्वर की कृपा से वह शीघ्र ही हो जायगा। तुम अपना सन्तुलन-केन्द्र (centre of gravity) कभी नहीं खोते[1], यही उसका प्रमाण है; परन्तु गम्भीर और उदार, दोनों होना चाहिए।

१. सब शास्त्रों का कथन है कि संसार में जो त्रिविध दु:ख हैं, वे नैसर्गिक नहीं हैं, और वे दूर किये जा सकते हैं।

२. बुद्ध अवतार में भगवान् कहते हैं कि इस आधिभौतिक दु:ख का कारण भेद ही है; अर्थात् जन्मगत, गुणगत या धनगत—सब तरह का भेद इन दु:खों का कारण है। आत्मा में लिंग, वर्ण या आश्रम या इस प्रकार का कोई भेद नहीं होता, और जैसे कीचड़ के द्वारा कीचड़ नहीं धोया जाता, इसी तरह से भेदभाव से अभेद की प्राप्ति होनी असम्भव है।

३. कृष्ण अवतार में वे कहते हैं कि सब दु:खों का मूल अविद्या है और निष्काम कर्म चित्त को शुद्ध करता है। परन्तु किं कर्म किमकर्मेति आदि; 'कर्म क्या है और अकर्म क्या है', इसका निर्णय करने में महात्मा भी भ्रम में पड़ जाते हैं। (गीता)

---

१. इसका तात्पर्य यह है कि तुम इधर-उधर न घूमकर एक ही जगह रहना पसन्द करते हो।

४. जिस कर्म के द्वारा इस आत्मभाव का विकास होता है, वही कर्म है। और जिसके द्वारा अनात्मभाव का विकास होता है, वही अकर्म है।

५. अतएव कर्म या अकर्म का निर्णय व्यक्तिगत, देशगत और कालगत परिस्थिति के अनुसार होना चाहिए।

६. यज्ञ आदि कर्म प्राचीन काल में उपयोगी थे। परन्तु वे वर्तमान काल के लिए वैसे नहीं हैं।

७. रामकृष्ण अवतार की जन्मतिथि से सत्य युग का आरम्भ हुआ है।...

८. रामकृष्ण अवतार में नास्तिकतारूप म्लेच्छनिवह ज्ञानरूपी तलवार से नष्ट होंगे, और सम्पूर्ण जगत् भक्ति और प्रेम से एक सूत्र में बँध जायगा। साथ ही, इस अवतार में रजस् अर्थात् नाम-यश आदि की इच्छा का सर्वथा अभाव है। दूसरे शब्दों में, उसका जीवन धन्य है, जो इस अवतार के उपदेश को व्यवहार में लाये, चाहे वह उन्हें (इस अवतार को) स्वयं माने या न माने।

९. आधुनिक या प्राचीन समय के विविध सम्प्रदायों के संस्थापक अनुचित मार्ग पर न थे। उन्होंने अच्छा किया; परन्तु उससे और भी अच्छा करना है। कल्याण—तर—तम।

१०. इसलिए जो जिस स्थान पर है, वहीं उसे ग्रहण करना होगा, अर्थात् उसके इष्ट के भाव में आघात न कर उसे उच्चतर भाव में ले जाना होगा। जो इस समय की सामाजिक परिस्थिति है, वह अच्छी है, पर उसे उत्कृष्टतर से उत्कृष्टतम बनाना होगा।

११. स्त्रियों की अवस्था को बिना सुधारे जगत् के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है।

१२. इस कारण रामकृष्ण-अवतार में 'स्त्री-गुरु' को ग्रहण किया गया है, इसीलिए उन्होंने स्त्री के रूप और भाव में साधना की और इस कारण ही उन्होंने जगज्जननी के रूप का दर्शन नारियों के मातृ-भाव में करने का उपदेश दिया।

१३. इसलिए मेरा पहला प्रयत्न स्त्रियों के मठ को स्थापित करने का है। इस मठ से गार्गी और मैत्रेयी और उनसे भी अधिक योग्यता रखनेवाली स्त्रियों की उत्पत्ति होगी।...

१४. चालाकी से कोई बड़ा काम पूरा नहीं हो सकता। प्रेम, सत्यानुराग और महान् वीर्य की सहायता से सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। तत् कुरु पौरुषम्, इसलिए पुरुषार्थ को प्रकट करो।

१५. किसीसे लड़ने-झगड़ने की आवश्यकता नहीं है। **Give your message, leave others to their own thoughts.** (अपना संदेश दे दो तथा दूसरों को

उनके भाव के साथ रहने दो।) **सत्यमेव जयते नानृतम्**—'सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं'; **तदा किं विवादेन**—'तब विवाद से क्या प्रयोजन?'

...गम्भीरता के साथ शिशु-सरलता को मिलाओ। सबके साथ मेल से रहो। अहंकार के सब भाव छोड़ दो और साम्प्रदायिक विचारों को मन में न लाओ। व्यर्थ विवाद महापाप है।

...सारदा के पत्र से मालूम हुआ कि न—घोष ने मेरी ईसा मसीह आदि से तुलना की है। हमारे देश में इस प्रकार की बातें चल सकती हैं, परन्तु यदि तुम यहाँ ऐसा छपवाकर भेजो, तो मेरी निन्दा होने की सम्भावना है! तात्पर्य यह है कि मैं किसीके विचार की स्वतंत्रता में बाधा नहीं डालना चाहता—क्या मैं मिशनरी हूँ? यदि काली ने वे पत्र अमेरिका न भेजे हों, तो उससे कह दो कि न भेजे। केवल अभिनन्दन-पत्र पर्याप्त होगा—कार्यवाहियों के विवरण की आवश्यकता नहीं। इस देश के बहुत से माननीय स्त्री-पुरुष मुझे पूज्य मानते हैं। ईसाई मिशनरी और उनके जैसे दूसरे लोगों ने मुझे गिराने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु अपना यत्न निष्फल समझकर अब चुप बैठे हैं। प्रत्येक कार्य को अनेक विघ्न-बाधाएँ पार करनी पड़ती हैं। शान्ति के मार्ग पर चलने से ही सत्य की विजय होती है। श्री हडसन ने मेरे विरुद्ध कुछ कहा था, उसका उत्तर देने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। पहले तो ऐसा करना अनावश्यक है, दूसरे, मैं श्री हडसन और उनके समान मनुष्यों की श्रेणी में अपने को गिरा लूँगा। क्या तुम पागल हो? एक श्री हडसन से क्या मैं यहाँ से लड़ूँगा? परमात्मा की कृपा से श्री हडसन से कहीं ऊँची श्रेणी के मनुष्य आदर के साथ मेरी बात सुनते हैं। कृपया समाचारपत्र इत्यादि अब मेरे पास न भेजो। जो सब बातें भारत में चल रही हैं, उन्हें चलने दो, इससे कोई हानि नहीं होगी। कुछ समय तक ईश्वरीय कार्य के हेतु समाचारपत्रों में ऐसी हलचल अच्छी थी। जब वह सम्पन्न हो गया, तब फिर उसकी आवश्यकता नहीं रही।...नाम और यश के साथ चलनेवाले दोषों में से यह भी एक दोष है कि कोई बात गुप्त नहीं रह सकती।...किसी नये कार्य को आरम्भ करने से पहले श्री रामकृष्ण से प्रार्थना करो और वे तुम्हें उत्तम मार्ग दिखायेंगे। आरम्भ में हमें एक बड़ा भू-भाग चाहिए, फिर इमारत आदि सब कुछ हो जायगा, धीरे धीरे हमारा मठ अपना निर्माण स्वयं करेगा, उसकी चिन्ता न करो।...

काली तथा औरों ने अच्छा काम किया है। सबको मेरा स्नेह और शुभेच्छाएँ कहना। मद्रास के लोगों के साथ मिलकर काम करना, और तुममें से कोई एक वहाँ समय समय पर जाते रहना। नाम, यश और अधिकार की इच्छा सदा

के लिए त्याग दो। जब तक मैं पृथ्वी पर हूँ, श्री रामकृष्ण मेरे माध्यम से काम कर रहे हैं। जब तक तुम इस पर विश्वास रखते हो, तुम्हें किसी बात का भय नहीं हो सकता।

'रामकृष्ण-पोथी' (बंगला कविता में श्री रामकृष्ण का जीवन), जो अक्षय ने मुझे भेजी, वह बहुत अच्छी है, परन्तु उसके आरम्भ में 'शक्ति' की स्तुति नहीं है, यह उसमें बड़ा दोष है। उससे कहो कि दूसरे संस्करण में इस दोष को दूर कर दे। हमेशा याद रखो कि अब हम संसार की दृष्टि के सामने खड़े हैं और लोग हमारे प्रत्येक काम और वचन का निरीक्षण कर रहे हैं। यह स्मरण रखकर काम करो।

...अपने मठ के लिए कोई स्थान देखते रहना।...यदि कलकत्ते से कुछ दूर हो, तो कोई हानि नहीं। जहाँ कहीं भी हम मठ बनायेंगे, वहीं पर हलचल मचेगी। महिम चक्रवर्ती के बारे में सुनकर प्रसन्न हुआ। मैं देखता हूँ कि ऐन्डीज़ पर्वत में गयाक्षेत्र बन गया है! वह कहाँ है? उसे, श्री विजय गोस्वामी और हमारे मित्रों को मेरा स्नेहमय नमस्कार कहना।...शत्रु को पराजित करने के लिए ढाल तथा तलवार की आवश्यकता होती है। इसलिए अंग्रेज़ी और संस्कृत का अध्ययन मन लगाकर करो। काली की अंग्रेज़ी दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रही है और सारदा की कमज़ोर होती जा रही है। सारदा से कहो कि आलंकारिक पद्धति का त्याग करे। परदेशी भाषा में आलंकारिक पद्धति में लिखना अति कठिन है। उसे मेरी ओर से लाखों शाबाशियाँ कहना!—वही मर्द का काम। ...तुम सबने बहुत अच्छा किया। शाबाश बच्चो! आरम्भ अत्यन्त शानदार है। इसी तरह से चले चलो। यदि ईर्ष्या-सर्प न आ जाय, तो कोई भय नहीं—**माभैः! मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः**—'जो मेरे भक्तों की सेवा करते हैं, वे मेरे सर्वोत्तम भक्त हैं।' तुम सब लोग कुछ गम्भीर हो जाओ। मैं अभी हिन्दू धर्म पर कोई पुस्तक नहीं लिख रहा हूँ, परन्तु मैं अपने विचारों को संक्षेप में लिख रहा हूँ। प्रत्येक धर्म एक अभिव्यक्ति है, एक ही सत्य को प्रकाशित करने की मानो एक भाषा है और हमें हर एक से उसीकी भाषा में बात करनी चाहिए। सारदा ने इसे ठीक समझ लिया है, यह अच्छा है। हिन्दू धर्म का निरीक्षण करने के लिए बाद में काफ़ी समय निकल आयेगा। क्या तुम समझते हो कि यदि मैं हिन्दू धर्म की चर्चा करूँगा, तो इस देश के लोग बहुत आकृष्ट होंगे? भावों की संकीर्णता का नाम ही उन्हें दूर भगा देगा। जो वास्तविक चीज़ है, वह है धर्म, जिसका उपदेश श्री रामकृष्ण ने दिया था—हिन्दू, चाहे उसे हिन्दू धर्म कहें और दूसरे, अपनी इच्छा के अनुकूल किसी और नाम से पुकारें।

तुम्हें केवल धीरे धीरे आगे बढ़ना चाहिए, शनैः पन्थाः—'यात्रा धीरे धीरे करनी चाहिए।' दीननाथ से, जो अभी नया आया है, मेरा आशीर्वाद कहना। मुझे लिखने को बहुत कम समय मिलता है—हमेशा व्याख्यान! व्याख्यान!! व्याख्यान!!! पवित्रता, धीरज, और निरन्तर उद्योग।...अधिक संख्या में आजकल जो लोग श्री रामकृष्ण के उपदेशों की ओर ध्यान दे रहे हैं, उनसे कुछ हद तक आर्थिक सहायता की प्रार्थना करो। यदि वे सहायता नहीं करेंगे, तो मठ का निर्वाह कैसे हो सकता है? सबसे यह स्पष्ट कहने में तुम्हें लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिए।...

इस देश से शीघ्र ही लौटने में कोई लाभ नहीं है। पहली बात यह कि यहाँ पर किये हुए क्षीण शब्द से भी वहाँ पर प्रतिध्वनि बहुत अधिक होगी। फिर यहाँ के लोग अति धनवान हैं और देने का भी साहस रखते हैं। जहाँ कि हमारे देश के लोगों के पास न तो धन है और न साहस की किञ्चिन्मात्रा ही।

तुम्हें धीरे धीरे सब मालूम हो जायगा। क्या श्री रामकृष्ण केवल भारत के उद्धारक ही थे? इस संकीर्ण भाव ने ही भारतवर्ष का नाश किया है, और उसका कल्याण असम्भव है, जब तक यह भाव जड़ से न निकाला जायगा। यदि मेरे पास धन होता, तो मैं तुम में से प्रत्येक को सारे संसार में भ्रमण करने के लिए भेजता। कोई भी महान् विचार किसीके हृदय में स्थान नहीं पा सकता है, जब तक कि वह अपने सीमित दायरे से बाहर न निकले। समय पाकर यह प्रमाणित होगा। प्रत्येक महान् कार्य धीरे धीरे होता है। यही परमात्मा की इच्छा है।...

तुम लोगों में से किसीने हरीश और दक्ष के विषय में क्यों नहीं लिखा? यदि तुम उनके बारे में खोज-ख़बर रखोगे, तो मैं हर्षित होऊँगा। सान्याल दुःख का अनुभव कर रहा है, क्योंकि उसका मन अभी गंगाजल के समान निर्मल नहीं हुआ। अभी तक वह निःस्वार्थी नहीं है, परन्तु समय पर हो जायगा। यदि वह अपनी थोड़ी सी कुटिलता छोड़कर सीधा हो जाय, तो उसका दुःख भी मिट जायगा। राखाल और हरि को मेरा विशेष प्रेम। उनकी ओर विशेष ध्यान देना।...यह कभी न भूलना कि राखाल श्री रामकृष्ण के प्रेम का विशेष पात्र था। किसी बात से तुम उत्साहहीन न होओ; जब तक ईश्वर की कृपा हमारे ऊपर है, कौन इस पृथ्वी पर हमारी उपेक्षा कर सकता है? यदि तुम अपनी अन्तिम साँस भी ले रहे हो, तो भी न डरना। सिंह की शूरता और पुष्प की कोमलता के साथ काम करते रहो। इस वर्ष श्री रामकृष्ण का उत्सव धूम-धाम से मनाओ। खाना-पीना साधारण रखो—एकत्र लोगों को मिट्टी के पात्रों में प्रसाद बिना किसी नियम के बाँट दो। यह पर्याप्त होगा। श्री रामकृष्ण की जीवनी से पाठ होगा। वेद और वेदान्त जैसी पुस्तकों को एक साथ रखकर उनकी आरती करो...पुरानी पद्धति के

अनुसार निमन्त्रण-पत्र मत भेजो। आमन्त्रये भवन्तं साशीर्वादं भगवतो रामकृष्णस्य बहुमानपुरःसरञ्च—इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखकर फिर श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव और मठ के निर्वाह के लिए उनकी सहायता माँगो। और यदि वे चाहें, तो अमुक नाम से, अमुक पते से रुपया भेज दें। एक पृष्ठ अंग्रेजी का भी जोड़ दो। 'लार्ड' श्री रामकृष्ण पद का कोई अर्थ नहीं है। उसे त्याग दो। अंग्रेजी अक्षरों में 'भगवान्' लिखो और कुछ पंक्तियाँ अंग्रेजी की आगे लगा दो। जैसे—

The Anniversary of Bhagavan Ramakrishna

Sir,

We have great pleasure in inviting you to join us in celebrating the — th anniversary of Bhagavan Ramakrishna Paramahansa. For the celebration of this great occasion and for the maintenance of the Alambazar Math, funds are absolutely neccessary. If you think that the cause is worthy of your sympathy, we shall be very grateful to receive your contribution to the great work.

(Date) (Place) *Yours obediently,*
(Name)

भगवान् श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव

महाशय,

भगवान् रामकृष्ण परमहंस के—वें वार्षिकोत्सव को मनाने में सम्मिलित होने के लिए हम सहर्ष आपको आमंत्रित करते हैं। इस सुअवसर को मनाने के लिए और आलमबाज़ार मठ को चलाने के लिए धन की नितान्त आवश्यकता है। यदि आप समझते हैं कि यह कार्य आपकी सहानुभूति के योग्य है, तो इस महान् कार्य के संचालन के लिए हम कृतज्ञतापूर्वक आपका दान स्वीकार करेंगे।

आज्ञापूर्वक आपका,

(तारीख़) (स्थान) (नाम)

यदि तुम्हें आवश्यकता से अधिक धन मिले, तो उसमें से थोड़ा सा ही व्यय करो, और बचे हुए रुपये को मठ के ख़र्च के लिए संचित रखो। नैवेद्य चढ़ाने के बहाने से लोगों को इतनी देर प्रतीक्षा न करवाओ कि वे अस्वस्थ हो जायें और फिर उन्हें बासी और स्वादहीन भोजन करना पड़े। दो फ़िल्टर बनवा लो और पकाने और पीने के लिए फ़िल्टर का पानी काम में लाओ। छानने से पहले पानी उबाल लो। यदि तुम ऐसा करोगे, तो मलेरिया का नाम तक नहीं सुनोगे। सबके स्वास्थ्य की ओर खूब ध्यान दो। यदि तुम ज़मीन पर लेटना छोड़ सकते हो अर्थात् यदि

तुम्हें ऐसा करने के लिए पर्याप्त धन मिल सकता है, तो अति उत्तम होगा। रोग के मुख्य कारण गन्दे कपड़े होते हैं।...मैं तुमसे कहता हूँ कि नैवेद्य के लिए थोड़ा सा पायसान्न ही पर्याप्त होगा। उन्हें केवल वही प्रिय था। यह सत्य है कि पूजा-गृह से बहुत से लोगों को सहायता मिलती है, परन्तु राजसिक और तामसिक भोजन करना उचित नहीं। विधियों को कुछ कम करके गीता या उपनिषद् या शास्त्रों के अध्ययन को कुछ स्थान दो। मेरा मतलब यह है—भौतिकता को कम से कम कर दो और आध्यात्मिकता को अधिक से अधिक मात्रा में बढ़ा दो।...श्री रामकृष्ण क्या किसी व्यक्तिविशेष के लिए आये थे या संसार के लिए? यदि संसार के लिए, तो उनके जीवन का इस तरह दिग्दर्शन प्रस्तुत करो कि सारा संसार उन्हें समझ सके। *You must not identify yourself with any life of Him written by anybody, nor give your sanction to any.* (किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखित श्री रामकृष्ण के जीवन-चरित्र से तुम अपना नाम किसी प्रकार सम्बन्धित न करना और न अपनी स्वीकृति ही किसी ऐसे ग्रन्थ के लिए देना)। इन जीवन-चरित्रों के साथ हम लोगों का नाम न जुड़ा रहना चाहिए, बस, फिर कोई हर्ज नहीं। 'सुनिए सबकी—करिए मन की।'

...महेन्द्र बाबू ने हमारी सहायता करके कृपा की, इसके लिए उन्हें सहस्रों बार धन्यवाद। वे बड़े उदारहृदय व्यक्ति हैं...सान्याल यदि अपना काम ध्यान से करेगा अर्थात् श्री रामकृष्ण की सन्तान की केवल सेवा, तो वह सर्वोत्तम कल्याण को प्राप्त करेगा।...तारक दादा बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। शाबाश! बहुत अच्छा! यही हम चाहते हैं। अनेक पुच्छल तारों की तरह मैं तुम लोगों को उज्ज्वल एवं प्रभावशाली देखना चाहता हूँ। गंगाधर क्या कर रहा है? राजपूताने के कुछ ज़मींदार उसका आदर करते हैं। उससे कहो कि वह भिक्षा-रूप में लोकसेवा के लिए उनसे कुछ धन ले; तभी तो बात है।...

अभी मैंने अक्षय की पुस्तक पढ़ी। मेरी ओर से उसे कोटिशः स्नेहमय आलिंगन। उसकी लेखनी से श्री रामकृष्ण अभिव्यक्त हो रहे हैं। धन्य है अक्षय! उसे उस 'पोथी' का पाठ सबके सामने करने दो। उत्सव के दिन उसे सबके सामने कुछ पाठ करना चाहिए। यदि पुस्तक बहुत बड़ी हुई, तो उसे उसका कुछ विशेष भाग पढ़ने दो। उसमें मैं एक भी असम्बद्ध शब्द नहीं पाता हूँ। उस किताब के पढ़ने से मुझे जो आनन्द हुआ है, उसका मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। तुम सब यत्न करके उसका बहुत अधिक विक्रय करवाओ। फिर अक्षय से कहो कि गाँव गाँव जाकर प्रचार करे। शाबाश अक्षय! वह प्रभु का काम कर रहा है। गाँव गाँव जाकर श्री रामकृष्ण के उपदेश की घोषणा करो। इससे अधिक सौभाग्य

का विषय और क्या हो सकता है ? मैं कहता हूँ कि स्वयं अक्षय और उसकी पुस्तक, दोनों को जनता में एक प्रकार का विद्युत्संचार कर देना चाहिए। प्रिय, प्रिय अक्षय, मैं हृदय से तुम्हें आशीष देता हूँ। मेरे प्यारे भाई ! भगवान् तुम्हारी जिह्वा पर विराजमान रहे। जाओ, द्वार द्वार उनका उपदेश सुनाओ। तुम्हें संन्यासी बनने की कोई आवश्यकता नहीं है।. . .बंगाल की जनता के लिए भविष्य में अक्षय ईश्वरीय दूत होगा। अक्षय का खयाल रखना। उसकी भक्ति और श्रद्धा फलवती हुई है।

अक्षय से कहना कि अपनी पुस्तक के द्वितीय भाग 'धर्म-प्रचार' में वह निम्न-लिखित बातें लिखे :

१. वेद-वेदान्त तथा अन्य अवतारों ने जो भूतकाल में किया, श्री रामकृष्ण ने उन सबकी साधना एक ही जीवन में कर डाली।

२. वेद-वेदान्त, अवतार और इस प्रकार की अन्य बातों को कोई तब तक समझ नहीं सकता, जब तक वह उनके जीवन को न समझें; क्योंकि वही उन सब विषयों की व्याख्या है।

३. उनके जन्म की तिथि से ही सत्ययुग आरम्भ हुआ है। इसलिए अब सब प्रकार के भेदों का अन्त है और सब लोग चाण्डाल सहित उस दैवी प्रेम के भागी होंगे। पुरुष और स्त्री, धनी और दरिद्र, शिक्षित और अशिक्षित, ब्राह्मण और चाण्डाल—इन सब भेद-भावों को समूल नष्ट करने के लिए उनका जीवन व्यतीत हुआ था। वे शान्ति के दूत थे—हिन्दू और मुसलमानों का भेद, हिन्दू और ईसाइयों का भेद—सब भूतकालीन हो गये हैं। मान-प्रतिष्ठा के लिए जो झगड़े होते थे, वे सब अब दूसरे युग से सम्बन्धित हैं। इस सत्ययुग में श्री रामकृष्ण के प्रेम की विशाल लहर ने सब को एक कर दिया है।

उससे कहो कि इन विचारों को वह विस्तारपूर्वक अपनी शैली में लिखे।

जो कोई—पुरुष या स्त्री—श्री रामकृष्ण की उपासना करेगा, वह चाहे कितना ही पतित क्यों न हो, तत्काल ही उच्चतम में परिणत हो जायगा। एक बात और है, इस अवतार में परमात्मा का मातृभाव विशेष स्पष्ट है। वे स्त्रियों के समान कभी कभी वस्त्र पहनते थे—वे मानो हमारी जगन्माता जैसे ही थे—इसलिए हमें सब स्त्रियों को उस जगन्माता की ही मूर्तियाँ माननी चाहिए। भारत में दो बड़ी बुरी बातें हैं। स्त्रियों का तिरस्कार और ग़रीबों को जाति-भेद के द्वारा पीसना। वे स्त्रियों के रक्षक थे, जनता के रक्षक थे, ऊँच और नीच सबके रक्षक थे। अक्षय उनकी उपासना सब घरों में प्रचलित कर दे, चाहे ब्राह्मण हो या चाण्डाल, पुरुष हो या स्त्री—सबको उनकी पूजा का अधिकार है। जो प्रेम से उनकी पूजा करेगा, उसका सदा के लिए कल्याण हो जायगा।

उससे कहना कि वह इस पद्धति से लिखे। वह किसी बात की चिन्ता न करे। भगवान् उसके साथ रहेगा। किमधिकमिति।

नरेन्द्र

पुनश्च—सान्याल से कहना कि नारद और शाण्डिल्य सूत्र की एक एक प्रति और एक योगवासिष्ठ की प्रति, जिसका अनुवाद अभी कलकत्ते में हुआ है, मुझे भेजे। मुझे योगवासिष्ठ का अंग्रेजी अनुवाद चाहिए, बंगला संस्करण नहीं।...

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
कैवरशम, रीडिंग, इंग्लैण्ड,
१८९५

अभिन्नहृदय,

सान्याल तथा तुम्हारे पत्र से सब समाचार विदित हुए। तुम लोगों के, विशेषकर तुम्हारे पत्रों में दो त्रुटियाँ रहती हैं। प्रथम तो यह कि जिन आवश्यक कार्यों के बारे में मैं पूछता हूँ, उनमें से प्रायः किसीका भी जवाब नहीं मिलता और द्वितीय यह कि पत्र के जवाब देने में अत्यन्त विलम्ब हो जाता है। तुम तो भाई; घर में बैठे हुए हो और मुझे इस विदेश में रोटी की चिन्ता करनी पड़ती है, साथ ही दिन-रात परिश्रम; और फिर लट्टू की तरह चक्कर लगाना।...अब मैं यह अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि मुझे अकेले ही कार्यक्षेत्र में अग्रसर होना पड़ेगा।...

शशि यद्यपि सबसे अधिक उपयुक्त है, फिर भी तुम लोग केवल मात्र इसी उधेड़-बुन में लगे हुए हो कि उसके लिए अकेला आना सम्भव है या नहीं।...अत्यन्त विलासितापूर्ण जीवन-यापन करनेवाले बाबुओं के ये देश हैं, किसी व्यक्ति के नख के भी किसी कोण में मैल रहने पर कोई उसे स्पर्श तक नहीं करता। यदि शरत् आने के लिए तैयार न हो, तो सारदा को भेजना अथवा मद्रास पत्र लिखकर वहाँ से किसीको भेजने की व्यवस्था करना। मुझे यह लिखे हुए प्रायः दो महीने के क़रीब बीत गये। तारक दादा ने अपने हाल के पत्र में लिखा है कि इसके आगे की डाक में उक्त विषय का पूरा विवरण भेजा जायगा। किन्तु यह प्रतीत होता है कि अभी तक उस बारे में कोई निर्णय नहीं हो पाया है। मुझे यह आशा थी कि यहाँ मेरे रहते रहते कोई न कोई आ पहुँचेगा, किन्तु अभी तक तो कोई निर्णय ही नहीं हो पाया और समाचार भी कोई दो वर्ष में एकाध मिलता है। Business is business—काम-काज तत्पर होकर करना चाहिए, ढुलमुल नीति से नहीं। अगले सप्ताह के अन्त में मेरा अमेरिका जाना निश्चित है। अतः चाहे जो कोई भी आये, उससे

भेंट होने की कोई आशा नहीं है। इन देशों में बड़े बड़े विद्वान् निवास करते हैं। ऐसे मनुष्यों को शिष्य बनाना क्या मज़ाक़ है? तुम लोग केवल बच्चे हो एवं बच्चों की तरह बातें करते हो। गिरीश बाबू मेरे कार्य में कैसे सहायता कर सकते हैं? मैं ऐसा व्यक्ति चाहता हूँ, जो संस्कृत जानता हो अर्थात् पुस्तकादि अनुवाद करने में स्टर्डी की सहायता कर सके, मेरी अनुपस्थिति में स्टर्डी के साथ पुस्तकादि अनुवाद करे, बस इतना ही मैं चाहता हूँ। इससे अधिक आशा मैं नहीं करता।...इतनी ही मात्र आवश्यकता है, मेरी अनुपस्थिति में थोड़ा-बहुत संस्कृत पढ़ा सके तथा अनुवाद-कार्य में सहायता दे सके—बस, इससे अधिक और कुछ नहीं। गिरीश बाबू को इन देशों का भ्रमण क्यों नहीं करने दिया जाय, यह तो अच्छी बात है। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका भ्रमण के लिए ३०००) रुपये मात्र चाहिए। जितने अधिक व्यक्ति यहाँ आयें, उतना ही अच्छा है। किन्तु उन टोपधारी नक़ली साहबों को देखकर हृदय में जलन होने लगती है। भूत जैसे काले—फिर भी साहब! भद्र पुरुष की तरह देशी वेश-भूषा धारण न कर जानवर बने फिरते हैं। अस्तु, यहाँ पर सब कुछ ख़र्च ही ख़र्च है, आमदनी एक पैसे की भी नहीं। स्टर्डी ने मेरे लिए बहुत कुछ ख़र्च किया है। यहाँ पर भाषण के लिए अपने यहाँ की तरह उल्टा गाँठ से ख़र्च करना पड़ता है। किन्तु कुछ दिन तक क्रम को जारी रखने पर तथा प्रख्याति होने के बाद ख़र्चे की समस्या हल हो जाती है। प्रथम वर्ष अमेरिका में जो कुछ मुझे मिला है, (उसके बाद मैंने एक पैसा भी नहीं लिया है) वह भी प्रायः खत्म होने आया है; केवल अमेरिका लौटने लायक़ ही धन अवशिष्ट है। निरन्तर इधर-उधर भ्रमण कर भाषण देने के फलस्वरूप मेरा शरीर अशक्त हो चुका है—प्रायः नींद नहीं आती, आदि। तदुपरि अकेला हूँ। अपने देशवासियों के बारे में मैं क्या कहूँ? अब तक एक पैसा देकर न तो किसीने मेरी कोई सहायता की है और न कोई सहायता प्रदान करने के लिए आगे बढ़ा है। इस संसार में सब कोई सहायता चाहते हैं और जितनी सहायता की जाती है, उतनी ही आकांक्षा बढ़ती जाती है। और यदि उसकी पूर्ति करने में तुम असमर्थ हो, तो तुम चोर ठहराये जाते हो।

...जो कुछ लिखना हो, स्टर्डी को लिखना, किसको तुम भेजना चाहते हो—जब कि किसी विषय के निर्णय के लिए तुम्हें एक युग का समय चाहिए।...शशि पर मुझे विश्वास है, मैं उसे चाहता हूँ। He is the only faithful and true man there. (वहाँ पर वही एकमात्र विश्वस्त तथा सच्चा व्यक्ति है।) उसकी बीमारी-फीमारी सब कुछ प्रभु-कृपा से ठीक हो जायगी। उसकी सारी ज़िम्मेवारी मुझ पर है।...इति।

विवेकानन्द

(स्वामी श्री रामकृष्णानन्द को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम, रीडिंग, इंग्लैण्ड
१८९५

प्रिय शशि,

तुम्हारा पत्र, चूनी बाबू का पत्र और सान्याल का पत्र पहले ही मिले। आज राखाल का पत्र मिला। राखाल को गुर्दे की बिमारी (Gravel) से तकलीफ़ उठानी पड़ी, यह जानकर मुझे दुःख हुआ। शायद पाचन-क्रिया की गड़बड़ी से ऐसा हुआ होगा।...गोपाल का ऋण-परिशोध हो चुका है। अब उसे अपना मूड़ मुड़ा लेने को कहना। मरने पर भी सांसारिक बुद्धि दूर नहीं होती।...मठ में आकर वह काम-काज करता रहे। संसार में बहुत अधिक समय तक लिप्त रहने से दुर्बुद्धि का होना स्वाभाविक है। यदि वह संन्यास मार्ग को अपनाना न चाहे, तो उससे जगह ख़ाली कर देने को कहना। दो नावों में पैर रखनेवाले व्यक्ति को मैं नहीं चाहता हूँ—ऐसे मनुष्य जो आधे तो संन्यासी हैं और आधे गृहस्थ। लॉर्ड (Lord) रामकृष्ण परमहंस—हरमोहन की मनगढ़न्त बात है। लार्ड (Lord) से उसका तात्पर्य क्या है—English Lord अथवा Duke? राखाल से कहना कि लोग जो भी कुछ क्यों न कहें, उधर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे लोग तो कीड़े जैसे हैं, नितान्त नगण्य हैं। किसी प्रकार की वंचना की भावना तुम लोगों में नहीं रहनी चाहिए तथा कपटता की ओर तुम पैर न रखना। मैं अपने को कट्टरपन्थी पौराणिक अथवा निष्ठावान (छूआछूत माननेवाला) हिन्दू कब मानता था? I do not pose as one. (मैं अपने को इस प्रकार जाहिर तो नहीं करता हूँ।)...लोग क्या कहते हैं या नहीं कहते हैं, उस ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही क्या है? वहाँ तो बारह वर्ष की लड़की को सन्तान होती है। जिनके आविर्भाव से देश पवित्र बन गया, उनके लिए एक कौड़ी का कार्य तो हुआ नहीं और फिर लम्बी-चौड़ी बातें हाँकते हैं। भाई, यह बिल्कुल ही ध्यान देने योग्य बात नहीं है कि ऐसे लोग क्या कहते हैं?...राम राम! जिन लोगों का रहन-सहन, आहार-विहार, वेश-भूषा, खान-पान इत्यादि सब कुछ गन्दे हैं और जिनकी केवल मात्र जबान ही सार है, ऐसे लोगों के कहने-सुनने से होता ही क्या है? तुम अपना कार्य करते रहो। मनुष्य के मुँह की ओर क्यों ताकते हो, भगवान् पर दृष्टि रखो। गीता, उपनिषदों के भाष्य आदि तो शब्दकोश की सहायता से शरत् इन लोगों को पढ़ा सकता है न? अथवा केवल मात्र वैराग्य ही सार है? वर्तमान समय में केवल मात्र वैराग्य से क्या कभी काम चल सकता है? सबके लिए रामकृष्ण परमहंस बनना क्या सम्भव है? सम्भवतः शरत् अब तक रवाना हो चुका होगा। एक

पञ्चदशी, एक गीता (जितने अधिक भाष्य सहित प्राप्त हो सकें), काशी से प्रकाशित नारद तथा शाण्डिल्यसूत्र, (सुरेश दत्त के छपे हुए ग्रन्थ में इतनी अशुद्धियाँ हैं कि ठीक ठीक अर्थ बोध भी नहीं हो पाता), पञ्चदशी का यदि कोई अच्छा अनुवाद मिले, तो उसकी एक प्रति तथा कालीवर वेदान्तवागीशकृत शांकर भाष्य का अनुवाद एवं पाणिनि-सूत्र या काशिका-वृत्ति अथवा महाभाष्य का यदि कोई बंगला या अंग्रेज़ी अनुवाद (इलाहाबाद के श्रीश बाबू कृत) मिले, तो भेजना। अपने बंगालियों से मुझे वाचस्पत्य कोष की एक प्रति भेजने के लिए कहना, इससे बड़ी बड़ी बातें बघारनेवालों की एक परीक्षा हो जायगी। अंग्रेज़ों के देश में धर्म-कर्म की गति बहुत ही धीमी है। ये लोग या तो कट्टरपन्थी होते हैं अथवा नास्तिक। कट्टरपन्थी लोगों में भी धर्म नाम मात्र का है, 'Patriotism (देश-प्रेम) ही हमारा धर्म है', बस, इतना ही मात्र वे मानते हैं।

पुस्तकें अमेरिका के पते पर भेजना। मेरा अमेरिका का पता इस प्रकार है—द्वारा कुमारी फिलिप्स, १९ पश्चिम ३८ वाँ रास्ता, न्यूयार्क, संयुक्त राज्य अमेरिका। नवम्बर के अन्त तक मैं अमेरिका पहुँचूंगा, अतः पुस्तकें वहीं भेजना। यदि मेरे पत्र को देखते ही शरत् रवाना हो चुका हो, तब तो मुझसे उसकी भेंट हो सकती है, अन्यथा नहीं। Business is business (काम काम है।)—यह बच्चों का खेल नहीं है। स्टर्डी साहब उसे अपने घर पर लाकर रखेंगे तथा उसकी देख-भाल करेंगे। मैं तो अब की बार साधारणतया यहाँ की परिस्थिति जानने के लिए इंग्लैण्ड आया हूँ; अगली गर्मी में आकर कुछ अधिक हलचल मचाने का प्रयास करूँगा। तदनन्तर अगले जाड़े में भारत जाना है। उन लोगों के साथ निरन्तर पत्र-व्यवहार करते रहना, जो हममें दिलचस्पी लेते हों, ताकि उनका interest (उत्सुकता) नष्ट न होने पाये। समग्र बंगाल में जगह जगह केन्द्र स्थापित करने का प्रयत्न करना। विशेष विवरण अगले पत्र में भेजूंगा। स्टर्डी साहब बहुत ही सज्जन तथा कट्टर वेदान्ती हैं, थोड़ा-बहुत संस्कृत भी समझ लेते हैं। बहुत कुछ परिश्रम करने पर तब कहीं इन देशों में थोड़ा-बहुत कार्य हो पाता है—बहुत ही कठिन काम है, खासकर जाड़े के दिनों में, जब कि प्रायः ही वर्षा होती रहती है। इसके अलावा अपनी गाँठ से ख़र्च कर यहाँ काम करना पड़ता है। अंग्रेज़ लोग भाषण सुनने के लिए या इस प्रकार के विषयों में एक पैसा भी खर्च नहीं करते। यदि वे भाषण सुनने के लिए उपस्थित हों, तो बहुत ही सौभाग्य समझना चाहिए, उनकी स्थिति भी हमारे देशवासियों की सी है। साथ ही यहाँ के लोग अभी मुझे जानते भी नहीं हैं। और फिर भगवान् आदि के नाम से तो वे भागने लगते हैं, उसका तात्पर्य वे यह निकालते हैं कि मैं भी सम्भवतः कोई दूसरा पादरी हूँ। तुम शान्तिपूर्वक बैठकर एक कार्य

करना—ऋग्वेद से लगाकर साधारण पुराण तथा तन्त्रों में सृष्टि, प्रलय, जाति, स्वर्ग, नरक, आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, मुक्ति, संसार (पुनर्जन्म) आदि का जो वर्णन है, उसे एकत्र करते रहना। बच्चों जैसे खेल से कोई काम नहीं होता, मुझे तो real scholarly work (पूरा पाण्डित्यपूर्ण काम) चाहिए। Material (उपादान) संग्रह करना ही मुख्य कार्य है। सबसे मेरी प्रीति कहना। इति।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

१८९५

प्रिय राखाल,

...मेरे भारत लौट आने का तुम्हारा सुझाव निस्सन्देह ठीक है। किन्तु इस देश में एक बीज बोया जा चुका है और मेरे अचानक यहाँ से चले जाने पर सम्भव है, उसका अंकुर पनप ही न पाये। इसलिए मुझे कुछ समय प्रतीक्षा करनी है। इसके अतिरिक्त तब यहाँ से प्रत्येक कार्य की सुन्दर व्यवस्था करनी सम्भव होगी। प्रत्येक व्यक्ति मुझसे भारत लौटने का आग्रह करता है। यह ठीक है, किन्तु क्या तुम नहीं अनुभव करते कि दूसरों के ऊपर निर्भर रहना बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति को अपने ही पैरों पर दृढ़तापूर्वक खड़ा होकर कार्य करना चाहिए। धीरे धीरे सब कुछ ठीक हो जायगा। अभी तो किसी ज़मीन का पता लगाते रहना न भूलना। हमें लगभग दस से बीस हज़ार तक का बड़ा 'प्लाट' चाहिए। उसे ठीक गंगा तट पर होना चाहिए। यद्यपि मेरी पूंजी अल्प है, तथापि मैं अत्यधिक साहसी हूँ। भूमि प्राप्त करने की बात ध्यान में रहे। अभी हमें तीन केन्द्र चलाने होंगे—एक न्यूयार्क में, दूसरा कलकत्ता में और तीसरा मद्रास में। फिर धीरे धीरे जैसी कि प्रभु व्यवस्था करेंगे...स्वास्थ्य पर तुम्हें विशेष ध्यान देना है, अन्य सभी बातें इसके अधीन हों।

भाई तारक यात्रा के लिए उत्सुक हैं। यह अच्छी बात है। परन्तु ये देश बड़े मँहगे हैं। एक उपदेशक को यहाँ कम से कम एक हज़ार रुपये मासिक की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु भाई तारक में साहस है और ईश्वर प्रत्येक चीज़ की व्यवस्था करता है। यह बिल्कुल सच है, पर उन्हें अपनी अंग्रेजी में कुछ सुधार करना आवश्यक है। सही बात यह है कि मिशनरी विद्वानों के मुँह से अपनी रोटी छीननी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपनी विद्वत्ता के आधार पर इन लोगों पर हावी होना पड़ता है। अन्यथा व्यक्ति एक ही फूंक में उड़ जायगा। ये लोग न तो साधु समझते हैं और न संन्यासी, और न त्याग का भाव ही। जो बात

ये समझते हैं, वह हैं विशाल अध्ययन, वक्तृत्व-शक्ति का प्रदर्शन और अथक क्रियाशीलता। और सर्वोपरि, सारा देश छिद्रान्वेषण की चेष्टा करेगा। पादरी चाहे शक्ति द्वारा, चाहे छल से दिन-रात तुम्हें फटकार बतायेंगे। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए तुम्हें इन बाधाओं से मुक्ति पाना आवश्यक है। मातृ-कृपा से सब कुछ सम्भव है। किन्तु मेरी राय में यदि भाई तारक पंजाब और मद्रास में कुछ संस्थाओं का स्थापन करता चले और तुम लोग संघबद्ध हो जाओ, तो यह सबसे अच्छी बात होगी। नये पथ की खोज निस्सन्देह एक बड़ी बात है, किन्तु उस मार्ग को स्वच्छ और प्रशस्त और सुन्दर बनाना उतना ही कठिन कार्य है। यदि तुम उन स्थानों में, जहाँ मैंने गुरुदेव के आदर्शों का बीज बोया है, कुछ समय तक रहो और बीजों को पौधों में विकसित करने में सफल होओ, तो तुम मेरी अपेक्षा कहीं अधिक कार्य करोगे। जो लोग एक बनी-बनायी चीज़ की व्यवस्था नहीं कर सकते, वे उस चीज़ के प्रति, जो अभी तक नहीं मिली, क्या कर सकेंगे? यदि तुम परोसी हुई थाली में थोड़ा नमक मिलाने में असमर्थ हो, तो मैं कैसे विश्वास करूँ कि तुम सारे व्यंजन प्रस्तुत कर लोगे? इसके बदले भाई तारक अल्मोड़े में एक हिमालय मठ स्थापित करें तथा वहाँ एक पुस्तकालय चलायें, ताकि हम अपने अवकाश का कुछ समय एक ठण्डे स्थान में बितायें और आध्यात्मिक साधना का अभ्यास करें। इतने पर भी किसीके द्वारा अंगीकृत किये गये मार्ग के विरुद्ध मुझे कुछ नहीं कहना है, वरन् ईश्वर कल्याण करे—**शिवा वः सन्तु पन्थानः**—'तुम्हारी यात्रा मंगलमय हो!' उसे किंचित् प्रतीक्षा करने के लिए कहो। शीघ्रता करने से क्या लाभ? तुम सभी सारी दुनिया की यात्रा करोगे। साहस! भाई तारक के भीतर कार्य करने की महान् क्षमता है। अतः मैं उनसे बहुत आशा करता हूँ।...तुम्हें याद है कि श्री रामकृष्ण के निर्वाण के पश्चात् किस प्रकार सभी लोगों ने हमें कुछ निकम्मा और दरिद्र बालक समझकर हमारा परित्याग कर दिया था। केवल बलराम, सुरेश, मास्टर और चुनी बाबू, जैसे लोग ही आवश्यकता के उन क्षणों में हमारे मित्र थे। और, हम उनसे कभी उऋण नहीं हो सकते।...अकेले में चुनी बाबू से कहो कि उनके लिए कोई भय की बात नहीं है, जिनकी रक्षा प्रभु करते हैं, उन्हें भय से परे होना चाहिए। मैं एक छोटा सा आदमी हूँ, परन्तु प्रभु का ऐश्वर्य अनन्त है। **माभैः माभैः**—भय छोड़ो। तुम्हारा विश्वास न हिले।...जिसे प्रभु ने अपना लिया है, क्या उसके लिए भय में कोई शक्ति है?

सदा तुम्हारा ही,

विवेकानन्द

(खेतड़ी के महाराजा को लिखित)

अमेरिका,
९ जुलाई, १८९५

...मेरे भारत लौटने के बारे में बात इस प्रकार है। जैसा कि आप अच्छी तरह जानते हैं, मैं अपनी धुन का पक्का हूँ। मैंने इस देश में एक बीज बोया है, वह अभी पौधा बन गया है और मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही वह वृक्ष हो जायगा। मेरे दो-चार सौ अनुयायी हैं। मैं यहाँ कई संन्यासी बनाऊँगा, तब उन्हें काम सौंपकर भारत आऊँगा। जितना ही ईसाई पादरी मेरा विरोध करते हैं, उतना ही मैंने ठान लिया है कि मैं उनके देश में स्थायी चिह्न छोड़कर जाऊँगा।...इस समय तक लन्दन में मेरे कुछ मित्र बन चुके हैं। मैं वहाँ अगस्त के आख़िर तक जाऊँगा... इस शीतकाल में कुछ समय लन्दन में और कुछ समय न्यूयार्क में बिताना होगा। फिर मैं भारत आने के लिए स्वतन्त्र हो जाऊँगा। भगवान् की कृपा हुई, तो इस सर्दी के बाद यहाँ काम चलाने के लिए पर्याप्त आदमी होंगे। हर काम को तीन अवस्थाओं में से गुज़रना होता है—उपहास, विरोध और स्वीकृति। जो मनुष्य अपने समय से आगे विचार करता है, लोग उसे निश्चय ही ग़लत समझते हैं। इसलिए विरोध और अत्याचार हम सहर्ष स्वीकार करते हैं; परन्तु मुझे दृढ़ और पवित्र होना चाहिए और भगवान् में अपरिमित विश्वास रखना चाहिए; तब ये सब लुप्त हो जायँगे।...

विवेकानन्द

(श्रीमती विलियम स्टारगीज़ को लिखित)

सहस्रद्वीपोद्यान,
२९ जुलाई (अगस्त?), १८९५

माँ,

आपका जीवन गौरवोज्ज्वल हो। और मुझे विश्वास है—आप स्वस्थ और प्रसन्न हैं। आपने जो ५० डॉलर भेजे हैं, उनके लिए अनेकानेक धन्यवाद। इस रक़म से बड़ा काम निकला।

हमारे दिन यहाँ कितने आनन्द में बीते। डिट्रॉएट से यहाँ तक की यात्रा करके दो महिलाएँ हम लोगों के साथ रहने को आयीं। वे इतनी पवित्र और भली थीं कि क्या बताऊँ? मैं सहस्रद्वीपोद्यान से डिट्रॉएट, उसके बाद शिकागो जा रहा हूँ।

न्यूयार्क में हमारा क्लास चालू है और उन्होंने इसे बहुत हिम्मत से जारी रखा है, हालाँकि मैं वहाँ नहीं था।

वहरहाल, वे दोनों महिलाएँ—जो डिट्रॉएट से आयी हैं—क्लास में थीं। और दुर्भाग्यवश वे दुष्ट प्रेतात्माओं से बहुत भय खाती हैं। दुष्ट प्रेतात्मा अथवा शैतान का पता लगाने के लिए उन्हें एक टोटका सिखाया गया है। थोड़ा सा नमक जलते हुए अल्कोहल में डाल देते हैं—यदि नीचे कोई काला पदार्थ जमा हो गया तो इसे दुष्ट आत्मा की उपस्थिति का संकेत माना जाता है। जो भी हो, भूत-प्रेत का उन्हें बड़ा डर था। उनका विश्वास है कि भूत-प्रेत ससार के कण कण में—विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। फ़ादर लेगेट आपकी अनुपस्थिति से बहुत उदास होंगे; क्योंकि मुझे आज तक उनकी कोई चिट्ठी नहीं मिली है। इसलिए मैं उन्हें अब परेशान नहीं करता।

जो जो चाची को समुद्र में तकलीफ़ हुई होगी। खैर, अंत भला तो सब भला। बच्चे[1] निश्चय ही जर्मनी-प्रवास का आनन्द ले रहे होंगे। मेरा—जहाज़ भर प्यार उन्हें।

हम सभी आपको प्यार भेजते हैं और आपके ऐसे जीवन की कामना करते हैं, जो आनेवाली पीढ़ियों के लिए मशाल का काम करे।

आपका पुत्र,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

१९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
३० जुलाई, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

तुमने ठीक किया है। नाम तथा 'मोटो' (आदर्श-वाक्य)[2], दोनों ही ठीक हैं। व्यर्थ के समाज-सुधार में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं, पहले आध्यात्मिक सुधार हुए बिना समाज-सुधार नहीं हो सकता। तुमसे यह किसने कहा कि मैं समाज-सुधार चाहता हूँ? मैं तो उसका पक्षपाती नहीं हूँ। भगवान् के नाम का प्रचार करते रहो, कुरीति तथा सामाजिक जंजालों के पक्ष अथवा विपक्ष में कुछ

---

१. होलिस्टर और अल्बर्टा जर्मनी के किसी स्कूल में पढ़ते थे।

२. स्वामी जी की प्रेरणा से १४ सितम्बर, १८९५ ई० में मद्रास से अंग्रेजी में 'ब्रह्मवादिन्' नामक एक पाक्षिक (बाद में मासिक) पत्र प्रकाशित हुआ था। उसके नाम तथा 'मोटो'— एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—को लक्ष्य कर ही स्वामी जी की उपर्युक्त उक्ति है। १९१४ ई० में उक्त पत्र बन्द हो गया। स०

भी न कहो। तुम्हारे पत्र के लिए 'संन्यासी का गीत'[1] ही मेरा पहला लेख है। निरुत्साह न होना और अपने गुरु तथा ईश्वर में विश्वास न खोना। बच्चे, जब तक तुम्हारे हृदय में उत्साह एवं गुरु तथा ईश्वर में विश्वास—ये तीनों वस्तुएँ रहेंगी—तब तक तुम्हें कोई भी दबा नहीं सकता। मैं दिनोदिन अपने हृदय में शक्ति के विकास का अनुभव कर रहा हूँ। हे साहसी बालको, कार्य करते रहो।

सदा आशीर्वादक,
विवेकानन्द

(श्री फ्रांसिस लेगेट को लिखित)

द्वारा कुमारी डचर,
सहस्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क,
३१ जुलाई, १८९५

प्रिय मित्र,

इसके पहले भी मैं आपको एक पत्र लिख चुका हूँ। लेकिन मुझे डर है कि उसे सावधानी से डाक में नहीं डाला गया है। इसलिए यह दूसरा पत्र लिख रहा हूँ।

मैं १४ तारीख़ के पहले ही समय से आ जाऊँगा। मुझे ११ तारीख़ के पहले ही न्यूयार्क पहुँचना है, किसी भी हालत में। इसलिए तैयारी के लिए पर्याप्त समय मिलेगा।

मैं आपके साथ पेरिस जाऊँगा। क्योंकि आपके साथ जाने का मुख्य उद्देश्य ही है, आपको विवाहित देखना। जब आप लोग भ्रमण के लिए निकलेंगे—मैं लंदन चला जाऊँगा। बस!

यह बारंबार कहना है कि मैं आप लोगों के प्रति चिर स्नेहशील हूँ और सर्वदा आपकी तथा आपके स्वजनों की मंगल कामना करता हूँ।

सदा आपका पुत्र,
विवेकानन्द

---

१. Song of the Sannyasin नामक स्वामी जी की प्रसिद्ध कविता 'ब्रह्मवादिन्' पत्र के प्रथम वर्ष के द्वितीय अंक में (२८ सितम्बर, १८९५) सबसे प्रथम प्रकाशित हुई। इसका अनुवाद 'विवेकानन्द साहित्य : दशम खंड' में मुद्रित है। स०

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

द्वारा कुमारी डचर,
सहस्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क,
१८९५

प्रिय बहन,

भारत से आयी डाक के लिए बहुत बहुत धन्यवाद। तुम्हारे प्रति अपना आभार मैं शब्दों में नहीं प्रकट कर सकता। तुमने अमरत्व पर मैक्स मूलर के निबन्ध में पढ़ा होगा, जो मैंने मदर चर्च को भेजा था—वे सोचते हैं कि हम इस जीवन में जिन्हें प्यार करते हैं, उन्हें हमने अतीत में भी प्यार किया होगा। इसीलिए ऐसा लगता है कि अतीत के जीवन में मैं 'पावन परिवार' का रहा होऊँगा।

मैं भारत से कुछ पुस्तकों की आशा कर रहा हूँ। आशा है, वे पहुँच गयी होंगी। अगर आ गयी हों, तो कृपया तुम उन्हें यहाँ भेज दो। अगर कुछ डाक-खर्च देना हो, तो मैं सूचना मिलते ही भेज दूंगा। तुमने उस कम्बल पर चुंगी के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। खेतड़ी से दरी, शाल, ज़रीदार कपड़े और कुछ छोटी-मोटी चीज़ों का पुनः एक बड़ा पैकेट आनेवाला है। मैंने उन्हें लिख दिया है कि अगर संभव हो, तो बम्बई में ही अमेरिकन वाणिज्य-दूत के द्वारा कर चुकाने की व्यवस्था कर दें। अगर नहीं, तो मुझे यहाँ चुकाना पड़ेगा। कुछ महीनों में ही वे वस्तुएँ आ सकेंगी—यह मैं नहीं कह सकता हूँ। मैं पुस्तकों के प्रति उत्सुक हूँ। कृपया पहुँचते ही उन्हें यहाँ भेज दो।

मदर चर्च और फ़ादर पोप और सभी बहनों को मेरा प्यार। मैं यहाँ बहुत आनन्द से हूँ। बहुत कम खाता हूँ और पर्याप्त सोचता हूँ, अध्ययन करता हूँ और बातें करता हूँ। मेरी आत्मा में आश्चर्यजनक शांति आती जा रही है। प्रतिदिन मुझे ऐसा अनुभव होता है, जैसे मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है; सदा चिर विश्राम और शांति में अपने को अनुभव करता हूँ। हम सबके पीछे ईश्वर ही है, जो क्रियाशील है। हम लोग मात्र यंत्र हैं। धन्य है 'उसका' नाम !

वर्तमान अवस्था में काम, अर्थ और यश—ये तीन बन्धन मानो मुझसे दूर हो गये हैं और पुनः यहाँ भी मैं वैसा ही अनुभव कर रहा हूँ, जैसा कभी भारतवर्ष में मैंने किया था। 'मुझसे सभी भेद-भाव दूर हो गये हैं। अच्छा और बुरा, भ्रम और अज्ञानता सब विलीन हो गये हैं। मैं गुणातीत मार्ग पर चल रहा हूँ।' किस नियम का पालन करूँ और किसकी अवज्ञा ? उस ऊँचाई से विश्व मुझे मिट्टी का लोंदा लगता है। हरि ॐ तत्सत्। ईश्वर का अस्तित्व है; दूसरे का नहीं।

मैं तुझमें और तू मुझमें। प्रभु, तू ही मेरे चिर शरण हो! शांति, शांति, शांति!
सदा प्यार और शुभकामनाओं के साथ,

तुम्हारा भाई,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

१९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
२ अगस्त, १८९५

प्रिय मित्र,

तुम्हारा संक्षिप्त कृपापत्र आज मिला। सर्वप्रथम मैं एक मित्र के साथ, पेरिस जा रहा हूं और १७ अगस्त को यूरोप के लिए प्रस्थान करूँगा। फिर भी मैं अपने मित्र के विवाह को देखने के लिए एक सप्ताह पेरिस में रहूँगा और तब लन्दन जाऊँगा।

संगठन सम्वन्धी तुम्हारी सलाह वास्तव में वहुत अच्छी थी और मैं उसी आधार पर काम करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

यहाँ मेरे कई अडिग मित्र हैं, किन्तु दुर्भाग्य से उनमें से अधिकांश ग़रीब हैं। इसलिए धीमी गति से ही काम हो रहा है। इसके अतिरिक्त कार्य को स्पष्ट रूप देने के लिए न्यूयार्क में कुछ और महीने काम करने की आवश्यकता है; इस तरह शरद के आरम्भ में ही मुझे न्यूयार्क लौट आना होगा और ग्रीष्म में मैं पुनः लन्दन लौट जाऊँगा। जैसा मैं समझता हूँ, मैं लन्दन में अभी कुछ सप्ताह ही ठहर सकूँगा। किन्तु अगर प्रभु ने चाहा, तो यह थोड़ा समय ही महत् कार्यों का आरम्भ सिद्ध हो सकता है। तार द्वारा मैं पेरिस से ही सूचित करूँगा कि कब इंग्लैंड पहुँच रहा हूँ।

न्यूयार्क में कुछ थियोसॉफ़िस्ट कक्षाओं में आये थे, किन्तु मनुष्य ज्यों ही वेदान्त की महिमा को अनुभव करता है, उसकी सारी वड़वड़ाहटें स्वयं समाप्त हो जाती हैं। ऐसा मुझे सतत अनुभव होता रहा है। जब कभी मानव-जाति दिव्य दृष्टि प्राप्त करती है, तो निम्नतर दृष्टि अपने आप विलीन हो जाती है।

जनसमुदाय की गणना निरर्थक है। एक जनसमूह जो शताब्दी में करता है, उससे अधिक कुछ ही धैर्यवान, तत्पर, कर्मठ व्यक्ति एक वर्ष के अन्दर कर सकते हैं। अगर किसीके शरीर में उष्णता है, तो उसके निकट आनेवाले व्यक्ति पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। यही नियम है।

जब तक हममें उष्णता है, सत्य का बल है, तत्परता है, प्रेम है, सफलता

हमारी है। मेरा जीवन ही बहुविध रहा है, किन्तु मैंने शाश्वत शब्दों को सदा प्रमाणित पाया है; **सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः।**[1] तुममें जो 'सत्' है, निरन्तर वही तुम्हारा अचूक पथप्रदर्शक हो। जिसमें 'सत्' है, उसे शीघ्र ही मुक्ति मिल जाय और वह दूसरों को भी उसकी प्राप्ति में सहायता करे।

'सत्' में सदा तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

(श्री० ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

१९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
९ अगस्त, १८९५

प्रिय मित्र,

...केवल यही उचित है कि मैं अपने कुछ विचार तुम्हारे सामने प्रकट करूँ। मैं पूर्ण विश्वास करता हूँ कि मानव-समाज में धर्म में सामयिक उथल-पुथल होती है और शिक्षित समाज में आजकल ऐसी ही खलबली फैली हुई है। यद्यपि ऐसी क्रांति अनेक छोटे छोटे विभागों में विभक्त दिखायी देती है, परन्तु मूलतः ये सब एक ही हैं, क्योंकि उनके पीछे जो कारण हैं, उनके रूप भी एक ही हैं। वह धार्मिक क्रान्ति, जिससे इस समय विचारवान व्यक्ति दिन-प्रति-दिन अत्यधिक मात्रा में प्रभावित होते जा रहे हैं—उसका एक वैशिष्ट्य यह है कि उससे जितने क्षुद्र क्षुद्र मतवाद उत्पन्न हो रहे हैं, वे सब उसी एक अद्वैत सत्ता की अनुभूति एवं अनुसन्धान में ही सचेष्ट हैं। भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्तरों पर यह एक भाव दिखायी दे रहा है कि विभिन्न मतवाद-समूह क्रमशः अधिकाधिक उदार होते हुए उसी शाश्वत एकत्व की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस कारण वर्तमान काल के सभी आन्दोलन जान या अनजान में सर्वोत्तम आविष्कृत एकत्ववादी दर्शन के अर्थात् अद्वैत वेदान्त के प्रतिरूप हैं।

फिर यह भी सर्वदा देखा गया है कि प्रत्येक युग में इन समस्त विभिन्न मतवादों के संघर्ष के फलस्वरूप अंत में एक ही मतवाद जीवित रहता है। अन्य सब तरंगें उसी मतवाद में विलीन होने के लिए एवं उसे एक बृहत् भाव-तरंग में परिणत करने के लिए ही उठती हैं, जो समाज को अप्रतिहत वेग के साथ प्लावित कर देता है।

---

१. मुंडकोपनिषद् ॥३।१।६॥

इस समय भारत, अमेरिका एवं इंग्लैण्ड में (जिन देशों का हाल मैं जानता हूँ) सैकड़ों ऐसे मतवादों का संघर्ष चल रहा है। भारत में द्वैतवाद क्रमशः क्षीण हो रहा है, केवल अद्वैतवाद ही सब क्षेत्रों में प्रभावशाली है। अमेरिका में प्राधान्य-लाभ के लिए अनेक मतवादों के बीच संघर्ष उपस्थित हुआ है। ये सभी अल्प या अधिक मात्रा में अद्वैत भाव के प्रतिरूप हैं, और जो भाव-परम्परा जितनी अधिक तीव्र गति से फैल रही है, वह उतनी ही मात्रा में अन्य भावों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के अधिक निकट प्रतीत होती है। अब मुझे यदि कुछ स्पष्ट दिखायी देता है, तो वह यह कि इनमें से एक ही भाव-परम्परा जीवित रहेगी, एवं वह सबको निगलकर भविष्य में शक्तिमान होगी। किन्तु वह कौन सी भाव-प्रणाली होगी?

यदि हम इतिहास को देखें, तो विदित होगा कि जो विचारधारा सर्वश्रेष्ठ होगी, वही जीवित रहेगी; और चरित्र की अपेक्षा अन्य ऐसी कौन सी शक्ति है, जो जीने की योग्यता प्रदान कर सकती है? विचारशील मनुष्य-जाति का भावी धर्म अद्वैत ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। और सब सम्प्रदायों में उन्हींकी विजय होगी, जो अपने जीवन में सबसे अधिक चरित्र का उत्कर्ष दिखा सकेंगे—चाहे वे सम्प्रदाय कितने ही दूर भविष्य में क्यों न जन्म लें।

एक मेरी निजी अनुभव की बात सुनो। जब मेरे गुरुदेव ने शरीर त्यागा था, तब हम लोग बारह निर्धन और अज्ञात नवयुवक थे। हमारे विरुद्ध अनेक शक्तिशाली संस्थाएँ थीं, जो हमारी सफलता के शैशवकाल में ही हमें नष्ट करने का भरसक प्रयत्न कर रही थीं। परन्तु श्री रामकृष्ण देव ने हमें एक बड़ा दान दिया था—वह यह कि केवल बातें ही न कर यथार्थ जीवन जीने की इच्छा, आजीवन उद्योग और विरामहीन साधना के लिए अनुप्रेरणा। और आज सारा भारत मेरे गुरुदेव को जानता है और पूज्य मानता है और वे सत्य-समूह, जिनकी उन्होंने शिक्षा दी थी, अब दावानल के समान फैल रहे हैं। दस वर्ष हुए, उनका जन्मोत्सव मनाने के लिए मैं सौ मनुष्यों को भी इकट्ठा नहीं कर सकता था और पिछले वर्ष पचास सहस्र थे।

न संख्या-शक्ति, न धन, न पाण्डित्य, न वाक्चातुर्य, कुछ भी नहीं, बल्कि पवित्रता, शुद्ध जीवन, एक शब्द में अनुभूति, आत्म-साक्षात्कार को विजय मिलेगी! प्रत्येक देश में सिंह जैसी शक्तिमान दस-बारह आत्माएँ होने दो, जिन्होंने अपने बन्धन तोड़ डाले हैं, जिन्होंने 'अनन्त' का स्पर्श कर लिया है, जिनका चित्त ब्रह्मानुसन्धान में लीन है, जो न धन की चिन्ता करते हैं, न बल की, न नाम की—और ये व्यक्ति ही संसार को हिला डालने के लिए पर्याप्त होंगे।

यही रहस्य है। योगप्रवर्तक पतंजलि कहते हैं, "जब मनुष्य समस्त अलौकिक दैवी शक्तियों के लोभ का त्याग करता है, तभी उसे धर्ममेघ नामक समाधि प्राप्त होती है।"[१] वह परमात्मा का दर्शन करता है, वह परमात्मा बन जाता है और दूसरों को तद्रूप बनने में सहायता करता है। मुझे इसीका प्रचार करना है। जगत् में अनेक मतवादों का प्रचार हो चुका है। लाखों पुस्तकें हैं, परन्तु हाय! कोई भी किंचित् अंश में प्रत्यक्ष आचरण नहीं करता।

सभाएँ और संस्थाएँ अपने आप उत्पन्न हो जायँगी। क्या वहाँ ईर्ष्या हो सकती है, जहाँ ईर्ष्या करने की कोई वस्तु न हो? जो हमें हानि पहुँचाना चाहेंगे, ऐसे लोग असंख्य होंगे। परन्तु हमारे ही पक्ष में सत्य है, इसका क्या यह निश्चित प्रमाण नहीं है? जितना ही मेरा विरोध हुआ है, उतनी ही मेरी शक्ति का विकास हुआ है। राजाओं ने मुझे अनेक बार निमंत्रित किया और पूजा है। पुरोहितों और जनसाधारण ने मेरी निन्दा की है। परन्तु इससे क्या? सबको आशीर्वाद! वे सब तो मेरी स्वयं आत्मा हैं और क्या उन्होंने कमानीदार पटरे (Spring-board) के समान मेरी सहायता नहीं की, जहाँ से उछलकर मेरी शक्ति अधिकाधिक विकास कर सकी है?

...एक महान् रहस्य का मैंने पता लगा लिया है—वह यह कि केवल धर्म की बातें करनेवालों से मुझे कुछ भय नहीं है। और जो सत्यद्रष्टा महात्मा हैं, वे कभी किसीसे वैर नहीं करते। वाचालों को वाचाल होने दो! वे इससे अधिक और कुछ नहीं जानते! उन्हें नाम, यश, धन, स्त्री से सन्तोष प्राप्त करने दो। और हम धर्मोपलब्धि, ब्रह्मलाभ एवं ब्रह्म होने के लिए ही दृढ़व्रत होंगे। हम आमरण एवं जन्म-जन्मान्तर में सत्य का ही सतत अनुसरण करेंगे। दूसरों के कहने पर हम तनिक भी ध्यान न दें और यदि आजन्म यत्न के बाद एक, केवल एक ही आत्मा संसार के बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो सके, 'तो हमने अपना काम कर लिया।' हरि ॐ!

...एक बात और। निस्सन्देह मुझे भारत से प्रेम है। परन्तु दिन-प्रतिदिन मेरी दृष्टि स्पष्टतर होती जा रही है। हमारे लिए भारत या इंग्लैण्ड या अमेरिका क्या है? हम उस प्रभु के दास हैं, जिसे अज्ञानी कहते हैं 'मनुष्य'। जो जड़ में पानी डालता है, वह क्या पूरे वृक्ष को नहीं सींचता?

सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक कल्याण की एक ही नींव है—और वह यह जानना कि 'मैं और मेरा भाई एक हैं।' यह सब देशों और सब

---

१. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

जातियों के लिए सत्य है। और मैं यह कह सकता हूँ कि पश्चिमी लोग पूर्वीयों से शीघ्र इसका अनुभव करेंगे—वे पूर्वीय जन, जिन्होंने इस नींव के निर्माण में तथा कुछ थोड़े से अनुभूतिसम्पन्न व्यक्तियों को उत्पन्न करने में प्रायः अपनी सारी शक्ति व्यय कर दी है।

आओ, हम नाम, यश और दूसरों पर शासन करने की इच्छा से रहित होकर काम करें। काम, क्रोध एवं लोभ—इस त्रिविध बन्धन से हम मुक्त हो जायें। और फिर सत्य हमारे साथ रहेगा!

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

१९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
अगस्त (?), १८९५

प्रिय राखाल,

...मैं इस समय न्यूयार्क शहर में हूँ। यह नगर गर्मी में बिल्कुल कलकत्ते की तरह गर्म हो जाता है। खूब पसीना आता है और हवा बिल्कुल बंद रहती है। कुछ महीनों के लिए मैंने उत्तर का दौरा किया। कृपया लौटती डाक से इस पत्र का जवाब इंग्लैण्ड के पते पर भेजो। वहाँ के लिए मैं इस पत्र के तुम तक पहुँचने के पूर्व ही चल पड़ूँगा।

सस्नेह,
विवेकानन्द

(श्री आलसिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका,
अगस्त, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हारे पास इस पत्र के पहुँचने से पहले ही मैं पेरिस पहुँच जाऊँगा।... इसलिए कलकत्ता तथा खेतड़ी में यह लिख देना कि इस समय वे अमेरिका के पते पर मुझे कोई पत्र न डालें। अगले जाड़े में ही फिर मुझे न्यूयार्क वापस आना है। अतः कोई विशेष आवश्यक विषय हो, तो १९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क—इस पते पर मुझे सूचित करना। इस वर्ष मैंने बहुत कुछ कार्य किया है तथा आशा है कि अगले वर्ष और भी कार्य कर सकूँगा। मिशनरियों के विषय को लेकर माथा-पच्ची न करना। उनका चिल्लाना अत्यन्त स्वाभाविक है। जब किसीकी रोटी

छीन ली जाती है, तो कौन नहीं चिल्लाता ? गत दो वर्षों में उनकी पूंजी में काफ़ी अन्तर पड़ चुका है और क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। अस्तु, मैं मिशनरियों की पूर्ण सफलता चाहता हूँ। बच्चों, जब तक तुम लोगों को भगवान् तथा गुरु में, भक्ति तथा सत्य में विश्वास रहेगा, तब तक कोई भी तुम्हें नुक़सान नहीं पहुँचा सकता। किन्तु इनमें से एक के भी नष्ट हो जाने पर परिणाम विपत्तिजनक है। तुम्हारा यह कहना ठीक है कि भारत की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में मेरे भाव अधिक मात्रा में कार्य में परिणत होते जा रहे हैं।. . .वास्तव में भारत ने मेरे लिए जो कुछ किया है, उससे कहीं अधिक मैंने भारत के लिए किया है। वहाँ तो मुझे रोटी के एक टुकड़े के साथ डलाभरी गालियाँ मिली हैं। सत्य में मेरा विश्वास है, चाहे मैं कहीं भी क्यों न जाऊँ, प्रभु मेरे लिए काम करनेवालों के दल के दल भेज देते हैं। वे लोग भारतीय शिष्यों की तरह नहीं हैं, अपने गुरु के लिए वे प्राणों तक की बाज़ी लगा देने को प्रस्तुत हैं। सत्य ही मेरा ईश्वर है तथा समग्र विश्व मेरा देश है। 'कर्तव्य' में मैं विश्वासी नहीं हूँ, कर्तव्य तो संसारियों के लिए एक अभिशाप है, संन्यासियों का कोई कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य तो एक व्यर्थ की बकवास है। मैं मुक्त हूँ—मेरे सारे बन्धन कट चुके हैं। यह शरीर कहीं भी रहे या न रहे, इसकी मुझे क्या परवाह ! तुम लोगों ने बराबर मेरी ठीक ठीक सहायता की है—प्रभु तुम्हें इसका पुरस्कार अवश्य देंगे। मैंने भारत या अमेरिका से कभी अपनी प्रशंसा नहीं चाही और न मैं ऐसी खोखली चीज़ों के लिए अब भी लालायित हूँ। मैं भगवान् की सन्तान हूँ और मुझे सत्य की शिक्षा देनी है। जिसने मुझे इस सत्य की प्राप्ति करायी है, वही मेरे लिए पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ तथा शक्तिशाली सहायक भेजेगा। पाश्चात्य देश में प्रभु क्या करना चाहते हैं, यह तुम हिन्दुओं को कुछ ही वर्षों में देखने को मिलेगा। तुम लोग प्राचीन काल के यहूदियों जैसे हो, और तुम्हारी स्थिति नाँद में लेटे हुए कुत्ते की तरह है, जो न खुद खाता है और न दूसरों को ही खाने देना चाहता है। तुम लोगों में किसी प्रकार की धार्मिक भावना नहीं है, रसोई ही तुम्हारा ईश्वर है तथा हँड़िया-बरतन हैं तुम्हारे शास्त्र। अपनी तरह असंख्य सन्तानोत्पादन में ही तुम्हारी शक्ति का परिचय मिलता है। तुममें से कुछ एक बालक साहसी अवश्य हों—किन्तु कभी कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम भी अविश्वासी बनते जा रहे हो। बालको, दृढ़ बने रहो, मेरी सन्तानों में से कोई भी कायर न बने। तुम लोगों में जो सबसे अधिक साहसी है—सदा उसीका साथ करो। बिना विघ्न-बाधाओं के क्या कभी कोई महान् कार्य हो सकता है ? समय, धैर्य तथा अदम्य इच्छा-शक्ति से ही कार्य हुआ करता है। मैं तुम लोगों को ऐसी बहुत सी बातें बतलाता, जिससे तुम्हारे हृदय उछल पड़ते,

किन्तु मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तो लोहे के सदृश दृढ़ इच्छा-शक्तिसम्पन्न हृदय चाहता हूँ, जो कभी कम्पित न हो। दृढ़ता के साथ लगे रहो, प्रभु तुम्हें आशीर्वाद दे। सदा शुभकामनाओं के साथ,

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री० ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

न्यूयार्क,
अगस्त, १८९५

प्रिय स्टर्डी,

यहाँ का काम बड़े ठाट से चल रहा है। जब से मैं आया हूँ, लगातार दो कक्षाएँ प्रतिदिन ले रहा हूँ। कल मैं श्री लेगेट के साथ एक सप्ताह के लिए नगर से बाहर जा रहा हूँ। क्या तुम श्रीमती एन्टॉयनेट स्टर्लिंग से जो तुम्हारी नामी गायिकाओं में से हैं, परिचित हो? वे इस काम में विशेष रुचि ले रही हैं।

मैंने इस कार्य का लौकिक भाग एक सभा को सौंप दिया है और मैं सभी झंझटों से मुक्त हूँ। मुझमें संगठन की क्षमता नहीं है। उससे मैं बिल्कुल टूट जाता हूँ।

...'नारद-सूत्र' का क्या हुआ? उस पुस्तक की यहाँ अच्छी बिक्री होगी, मुझे विश्वास है। मैंने अब योग-सूत्र हाथ में लिया है। क्रम से एक एक सूत्र लेकर उनके साथ साथ भाष्यकारों के मत की आलोचना कर रहा हूँ। ये सभी वार्ताएँ लिख ली जाती हैं और समाप्त होने पर अंग्रेजी में यह पतंजलि का टीका सहित सबसे पूर्ण अनुवाद होगा। निश्चय ही यह कार्य महत्त्वपूर्ण होगा।

शायद ट्रूबनर की दूकान में 'कूर्मपुराण' का एक संस्करण होगा। भाष्यकार विज्ञान भिक्षु इस पुस्तक से निरन्तर उद्धरण देते रहते हैं। मैंने स्वयं कभी इस पुस्तक को नहीं देखा। क्या तुम कृपया कुछ समय निकालकर इस पुस्तक में देख सकोगे कि योग पर उसमें कुछ अध्याय हैं या नहीं? यदि हों, तो क्या कृपा करके एक प्रति मुझे भेज दोगे? क्या 'हठयोग-प्रदीपिका', 'शिव संहिता' तथा और कोई योग पर पुस्तक भी होगी? निःसन्देह मूल ग्रंथ। वे जैसे ही पहुँचेंगी, मैं उनके लिए रुपया तुमको भेजा दूंगा। जॉन डेविस द्वारा लिखी हुई ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' की एक प्रति भी भेजना। अभी भारत की डाक के साथ तुम्हारा पत्र मिला। एक आदमी जो तैयार है, वह अस्वस्थ हो गया। दूसरे कहते हैं कि इस प्रकार अकस्मात् वे आ नहीं सकते। अब तक तो निराशा ही दिखायी दे रही है। मुझे दुःख है कि वे लोग न आ सके। क्या किया जा सकता है? भारत में मन्द गति से काम होता है!

रामानुज का मत है कि बद्ध आत्मा या जीव की पूर्णता उसमें अव्यक्त या सूक्ष्म भाव से रहती है। जब इस पूर्णता का पुनः विकास होता है, जीव मुक्त हो जाता है। परन्तु अद्वैतवादी कहता है कि ये दोनों बातें केवल भासित होती हैं। न क्रमसंकोच है, न क्रमविकास। दोनों क्रियाएँ मायारूप हैं, केवल भासमान—परिदृश्यमान अवस्था मात्र।

पहली बात यह है कि आत्मा स्वभावतः ज्ञाता नहीं है। 'सच्चिदानन्द' आत्मा की केवल आंशिक परिभाषा है, 'नेति, नेति' शब्दों द्वारा ही उसके यथार्थ स्वरूप का वर्णन होता है। शापेनहॉवर ने अपना 'इच्छावाद' बौद्धों से ग्रहण किया है। हम लोग वासना, तृष्णा (पाली भाषा में 'तनहा') आदि शब्दों में भी यही भाव ग्रहण करते हैं। हम भी यह स्वीकार करते हैं कि वासना ही सब प्रकार की अभिव्यक्ति का मूल कारण है, और प्रत्येक अभिव्यक्ति उसका विशिष्ट परिणाम है। परन्तु जो कुछ भी 'हेतु' या 'कारण' है, वह ब्रह्म और माया, इन दोनों के सम्मिश्रण से उद्भूत होता है। इतना ही नहीं, वरन् 'ज्ञान' भी एक मिश्रित पदार्थ होने के कारण निरपेक्ष अर्थात् ब्रह्म नहीं हो सकता, परन्तु ज्ञात या अज्ञात सब प्रकार की वासना की अपेक्षा वह निःसन्देह श्रेष्ठ है एवं अद्वितीय ब्रह्म की निकटतम वस्तु है। वह अद्वैत तत्त्व प्रथम ज्ञान एवं उसके पश्चात् इच्छा की समष्टि के रूप में अभिव्यक्त होता है। यदि यह कहा जाय कि वनस्पति 'अचेतन' है या अधिक से अधिक वह 'चैतन्यरहित इच्छा-शक्तियुक्त' है, तो उसका यह उत्तर होगा कि यह 'अचेतन वनस्पति-क्रिया' भी चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है, यह चैतन्य उस वनस्पति का भले ही न हो, किन्तु वह उसी विश्वव्यापी चेतन बुद्धिशक्ति की अभिव्यक्ति है, जिसे सांख्य दर्शन में महत् कहते हैं। "वास्तव-जगत् का सभी कुछ उस 'एषणा' या 'संकल्प' आदि से उद्भूत है"—बौद्धों का यह मतवाद अपूर्ण है; क्योंकि, प्रथमतः 'इच्छा' स्वयं ही एक मिश्र पदार्थ है, और द्वितीयतः चेतना या ज्ञान, जो सर्वश्रेष्ठ मिश्र पदार्थ है, वह इच्छा के भी पहले विद्यमान है। ज्ञान ही क्रिया है। प्रथम क्रिया, फिर प्रतिक्रिया। मन पहले अनुभव करता है एवं उसके बाद प्रतिक्रिया के रूप में उसमें संकल्प का उदय होता है। संकल्प मन में रहता है, अंतः संकल्प अंतिम निष्कर्ष है, यह कहना असंगत है। डॉयसन डारविनमतावलम्बियों के हाथ की कठपुतली मात्र है।

परन्तु क्रमविकासवाद के सिद्धान्त का उच्च भौतिक विज्ञान के साथ सामंजस्य स्थापित करना चाहिए, जिसके अनुसार क्रमविकास की प्रत्येक परम्परा के पीछे क्रमसंकोच की क्रिया निहित है। इसलिए 'वासना' या 'संकल्प' के विकास के पूर्व 'महत्' या 'विश्वचेतना' संकुचित अथवा सूक्ष्म भाव से विद्यमान रहती है।

विश्वचेतना या महत्
(Consciousness or Mahat)

- अवचेतन (Subconscious)
  - चेतनारहित संकल्प या क्रिया (Unconscious Will)
- चेतन (Conscious)
  - यथार्थ चेतन संकल्प (Conscious Will Proper)
- अतिचेतन (Superconscious)
  - अतिचेतन संकल्प (Superconscious Will)

बिना ज्ञान के संकल्प असंभव है, क्योंकि इच्छित वस्तु के सम्बन्ध में यदि किसी भी प्रकार का ज्ञान न हो, तो इसकी इच्छा का उदय होगा ही कैसे ?

जिस क्षण ज्ञान की चेतन और अवचेतन, दो अवस्थाओं की कल्पना की जायगी, उसी क्षण आपाततः कठिन ज्ञात होनेवाला यह तत्त्व सरल हो जायगा। और ऐसा हो भी क्यों नहीं ? यदि संकल्प का हम इस प्रकार विश्लेषण कर सकते हैं, तो उसकी मूल वस्तु का क्यों नहीं कर सकते ?

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

सहस्रद्वीपोद्यान,
अगस्त, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

...श्री स्टर्डी का, जिनके बारे में मैंने उस दिन आपको लिखा है, और एक पत्र मिला। उसे मैं आपके पास भेज रहा हूँ। सब कुछ मानो पहले ही से अपने आप ठीक हो जा रहा है। श्री लेगेट के आमन्त्रण-पत्र के साथ इस पत्र को मिलाकर देखने से क्या यह आपको दैव का बुलावा मालूम नहीं होता है ? मैं तो यही मानता हूँ; अतः उसका अनुसरण कर रहा हूँ। अगस्त के अन्त में श्री लेगेट के साथ मैं पेरिस जा रहा हूँ एवं वहाँ से लन्दन जाऊँगा।...हेल परिवार से मिलने के लिए मुझे शिकागो जाना है। इसलिए ग्रीनेकर-सम्मेलन में मैं सम्मिलित नहीं हो सका।

मेरे तथा मेरे गुरुभाइयों के कार्यों में आप जितनी सहायता कर सकती हैं,

इस समय मैं आपसे उतनी ही सहायता चाहता हूँ। अपने देशवासियों के प्रति मैंने अपना थोड़ा सा कर्तव्य निभाया है। अब जगत् के लिए—जिससे कि मुझे यह शरीर मिला है, देश के लिए—जिसने कि मुझे यह भावना प्रदान की है तथा मनुष्य-जाति के लिए—जिसमें कि मैं अपनी गणना कर सकता हूँ—कुछ करना है। जितनी ही मेरी उम्र बढ़ रही है, उतना ही मैं 'मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ हैं'—हिन्दुओं की इस धारणा का तात्पर्य अनुभव कर रहा हूँ। मुसलमान भी यही कहते हैं। अल्लाह ने देवदूतों से आदम को प्रणाम करने के लिए कहा था। इबलीस (Iblis) ने ऐसा नहीं किया, इसलिए वह शैतान (Satan) बना। यह पृथ्वी सब स्वर्गों से ऊँची है—सृष्टि का यही सर्वश्रेष्ठ विद्यालय है। मंगल तथा बृहस्पति ग्रह के लोग हम लोगों की अपेक्षा उच्च श्रेणी के नहीं हैं—क्योंकि वे हमारे साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। तथाकथित उच्च श्रेणी के प्राणी अर्थात् मरे हुए लोग अन्य प्रकार के देहधारी मनुष्यों के सिवाय और कुछ नहीं हैं; सूक्ष्म होने पर भी उनके शरीर वास्तव में हस्तपदादिविशिष्ट मनुष्य-शरीर ही हैं और वे इसी पृथ्वी के किसी दूसरे आकाश में रहते हैं तथा एकदम अदृश्य भी नहीं हैं। हम लोगों की तरह ही उनमें चिंतन-शक्ति, ज्ञान तथा अन्यान्य सब कुछ विद्यमान है। इसलिए वे भी मनुष्य ही हैं। देवता तथा देवदूतों के बारे में भी यही बात है। किन्तु केवल मनुष्य ही ईश्वर बन सकता है तथा देवादि को पुनः ईश्वरत्व-प्राप्ति के लिए मनुष्य-जन्म धारण करना पड़ेगा। मैक्स मूलर का अन्तिम लेख आपको कैसा लगा?

आपका,
विवेकानन्द

(श्री ई॰ टी॰ स्टर्डी को लिखित)

ॐ तत्सत्

होटल कान्टिनेन्टल,
३ रयू कैस्टिग्लिओन, पेरिस,
२६ अगस्त, १८९५

प्रिय मित्र,

मैं यहाँ परसों पहुँचा हूँ। मैं अपने एक अमेरिकन मित्र का मेहमान होकर यहाँ आया हूँ—जिनका विवाह अगले सप्ताह होनेवाला है।

मुझे उस समय तक उनके साथ रुकना पड़ेगा, इसके बाद ही लंदन आने की छुट्टी मिलेगी।

तुमसे मिलने की उत्सुकता और आनन्द की कल्पना करके पुलकित हो रहा हूँ।

'सत्' में सदा तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

द्वारा कुमारी मैक्लिऑड,
होटल हालैंड,
रयू द ला पेक्स, पेरिस,
५ सितम्बर, १८९५

प्रिय मित्र,

तुम्हारी कृपा के लिए आभार प्रकट करना अनावश्यक है, इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता।...

कुमारी मूलर का हार्दिक निमंत्रण है, और उनका आवास तुम्हारे बहुत निकट है, मैं सोचता हूँ, दो-एक दिन के लिए उनके यहाँ जाना अच्छा रहेगा और तब तुम्हारे पास आऊँगा।

कुछ दिनों तक मेरा शरीर बहुत बीमार था, जिसकी वजह से तुम्हें (पत्र) लिखने में देर हो गयी।

आशा है, शीघ्र ही हृदय और मस्तिष्क से एक साथ ही मिलने की विशेष सुविधा होगी।

प्रभु में प्रेम और बन्धुभाव के साथ सदा तुम्हारा ही,

विवेकानन्द

(श्री आलसिंगा पेरुमल को लिखित)

पेरिस,
९ सितम्बर, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

संयुक्त राज्य अमेरिका का चक्कर लगाता हुआ तुम्हारा तथा जी० जी० के पत्र अभी अभी मुझे मिले।

मुझे यह आश्चर्य है कि तुम लोग मिशनरियों की मूर्खतापूर्ण व्यर्थ की बातों को इतना महत्त्व दे रहे हो। अगर भारतवासी मुझे नियमपूर्वक हिन्दू-भोजन के सेवन पर बल देते हैं, तो उनसे एक रसोइया एवं उसको रखने के लिए पर्याप्त रुपये का प्रबन्ध करने के लिए कह देना। एक पैसे की सहायता करने का तो सामर्थ्य है नहीं, किन्तु आगे बढ़कर उपदेश झाड़ते हैं! इससे मुझे तो हँसी ही आती है।

मिशनरी लोग यदि यह कहते हों कि कामिनी-कांचन-त्यागरूप संन्यासियों के दोनों ही व्रत मैंने तोड़े हैं, तो उनसे कहना कि वे झूठ बोलते हैं। मिशनरी ह्यूम को पत्र लिखकर तुम यह पूछना कि उन्होंने मेरा क्या असदाचरण देखा है—यह तुम्हें स्पष्ट लिखें; अथवा जिन व्यक्तियों से उन्होंने इस बारे में सुना है, उनके नाम लिखें। साथ ही उनसे यह भी पूछना कि उन घटनाओं को उन्होंने स्वयं देखा है या नहीं। ऐसा करने पर प्रश्न का समाधान अपने आप हो जायगा तथा उनके झूठ का भी पता लग जायगा। इसी तरीके से डॉ० जेन्स ने उन मिथ्यावादियों को पकड़वाया था।

मेरे बारे में सिर्फ इतना ही जान लेना कि मैं किसीके कथनानुसार नहीं चलूंगा। मेरे जीवन का क्या व्रत है, यह मैं स्वयं जानता हूँ। किसी जातिविशेष के प्रति न मेरा तीव्र अनुराग है और न घोर विद्वेष ही है। मैं जैसे भारत का हूँ, वैसे ही समग्र जगत् का भी हूँ। इस विषय को लेकर मनमानी बातें बनाना निरर्थक है। मुझसे जहाँ तक हो सकता था, मैंने तुम लोगों की सहायता की है, अब तुम्हें स्वयं अपनी सहायता करनी चाहिए। ऐसा कौन सा देश है, जो कि मुझ पर विशेष अधिकार रखता है? क्या मैं किसी जाति के द्वारा खरीदा हुआ दास हूँ? अविश्वासी नास्तिको, तुम लोग ऐसी व्यर्थ की मूर्खतापूर्ण बातें न बनाओ।

यहाँ पर मैंने कठोर परिश्रम किया है और मुझे जो कुछ धन मिला है, उसे मैं कलकत्ते तथा मद्रास भेजता रहा हूँ। यह सब कुछ करने के बाद अब मुझे उन लोगों के मूर्खतापूर्ण निर्देशानुसार चलना होगा? क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती? मैं उन लोगों का किस बात के लिए ऋणी हूँ? क्या मैं उन लोगों की प्रशंसा की कोई परवाह करता हूँ या उनकी निन्दा से डरता हूँ? बच्चे, मैं एक ऐसा विचित्र स्वभाव का व्यक्ति हूँ कि मुझे पहचानना तुम लोगों के लिए भी अभी सम्भव नहीं है। तुम अपने काम करते रहो, यदि नहीं कर सकते हो, तो चुपचाप बैठ जाओ; किन्तु अपनी मूर्खता के बल पर मुझसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की चेष्टा न करो। मुझे अपने पीछे एक ऐसी शक्ति दिखायी दे रही है, जो कि मनुष्य, देवता या शैतान की शक्तियों से कहीं अधिक सामर्थ्यशाली है। मुझे किसीकी सहायता नहीं चाहिए, जीवन भर मैं ही दूसरों की सहायता करता रहा हूँ। ऐसे व्यक्तियों का दर्शन तो अभी तक मुझे नहीं मिला है, जिनसे कि मुझे कोई सहायता प्राप्त हुई हो। अब तक देश में जितने व्यक्तियों ने जन्म लिया है, उनमें सर्वश्रेष्ठ श्री रामकृष्ण परमहंस के कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए जहाँ के निवासियों में दो-चार रुपये भी एकत्र करने की शक्ति नहीं है, वे लोग लगातार व्यर्थ की बातें बना रहे हैं और उस व्यक्ति पर अपना हुक्म चलाना चाहते हैं, जिसके लिए उन्होंने

कुछ भी नहीं किया, प्रत्युत् जिसने उन लोगों के लिए जहाँ तक हो सकता था, सब कुछ किया। जगत् ऐसा ही अकृतज्ञ है!

क्या तुम यह कहना चाहते हो कि ऐसे जाति-भेद-जर्जरित, कुसंस्कारयुक्त, दयारहित, कपटी, नास्तिक कायरों में से जो केवल शिक्षित हिन्दुओं में ही पाये जा सकते हैं, एक बनकर जीने-मरने के लिए मैं पैदा हुआ हूँ? मैं कायरता को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। कायर तथा राजनीतिक मूर्खतापूर्ण बकवासों के साथ मैं अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। किसी प्रकार की राजनीति में मुझे विश्वास नहीं है। ईश्वर तथा सत्य ही जगत् में एकमात्र राजनीति है, बाक़ी सब कूड़ा-करकट है।

मैं कल लन्दन जा रहा हूँ। इस समय मेरा वहाँ का पता इस प्रकार होगा—द्वारा श्री ई० टी० स्टर्डी, हाई व्यू, कैवरशम, रीडिंग, इंग्लैण्ड।

सदा आशीर्वाद के साथ तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—इंग्लैण्ड तथा अमेरिका, दोनों ही जगहों से पत्रिका निकालने का मेरा विचार है। अतः अपने पत्र के लिए तुम लोगों को पूर्णतया मुझ पर निर्भर नहीं होना चाहिए। तुम्हारे अलावा और भी बहुत सी चीजों पर मुझे ध्यान देना है।

वि०

(कुमारी जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम,
रीडिंग, इंग्लैण्ड,
सितम्बर, १८९५

प्रिय जो जो,

तुम्हें समय पर नहीं लिखने के लिए सहस्र क्षमा-याचना। मैं सकुशल लंदन पहुँच गया। अपना मित्र मिल गया था। अतः मैं उसके निवास पर सकुशल हूँ। स्थान रमणीय है। उसकी पत्नी तो एक फ़रिश्ता है, और उसके जीवन में भारत भरा है। वह वहाँ वर्षों रहा—संन्यासियों से मिला-जुला, उनका खाना खाया इत्यादि; अतः तुम समझ सकती हो, मैं कितना प्रसन्न हूँ। भारत से लौटे अवकाशप्राप्त बहुत से जनरलों से मुलाक़ात हुई, वे मेरे प्रति बहुत ही शिष्ट और विनीत हैं। प्रत्येक काले आदमी को नीग्रो समझने का अमेरिकनों का वह अद्भुत ज्ञान यहाँ नहीं है, और कोई भी सड़क पर टकटकी लगाकर मुझे नहीं देखता।

भारत के बाहर दूसरे किसी भी स्थान की अपेक्षा यहाँ मुझे बहुत ही सुखद जैसा लगता है। ये अंग्रेज हमें जानते हैं और हम उन्हें। यहाँ शिक्षा और सभ्यता का स्तर बहुत ऊँचा है—यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन ला देता है और इस प्रकार कई पीढ़ियों की शिक्षा से यह होता है।

क्या 'जंगली कबूतर' वापस आ गये हैं? प्रभु उन्हें तथा उनके स्वजनों को सदा-सर्वदा सुख दे। बच्चियाँ कैसी हैं? और अल्बर्टा तथा होलिस्टर? उन्हें मेरा असीम प्यार दो और तुम स्वयं भी उसे स्वीकार करो।

मेरा मित्र संस्कृत का विद्वान् है, अतः हम लोग शंकर के महान् भाष्यों पर काम करने में व्यस्त हैं। दर्शन और धर्म के अतिरिक्त यहाँ कुछ नहीं है, जो जो। अक्तूबर में मैं लंदन में व्याख्यान-पाठ का प्रबन्ध करने जा रहा हूँ।

प्यार और शुभ कामनाओं के साथ सदा सस्नेह,

विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम, रीडिंग, इंग्लैण्ड,
१७ सितम्बर, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

इंग्लैण्ड में समिति स्थापित करने के लिए मुझे तथा श्री स्टर्डी को कम से कम ऐसे दो-चार व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो दृढ़संकल्प तथा मेधावी हों, इसलिए हमें धीरे धीरे अग्रसर होना पड़ेगा। सर्वप्रथम हमें इस बात से सचेत रहना होगा कि कहीं हम कुछ 'मनचले' व्यक्तियों के चंगुल में न फँस जायँ। आपको सम्भवतः यह पता है कि अमेरिका में भी मेरा यही लक्ष्य था। श्री स्टर्डी कुछ दिन भारत में हमारे संन्यासी सम्प्रदाय के रीति-रिवाज के अनुसार निवास कर चुके हैं। वे एक पढ़े-लिखे, संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता तथा अत्यन्त ही उत्साही व्यक्ति हैं।...यहाँ तक सब अच्छा है।...

पवित्रता, दृढ़ता तथा उद्यम—ये तीनों ही गुण मैं एक साथ चाहता हूँ। यहाँ पर यदि ऐसे छः व्यक्ति भी मुझे मिल जायँ, तो मेरा कार्य चलता रहेगा। ऐसे दो-चार व्यक्तियों के मिलने की भी आशा है।

भवदीय,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

रीडिंग, इंग्लैण्ड,
२४ सितम्बर, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

श्री स्टर्डी को संस्कृत सीखने में सहायता प्रदान करने के सिवा मैंने अब तक और कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है। श्री स्टर्डी ने मुझे अपने गुरुभाइयों में से ऐसे एक संन्यासी को यहाँ बुलाने के लिए कहा है, जो कि मेरे अमेरिका चले जाने पर उसकी सहायता कर सके। मैं भी भारत में एक संन्यासी के लिए लिख चुका हूँ। अब तक सब ठीक ही चला है। इसके आगे आनेवाली तरंग की प्रतीक्षा में मैं हूँ। 'न टालो, न ढूँढ़ो—भगवान् अपनी इच्छानुसार जो कुछ भेजे, उसके लिए प्रतीक्षा करते रहो', यही मेरा मूलमंत्र है। यह ठीक है कि मैं बहुत कम पत्र लिखता हूँ, किन्तु मेरा हृदय कृतज्ञता से परिपूर्ण है।

शुभेच्छु,
विवेकानन्द

(श्रीमती एफ़० एच० लेगेट को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम,
रीडिंग, इंग्लैण्ड,
अक्तूबर, १८९५

माँ,

आप अपने पुत्र को भूली तो न होंगी? आप अब कहाँ हैं? और टान्टी तथा बच्चे? आपके मन्दिर के हमारे साधुमना पुजारी का क्या समाचार है? जो जो इतनी शीघ्र 'निर्वाण' तो नहीं प्राप्त कर पायेगी, किन्तु उसका गम्भीर मौन एक बड़ी 'समाधि' जैसा जरूर लग रहा है।

क्या आप यात्रा कर रही हैं? मुझे इंग्लैण्ड बड़ा आनन्ददायक लग रहा है। मैं अपने मित्र के साथ 'दर्शन' पर ही गुज़र कर रहा हूँ, खाने-पीने और धूम्रपान के लिए गुंजाइश बहुत कम रहने देता हूँ। द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि के अतिरिक्त हमें कुछ नहीं मिल रहा है।

होलिस्टर मेरी समझ में अपनी लम्बी पतलून में बड़ा साहसी हो गया है। अल्बर्टा जर्मन पढ़ रही है।

यहाँ के अंग्रेज़ बड़े सहृदय हैं। कुछ ऐंग्लो इंडियनों को छोड़कर वे काले आदमियों से बिल्कुल घृणा नहीं करते। न वे मुझे सड़कों पर 'हूट' ही करते हैं। कभी कभी मैं सोचने लगता हूँ कि कहीं मेरा चेहरा गोरा तो नहीं हो गया, किन्तु दर्पण सारे सत्य को प्रकट कर देता है। फिर भी लोग यहाँ बड़े सहृदय हैं।

फिर भी जो अंग्रेज़ स्त्री-पुरुष भारत से प्रेमभाव रखते हैं, वे स्वयं हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक हिन्दू हैं। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि पूर्णतः भारतीय रीति से मैं ढेर सारी सब्जियाँ पकवा लेता हूँ। जब अंग्रेज़ कोई काम हाथ में लेता है, तब वह उसकी गहराइयों में प्रवेश करता है। कल यहाँ पर एक उच्च अधिकारी प्रो० फ़्रेज़र से मिला। उन्होंने अपना आधा जीवन भारत में बिताया है और उन्होंने प्राचीन विचार और ज्ञान में इतना विचरण किया है कि वे भारत के परे किसी अन्य चीज़ की रत्ती भर चिंता नहीं करते! आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि यहाँ बहुत से विचारशील स्त्री-पुरुष सोचते हैं कि सामाजिक समस्या का एकमात्र हल हिन्दुओं की जाति-प्रथा है। आप कल्पना कर सकती हैं कि अपने मस्तिष्क में यह भाव रखते हुए वे समाजवादियों तथा दूसरे समाजवादी प्रजातंत्रवादियों से कितनी घृणा करते होंगे! फिर, यहाँ पुरुष—अत्यंत उच्च-शिक्षाप्राप्त पुरुष, भारतीय चिंतन में अत्यधिक रुचि रखते हैं, किन्तु स्त्रियाँ बहुत कम। अमेरिका की अपेक्षा यहाँ स्त्रियों का क्षेत्र अधिक संकुचित है। अभी तक मेरा सब काम ठीक चल रहा है। भविष्य में जो प्रगति होगी, वह मैं आपको सूचित करूँगा।

पिता परिवार को, राजमाता को, (उपाधिरहित) 'जो जो' को और बच्चों को मेरा प्रेम।

सप्रेम और साशीष सदा आपका,
विवेकानन्द

(स्वामी अभेदानन्द को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम,
रीडिंग, इंग्लैण्ड,
अक्तूबर, १८९५

प्रिय काली,

तुम्हें मेरा पिछला पत्र मिला होगा। इन दिनों सभी चिट्ठियाँ ऊपर के पते पर भेजो। श्री स्टर्डी तारक दादा से परिचित हैं। वह मुझे अपने निवास पर ले आया है और हम दोनों इंग्लैण्ड में एक उत्तेजना पैदा करने की कोशिश कर

४—२३

रहे हैं। इस वर्ष पुनः नवम्बर में अमेरिका के लिए प्रस्थान करूँगा। अतः मुझे संस्कृत और अंग्रेज़ी—ख़ासकर दूसरी—भाषा यथेष्ट रूप से जाननेवाले व्यक्ति—या शशि या तुम या सारदा की आवश्यकता है। अब अगर तुम पुनः पूर्ण स्वस्थ हो गये हो, तो बहुत अच्छा, तुम चले आओ, या शरत् को भेजो। अनुगामियों को, जिन्हें मैं छोड़ जाऊँगा, शिक्षा देने, वेदान्त के अध्ययन के लिए उन्हें प्रस्तुत करने, अंग्रेज़ी में कुछ अनुवाद करने तथा कभी कभी (समय समय पर) व्याख्यान देने का कार्य है। **कर्मणा बाध्यते बुद्धिः।**

अमुक आने को बहुत उत्सुक है, किन्तु जब तक आधार सुदृढ़ नहीं होता, किसी भी चीज़ के गिर जाने की बहुत संभावना है। इस पत्र के साथ मैं एक चेक भी भेज रहा हूँ। कोई भी आये—(किन्तु) कपड़े और दूसरी आवश्यक चीज़ें ख़रीद लो। मास्टर महाशय महेन्द्र बाबू के नाम चेक भेज रहा हूँ। गंगाधर का तिब्बती 'चोगा' मठ में है, उसी तरह का 'चोग़ा', गेरुआ रंग का, दर्जी से बनवा लो। ध्यान रखना कि कॉलर थोड़ा ऊँचा हो, जिसमें गला और गर्दन रहे।... इसके अतिरिक्त तुम्हारे पास एक गर्म ओवरकोट अवश्य हो, क्योंकि यहाँ सर्दी बहुत है। जहाज़ पर यदि तुम ओवरकोट पहने नहीं रहोगे, तो तुम्हें बहुत कष्ट होगा।...मैं द्वितीय श्रेणी का टिकट भेज रहा हूँ, क्योंकि प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी के वर्थ में अधिक अन्तर नहीं है।

...अगर शशि को भेजना निश्चित हो, तो जहाज़ के ख़ज़ांची को पहले ही सूचित कर दो, जिसमें उसके लिए निरामिष भोजन का प्रबन्ध कर दे।

बम्बई जाकर मेसर्स किंग, किंग एण्ड कम्पनी, फ़ोर्ट, बम्बई से मुलाक़ात करो और उनसे कहो कि तुम श्री स्टर्डी के आदमी हो। तब वे तुम्हें इंग्लैण्ड तक का टिकट दे देंगे। यहाँ से आदेश के साथ कम्पनी को एक पत्र भेजा जा रहा है। मैं खेतड़ी के महाराजा को भी लिख दे रहा हूँ कि वे अपने बम्बई के एजेण्ट को आदेश दें कि तुम्हारा पैसेज सुरक्षित कराने की व्यवस्था कर दे। अगर १५०) की रक़म तुम्हारे वस्त्रों के लिए पर्याप्त न हो, तो शेष राखाल से ले लेना। बाद में मैं वह राशि उसे भेज दूंगा। जेब-ख़र्च के लिए और ५०) रुपये रख लेना—राखाल से ले लेना; बाद में मैं चुकता कर दूंगा। चुनी बाबू को जो धन मैंने भेजा था, उसकी प्राप्ति की कोई सूचना मुझे अब तक नहीं मिली है। जितना शीघ्र हो सके, प्रस्थान करो। महेन्द्र बाबू को सूचित कर दो कि कलकत्ता में वे ही मेरे एजेंट हैं। उनसे कहो कि अगली डाक से श्री स्टर्डी को यह सूचित करते हुए पत्र लिख दें कि वे कलकत्ता में तुम्हारी ओर से व्यापार

सम्बन्धी सभी कार्यों की देख-भाल करेंगे। वस्तुतः श्री स्टर्डी इंग्लैण्ड में मेरे सचिव हैं, महेन्द्र बाबू कलकत्ता में और आलासिंगा मद्रास में। यह सूचना मद्रास भी भेज देना। यदि हम सभी कटिबद्ध होकर काम न करें, तो क्या कोई काम हो सकता है? अतः तैयार हो जाओ और कार्य आरंभ कर दो! 'भाग्य बहादुर और कर्मठ व्यक्ति का ही साथ देता है।' पीछे मुड़कर मत देखो—आगे, अपार शक्ति, अपरिमित उत्साह, अमित साहस और निस्सीम धैर्य की आवश्यकता है—और तभी महत् कार्य निष्पन्न किये जा सकते हैं। हमें पूरे विश्व को उद्दीप्त करना है।

जिस दिन जहाज़ प्रस्थान करने को हो, उस दिन तुम श्री स्टर्डी को यह सूचित करते हुए पत्र लिख दो कि किस जहाज़ से इंग्लैण्ड आ रहे हो। अन्यथा लंदन पहुँचने पर तुम्हें कठिनाई में पड़ने की संभावना है। उसी जहाज़ से आओ, जो सीधे लंदन आता हो, यद्यपि यात्रा (समुद्र) में कुछ अधिक दिन भी लग जाता हो, किंतु भाड़ा कम होगा। अभी तो पैसे कम हैं। समय आने पर हम लोग पृथ्वी के सभी भागों में बड़ी संख्या में उपदेशक भेजेंगे।

सस्नेह तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

पुनश्च—तुम बम्बई जा रहे हो—यह खेतड़ी के महाराजा को शीघ्र लिख दो और यह भी कि उनका एजेन्ट पैसेज सुरक्षित कराने तथा जहाज़ पर चढ़ा देने आदि में प्रस्तुत रहा, तो प्रसन्नता होगी।

पॉकेट-बुक में मेरा पता लिखकर रख लेना, जिसमें आगे कोई कठिनाई न हो।

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

रीडिंग, इंग्लैण्ड,
४ अक्तूबर, १८९५

प्रिय निवेदिता,

...पवित्रता, धैर्य तथा प्रयत्न के द्वारा सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी महान् कार्य धीरे धीरे होते हैं।...

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

हाई व्यू, कैवरशम,
रीडिंग, इंग्लैण्ड,
अक्तूबर, १८९५

प्रिय 'जो जो',

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बेहद प्रसन्नता हुई। मुझे भय था कि तुम भूल गयी होगी।

लन्दन में और लन्दन के आसपास मेरे कुछ भाषण होंगे। उनमें से एक २२ को ८-३० बजे प्रिंसेज़ हॉल में आम लोगों के लिए होगा।

वहाँ आओ और एक कार्यक्रम बनाने की चेष्टा करो। अब तक यहाँ मैंने कुछ नहीं किया है। निस्सन्देह, सूत्रपात करने में ही दिक्क़त होती है। न्यूयार्क में जो कुछ था, उतना करने में मुझे अमेरिका में दो साल लग गये थे। सभी को प्यार।

सदा तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

द्वारा श्री ई० टी० स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम, रीडिंग,
४ अक्तूबर, १८९५

अभिन्नहृदय,

तुम जानते हो कि अब मैं इंग्लैण्ड में हूँ। क़रीब एक महीना यहाँ रहकर फिर अमेरिका चला जाऊँगा। अगली ग्रीष्म ऋतु में फिर इंग्लैड आ जाऊँगा। इस समय इंग्लैण्ड में विशेष कुछ होने की आशा नहीं है, परन्तु प्रभु सर्वशक्तिशाली है। धीरे धीरे देखा जायगा।

इसके पहले शरत् के आने के लिए रुपये भेजे हैं तथा पत्र भी लिखा है। शरत् या शशि, इन दोनों में से किसी एक को भेजने का बन्दोबस्त करना। यदि शशि पूर्णरूपेण आरोग्य हो गया है, तो उसे भेजना। शीतप्रधान देश में चर्मरोग बढ़ता नहीं है—यहाँ अत्यन्त ठण्ड के कारण रोग दूर हो जायगा। नहीं तो शरत् को भेजना।

इस समय—का आना असम्भव है। अर्थात् रुपये स्टर्डी साहब के हैं, वे जिस तरह का आदमी चाहते हैं, वैसा ही लाना होगा। श्री स्टर्डी ने मुझसे

मंत्र-दीक्षा ली है; वे बहुत उद्यमी और सज्जन व्यक्ति हैं। थियोसॉफ़ी के झमेले में पड़कर वृथा समय नष्ट किया, इसलिए इन्हें बड़ा अफ़सोस है।

पहले तो ऐसे आदमी की ज़रूरत है, जिसे अंग्रेज़ी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो।—यहाँ आने पर जल्दी अंग्रेजी सीख लेगा, यह सच है; परन्तु मैं यहाँ सीखने के लिए मनुष्य अभी नहीं बुला सकता, जो शिक्षा दे सकें, पहले उन्हींकी आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि, जो सम्पत्ति और विपत्ति, दोनों में मुझे न छोड़े, ऐसे ही मनुष्य पर मुझे विश्वास है।...बड़ा ही विश्वासी मनुष्य होना चाहिए। फिर नींव डाली जा चुकने पर, जिसकी जितनी इच्छा हो, शोर-गुल मचाये, कुछ नहीं।—ने कोई बुद्धिमानी नहीं दिखायी, जब वह व्यर्थ के हो-हल्ला एवं आवारा लोगों की बातों में आ गया। दादा, माना कि रामकृष्ण परमहंस एक नाचीज़ थे, माना कि उनके आश्रम में जाना बड़ी भूल का काम हुआ, परन्तु अब उपाय क्या है? केवल यही नहीं कि एक जन्म मुफ्त ही बीता, पर क्या मर्द की बात भी टलती है? क्या दस पति भी होते हैं? तुम लोग चाहे जिसके दल में जाओ, मेरी ओर से कोई रुकावट नहीं—ज़रा भी नहीं। परन्तु दुनिया भर में घूमकर देखा, उनकी परिधि के बाहर और सभी जगह मन में कुछ और कार्य में कुछ और है। जो उनके हैं, उन पर मेरा पूर्ण प्रेम और पूर्ण विश्वास है। क्या करूँ? मुझे एकांगी कहो, तो कह लेना, परन्तु यही मेरी असल बात है। जिसने श्री रामकृष्ण को आत्मसमर्पण किया है, उसके पैरों में अगर काँटा भी चुभता है, तो वह मेरे हाड़ों में बेधता है; यों तो मैं सभी को प्यार करता हूँ। मेरी तरह असाम्प्रदायिक संसार में विरला ही कोई होगा, परन्तु उतना ही मेरा हठ है, माफ़ करना। उनकी दुहाई नहीं, तो और किसकी दुहाई दूं? अगले जन्म में कोई बड़ा गुरु देख लिया जायगा, इस जन्म में तो इस शरीर को सदा के लिए उन्हीं अनपढ़ ब्राह्मण ने ख़रीद लिया है।

मन की बात खुलकर कही दादा, ग़ुस्सा न करना, मैं प्रार्थना करता हूँ। मैं तुम लोगों का ग़ुलाम हूँ, जब तक तुम उनके ग़ुलाम हो, बाल भर इसके बाहर हुए कि जैसे तुम, वैसे ही मैं।...देखते हो, देश में और विदेश में जितने भी मत-मतान्तर हो सकते हैं, उन सबको उन्होंने पहले ही से निगलकर पेट में डाल लिया है दादा—मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।[1] आज हो या

---

१. मेरे द्वारा ये सब पहले ही से हत हो चुके हैं, हे अर्जुन, तुम्हें केवल निमित्त मात्र होना है।।गीता ।।११।३३ ।।

कल, वे सब तुम लोगों के अंग में मिल जायेंगे। हाय रे अल्प विश्वास! उनकी कृपा से, **ब्रह्मांड गोष्पदायते**।[2]

नमकहराम न होना, इस पाप का प्रायश्चित नहीं है। नाम-यश, सुकर्म—**यज्जुहोषि यत्तपस्यसि यदश्नासि** आदि 'जो कुछ हवन देते हो, जो कुछ तप के फल-स्वरूप प्राप्त करते हो, जो कुछ अन्नरूप में ग्रहण करते हो'—सब उनके चरणों में समर्पित कर दो। पृथ्वी पर और क्या है, जो हमें चाहिए? उन्होंने हमें शरण दे दी और क्या चाहिए? भक्ति स्वयं फलस्वरूपा है—और क्या चाहिए? हे भाई, जिन्होंने खिला-पिलाकर, विद्या-बुद्धि देकर मनुष्य बनाया, जिन्होंने हमारी आत्मा की आँखें खोल दीं, जिनके रूप में हमने रात-दिन सजीव ईश्वर का दर्शन किया, जिनकी पवित्रता, प्रेम और ऐश्वर्य का राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, चैतन्य आदि में क़ण मात्र प्रकाश है, उनके निकट नमकहरामी!!! बुद्ध, कृष्ण आदि का तीन चौथाई हिस्सा कपोल-कल्पना के सिवा और क्या है?...अरे, तुम ऐसे दयालु देव की दया भूलते हो?...कृष्ण, ईसा पैदा हुए थे या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। और साक्षात् भगवान् को देखकर भी तुम्हें कभी कभी मतिभ्रम होता है! तुम लोगों के जीवन को धिक्कार है! मैं और क्या कहूँ? देश-विदेश में नास्तिक-पाखण्डी भी उनकी मूर्ति की पूजा करते हैं, और तुम लोगों को समय समय पर मतिभ्रम होता है!!! तुम्हारे जैसे लाखों वे अपने निःश्वास से गढ़ लेंगे। तुम लोगों का जन्म धन्य है, कुल धन्य है, देश धन्य है कि उनके पैरों की धूलि मिली। मैं क्या करूँ, मुझे लाचार होकर ऐसा कट्टर होना पड़ रहा है। मुझे तो उनके जनों को छोड़ और कहीं पवित्रता और निःस्वार्थता देखने को नहीं मिलती। सभी जगह 'मुँह में राम, बगल में छुरी' है—सिर्फ़ उनके जनों को छोड़-कर। वे रक्षा कर रहे हैं, यह मैं देख जो रहा हूँ। अरे पागल, परी जैसी औरतें, लाखों रुपये, ये सब मेरे लिए तुच्छ हो रहे हैं, यह क्या मेरे बल पर?—या वे रक्षा कर रहे हैं, इसलिए! उनके सिवाय दूसरे किसीको एक भी रुपया या स्त्री के बारे में मैं विश्वास जो नहीं कर सकता। उन पर जिसका विश्वास नहीं है और परमा-राध्या माता जी पर जिसकी भक्ति नहीं है, उसका कहीं कुछ भी न होगा—यह सीधी भाषा में कह दिया, याद रखना।

...हरमोहन ने अपनी दुःखपूर्ण अवस्था का हाल लिखा है और शीघ्र ही जगह छोड़ने को लिखा है। उसने कुछ व्याख्यान देने के लिए प्रार्थना की है, परन्तु व्याख्यानादि अभी कुछ नहीं है, परन्तु कुछ रुपये अभी टेंट में हैं, उसे भेज

---

२. ब्रह्मांड गोष्पद हो जाता है।

दूंगा, डरने की कोई बात नहीं। पत्र पाते ही भेज दूंगा; परन्तु सन्देह हो रहा है कि मेरे (पहले के) रुपये बीच में ही मारे गये, इसलिए फिर नहीं भेजे। दूसरे किस पते पर भेजूं, वह भी नहीं मालूम। मद्रासवाले, जान पड़ता है, पत्रिका न निकाल सके। हिन्दू जाति में व्यवहार-कुशलता बिल्कुल ही नहीं है। जिस समय जिस काम के लिए प्रतिज्ञा करो, ठीक उसी समय उसे करना ही चाहिए, नहीं तो लोगों का विश्वास उठ जाता है। रुपये-पैसे की बात में पत्र मिलते ही अति शीघ्र उत्तर देना चाहिए।...यदि मास्टर महाशय राज़ी हों, तो उन्हें मेरा कलकत्ते का एजेन्ट होने के लिए कहना; उन पर मेरा पूर्ण विश्वास है और वे इन विषयों को अच्छी तरह समझते हैं। लड़कपन और जल्दबाज़ी का काम नहीं है। उन्हें कोई ऐसा केन्द्र ठीक करने के लिए कहना, जो पता क्षण क्षण में न बदले और जहाँ मैं कलकत्ते के सभी पत्र भेज सकूँ।...

किमधिकमिति,
नरेन्द्र

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

रीडिंग,
६ अक्तूबर, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

...श्री स्टर्डी के साथ भक्तिविषयक एक पुस्तक का मैं अनुवाद कर रहा हूँ, पर्याप्त टीकाओं के साथ वह शीघ्र ही प्रकाशित होगी। इस महीने में मुझे लन्दन में दो तथा 'मैडनहेड' में एक भाषण देने होंगे। इससे मुझे कतिपय 'कक्षाएँ' खोलने का तथा 'पारिवारिक' भाषण प्रदान करने का अवसर मिलेगा। व्यर्थ का शोर-गुल न मचाकर हम शान्तिपूर्वक कार्य करना चाहते हैं।...

शुभेच्छु,
विवेकानन्द

(जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

हाई व्यू, कैवरशम,
रीडिंग, इंग्लैण्ड,
२० अक्तूबर, १८९५

प्रिय 'जो जो',

लेगेट-परिवार के लन्दन आने के अवसर पर अभिनन्दनस्वरूप यह संक्षिप्त पत्र। एक तरह से यह मेरा स्वदेश होने के कारण सर्वप्रथम मैं तुम्हें अपना अभिनन्दन भेजता हूँ। तुम्हारा अभिनन्दन अगले मंगलवार, २२ तारीख़ को साढ़े आठ बजे

(अपराह्न में) प्रिंसेज़ हॉल में स्वीकार करूँगा। मंगल तक मैं इतना व्यस्त हूँ कि मुझे खेद है कि मैं तुमसे मिलने की शीघ्रता नहीं कर सकूँगा। फिर भी उसके बाद किसी दिन मैं मिलने आऊँगा। सम्भवतः मैं मंगल को आ सकता हूँ।

चिरन्तन प्यार और शुभ कामनाओं के साथ।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

लन्दन,
२४ अक्तूबर, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

...मैं अपना पहला व्याख्यान दे चुका हूँ और 'स्टैन्डर्ड' को देखने से तुम जान सकोगे कि वह कितनी अच्छी तरह ग्रहण किया गया। 'स्टैन्डर्ड' एक अत्यन्त प्रभावशाली और परिवर्तन-विरोधी समाचारपत्र है। मैं एक महीने तक लन्दन में रहूँगा, तत्पश्चात् अमेरिका जाऊँगा और फिर अगली गर्मी में वापस आऊँगा। अब तक तुम देखोगे कि इंग्लैण्ड में अच्छा ही श्रीगणेश हुआ है।

साहसी होकर काम करो। धीरज और स्थिरता से काम करना—यही एक मार्ग है। आगे बढ़ो और याद रखो धीरज, साहस, पवित्रता और अनवरत कर्म।...जब तक तुम पवित्र होकर अपने उद्देश्य पर डटे रहोगे, तब तक तुम कभी निष्फल नहीं होओगे—माँ तुम्हें कभी न छोड़ेगी और पूर्ण आशीर्वाद के तुम पात्र हो जाओगे।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

८०, ओक्ले स्ट्रीट, चेल्सी,
३१ अक्तूबर, १८९५,
सायंकाल, ५ बजे

प्रिय मित्र,

अभी अभी भद्र युवक, श्री सिलवरलाक तथा उनके मित्र चले गये। कुमारी मूलर भी आज शाम को आयी थीं और इन दोनों के आते ही वे चली गयीं।

इनमें से एक इंजीनियर हैं तथा दूसरे अनाज का व्यापार करते हैं। इन दोनों ने दर्शन तथा विज्ञान के बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन किया है एवं अपने आधुनिकतम सिद्धान्तों के साथ भारतीय प्राचीन मतवाद का अपूर्व सामंजस्य देखकर

वे अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। दोनों ही बहुत सज्जन, बुद्धिमान तथा पण्डित हैं, उनमें से एक ने तो गिरजा से अपना नाता तोड़ लिया है और दूसरे ने इस बारे में मेरा मत पूछा है। इनसे मिलने के बाद मेरा ध्यान दो बातों की ओर आकृष्ट हुआ है। प्रथम तो यह कि उस पुस्तक को हमें शीघ्र समाप्त करना है। उस पुस्तक के द्वारा इस प्रकार के कुछ लोगों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा, जो कि दार्शनिक आधार पर धर्म को मानते हैं तथा अलौकिकता को एकदम पसन्द नहीं करते। दूसरी बात यह कि ये दोनों ही हमारे धर्म के आचरण को जानना चाहते हैं। इस घटना से मेरी आँखें खुल गयी हैं। जगत् की साधारण जनता कोई न कोई अवलम्बन चाहती है। वास्तव में आचरण के द्वारा रूपान्तरित दर्शन को ही साधारणतया धर्म कहा जाता है। इसलिए धर्म-मन्दिर तथा कुछ क्रिया-कर्मों का होना नितान्त आवश्यक है, अर्थात् यथासम्भव शीघ्र ही हमें कुछ क्रिया-कर्म निर्धारित करने होंगे। यदि तुम शनिवार को सुबह या उससे पहले आ सको, तो हम 'एशियाटिक सोसाइटी' में चलेंगे अथवा यदि तुम मेरे लिए 'हेमाद्रि कोष' नामक ग्रन्थ का संग्रह कर सको, तो हमारे आवश्यकीय सब कुछ तथ्य उसीमें मिल जायँगे। कृपया उपनिषदों को अपने साथ लेते आओ। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युकालपर्यन्त हमें कोई अपूर्व सिद्धान्त निश्चित रूप से स्थिर करना है; असम्बद्ध दार्शनिक मतवाद मानव-जीवन पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकता।

यदि हम अपनी 'कक्षाओं' के समाप्त होने के पूर्व ही उस पुस्तक को पूरा कर सकें तथा दो-एक सार्वजनिक आयोजनों के द्वारा जनता के समक्ष उसका प्रकाशन कर सकें, तो वह चालू हो जायगी। ये लोग संघबद्ध होना चाहते हैं और साथ ही साथ क्रिया-कर्मों को भी जानना चाहते हैं; और वास्तव में यही एक कारण है, जिससे लोग कभी भी पाश्चात्य देशवासियों पर अपना प्रभाव नहीं फैला सकते।

'नैतिक समिति' (Ethical Society) के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के कारण उन लोगों ने मुझे धन्यवाद देकर एक पत्र लिखा है तथा उनका एक 'फ़ार्म' भी भेजा है। वे चाहते हैं कि मैं अपने साथ कोई पुस्तक ले जाऊँ तथा १० मिनट के लिए उससे कुछ पढ़ूँ। क्या तुम अपने साथ गीता तथा बौद्ध जातक का अनुवाद लाने की कृपा करोगे? तुमसे मिले बिना मैं इस विषय में कुछ भी नहीं करूँगा। मेरी प्रीति तथा शुभेच्छा ग्रहण करो।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

८०, ओक्ले स्ट्रीट,
चेल्सी,
३१ अक्तूबर, १८९५

प्रिय 'जो जो',

शुक्रवार को भोजन पर आकर मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। अल्बेमार्ले में श्री क्वायेट से भी भेंट हो जायगी।

दो अमेरिकन महिलाएँ, माँ और बेटी—श्रीमती एवं कुमारी नेटर—जो लन्दन में रहती हैं, गत रात्रि मेरा व्याख्यान सुनने आयी थीं। सचमुच वे बहुत सहृदय थीं। श्री चेमियर के आवास पर व्याख्यान समाप्त हो गया। अगले शनिवार की रात्रि से अपने निवास-स्थान पर ही व्याख्यान आरम्भ करूँगा। व्याख्यान के लिए अच्छे-बड़े आकार के एक या दो कमरे मिल जाने की आशा है। 'मंक्योर कॉनवेज़ एथिकल सोसाइटी' की ओर से भी मुझे निमन्त्रण मिला है, जहाँ १० तारीख़ को भाषण करूँगा। अगले मंगलवार को 'वलवोआ सोसाइटी' में भी भाषण करूँगा। प्रभु सहायता करेंगे। निश्चित नहीं कह सकता हूँ कि शनिवार को तुम्हारे साथ जा सकूँगा या नहीं। तुम वहाँ अपने देश में किसी भी तरह ख़ूब मज़े लूट सकती हो और श्रीमान् और श्रीमती स्टर्डी तो बहुत श्रेष्ठ लोग हैं।

प्यार और शुभकामनाओं के साथ,
विवेकानन्द

पुनश्च—मेरे लिए थोड़ी सब्जी मँगवा लेना। चावल की आवश्यकता मैं महसूस नहीं करता—रोटी पर्याप्त होगी। मैं अब एकदम शाकाहारी हो गया हूँ।

वि०

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

८०, ओक्ले स्ट्रीट,
चेल्सी,
१ नवम्बर, १८९५

प्रिय मित्र,

बेलेरिन (?) सोसाइटी के ३५ टिकट हैं। विषय है—'भारतीय दर्शन

और पश्चिमी समाज'। अध्यक्ष कोई नहीं है। चूँकि तुमने उन्हें देने के लिए निवेदन नहीं किया, मैं नहीं भेज रहा हूँ। तुम्हारे सभी पत्र मुझे समय पर मिले।

'सत्' में तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

२ नवम्बर, १८९५

प्रिय मित्र,

मैं सोचता हूँ, तुम सही हो; हम अपनी ही लीक पर काम करें और वस्तुओं को पनपने दें। व्याख्यान का परिपत्र भेज रहा हूँ। अगर कोई असाधारण बाधा नहीं हुई, तो मैं रविवार को आऊँगा।

सप्रेम तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

आर० एम० एस० 'ब्रिटानिक',
१८९५

शुभ और प्रिय,

अब तक यात्रा बहुत सुखद रही। पोताधिकारी (पर्सर) मेरे प्रति बड़े ही सदय थे। उन्होंने मुझे एक केबिन दे दिया था। एकमात्र कठिनाई भोजन की थी—हमेशा गोश्त ही गोश्त। आज उन्होंने मुझे कुछ सब्जी देने का वचन दिया है।

हम लोग अभी स्थिर (लंगर डाले हुए की स्थिति में) हैं। कुहरा इतना घना है कि जहाज आगे नहीं बढ़ सकता। अतः इस अवसर का उपयोग कर मैं कुछ पत्र लिख रहा हूँ।

अपूर्व अभेद्य कुहासा है, यद्यपि सूर्य सहर्ष दीप्त है। मेरी ओर से बच्ची को चुम्बन तथा श्रीमती स्टर्डी को और तुम्हें प्यार और शुभकामनाएँ।

सदा तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

पुनश्च—कृपया कुमारी मूलर को मेरा प्यार सूचित करना। एवेन्यू रोड में मैंने अपना 'नाइट शर्ट' छोड़ दिया है। अतः मुझे तब तक उसके बिना काम चलाना होगा, जब तक कि डेक के नीचे बक्सा नहीं आ जाता है।

(स्वामी अखंड़ानन्द को लिखित)

लन्दन,
१३ नवम्बर, १८९५

प्रिय अखंडानन्द,

तुम्हारा पत्र पाकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम जो कार्य कर रहे हो, वह बहुत अच्छा है। रा—बड़े उदार और मुक्तहस्त हैं, परन्तु इसलिए उनसे इसका नाजायज़ फ़ायदा न उठाना चाहिए। श्रीमान्—का अर्थ-संग्रह करने का संकल्प अच्छा है; पर, मेरे भैया, यह संसार बड़ा ही विचित्र है, काम-कांचन से जहाँ पिंड छुड़ाना ब्रह्मा-विष्णु तक के लिए दुष्कर है। जहाँ रुपये-पैसे का सम्बन्ध है, वहीं भ्रम होने की सम्भावना है। अतः मठ के नाम पर अर्थ-संग्रह आदि का काम कोई न करे।...मेरे या हम लोगों के नाम से कोई गृहस्थ मठ के लिए या किसी दूसरी बाबत चन्दा वसूल कर रहा है, यह सुनते ही उस पर सन्देह करना और उसका साथ न देना। विशेषकर साधनहीन गृहस्थ अपना अभाव दूर करने के लिए तरह तरह के उपाय किया करते हैं। अतः यदि कोई कोई विश्वासी भक्त अथवा सहृदय गृहस्थ, जो साधनसम्पन्न है, मठ आदि बनाने के लिए उद्योग करे या संगृहीत अर्थ कोई धनी और विश्वासी गृहस्थ के पास हो, तो अच्छी बात, नहीं तो उससे अलग रहना। इसके विपरीत यह कि औरों को इस कार्य से मना करना। तुम अभी बालक हो, कांचन की माया नहीं समझते। मौक़ा मिलने पर अत्यन्त नीतिपरायण मनुष्य भी प्रतारक बन जाता है। यही संसार है। चार आदमी के साथ मिलकर कोई काम करना हम लोगों की आदत नहीं। हमारी इसीलिए इतनी दुर्दशा हो रही है। जो आज्ञा-पालन करना जानते हैं, वे ही आज्ञा देना भी जानते हैं। पहले आदेश-पालन करना सीखो। इन सब पाश्चात्य राष्ट्रों में स्वाधीनता का भाव जैसा प्रबल है, आदेश-पालन करने का भाव भी वैसा ही प्रबल है। हम सभी अपने आपको बड़ा समझते हैं, इससे कोई काम नहीं बनता। महान् उद्यम, महान् साहस, महावीर्य और सबसे पहले आज्ञा-पालन—ये सब गुण व्यक्तिगत या जातिगत उन्नति के लिए एकमात्र उपाय हैं। और ये गुण बिल्कुल ही हममें नहीं हैं।

तुम जिस तरह काम कर रहे हो वैसे ही करते जाओ। परन्तु अपने विद्याभ्यास पर विशेष दृष्टि रखना। य—बाबू ने एक हिन्दी पत्रिका मुझे भेजी है उसमें अलवर के पण्डित रा—ने मेरी शिकागो-वक्तृता का अनुवाद किया है। दोनों सज्जनों को मेरी विशेष कृतज्ञता और धन्यवाद अर्पित करना।

अब तुम्हारे लिए कुछ लिखता हूँ। राजपूताना में एक केन्द्र खोलने का विशेष प्रयत्न करना। जयपुर या अजमेर जैसे किसी केन्द्रीय स्थान में वह होना

चाहिए। इसके बाद अलवर, खेतड़ी आदि शहरों में उसकी शाखाएँ स्थापित करना। सबके साथ मिलना, हमें किसीसे विरोध की आवश्यकता नहीं है। पण्डित ना—जी को मेरा प्रेमालिंगन बता देना, वे बड़े उद्यमी हैं, समय आने पर बहुत ही व्यावहारिक सिद्ध होंगे। मा—साहब और—जी से भी मेरा यथोचित आदर कहना। क्या धर्म-समाज नाम की या इसी प्रकार की एक संस्था अजमेर में स्थापित हुई है? इसके विषय में मेरे पास लिखना। म—बाबू लिखते हैं कि उन्होंने एवं दूसरे लोगों ने मेरे पास पत्र लिखे, पर वे मुझे अभी तक नहीं मिले।... मठ, केन्द्र या इस प्रकार की किसी संस्था को कलकत्ते में स्थापित करना व्यर्थ है। वाराणसी ही ऐसे कार्यों के लिए उपयुक्त स्थान है। ऐसी मेरी बहुत सी योजनाएँ हैं; परन्तु ये सब चीजें धन पर निर्भर करती हैं। धीरे धीरे तुम्हें सब मालूम हो जायगा। तुमने समाचारपत्रों में देखा होगा कि इंग्लैण्ड में हमारे आन्दोलन की नींव जम रही है। यहाँ सभी काम धीरे धीरे होते हैं। परन्तु जॉन बुल एक बार जिस काम में हाथ डालता है, उसे फिर छोड़ता नहीं। अमेरिकावासी बहुत फ़ुर्तीले हैं सही, पर प्रायः आग पर पड़ी फूस की तरह होते हैं, जो जल्द ही ठंडे पड़ जाते हैं। रामकृष्ण परमहंस अवतार हैं, इत्यादि मत सर्वसाधारण में प्रचारित न करना। अलवर में मेरे कई चेले हैं, उनकी ख़बर रखना।...महाशक्ति का तुममें संचार होगा—कदापि भयभीत मत होना। पवित्र होओ, विश्वासी होओ, और आज्ञापालक होओ।

बाल-विवाह के विरुद्ध शिक्षा देना। बाल-विवाह का समर्थन किसी भी शास्त्र में नहीं है। पर छोटी-छोटी लड़कियों के ब्याह के विरुद्ध अभी कुछ मत कहना। लड़कों का ब्याह रोक दोगे, तो लड़कियों का ब्याह भी अपने आप रुक जायगा। लड़की तो फिर लड़की से ब्याही नहीं जायगी। लाहौर आर्य समाज के मंत्री को लिखना कि अच्युतानन्द नाम के जो संन्यासी उनके साथ रहते थे, वे अब कहाँ हैं? उनकी विशेष खोज करना।...डर क्या?

प्रेमपूर्वक तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

लन्दन,
१८ नवम्बर, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

इंग्लैण्ड में मेरा कार्य वास्तव में बहुत अच्छा है। उसे देखकर मैं स्वयं विस्मित हूँ। इंग्लैण्डनिवासी समाचारपत्रों द्वारा अधिक प्रचार नहीं करते, बल्कि

चुपचाप काम करते हैं। अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैण्ड में मैं निश्चय ही अधिक कार्य कर सकूंगा। वे दल के दल आते हैं और इतने लोगों को बैठाने का मेरे पास स्थान भी नहीं रहता, इसलिए वे सब लोग यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी, पलथी मारकर जमीन पर बैठती हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि वे यह कल्पना करने का यत्न करें कि वे भारत के गगनमण्डल के नीचे एक फैले हुए वट-वृक्ष की छाया तले बैठे हैं, और उन्हें यह विचार अच्छा लगता है। मुझे आगामी सप्ताह में जाना होगा, इससे वे बहुत ही उदास हैं। उनमें से कुछ यह समझते हैं कि इतनी जल्दी जाने से मेरे काम में हानि पहुँचेगी। परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता। मैं मनुष्य या किसी वस्तु पर आश्रित नहीं रहता, केवल भगवान् पर भरोसा करता हूँ—और वह मेरे द्वारा कार्य करते हैं।

...बिना पाखण्डी और कायर बने सबको प्रसन्न रखो। पवित्रता और शक्ति के साथ अपने आदर्श पर दृढ़ रहो और फिर तुम्हारे सामने कैसी भी बाधाएँ क्यों न हों, कुछ समय बाद संसार तुमको मानेगा ही।

जैसी बंगला कहावत है, मुझे मरने का भी समय नहीं है। काम, काम, काम। मैं इसीमें लगा हूँ। मैं अपनी रोटी स्वयं कमाता हूँ, अपने देश की सहायता करता हूँ, और यह सब अकेले करता हूँ और फिर भी मित्रों तथा शत्रुओं से मुझे केवल निन्दा ही निन्दा मिलती है! ख़ैर, तुम लोग तो बालक हो ही, मुझे सब सहन करना पड़ेगा। मैंने कलकत्ते से एक संन्यासी को बुलाया है, और मैं उसे काम करने के लिए यहाँ छोड़ जाऊँगा। अमेरिका के लिए मैं एक और आदमी चाहता हूँ—मैं अपना ही आदमी चाहता हूँ। गुरु-भक्ति ही आध्यात्मिक उन्नति का आधार है।

...मैं निरन्तर काम करते करते थक गया हूँ। कोई और हिन्दू होता, तो वह इतने काम से मर चुका होता।...मैं भी दीर्घ काल तक विश्राम करने के लिए भारत आना चाहता हूँ।

प्रेम और आशीर्वाद के साथ सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

लंदन,
२१ नवम्बर, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

मैं बुधवार २७ तारीख़ को 'ब्रिटानिया' से जल-यात्रा कर रहा हूँ। अभी

तक यहाँ मेरा कार्य संतोषजनक रहा है और आगामी ग्रीष्म में मैं यहाँ बढ़िया काम करूँगा, ऐसा विश्वास है।...

आपका सस्नेह,
विवेकानन्द

(कुमारी अल्बर्टा स्टारगीज़ को लिखित)

आर० एम० एस० 'ब्रिटानिक',
बृहस्पतिवार, प्रातःकाल,
५ दिसम्बर, १८९५

प्रिय अल्बर्टा,

कल सायंकाल तुम्हारा सुन्दर पत्र मिला। तुमने मुझे याद किया, यह तुम्हारी कृपा है। मैं शीघ्र ही 'दिव्य दम्पति' देखने जा रहा हूँ। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, श्री लेगेट संत हैं और तुम्हारी माँ रोम रोम से जन्मना सम्राज्ञी हैं तथा उनका हृदय एक संत का है।

तुम आल्प्स का ख़ूब आनन्द ले रही हो, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अवश्य ही वह अद्भुत होगा। ऐसे ही स्थानों में आत्मा सदैव मुक्ति के लिए प्रेरित होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र होने पर भी राष्ट्र भौतिक स्वतंत्रता के लिए अभीप्सा करता है। लन्दन में मैं एक स्विस नवयुवक से मिला। वह मेरी कक्षाओं में आया करता था। मैं लन्दन में बहुत सफल रहा और यद्यपि मैंने कोलाहलपूर्ण नगर की कोई चिंता नहीं की, मैं लोगों से बहुत ख़ुश हुआ। अल्बर्टा, प्रारम्भ में तुम्हारे देश में वेदान्त की विचारधारा का प्रवेश कुछ अज्ञानी 'धूर्तों' द्वारा हुआ और किसीको इस प्रकार के सूत्रपात से उत्पन्न कठिनाइयों के बीच कार्य करना है। तुमने देखा होगा कि उच्च वर्ग के बहुत कम लोग अमेरिका में मेरी कक्षाओं में आते थे। अमेरिका में उच्च वर्गों के धनी होने के कारण उनका सारा समय अपने धन के उपभोग और यूरोपवालों के अनुकरण (मूर्खतापूर्ण नक़लचीपन ?) में बीतता है। इसके विपरीत इंग्लैण्ड में वेदान्त के विचारों का प्रचार देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों द्वारा हुआ है, और इंग्लैण्ड में उच्च वर्गों में बहुत से लोग बड़े विचारशील हैं। इसलिए तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि मुझे बनी-बनायी पृष्ठभूमि मिल गयी और मुझे विश्वास है कि अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैण्ड में मेरा कार्य अधिक प्रभावशाली होगा। इसी-के साथ अंग्रेजों की चारित्रिक दृढ़ता को लो और स्वयं निर्णय करो। इससे तुम्हें लगेगा कि मैंने इंग्लैण्ड सम्बन्धी अपनी धारणा को बहुत बदल दिया है, मुझे यह स्वीकार करने में हर्ष होता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम लोग जर्मनी में

और भी अच्छा कार्य करेंगे। आगामी ग्रीष्म में मैं पुनः इंग्लैण्ड लौट रहा हूँ। इधर मेरा कार्य बड़े योग्य हाथों में है। जो जो जिस प्रकार अमेरिका में सहृदय और भली-सच्ची मित्र थी, उसी प्रकार यहाँ भी रही है, और तुम्हारे परिवार के प्रति तो मेरा ऋण विपुल ही है। होलिस्टर और तुम्हें मेरा स्नेह और आशीर्वाद ! कुहरे के कारण जहाज़ लंगर डाले हुए है। जहाज़ के भंडारी ने मुझे एक पूरा कमरा केवल मेरे ही लिए दे दिया है। वह बड़ा शिष्ट है और समझता है कि प्रत्येक हिन्दू राजा होता है—लेकिन सारा जादू तब उड़ जायगा, जब उसे मालूम होगा कि राजा के पास कौड़ी भी नहीं है !

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
८ दिसम्बर, १८९५

प्रिय मित्र,

दस दिनों की कठोर एवं बहुत उबा देनेवाली यात्रा के पश्चात् मैं सुरक्षित न्यूयार्क पहुँच गया। मेरे मित्रों ने कुछ कमरे ठीक कर लिये थे, जहाँ मैं अभी रह रहा हूँ और शीघ्र ही व्याख्यान आरंभ करने का मेरा इरादा है। इस बीच थियोसॉफ़िस्ट लोग बहुत सतर्क हो गये हैं और मुझे क्षति पहुँचाने की भरसक चेष्टा कर रहे हैं; किन्तु उन्हें तथा उनके अनुयायियों को कुछ भी सफलता नहीं मिली है।

श्रीमती लेगेट तथा अन्य मित्रों से मैं मिलने गया था, वे उतने ही सहृदय और उत्साही हैं, जितना कि पहले थे।

संन्यासियों के आने के बारे में तुम्हें भारत से कोई समाचार मिला है ?

यहाँ के कार्य का पूर्ण विवरण मैं बाद में लिखूंगा। कृपया कुमारी मूलर, श्रीमती स्टर्डी और अन्य सभी मित्रों को मेरा सर्वोत्तम प्यार और बच्ची को मेरी ओर से चुम्बन।

'सत्' में सदा तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
८ दिसम्बर, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

अपने पत्र में आपने मुझे जो आमन्त्रण भेजा है, उसके लिए कोटिशः धन्यवाद।

दस दिन की दीर्घ एवं कठिन समुद्र-यात्रा के उपरान्त गत शुक्रवार को मैं यहाँ आ पहुँचा। समुद्र भयानक रूप से विक्षुब्ध था और अपने जीवन में मुझे पहली बार 'समुद्र-पीड़ा' (sea-sickness) से नितान्त कष्ट उठाना पड़ा। आपको एक पौत्र लाभ हुआ है, जानकर मुझे अत्यन्त खुशी हुई, आप मेरी शुभकामनाएँ ग्रहण करें; शिशु का मंगल हो! कृपया श्रीमती एडम्स तथा कुमारी थर्सबी से मेरा हार्दिक स्नेह निवेदन करें।

मैंने इंग्लैण्ड में कुछ एक अडिग मित्रों का संगठन किया है। आगामी गर्मी की ऋतु में पुनः वहाँ वापस जाऊँगा—इस आशा को लेकर वे वहाँ पर मेरी अनुपस्थिति में काम करते रहेंगे। यहाँ पर किस प्रणाली से मैं कार्य करूँगा, यह अभी तक मैं निश्चय नहीं कर पाया हूँ। इसी बीच मैं एक बार डिट्रॉएट तथा शिकागो हो आना चाहता हूँ—फिर न्यूयार्क लौटूंगा। जनता के समक्ष भाषण न देने का मैंने निश्चय कर लिया है; क्योंकि मैं यह देख रहा हूँ कि भाषण देने अथवा स्वतः कक्षा लेने में धन का सम्बन्ध न रखना ही मेरे लिए सर्वोत्कृष्ट कार्य है। भविष्य में उस कार्य से क्षति होने की सम्भावना है, साथ ही उसके द्वारा बुरा उदाहरण स्थापित होगा।

इंग्लैण्ड में भी मैंने उसी प्रणाली से कार्य किया है और यहाँ तक कि स्वतः प्रेरित होकर भी जो लोग मुझे धन देना चाहते थे, उनके धन को मैंने वापस कर दिया है। श्री स्टर्डी ही धनवान होने के कारण बड़े बड़े सभागृहों में भाषण देने का अधिकांश व्यय वहन करते थे तथा बाकी व्यय मैं स्वयं वहन करता था। इससे कार्य भी अच्छी तरह से चलता था। और यदि एक निकृष्ट दृष्टान्त देने से कोई दोष न हो, तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि धार्मिक क्षेत्र में भी माँग से अधिक वस्तु वितरित करना ठीक नहीं है। जितनी माँग हो, सिर्फ़ उतनी ही मात्रा में वस्तुओं का वितरण होना चाहिए। यदि लोग मुझे चाहते हैं, तो वे स्वयं ही भाषण का सारा प्रबन्ध करेंगे। इन विषयों को लेकर मुझे माथापच्ची करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आप श्रीमती एडम्स तथा कुमारी लॉक के साथ परामर्श कर इस निर्णय पर पहुँचें कि शिकागो जाकर धारावाहिक रूप से भाषण देना मेरे लिए सम्भव होगा, तो मुझे सूचित करें; किन्तु निश्चय ही रुपये-पैसों की बातों का इसके साथ कोई सम्पर्क नहीं होना चाहिए।

मैं विभिन्न स्थानों में स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी संस्थाओं का पक्षपाती हूँ। वे अपना कार्य अपनी अभिरुचि के अनुसार करें, एवं जिस खूबी के साथ वे कर सकें, करें। अपने बारे में मेरा वक्तव्य इतना ही है कि मैं अपने को किसी

संस्था के साथ जोड़ना नहीं चाहता हूँ। आशा है, आप शरीर और मन से स्वस्थ होंगी।

प्रभुपदाश्रित,
विवेकानन्द

(जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
८ दिसम्बर, १८९५

प्रिय 'जो जो'

दस दिनों की इतनी भीषण यात्रा के बाद, जिसे मुझे करनी पड़ी, मैं न्यूयार्क पहुँचा। कई दिनों तक मैं बेहद अस्वस्थ रहा।

यूरोप के साफ़ और सुन्दर नगरों की अपेक्षा न्यूयार्क बहुत गंदा और विपन्न लगता है। अगले सोमवार से काम आरम्भ करने जा रहा हूँ। तुम्हारी पोटलियाँ दिव्य दम्पति को, जैसा अल्बर्टा उन्हें कहती है, सुरक्षित सुपुर्द कर दी गयीं। वे सदैव की भाँति बहुत भद्र हैं। श्री एवं श्रीमती सोलोमन तथा और दूसरे मित्रों से भेंट की। संयोग से श्रीमती गर्नसी के निवास पर श्रीमती पीक से भेंट हो गयी, किन्तु अब तक श्रीमती रोथीन बर्गर के बारे में कोई खबर नहीं मिली है। इस क्रिसमस के अवसर पर स्वर्गविहंगों के साथ रिजले जा रहा हूँ। कभी इतनी इच्छा थी कि तुम वहाँ होतीं। क्या तुमने कभी ईसाबेल से भेंट की? कृपया सभी मित्रों को मेरा प्यार और तुम्हारे लिए तो अनन्त प्यार।

इस संक्षिप्त पत्र के लिए क्षमा। अगली बार से लम्बा पत्र लिखूंगा।

'प्रभु' में सदा तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
१० दिसम्बर, १८९५

प्रिय श्रीमती बुल,

...मुझे सेक्रेटरी का पत्र मिला है। अनुरोध के अनुसार हार्वर्ड दार्शनिक क्लब के समक्ष भाषण देने में मुझे प्रसन्नता होगी। लेकिन कठिनाई यह है: जब मैं यहाँ से चला जाऊँगा, तब चूंकि कार्य का आधार बनाने के लिए कई पाठ्य-पुस्तकें समाप्त करना चाहता हूँ, इसलिए मैंने तेज़ी से लिखना प्रारम्भ किया है। जाने से पहले मैं चार छोटी किताबें लिख डालने की जल्दी में हूँ।

इस महीने, चारों रविवासरीय भाषणों के लिए विज्ञापन निकल चुके हैं। ब्रुकलिन में, फ़रवरी के प्रथम सप्ताह के लिए भाषणों का प्रबन्ध डॉ० जेन्स तथा अन्यों द्वारा किया जा रहा है।

आपका शुभेच्छु,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९ वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
१६ दिसम्बर, १८९५

स्नेहास्पद,

तुम्हारे सभी पत्र आज की डाक से मुझे एक साथ मिले। कुमारी मूलर ने भी मुझे एक पत्र लिखा है। उन्होंने 'इण्डियन मिरर' पत्र में यह समाचार पढ़ा है कि स्वामी कृष्णानन्द जी इंग्लैण्ड आ रहे हैं। यदि यह सत्य हो, तो मुझे जिनसे सहायता मिलने की सम्भावना है, उनमें ये सबसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध होंगे।

यहाँ पर प्रति सप्ताह मेरी छः कक्षाएँ चलती हैं; तदतिरिक्त एक प्रश्नोत्तर-कक्षा भी चलती है। श्रोताओं की संख्या ७० से १२० तक होती है। इसके साथ ही प्रति रविवार मैं एक सार्वजनिक भाषण भी देता हूँ। गत माह जिस सभागृह में मेरे भाषण हुए थे, उसमें ६०० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था थी। किन्तु प्रायः ९०० व्यक्ति उपस्थित होते थे, ३०० व्यक्ति खड़े होकर भाषण सुनते थे और बाक़ी ३०० व्यक्ति स्थानाभाव के कारण लौट जाते थे। अतः इस सप्ताह मैंने एक बड़े सभागृह की व्यवस्था की है, जिसमें १२०० व्यक्ति बैठ सकेंगे।

इन वक्तृताओं में प्रवेश पाने के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं माँगा जाता है; किन्तु सभास्थल पर जो चन्दा एकत्र होता है, उसीसे मकान का किराया चुक जाता है। इस सप्ताह अखबारों की दृष्टि मुझ पर पड़ी है एवं इस वर्ष मैंने न्यूयार्क में बहुत कुछ हलचल मचा रखी है। यदि मैं इस बार ग्रीष्म ऋतु में यहाँ रह सकता एवं तदर्थ कोई स्थायी केन्द्र बना सकता, तो यहाँ पर अत्यन्त मज़बूती के साथ कार्य चलता रहता। किन्तु आगामी मई में मेरा इंग्लैण्ड जाना निश्चित है, अतः इस कार्य को अधूरा छोड़कर ही मुझे जाना पड़ेगा। किन्तु यदि कृष्णानन्द जी का इंग्लैण्ड आना निश्चित हो एवं तुम उन्हें सुयोग्य तथा उपयुक्त समझो तथा वहाँ पर मेरी अनुपस्थिति में कार्य की कोई क्षति न पहुँचने की तुम्हें पूरी पूरी उम्मीद हो, तो इस ग्रीष्म ऋतु में मैं यहाँ रहना चाहूँगा।

फिर मुझे ऐसा भय हो रहा है कि अविश्रान्त कार्य के बोझ से मेरा स्वास्थ्य नष्ट होता जा रहा है। मुझे कुछ विश्राम की आवश्यकता है। हम लोग इन

पाश्चात्य रीतियों से अनभ्यस्त हैं—ख़ासकर घड़ी की सुई के अनुसार चलने में। इन बातों का निर्णय अब मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ दे रहा हूँ। 'ब्रह्मवादिन्' पत्र यहाँ पर खूब चल रहा है। मैंने भक्तिविषयक लेख लिखना प्रारम्भ कर दिया है; इसके अलावा मासिक कार्यों का एक विवरण भी उन्हें भेज रहा हूँ। कुमारी मूलर अमेरिका आना चाहती हैं; किन्तु आयेंगी या नहीं, यह पता नहीं है। यहाँ पर मेरे कुछ मित्र मेरे रविवार के भाषणों को प्रकाशित करवा रहे हैं। प्रथम दो बार की कुछ प्रतियाँ मैंने तुम्हें भेज दी हैं। बाद की दो वक्तृताओं की कुछ प्रतियाँ अगली बार भेजूंगा, यदि तुम्हें पसन्द हो, तो अधिक प्रतियाँ भेज दूंगा। इंग्लैण्ड में दो-चार सौ प्रतियों के विक्रय की व्यवस्था क्या तुम कर सकते हो?—यदि ऐसी व्यवस्था हो सके, तो उन्हें इनको छपवाने में उत्साह मिलेगा।

अगले महीने में मैं 'डिट्रॉएट' जाऊँगा, तदनन्तर 'बोस्टन' तथा 'हार्वर्ड विश्वविद्यालय' जाने का विचार है। इसके बाद कुछ विश्राम ग्रहण करने की इच्छा है; बाद में इंग्लैण्ड जाना है—वह भी तब, जब कि तुम यह समझो कि मेरे बिना अकेले कृष्णानन्द जी के द्वारा वहाँ के कार्यों का संचालन नहीं हो सकता। इति।

सतत स्नेह तथा आशीर्वाद के साथ,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९ वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
२० दिसम्बर, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

...धीरज रखो और मृत्युपर्यन्त विश्वासपात्र रहो। आपस में न लड़ो! रुपये-पैसे के व्यवहार में शुद्ध भाव रखो।...हम अभी महान् कार्य करेंगे।...जब तक तुममें ईमानदारी, भक्ति और विश्वास है, तब तक प्रत्येक कार्य में तुम्हें सफलता मिलेगी।

वैदिक सूक्त का अनुवाद करने में भाष्यकारों पर विशेष ध्यान दो; पाश्चात्य संस्कृत-विद्वानों की कुछ परवाह न करो। वे हमारे शास्त्रों की एक बात भी नहीं समझते। शुष्क शब्द-शास्त्रज्ञों के लिए धर्म और तत्त्वज्ञान नहीं हैं।...उदाहरणार्थ ऋग्वेद के शब्द आनीदवातम् का अनुवाद किया, 'वह बिना साँस का जीवित रहा।' यहाँ असल में मुख्य प्राण की ओर संकेत है और 'अवातम्' का मूल अर्थ है 'अचल' अर्थात् 'स्पन्दनरहित'। भाष्यकारों के अनुसार यह उस अवस्था का वर्णन है, जिसमें विश्व-शक्ति या प्राण कल्प के आरम्भ होने से पहले रहता है

(देखो, भाष्यकार)। हमारे ऋषियों के अनसार अर्थ लगाओ, यूरोपियन विद्वानों के अनुसार नहीं। वे क्या समझते हैं?

...वीर और अभय बनो और मार्ग साफ़ हो जायगा।...याद रखो कि थियोसॉफ़िस्ट लोगों से तुम्हें कुछ काम नहीं है। यदि तुम सब मेरा साथ दोगे, और धीरज न छोड़ोगे, तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि हम अभी बड़े काम करेंगे। मेरे इंग्लैण्ड में महान् कार्य होंगे—धीरे धीरे। मुझे ऐसा मालूम होता है कि कभी कभी तुम साहस छोड़ देते हो तथा तुम्हें थियोसॉफ़िस्ट लोगों के जाल में फँसने का लोभ हो जाता है। याद रखो कि गुरु-भक्त विश्वविजयी होता है। यह इतिहास का एक प्रमाण है।...विश्वास मनुष्य को सिंह बना देता है। तुम्हें हमेशा याद रखना चाहिए कि मुझे कितना काम करना पड़ रहा है। कभी कभी मुझे दिन में दो या तीन व्याख्यान देने पड़ते हैं—इस तरह मैं विघ्न और बाधाओं से निकलता हूँ—मेहनत से; मेरी अपेक्षा कोई निर्बल आदमी मर गया होता।

...शक्ति और विश्वास के साथ लगे रहो। सत्यनिष्ठ, पवित्र और निर्मल रहो, तथा आपस में न लड़ो। हमारी जाति का रोग ईर्ष्या ही है।

हमारे सब मित्रों को और तुम्हें मेरा प्यार—

विवेकानन्द

(स्वामी सारदानन्द को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९ वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
२३ दिसम्बर, १८९५

प्रिय शरत्,

तुम्हारे पत्र से केवल मुझे दुःख ही हुआ। मालूम होता है कि तुम एकदम हतोत्साह हो चुके हो। मैं तुम सभी लोगों के बारे में जानता हूँ कि तुम लोगों में कितनी शक्ति है और तुम लोगों की क्या सीमाएँ हैं। तुम लोग जिस कार्य को नहीं कर सकते, ऐसे किसी कार्य को करने के लिए कहने का मेरा कोई अभिप्राय नहीं था। मेरी तो सिर्फ़ इतनी ही इच्छा थी कि तुम लोग प्राथमिक संस्कृत की शिक्षा दो तथा 'कोष' इत्यादि की सहायता से 'स' को उसके अनुवाद एवं शिक्षण-कार्य में सहायता प्रदान करो। मैं तुम लोगों को इस कार्य के लिए उपयोगी बना लेता, यदि तुममें से कोई भी इस कार्य को कर सकता; केवल थोड़े से संस्कृत-ज्ञान की आवश्यकता है। खैर, सब कुछ अच्छे के लिए ही होता है। यदि यह प्रभु का कार्य हो, तो उचित समय पर योग्य व्यक्ति अवश्य ही तदनुरूप कार्य में

आकर सम्मिलित होंगे। इसलिए तुम लोगों को व्यर्थ में असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

जहाँ तक सान्याल का सम्बन्ध है, कौन धन ले रहा है और कौन नहीं, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, किंतु बाल-विवाह से मुझे अत्यन्त घृणा है। इसके लिए मैंने अनेक कष्ट भोगे हैं और इस महापाप के लिए हमारे राष्ट्र को भी बहुत कुछ कष्ट उठाना पड़ रहा है। इसलिए इस प्रकार की पैशाचिक प्रथा को परोक्ष अथवा अपरोक्ष किसी भी प्रकार से सहायता पहुँचाना मेरी दृष्टि में नितान्त घृणास्पद कार्य है। इस विषय में मैंने अपना विचार तुमको स्पष्ट लिख दिया है। सान्याल को क़ानून तथा अदालत का आश्रय लेकर अपने को मुक्त करने के लिए मुझे इस प्रकार धोखा देने का कोई भी अधिकार नहीं है; मैंने उसका कोई अनिष्ट नहीं किया है। उसके इस कपटाचरण से मैं दुःखी हूँ। यही दुनिया है! यदि तुम किसी का उपकार करो, तो लोग उसे कोई महत्त्व नहीं देंगे, किंतु ज्यों ही तुम उस कार्य को बन्द कर दो, वे तुरन्त (ईश्वर न करे) तुम्हें बदमाश प्रमाणित करने में नहीं हिचकिचायेंगे। मेरे जैसे भावुक व्यक्ति अपने सगे-स्नेहियों द्वारा सदा ठगे जाते हैं। यह संसार बेरहम है। इसमें जब हम मोल लिये हुए दासों की तरह रह सकेंगे, तभी लोग हमारे प्रति सहानुभूति दिखायेंगे, अन्यथा नहीं। मेरे लिए यह दुनिया बहुत बड़ी है, उसमें मेरे लिए किसी भी कोने में थोड़ा सा स्थान अवश्य होगा। यदि भारत के लोग मुझे न चाहें, तो भारत के बाहर मुझे चाहने-वाले कुछ लोग अवश्य मिल जायँगे। इस राक्षसी बाल-विवाह-प्रथा के विरुद्ध मैं यथासाध्य लड़ता रहूँगा। इससे तुम लोगों के लिए किसी प्रकार की निन्दा नहीं होगी। यदि तुम डर गये हो, तो दूर रहो। जिस प्रथा के अनुसार अबोध बालिकाओं का पाणिग्रहण होता है, उसके साथ मैं किसी प्रकार का संबंध रखने में असमर्थ हूँ। ईश्वर करे कि उन लोगों के साथ मुझे कभी भी सम्बन्धित न रहना पड़े। म—बाबू के बारे में सोचो तो सही, ऐसा डरपोक तथा निष्ठुर व्यक्ति क्या कभी तुमने देखा है? जो व्यक्ति किसी अबोध बालिका के लिए पति ढूँढ़ता है, मैं उसकी हत्या तक कर सकता हूँ। बात यह है कि मैं अपने कार्य में सहायता करने के लिए ऐसे व्यक्ति चाहता हूँ, जो वीर, साहसी, उत्साही तथा तेजस्वी हों। अन्यथा मैं अकेला ही कार्य करूँगा। मुझे संसार में एक ख़ास उद्देश्य पूरा कर जाना है। मैं अकेला ही उसे कार्य में परिणत करूँगा। किसीने मेरी सहायता की या नहीं की, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। सान्याल को संसार ने ग्रस लिया है। बच्चे, इससे सतर्क रहो—यही मेरा कुल उपदेश है, जिसे कर्तव्य से प्रेरित होकर मैं तुम्हें दे रहा हूँ। यह ठीक है कि तुम लोग अब बहुत कुछ समझदार बन चुके हो—तुम्हारे समीप

अब मेरी बात का कोई मूल्य नहीं है। किंतु मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में तुम लोगों के लिए ऐसा समय आयेगा, जब तुम्हारी दृष्टि खुल जायगी, तब बहुत कुछ समझ सकोगे और दूसरे तरीक़े से सोच सकोगे।

अब विदा दो। और अधिक मैं तुम लोगों को परेशान करना नहीं चाहता, तुम्हारा मंगल हो। अगर तुम ऐसा मानते हो, तो मुझे खुशी है कि कभी कभी मैं तुम लोगों के थोड़े-बहुत काम आ सका हूँ। मेरे गुरुदेव ने जो कर्तव्य का बोझ मेरे कन्धों पर छोड़ा है, उसे सम्पादन करने का मैं भरसक प्रयत्न कर रहा हूँ, इसके लिए मैं अपने से संतुष्ट हूँ और चाहे मेरा प्रयास सम्यक् रूप से कार्य में परिणत हुआ हो या नहीं, मैंने प्रयास किया, इसीसे मैं संतुष्ट हूँ। अतः मैं विदा चाहता हूँ। सान्याल से कहना कि उसके प्रति मेरे मन में कोई क्रोध नहीं है, किंतु मैं दुःखी, बहुत दुःखी हूँ। रुपये का मूल्य ही क्या है! रुपयों ने मुझे कोई कष्ट नहीं पहुँचाया, किंतु इसकी चालाकी तथा नीति की अवहेलना से मैं व्यथित हूँ। उससे भी विदा, और तुम लोगों से विदा। मेरे जीवन का एक परिच्छेद समाप्त हो चुका है। अब क्रमानुसार और लोग आकर कार्य करें। वे आकर देखेंगे कि मैं सर्वथा प्रस्तुत हूँ। मेरे लिए तुम लोगों को कुछ भी चिंतित होने की आवश्यकता नहीं, मैं किसी भी देश के किसी मानव से किसी प्रकार की सहायता नहीं चाहता। ईश्वर तुम्हारा निरन्तर मंगल करे। विदा।

विवेकानन्द

(कुमारी एस० फ़ार्मर को लिखित)

न्यूयार्क,
२९ दिसम्बर, १८९५

प्रिय बहन,

इस जगत् में जहाँ कुछ भी नष्ट नहीं होता है, जहाँ पर जीवन नामक मृत्यु के अन्दर हम निवास करते हैं, वहाँ पर प्रत्येक विचार जीवित रहता है—चाहे वह प्रकट रूप में किया जाता हो अथवा अप्रकट रूप में, चाहे राजमार्गस्थित भीड़ के अंदर उसका उद्भव हो अथवा प्राचीन काल के सघन एकांत वन में। वे विचार सतत रूप से मूर्त होने के लिए यत्नशील हैं एवं जब तक उन्हें सफलता नहीं प्राप्त होती है, तब तक वे अभिव्यक्त होने के लिए सतत प्रयत्न करते रहेंगे; उन्हें दबाने के लिए चाहे जितनी भी चेष्टाएँ क्यों न की जायें, वे कभी विनष्ट नहीं होंगी। किसी भी वस्तु का विनाश नहीं है—जो विचार अतीत काल में अनिष्टकारक थे, वे भी मूर्त रूप धारण करने के लिए यत्नशील हैं, वे भी पुनः अभिव्यक्त तथा क्रमशः शुद्ध बनकर अंत में शुभ विचार में परिणत होने के लिए यत्नशील हैं।

अतः इस समय भी ऐसी कुछ भावनाएँ विद्यमान हैं, जो अपने को अभिव्यक्त करने के लिए सचेष्ट हैं। ये अभिनव भावनाएँ हमें बतलाती हैं कि हमारे अंदर जो द्वन्द्व-भाव, जो शुभ एवं अशुभ की भावना है, किसी विचार को दबाने की जो भयानक प्रवृत्ति है, इन सबको दूर करना होगा। वे हमको यही शिक्षा देती हैं कि जगत् की उन्नति का रहस्य प्रवृत्तियों का उन्मूलन नहीं, अपितु महत्तर दिशा में उनको परिवर्तित करना है। वे हमें शिक्षा देती हैं कि यह जगत् शुभ एवं अशुभ का जगत् नहीं है, प्रत्युत् यह जगत् महत्, महत्तर एवं और भी महत्तर उपादानों से बना है। सबको अपनी गोद में आकृष्ट किये बिना इन अभिनव भावनाओं को तृप्ति नहीं मिलती। वे हमें शिक्षा देती हैं कि किसी भी दशा में हताश होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के नव्य दृष्टिकोणों को मानसिक, नैतिक तथा आत्मिक किन्हीं भी विचारों से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसे नये दृष्टिकोणों की अवस्थिति भी इन्हीं विचारों के मध्य है, वे उन पर बिन्दु मात्र भी दोषारोपण न कर यही कहती हैं कि उनसे अब तक भलाई ही हुई है तथा आगे चलकर उनसे भलाई ही होनेवाली है। प्राचीन काल में बुराई के परित्याग के रूप में जिसकी कल्पना की जाती थी, वर्तमान नवीन शिक्षा-पद्धति के अनुसार उसे बुराई का रूपान्तर माना जाता है अर्थात् भलाई से और अधिक भलाई करने की चेष्टा की जाती है। इन भावनाओं से सर्वोपरि हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि हमें स्वर्ग का साम्राज्य प्राप्त करने की अभिलाषा हो, तो अवश्य ही वह हमें इसी जीवन में पहले ही से विद्यमान मिलेगा, मनुष्य को यदि कुछ अनुभव की आकांक्षा हो, तो उसे यह स्वीकार करना होगा कि पहले ही से वह पूर्ण है।

विगत ग्रीष्म ऋतु में ग्रीनेकर में जो सभाएँ हुईं, वे इसलिए अत्यन्त सफल तथा सुन्दर हुईं कि तुमने स्वयं पूर्वोक्त भावनाओं को प्रकट करने के लिए उपयुक्त यन्त्र बनकर अपने को सदा उन्मुक्त रखा तथा 'स्वर्ग-राज्य पहले ही से विद्यमान है'—नवीन विचारधारा की इस सर्वोच्च शिक्षा की आधार-शिला पर तुम खड़ी रहीं।

इस भावना को अपने जीवन में परिणत कर दृष्टान्त उपस्थित करने के लिए प्रभु की ओर से तुम उपयुक्त आधार के रूप में मनोनीत तथा आदिष्ट हुई हो; जो कोई तुम्हें इस अद्भुत कार्य में सहायता प्रदान करेगा, वह प्रभु की ही सेवा करेगा।

हमारे यहाँ शास्त्र में कहा गया है—**मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः** अर्थात् जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे ही मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं। तुम प्रभु की सेविका हो; अतः मैं चाहे जहाँ कहीं भी क्यों न रहूँ, भगवत्प्रेरणा से तुमने जिस महान्

व्रत की दीक्षा ली है, उसके उद्यापन में मुझसे जो कुछ भी सहायता हो सके, उससे श्री कृष्ण के दास के रूप में मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा तथा वह मेरे लिए साक्षात् प्रभु की ही सेवा होगी।

तुम्हारा चिर स्नेहाबद्ध भाई,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

रिजले मॅनर,
२९ दिसम्बर, १८९५

प्रिय मित्र,

अब तक तुम्हें भाषण की प्रतियाँ मिल गयी होंगी। आशा है, वे कुछ उपयोग की होंगी।

मैं समझता हूँ, आरम्भ में बहुत सारी कठिनाइयों पर विजय पानी होगी; दूसरे, वे सोचते हैं कि वे किसी काम के योग्य नहीं हैं—यह एक राष्ट्रीय रोग है; तीसरा, कि वे सर्दी का सामना एकाएक करने से डरते हैं। वे ऐसा नहीं सोचते कि तिब्बत का आदमी इंग्लैण्ड में काम करने में सुदृढ़ है। कोई भी शीघ्र या विलम्ब से आयेगा।

'सत्' में तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

पुनश्च—क्रिसमस के अवसर पर सभी मित्रों को अनेक अभिनन्दन—श्रीमती और श्रीमान् जॉन्सन, महिला मरगसेन, श्रीमती क्लार्क, कुमारी ह्वो, कुमारी मूलर, कुमारी स्टील तथा अन्य सभी को—मेरा अभिनन्दन।

बच्ची को मेरी ओर से चुम्बन और शुभाशीष। श्रीमती स्टर्डी को मेरा अभिनन्दन। हम लोग सभी काम करेंगे। 'वाह् गुरु की फ़तह।'

विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

न्यूयार्क,
६ जनवरी, १८९६

प्रिय बहन,

नये वर्ष के तुम्हारे अभिनन्दन के लिए तुम्हें अनेक धन्यवाद। यह जानकर प्रसन्न हूँ कि तुमने अपने छः सप्ताह श्रीमान् के साथ आनन्दपूर्वक बिताये, यद्यपि उनमें सिर्फ़ गोल्फ़ ही खेलना हुआ होगा। मैं इंग्लैण्ड में असली कार्यों में लगा था।

अंग्रेज लोगों ने सहृदयतापूर्वक मेरा स्वागत किया और अंग्रेज़ जाति सम्बन्धी अपने विचारों को मैंने बहुत नर्म कर दिया है। सर्वप्रथम मैंने यह पाया कि वे लोग जैसे लंड इत्यादि, जो इंग्लैण्ड से मुझ पर चोट करने आये थे, उनका कोई पता ही नहीं था। अंग्रेज़ों द्वारा उनके अस्तित्व की केवल उपेक्षा ही की जाती है। अंग्रेज़ी चर्च के व्यक्ति को छोड़कर कोई भी शिष्ट नहीं समझा जाता है। और इंग्लैण्ड के कुछ बहुत ही श्रेष्ठ लोग, जो अंग्रेज़ी चर्च से सम्बन्धित हैं, और कुछ ऊँचे ओहदे के लोग मेरे सच्चे मित्र हो गये हैं। अमेरिका में हुए अनुभवों की अपेक्षा यह बिल्कुल ही दूसरे क़िस्म का है। क्या ऐसा नहीं?

यहाँ के पादरी संघ-शासित गिरजे के सदस्यों, दूसरे धर्मान्ध व्यक्तियों तथा होटलों में हुए स्वागत इत्यादि के अनुभव के बारे में जब मैंने कहा, तो अंग्रेज लोग काफ़ी देर तक हँसते रहे। मैं भी शीघ्र ही दो देशों की संस्कृति और शिष्टाचार का अंतर समझ गया और यह भी समझ पाया कि क्यों अमेरिकन लड़कियाँ यूरोपियनों से शादी करने समूह में जाती हैं। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति मेरे प्रति सहृदय था और स्त्री और पुरुष, दोनों वर्ग के मेरे मित्र हो गये हैं। कई, जो भद्र हैं, वसन्त में उत्सुकता-पूर्वक मेरे लौटने की प्रतीक्षा करेंगे।

जहाँ तक वहाँ के मेरे कार्य का सम्बन्ध है, वेदान्त सम्बन्धी विचार अब तक इंग्लैण्ड के ऊँचे वर्गों में परिव्याप्त हो गया है। उच्च शिक्षा और ऊँची स्थिति के बहुत से लोगों ने, जिनमें पादरी कम नहीं थे, मुझसे कहा कि ग्रीक के द्वारा रोम की विजय का पुनरभिनय इंग्लैण्ड में हुआ।

भारतवर्ष में जो अंग्रेज रहे हैं, वे दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के वे लोग हैं, जो प्रत्येक भारतीय वस्त्र से घृणा करते हैं, लेकिन वे अशिक्षित हैं। और दूसरे वे हैं, जिनके लिए भारत पुण्यभूमि है और यहाँ का वातावरण ही धार्मिक है।... और वे अपने हिंदुत्व से हिन्दुओं को भी मात कर देते हैं।

वे महान् शाकाहारी हैं और वे इंग्लैण्ड में एक जाति बनाना चाहते हैं। निस्सन्देह अधिकांश अंग्रेज़ों को जाति में दृढ़ विश्वास है। सार्वजनिक भाषण के अतिरिक्त प्रति सप्ताह मुझे आठ व्याख्यान देना होता था, जिसमें इतनी भीड़ होती थी कि अधिकांश लोगों को, जिसमें उच्च श्रेणी की महिलाएँ भी होती थीं, फ़र्श पर बैठना पड़ता था और वे तनिक भी अन्यथा नहीं समझते थे। इंग्लैण्ड में पुरुष एवं महिलाएँ मुझे दृढ़ चित्त के मिले, जो किसी कार्य को आरम्भ करते हैं, तो फिर एक विशिष्ट अंग्रेज़ी निश्चय और शक्ति एवं योग्यता के साथ आगे बढ़ते हैं। इस वर्ष न्यूयार्क में मेरा कार्य अत्युत्तम रूप से चल रहा है। श्री लेगेट न्यूयार्क के बड़े धनी आदमी हैं और मुझमें बहुत अभिरुचि रखते हैं। न्यूयार्क के लोगों में अधिक स्थिरता

है, देश के अन्य किसी भी भाग के लोगों की अपेक्षा। इसलिए मैंने यहीं अपना केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया है। इस देश के 'मेथाडिस्ट' और 'प्रेसविटेरियन' जैसे अभिजात वर्ग के लोग मेरे उपदेशों को अद्‌भुत समझते हैं। इंग्लैण्ड में गिरजाघर के अभिजात वर्ग के लोगों के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ दर्शन है।

इसके अतिरिक्त अमेरिकन महिलाओं का वार्तालाप तथा गप-शप की विशिष्टताएँ इंग्लैण्ड में नहीं पायी जाती हैं। अंग्रेज महिला मंथरमति होती हैं; किन्तु जब वे किसी योजना या अभिप्राय को कार्यान्वित करती हैं, तो उसके पीछे उनका एक निश्चित संकल्प होता है और वे नियमित रूप से वहाँ मेरा कार्य कर रही हैं और प्रति सप्ताह विवरण भेजती हैं—जरा सोचो तो! यहाँ अगर एक सप्ताह के लिए मैं कहीं जाता हूँ, तो सब कुछ तितर-वितर हो जाता है। सबों को मेरा प्यार—सैम को और तुम्हें भी। प्रभु तुम्हें सदा-सर्वदा सुखी रखें।

सस्नेह तुम्हारा भाई,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
१६ जनवरी, १८९६

स्नेहाशीर्वादभाजन,

पुस्तकों के लिए बहुत बहुत धन्यवाद। 'सांख्यकारिका' अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ है, 'कूर्मपुराण' में आशानुरूप सब कुछ न मिलने पर भी उसमें योग सम्बन्धी कतिपय श्लोक हैं। मेरे पहले के पत्र में 'योगसूत्र' शब्द भूल से छूट गया था। अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों से टीका-टिप्पणी सहित मैं उक्त ग्रन्थ का अनुवाद कर रहा हूँ। 'कूर्मपुराण' के उस परिच्छेद को मैं अपनी टीका में जोड़ना चाहता हूँ। कुमारी मैक्लिऑड के द्वारा तुम्हारी कक्षाओं का अत्यन्त उत्साहपूर्ण विवरण मुझे प्राप्त हुआ है। श्री गाल्सवर्दी अब बहुत ही आकृष्ट हुए हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

यहाँ पर मने कक्षा लेना तथा रविवार को भाषण देना प्रारम्भ कर दिया है। दोनों कार्यों में लोग उत्साह दिखलाते हैं। इन दोनों कार्यों के लिए मैं धन नहीं लेता हूँ; किन्तु सभागृह के किराये के लिए (सभाओं में) थोड़ा-बहुत चन्दा लेता हूँ। गत रविवार के भाषण की बहुत प्रशंसा हुई है, समाचारपत्र में उक्त भाषण प्रकाशित हुआ है। आगामी सप्ताह में उसकी कुछ प्रतियाँ मैं तुम्हें भेज दूंगा। उक्त भाषण में हमारे कार्यों की एक साधारण योजना पर प्रकाश डाला गया था।

मेरे मित्रों द्वारा एक सांकेतिक लेखक (गुडविन को) नियुक्त करने के फलस्वरूप उक्त 'कक्षाओं' की विवृतियाँ तथा वक्तृताएँ लिपिबद्ध हो रही हैं। प्रत्येक

की एक एक प्रति तुम्हें भेजने की इच्छा है। उनमें से सम्भवतः तुम्हारे चिन्तन के लिए कुछ सामग्री मिल सके। यहाँ पर मुझे तुम जैसे शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता है, जिसमें बुद्धि, योग्यता तथा स्नेह हो। इस सार्वजनिक शिक्षा के देश में सबको एक साथ मिश्रित कर मानो एक मध्यम वर्ग का निर्माण किया गया है; अन्य योग्य व्यक्ति हैं, वे प्रचलित प्रथा के अनुसार धनोपार्जन के गुरु भार से पीड़ित हैं।

एक ग्रामीण क्षेत्र में मुझे कुछ ज़मीन मिलने की सम्भावना है, उसमें कई मकान एवं कुछ वृक्षावलि हैं तथा एक नदी भी है। ग्रीष्म ऋतु में ध्यान के लिए वह उपयुक्त स्थान हो सकता है। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि मेरी अनुपस्थिति में उसकी देख-रेख, रुपये-पैसों का लेन-देन, प्रकाशन तथा अन्यान्य कार्यों के लिए एक समिति का होना आवश्यक होगा।

मैंने अपने को रुपये-पैसे के झंझटों से सर्वथा मुक्त कर लिया है; किन्तु अर्थ के विना कोई आन्दोलन भी नहीं चल सकता। अतः बाध्य होकर कार्य-संचालन की सारी व्यवस्थाएँ मुझे एक समिति को सौंपनी पड़ी हैं; मेरी अनुपस्थिति में वे लोग कार्यों का संचालन करते रहेंगे। स्थिर होकर कार्य करने की शक्ति अमेरिकनों की आदत के बाहर की बात है। केवल मात्र दलबद्ध होकर वे कार्य करना जानते हैं। अतः उन लोगों को उसी तरह से कार्य करने का अवसर प्रदान करना होगा। प्रचार के बारे में इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है कि मेरे मित्रवर्ग स्वतन्त्र रूप से यहाँ पर विभिन्न स्थानों में पर्यटन करते रहेंगे तथा वे लोग स्वतन्त्र दलों का निर्माण कर सकेंगे। यही प्रचार का सर्वश्रेष्ठ सरल उपाय है। अनन्तर जब हम पर्याप्त शक्तिशाली बनेंगे, तब अपनी शक्ति को केन्द्रीभूत करने के लिए हम वार्षिक सम्मेलन का आयोजन करेंगे।

यह समिति केवल मात्र कार्य-संचालन के लिए बनायी गयी है एवं उसका कार्यक्षेत्र न्यूयार्क तक ही सीमित है।

सतत स्नेहपरायण तथा आशीर्वादक—

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

२३ जनवरी, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

अब तक तुम्हें 'भक्ति' पर मुझसे पर्याप्त सामग्री मिल गयी होगी। २१ दिसम्बर की 'ब्रह्मवादिन्' की पिछली प्रति अभी मिली है। पिछले कुछ अंकों

से मुझे कुछ विशिष्ट संकेत मिल रहा है। क्या तुम थियोसॉफ़िस्टों से संयुक्त होने जा रहे हो ? अब तुम उनके हाथ में आ गये हो। तुम अपनी टिप्पणियों में क्यों थियोसॉफ़िस्टो के भाषणों का विज्ञापन देते हो ?

उनसे (थियोसॉफ़िस्टों) मेरा कोई सम्बन्ध होने का संदेह अमेरिका तथा इंग्लैण्ड के मेरे कार्यों में बहुत क्षति पहुँचायेगा, और ऐसा होना बिल्कुल सम्भव है। सभी स्वस्थ मस्तिष्क के लोग उन्हें मिथ्या समझते हैं, और उनका वैसा समझा जाना सत्य है। यह तुम भी अच्छी तरह जानते हो। मुझे भय है, तुम मुझे धोखा देना चाहते हो। क्या तुम ऐसा समझते हो कि एनी बेसेन्ट का प्रचार करने से तुम्हें इंग्लैण्ड में अधिक ग्राहक मिल जायेंगे ? मूर्ख हो तुम।

मैं थियोसॉफ़िस्टों के साथ झगड़ा करना नहीं चाहता, किंतु मेरी स्थिति उनकी सर्वदा उपेक्षा करने की ही है। क्या उन लोगों ने विज्ञापन के लिए पैसे दिये थे ? तुम्हें क्यों उनका विज्ञापन करने के लिए अग्रसर होना चाहिए ? अब की बार जब मैं इंग्लैण्ड जाऊँगा, तो मुझे पर्याप्त से अधिक ग्राहक मिल जायेंगे।

अब कोई विश्वासघाती मेरे साथ नहीं होगा, मैं स्पष्ट कह देता हूँ कि मैं किसी दुर्जन से धोखा नहीं खाऊँगा। मेरे साथ कोई पाखंड (धूर्तता) नहीं। अपना झंडा फहराओ और अपने पत्र में सार्वजनिक सूचना दे दो कि मुझसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं और अपने को थियोसॉफ़िस्टों के शिविर से संयुक्त कर लो या उनसे अपने सभी सम्बन्धों को त्याग दो। सच, मैं तुम्हें स्पष्ट शब्दों में कह रहा हूँ। एक ही आदमी मेरा अनुसरण करे, किन्तु उसे मृत्युपर्यन्त सत्य और विश्वासी होना होगा। मैं सफलता और असफलता की चिन्ता नहीं करता। पूरे विश्व में उपदेश देने जैसे अर्थहीन कार्यों से ऊब गया हूँ। जब मैं इंग्लैण्ड में था, तो क्या 'सी—के' आदमियों में कोई मेरी सहायता को आया था ? निरर्थक ! मैं अपने आंदोलन को पवित्र रखूंगा, भले ही मेरे साथ कोई न हो।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—शीघ्र अपने निर्णय का उत्तर दो। इस बात पर मैं एकदम निश्चित हूँ। अगर आरम्भ से ही तुम्हारा अभिप्राय ऐसा था, तो तुम्हें अवश्य ही पहले कह देना चाहिए था। 'ब्रह्मवादिन्' वेदान्त के प्रचार के लिए है, न कि थियोसॉफ़ी के लिए। कपटी कार्यों से सामना पड़ने पर मेरा धैर्य समाप्त हो जाता है। यही संसार है कि जिन्हें तुम सबसे अधिक प्यार और सहायता करो, वे ही तुम्हें धोखा देंगे।

वि०

(स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को लिखित)

जनवरी, १८९६

प्रिय सारदा,

. . .पत्रिका के बारे में तुम्हारा विचार वास्तव में अति उत्तम है, पूर्ण शक्ति के साथ जुट जाओ, कोष की चिन्ता मत करो। तुम्हारा पत्र मिलने पर मैं ५०० रुपये तत्काल भेज दूँगा, रुपयों के लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। फ़िलहाल इस पत्र को दिखाकर किसीसे क़र्ज ले लो। इस पत्र के जवाब मिलने पर— पत्रोत्तर के साथ ही साथ ५०० रुपये मैं भेज दूँगा। ५०० रुपयों में बनता-बिगड़ता ही क्या है? ईसाई तथा इस्लाम धर्म का प्रचार करनेवाले बहुत से लोग हैं, तुम अब अपने देश के धर्म के प्रचार में जुट जाओ। यदि हो सके, तो किसी अरबी भाषा जाननेवाले व्यक्ति के द्वारा प्राचीन अरबी पुस्तकों का अनुवाद करा सको, तो अच्छा है। फ़ारसी भाषा में भारतीय इतिहास की बहुत सी बातें विद्यमान हैं। यदि क्रमशः उनके अनुवाद हो सकें, तो एक अत्युत्तम धारावाहिक विषय होगा। अनेक लेखकों की आवश्यकता है। साथ ही ग्राहकों की भी समस्या है। इसका एक मात्र उपाय यह है कि तुम विभिन्न स्थानों में पर्यटन करते रहते हो, जहाँ कहीं भी बंगला भाषा का प्रचलन हो, वहाँ पर लोगों के माथे पत्रिका मढ़ देना। दृढ़ता के साथ उनको ग्राहक बनाओ! वे तो सदा ही पीछे हट जाते हैं, जहाँ कुछ खर्च करने का प्रश्न आता है। किसी बात की कभी परवाह मत करो। पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए, आगे बढ़े चलो। शशि, शरत्, काली आदि सब कोई अध्ययन कर लिखने में जुट जायँ। घर पर बैठे बैठे क्या हो सकता है? तुमने बहुत बहादुरी की है। शाबाश! हिचकनेवाले पीछे रह जायँगे और तुम कूदकर सब के आगे पहुँच जाओगे। जो अपने उद्धार में लगे हुए हैं, वे न तो अपना उद्धार ही कर सकेंगे और न दूसरों का। ऐसा शोर-गुल मचाओ कि उसकी आवाज़ दुनिया के कोने कोने में फैल जाय। कुछ लोग ऐसे हैं, जो कि दूसरों की त्रुटियों को देखने के लिए तैयार बैठे हैं, किन्तु कार्य करने के समय उनका पता नहीं चलता है। जुट जाओ, अपनी शक्ति के अनुसार आगे बढ़ो। इसके बाद मैं भारत पहुँचकर सारे देश में उत्तेजना फूंक दूँगा। डर किस बात का है? 'नहीं है, नहीं है, कहने से साँप का विष भी नहीं रहता है।' 'नहीं', 'नहीं' कहने से तो 'नहीं' हो जाना पड़ेगा! . . .

गंगाधर ने बहुत बहादुरी दिखायी है। शाबाश! काली उसके साथ काम में जुट गया है। खूब शाबाश! कोई मद्रास चले जाओ, कोई बम्बई। छान डालो—सारी दुनिया को छान डालो! अफ़सोस इस बात का है कि यदि मुझ

जैसे दो-चार व्यक्ति भी तुम्हारे साथी होते—तमाम संसार हिल उठता। क्या करूँ, धीरे-धीरे अग्रसर होना पड़ रहा है। तूफ़ान मचा दो, तूफ़ान! किसीको चीन भेज दो, किसीको जापान। बेचारे गृहस्थ अपनी तनिक सी ज़िन्दगी से कर ही क्या सकते हैं?

'ह-र, ह-र, श-म्भो!' के नारे से गगन विदीर्ण करना तो संन्यासियों, शिव-गणों से ही सम्भव है।

तुम्हारा ही,
विवेकानन्द

(स्वामी योगानन्द को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
२४ जनवरी, १८९६

भाई योगेन,

अरहर तथा मूँग की दाल, आमरोटी, अमचूर, आमतेल, आम का मुरब्बा, बड़ी, मसाला आदि कुछ ठीक ठीक पते पर आ पहुँचा है। 'बिल ऑफ़ लेडिंग' (माल भेजने का बिल) में दस्तख़त करने में भूल हुई थी तथा 'इनवॉइस' (चालान) भी नहीं था; इसलिए कुछ गड़बड़ी हुई। अन्त में, जो कुछ भी हो, सब वस्तुएँ ठीक ठीक प्राप्त हुईं। अनेक धन्यवाद! अब यदि इंग्लैण्ड में स्टर्डी के पते पर —अर्थात् हाई व्यू, कॅवरशम, रीडिंग—इस पते पर—उसी प्रकार दाल तथा आम-तेल भेजो, तो इंग्लैण्ड पहुँचने पर मुझे मिल जायगा। भुनी हुई मूँग की दाल भेजने की आवश्यकता नहीं है। भुनी हुई दाल कुछ दिन बाद संभवतः खराब हो जाती है। कुछ चने की दाल भेजना। इंग्लैण्ड में 'ड्यूटी' (चुंगी) नहीं है—अतः माल पहुँचने में कोई गड़बड़ी नहीं होती है। स्टर्डी को पत्र लिख देने से ही वह माल छुड़ा लेगा।

तुम्हारा शरीर अभी स्वस्थ नहीं हुआ है—यह अत्यन्त दुःख का विषय है। किसी शीतप्रधान स्थान में हवा बदलने के लिए जा सकते हो, वह स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ कि अधिक मात्रा में बर्फ़ गिरती हो—जैसे दार्जिलिंग। जाड़े के प्रभाव से उदर के तमाम विकार दूर हो जाएँगे, जैसा कि मेरा हुआ है। घी तथा मसाले का उपयोग एकदम त्याग दो। मक्खन घी से जल्दी हज़म होता है। शब्द-कोष मिलने पर खबर दूँगा। मेरी हार्दिक प्रीति ग्रहण करना तथा सबसे कहना। निरंजन का समाचार क्या अभी तक नहीं मिला है? गोलाप माँ, योगेन माँ,

रामकृष्ण की माँ, बाबूराम की माँ, गौरी माँ आदि से मेरा प्रणामादि कहना। महेन्द्र बाबू की पत्नी को मेरा प्रणाम कहना।

तीन महीने बाद फिर मैं इंग्लैण्ड जा रहा हूँ, पुनः आन्दोलन विशेष रूप से चालू करना चाहता हूँ। अनन्तर अगले जाड़े में भारतवर्ष रवाना होना है। आगे विधाता की इच्छा। सारदा जो पत्र प्रकाशित करना चाहता है, उसके लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दो। शशि तथा काली से भी प्रयास करने को कहना। अभी काली या अन्य किसी को इंग्लैण्ड आने की आवश्यता नहीं है। मैं भारत पहुँचकर उनको शिक्षा दूँगा। फिर जो जहाँ जाना चाहे, जा सकता है। किमधिकमिति—

विवेकानन्द

पुनश्च—स्वयं कुछ करना नहीं और यदि दूसरा कोई कुछ करना चाहे, तो उसका मखौल उड़ाना हमारी जाति का एक महान् दोष है और इसी से हमारी जाति का सर्वनाश हुआ है। हृदयहीनता तथा उद्यम का अभाव सब दुःखों का मूल है। अतः उन दोनों को त्याग दो। किसके अन्दर क्या है, प्रभु के बिना कौन जान सकता है? सभी को अवसर मिलना चाहिए। आगे प्रभु की इच्छा। सब पर समान स्नेह रखना अत्यन्त कठिन है; किन्तु उसके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। इति।

वि०

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

न्यूयार्क,
२५ जनवरी, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल,

स्टर्डी के पते पर भेजा हुआ आपका कृपापूर्ण पत्र मुझे यहाँ भेज दिया गया है। मुझे भय है कि इस वर्ष अत्यधिक कार्य-भार से मैं थक गया हूँ। मुझे विश्राम की परम आवश्यकता है। इसलिए आपका यह कहना कि बोस्टन का काम मार्च के अन्त में आरम्भ किया जाय, बहुत अच्छा है। अप्रैल के अन्त तक मैं इंग्लैण्ड के लिए चल दूँगा।

कैटस्किल में ज़मीन के बड़े बड़े प्लॉट कम दाम में मिल सकते हैं। एक १०१ एकड़ का प्लॉट २०० डॉलर का है। रुपया मेरे पास तैयार है, पर ज़मीन मैं अपने नाम से नहीं ले सकता हूँ। इस देश में आप ही मेरी एक मित्र हैं, जिन पर मुझे पूरा विश्वास है। यदि आप स्वीकार करें, तो मैं आपके नाम से ज़मीन ख़रीद लूँ। गर्मी में विद्यार्थी वहाँ जायँगे और इच्छानुसार छोटे छोटे मकान या

तम्बू डालेंगे और ध्यान का अभ्यास करेंगे। बाद में कुछ धन इकट्ठा कर सकने पर वे वहाँ पक्की इमारत आदि का निर्माण कर सकेंगे।

मुझे दुःख है कि आप तत्काल नहीं आ सकीं। इस महीने के रविवारवाले व्याख्यानों का कल अन्तिम दिवस है। आगामी मास के पहले रविवार को ब्रुकलिन में व्याख्यान होगा। शेष तीन न्यूयार्क में, उसके बाद मैं इस वर्ष के न्यूयार्क के व्याख्यानों को बन्द कर दूंगा।

मैंने अपनी शक्ति भर काम किया है। यदि उसमें सत्य का कोई बीज है, तो वह यथाकाल अंकुरित होगा। इसलिए मुझे कोई चिन्ता नहीं है। व्याख्यान देते देते और कक्षाएँ लेते लेते मैं अब थक भी गया हूँ। इंग्लैण्ड में कुछ महीने काम करके मैं भारत जाऊँगा और वहाँ कुछ वर्षों के लिए या सदा के लिए अपने आपको पूर्णतया गुप्त रखूंगा। मेरी अन्तरात्मा साक्षी है कि मैं आलसी संन्यासी नहीं रहा। मेरे पास एक नोटबुक है, जिसने सारे संसार में मेरे साथ यात्रा की है। सात वर्ष पहले उसमें मैं यह लिखा हुआ पाता हूँ—'अब एक ऐसा एकान्त स्थान मिले, जहाँ मृत्यु की प्रतीक्षा में मैं पड़ा रह सकूं।' परन्तु यह सब कर्म-भोग शेष था। मैं आशा करता हूँ कि अब मेरा कर्म क्षय हो गया है। मैं आशा करता हूँ कि प्रभु मुझे इस प्रचार-कार्य से और सुकर्म के बन्धन को बढ़ाते रहने से छुटकारा देंगे।

'यदि यह तुमने जान लिया है कि एकमात्र आत्मा की ही सत्ता है और उसके अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व नहीं, तब किसके लिए, किस वासना के वशीभूत होकर तुम अपने को कष्ट देते हो?' माया द्वारा ही दूसरों का हित करने के ये सब विचार मेरे मस्तिष्क में आये थे, अब वे मुझे छोड़ रहे हैं। मेरा यह विश्वास अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है कि कर्म का ध्येय केवल चित्त की शुद्धि है, जिससे वह ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी हो सके। यह संसार अपने गुण-दोष सहित अनेक रूपों में चलता रहेगा। पुण्य और पाप केवल नये नाम और नये स्थान बना लेंगे। मेरी आत्मा निरवच्छिन्न एवं अनश्वर शान्ति और विश्राम के लिए लालायित है।

'अकेले रहो, अकेले रहो। जो अकेला रहता है, उसका किसीसे विरोध नहीं होता, वह किसीकी शान्ति भंग नहीं करता, न दूसरा कोई उसकी शान्ति भंग करता है।' आह! मैं तरसता हूँ—अपने चिथड़ों के लिए, अपने मुण्डित मस्तक के लिए, वृक्ष के नीचे सोने के लिए, और भिक्षा के भोजन के लिए! सारी बुराइयों के बावजूद भी भारत ही एकमात्र स्थान है, जहाँ आत्मा अपनी मुक्ति, अपने ईश्वर को पाती है। यह पश्चिमी चमक-दमक निस्सार है, केवल आत्मा का बन्धन है।

संसार की निस्सारता का मैंने अपने जीवन में पहले कभी ऐसी दृढ़ता से अनुभव नहीं किया था। प्रभु सबको बन्धन से मुक्त करें—माया से सब लोग निकल सकें—यही मेरी नित्य प्रार्थना है।

विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
१० फ़रवरी, १८९६

प्रिय बहन,

मेरा पत्र तुम्हें अभी तक नहीं मिला—यह जानकर आश्चर्य हुआ। मैंने, तुम्हारा पत्र पाते ही जवाब दे दिया और इसके अलावा न्यूयार्क में दिये गये तीन भाषणों की कई पुस्तिकाएँ भी भेजी थीं। रविवासरीय भाषणों को अब 'शीघ्र-लिपि' में लिखकर छपाया जाता है। तीन भाषणों को मिलाकर दो पर्चे हुए हैं—जिनकी बहुत सी प्रतियाँ मैंने तुम्हें भेजी थीं। मैं न्यूयार्क में दो सप्ताह और रहूँगा, इसके बाद डिट्रॉएट जाऊँगा। फिर, एक या दो सप्ताह के लिए बोस्टन लौटूंगा।

लगातार काम करने के कारण मेरा स्वास्थ्य इस वर्ष बहुत टूट गया है। मैं बहुत घबरा रहा हूँ। इस जाड़े में एक भी रात मैं ठिकाने से नहीं सो पाया हूँ। मुझे लगता है, मैं काम तो खूब कर रहा हूँ, फिर भी इंग्लैण्ड में बहुत अधिक काम मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

मुझे यह झेलना ही पड़ेगा। और तब, मैं आशा करता हूँ कि भारत पहुँच-कर—विश्राम लूंगा। जीवन भर मने संसार की भलाई के लिए शक्ति के अनुसार चेष्टा की है—फल भगवान् के हाथ में है।

अब मैं विश्राम करना चाहता हूँ। आशा है, मुझे विश्राम मिलेगा और भारत के लोग मुझे छुट्टी देंगे। मैं कितना चाहता हूँ कि कई वर्षों तक गूंगा हो जाऊँ और एक शब्द भी न बोलूं।

मैं संसार के इन झमेलों और संघर्ष के लिए नहीं बना था। वास्तव में मैं स्वप्नविलासी और आरामतलब हूँ। मैं जन्मजात आदर्शवादी हूँ, सिर्फ़ सपनों की दुनिया में रह सकता हूँ। वास्तविकता का स्पर्श मात्र मेरी दृष्टि धुंधली कर देता है और मुझे दुःखी बना देता है। तेरी इच्छा पूर्ण हो!

मैं तुम चारों बहनों का चिर कृतज्ञ हूँ। इस देश में मेरा जो कुछ भी है—सब तुम लोगों का है। भगवान् तुम्हारा सर्वदा मंगल करे और सुखी रखे। मैं जहाँ भी रहूँगा, तुम्हारी याद—प्यार तथा हार्दिक कृतज्ञता के साथ आती रहेगी। सारा

जीवन ही सपनों की माला है। मेरी आकांक्षा, जागते हुए स्वप्न देखते रहने की है। बस! मेरा प्यार—बहन जोसेफ़िन को भी।

तुम्हारा चिर स्नेही भाई,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
१३ फ़रवरी, १८९६

स्नेहाशीर्वादभाजन,

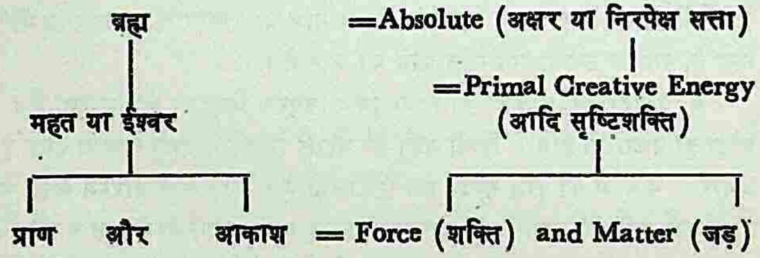
उस संन्यासी के सम्बन्ध में, जो भारत से आ रहा है, मुझे विश्वास है कि अनुवाद के काम में तथा दूसरे कामों में भी वह तुम्हारी सहायता करेगा। बाद में जब मैं आऊँगा, तब कदाचित मैं उसे अमेरिका भेज दूंगा। आज एक और संन्यासी हो गया है। इस बार वह ऐसा व्यक्ति है, जो कि सच्चा अमेरिकन है और इस देश में प्रतिष्ठित धर्म-प्रचारक है। उसका पहला नाम था डॉक्टर स्ट्रीट, अब वह योगा-नन्द है, क्योंकि उसकी सब रुचि योग की ओर है।

मैं 'ब्रह्मवादिन' पत्रिका को नियमपूर्वक विवरण लिखकर भेजता रहा हूँ। वे शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। किसी वस्तु को भारत पहुँचने में बहुत विलम्ब होता है। अमेरिका में काम की वृद्धि सुन्दर रूप से हो रही है। चूंकि यहाँ आरम्भ से ही कुछ धोखाधड़ी नहीं थीं, इसलिए अमेरिकन समाज के सर्वोच्च वर्ग को वेदान्त अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। सारा बार्नहार्ड, फ्रेंच अभिनेत्री यहाँ 'इत्सील' (Iziel) नाटक में अभिनय कर रही हैं। यह एक प्रकार का फ्रेंच रूप में बुद्धदेव का जीवन-चरित्र है, जिसमें एक इत्सील नामक वेश्या वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए बुद्धदेव को पाप में प्रवृत्त करना चाहती है। जिस समय वह इनकी गोद में बैठी है, उस समय बुद्धदेव ने उसे संसार की असारता का उपदेश दिया है। अस्तु, 'अन्त भला सो सब भला'—अन्त में वह वेश्या असफल होती है। श्रीमती बार्नहार्ड वेश्या का अभिनय करती हैं।

मैं इस 'बुद्ध' नाटक को देखने गया था और श्रीमती जी ने मुझे श्रोतागणों में देखकर मुझसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। एक प्रतिष्ठित और परिचित परिवार ने मिलने की व्यवस्था की। इनके अतिरिक्त वहाँ पर श्रीमती एम० मौरेल (एक नामी गायिका) और विद्युत् विज्ञान में अति निपुण श्रीयुत टेस्ला भी थे। श्रीमती जी एक विदुषी महिला हैं और उन्होंने अध्यात्म विद्या का अच्छा अध्ययन किया है। श्रीमती मौरेल की भी इस विद्या में रुचि बढ़ रही है, और श्रीयुत टेस्ला वैदान्तिक प्राण, आकाश और कल्प के सिद्धान्त सुनकर बिल्कुल मुग्ध हो गये। उनके कथनानुसार आधुनिक विज्ञान केवल इन्हीं सिद्धान्तों को ग्रहण कर सकता है।

अब, आकाश और प्राण, दोनों जगद्व्यापी महत्, समष्टि-मन, ब्रह्मा या ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। श्री टेस्ला समझते हैं कि गणितशास्त्र की सहायता से वे यह प्रमाणित कर सकते हैं कि जड़ और शक्ति, दोनों ही स्थितिक ऊर्जा (Potential Energy) में रूपांतरित हो सकते हैं। गणितशास्त्र के इस नवीन प्रमाण को समझने के लिए मैं आगामी सप्ताह में उनसे मिलने जानेवाला हूँ।

ऐसा होने से वैदान्तिक ब्रह्माण्डविज्ञान अत्यन्त दृढ़ नींव पर स्थित हो सकेगा। मैं आजकल वैदान्तिक ब्रह्माण्डविज्ञान और प्रलय-विज्ञान (Eschatology)[1] में बहुत कुछ काम कर रहा हूँ। आधुनिक विज्ञान के साथ उनका पूर्ण सामंजस्य मैं स्पष्ट रूप से देखता हूँ, और एक की व्याख्या के बाद दूसरे की भी हो जायगी। मैं बाद में प्रश्नोत्तर के रूप में एक पुस्तक लिखने का विचार करता हूँ। उसका पहला अध्याय ब्रह्मांडविज्ञान पर होगा, जिसमें वैदान्तिक सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान का सामंजस्य दिखाया जायगा।



प्रलय-विज्ञान की व्याख्या केवल अद्वैत के दृष्टिकोण से होगी। अर्थात् द्वैतवादी कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा सूर्यलोक में जाती है, वहाँ से चन्द्रलोक में और वहाँ से विद्युत्-लोक में। वहाँ से किसी पुरुष के साथ वह ब्रह्मलोक जाती है। (अद्वैती कहता है कि वहाँ से वह निर्वाण प्राप्त करती है।)

अद्वैतवाद के अनुसार जीव न कहीं आता है, न जाता है और ये सब लोक या जगत् के स्तर आकाश और प्राण के रूपान्तरित परिमाण मात्र हैं। अर्थात् सबसे नीचा और सबसे घना सूर्यलोक है, जो दृश्य जगत् ही है, और जिसमें प्राण भौतिक शक्ति के रूप में और आकाश इंद्रियग्राह्य भौतिक पदार्थ के रूप में प्रकट होता है। इसके बाद चन्द्रलोक है, जो सूर्यलोक को चारों ओर से घेरे है। यह चन्द्रमा नहीं है, परन्तु देवताओं का निवास-स्थान है अर्थात् प्राण यहाँ मानसिक शक्तियों के रूप में

१. मृत्यु, अन्तिम निर्णय (judgment) आदि जीवन के बाद घटनेवाली घटनाओं के बारे में एक मतवाद।

और आकाश तन्मात्र या सूक्ष्म भूत के रूप में प्रकट होता है। इसके परे विद्युत्-लोक है अर्थात् वह अवस्था, जहाँ प्राण आकाश से प्रायः अभिन्न है और यह बताना कठिन हो जाता है कि विद्युत् जड़ है या शक्ति। इसके बाद ब्रह्मलोक है, जहाँ न प्राण है, न आकाश, परन्तु दोनों ही चित् शक्ति अर्थात् आदि शक्ति में विलीन हैं। और यहाँ प्राण और आकाश के न रहने से जीव को सम्पूर्ण विश्व समष्टि-महत् या समष्टि-मन के रूप में प्रतीत होता है। यह भी पुरुष या सगुण विश्वात्मा की अभिव्यक्ति है, न कि निर्गुण अद्वितीय परमात्मा की; क्योंकि उसमें भेद सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। इसके पश्चात् जीव को पूर्ण एकत्व की अनुभूति होती है, जो कि अन्तिम लक्ष्य है। अद्वैत के अनुसार जीव के सम्मुख इन सब अनुभूतियों का प्रकाश एक के बाद एक क्रमशः होता है; परन्तु जीव स्वयं न कहीं आता है, न जाता; और इसी प्रकार इस वर्तमान जगत् की भी अभिव्यक्ति हुई है। इसी क्रम से सृष्टि और प्रलय होते हैं—केवल एक का अर्थ है 'पीछे जाना' और दूसरे का 'बाहर निकलना'।

जब कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही विश्व को देखता है, इसलिए उस विश्व की उत्पत्ति उसके बन्धन के साथ ही होती है, और उसकी मुक्ति से वह विश्व विनष्ट हो जाता है, तथापि वह औरों के लिए, जो बन्धन में हैं, अवशिष्ट रहता है। नाम और रूप से ही विश्व बना है। समुद्र की तरंग, उस हद तक ही तरंग कहला सकती है, जब तक कि नाम और रूप से वह सीमित है। यदि तरंग लुप्त हो जाय, तो वह समुद्र ही है। परन्तु उसके वे नाम और रूप तत्काल ही सदा के लिए नष्ट हो गये। इसलिए उस तरंग के नाम और रूप जल के बिना नहीं हो सकते, जिससे नाम और रूप ने तरंग का निर्माण किया, परन्तु फिर भी वे स्वयं तरंग नहीं हैं। जैसे ही तरंग पानी बन जाती है, वैसे ही नाम और रूप का लोप हो जाता है। परन्तु दूसरे नाम और रूप, जिनका दूसरी तरंगों से सम्बन्ध है, वर्तमान रहते हैं। यह नाम और रूप माया कहलाता है, और, पानी ब्रह्म है। सब काल में तरंग पानी ही है, परन्तु फिर भी तरंग के आकार में उसका नाम और रूप है। पुनः, ये नाम और रूप एक क्षण के लिए भी पानी से पृथक् होकर नहीं रह सकते, यद्यपि तरंग जल-रूप में अनन्त काल तक नाम और रूप से पृथक् होकर रह सकती है। परन्तु नाम और रूप पृथक् नहीं किये जा सकते, इसीलिए उनका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। फिर भी वे शून्य नहीं हैं। यही है माया।

मैं इसका सावधानी से विवेचन करना चाहता हूँ, परन्तु तुरन्त ही तुम देख सकते हो कि मैं सही रास्ते पर हूँ। ऊँचे एवं नीचे के केन्द्रों के परस्पर सम्बन्ध को जानने के लिए शारीरिक विज्ञान का अधिक अध्ययन करने की आवश्यकता है और इससे मन, चित्त और बुद्धि आदि सम्बन्धी मनोविज्ञान पूरा किया जायगा।

परन्तु अब मेरे मन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ रहा है—धुँधलापन दूर हो गया है। मैं उन्हें देना चाहता हूँ रूखा और कठोर तर्क, जो प्रेम के अति मधुर रस से कोमल किया गया हो, उत्कट कर्म से सुगन्धित मसालेदार बना हो और योग की रसोई में पका हो, जिससे उसे एक शिशु भी सहज रूप से पचा सके।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

१७ फ़रवरी, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

...काम बहुत कठिन है; जैसे जैसे काम की वृद्धि हो रही है, वैसे वैसे काम की कठिनता भी बढ़ती जा रही है। मुझे विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता मालूम पड़ रही है। परन्तु इंग्लण्ड में एक बड़ा काम मेरे सामने है।...वत्स, धीरज रखो, काम तुम्हारी आशा से बहुत ज्यादा बढ़ जायगा।...हर एक काम में सफलता प्राप्त करने से पहले सैकड़ों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जो उद्यम करते रहेंगे, वे आज या कल सफलता को देखेंगे।...न्यूयार्क को, जो अमेरिकन सभ्यता का एक प्रकार से हृदय है, जगाने में मैंने सफलता प्राप्त की है। परन्तु यह एक बहुत ही भीषण संघर्ष रहा।...जो मुझमें शक्ति थी, मैंने उसे न्यूयार्क और इंग्लैण्ड पर प्रायः न्यौछावर कर दी। अब काम सुचारु रूप से चल रहा है।

हिन्दू भावों को अंग्रेज़ी में व्यक्त करना, फिर शुष्क दर्शन, पेचीदी पौराणिक कथाएँ, और अनूठे आश्चर्यजनक मनोविज्ञान से एक ऐसे धर्म का निर्माण करना, जो सरल, सहज और लोकप्रिय हो और उसके साथ ही उन्नत मस्तिष्कवालों को संतुष्ट कर सके—इस कार्य की कठिनाइयों को वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया हो। अद्वैत के गूढ़ सिद्धान्तों में नित्य प्रति के जीवन के लिए कविता का रस और जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करनी है; अत्यन्त उलझी हुई पौराणिक कथाओं में से साकार नीति के नियम निकालने हैं; और बुद्धि को भ्रम में डालनेवाली योग-विद्या से अत्यन्त वैज्ञानिक और क्रियात्मक मनोविज्ञान का विकास करना है—और इन सबको एक ऐसे रूप में लाना पड़ेगा कि बच्चा बच्चा इसे समझ सके। मेरे जीवन का यही कार्य है। परमात्मा ही जानता है कि कहाँ तक यह काम मैं कर पाऊँगा। 'कर्म करने का हमें अधिकार है, उसके फल का नहीं।' परिश्रम करना है वत्स, कठिन परिश्रम! काम-कांचन के इस चक्कर में अपने आपको स्थिर रखना, और अपने आदर्शों पर जमे रहना, जब तक कि आत्मज्ञान और

पूर्ण त्याग के साँचे में शिष्य न ढल जाय, निश्चय ही कठिन काम है। धन्य हैं परमात्मा कि अब तक बड़ी सफलता हमें मिलती रही है। मैं मिशनरी आदि लोगों को दोष नहीं दे सकता कि वे मुझे समझने में असमर्थ हुए। उन्होंने शायद ही कभी ऐसा पुरुष देखा होगा, जो धन और स्त्रियों की ओर आकृष्ट न हो। पहले तो वे इस बात का विश्वास ही नहीं करते थे, और करते भी कैसे ! तुम्हें यह नहीं समझना चाहिए कि पश्चिमी देश में ब्रह्मचर्य और पवित्रता के वे ही आदर्श हैं, जो भारत में हैं। इन लोगों के सद्गुण और साहस उसके बदले में पूजित हैं।...मेरे पास अब लोगों के झुंड के झुंड आ रहे हैं। अब सैकड़ों मनुष्यों को विश्वास हो गया है कि ऐसे भी मनुष्य हो सकते हैं, जो अपनी शारीरिक वासनाओं को वशीभूत कर सकते हैं। इन आदर्शों के लिए अब सम्मान और प्रेम बढ़ते जा रहे हैं। जो प्रतीक्षा करता है, उसे सब चीज़ें मिलती हैं। अनन्त काल तक तुम भाग्यवान बने रहो।

तुम्हारा सस्नेह,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

२२८ पश्चिम ३९वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
२९ फ़रवरी, १८९६

शुभ और प्रिय,

अगर सम्भव हुआ, तो मैं मई के पहले आ रहा हूँ। तुम्हें इस सम्बन्ध में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। पुस्तिका अच्छी थी। यहाँ से समाचारपत्र की कतरनें, अगर हमें मिल गयीं, तो रवाना कर दी जायँगी।

यहाँ पुस्तकें और पुस्तिकाएँ इस तरह प्रकाशित हुई हैं। न्यूयार्क में 'एक समिति बनी है। आशुलिपि और छपाई का ख़र्च वे इस शर्त पर चुकायेंगे कि पुस्तकें उनके अधिकार में हों। अतः ये पुस्तिकाएँ और पुस्तकें उनकी हैं। एक पुस्तक 'कर्मयोग' प्रकाशित हो चुकी है, 'राजयोग' जो उससे बृहत्तर है, प्रकाशनावस्था में है; और 'ज्ञानयोग' बाद में प्रकाशित होगा। ये पुस्तकें काफ़ी लोकप्रिय होंगी, क्योंकि बोलचाल की भाषा में हैं, जैसा कि तुमने देखा ही है। मैंने आपत्तिजनक बातों को निकाल दिया है और उन्होंने पुस्तकों के प्रकाशन में सहायता दी।

पुस्तकें इस समिति की सम्पत्ति हैं, जिसकी मुख्य सहायक श्रीमती ओलि बुल हैं और श्रीमती लेगेट भी हैं। ऐसा है कि सभी पुस्तकें उन्हें मिलनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने सारा ख़र्च किया है। उनके साथ प्रकाशकों के हस्तक्षेप का भी भय नहीं है, क्योंकि वे स्वयं प्रकाशक हैं।

अगर भारत से कोई पुस्तक आये, तो सुरक्षित रखना। गुडविन नाम का एक अंग्रेज़ आशुलिपिक है, जो मेरे कार्यों से इतना सम्बद्ध हो गया है कि मैंने उसे एक ब्रह्मचारी बना दिया है और वह मेरे साथ ही इधर-उधर जाता है। हम लोग साथ ही इंग्लैण्ड आयेंगे। वह बहुत बड़ा सहायक सिद्ध होगा, जैसा कि वह हमेशासे रहा है।

अनेक शुभकामनाओं के साथ,

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

बृहस्पतिवार, अपराह्न,
वेब्ने मैनसन्स,
फ़ेयर हैज़ेल गार्डेन्स,
एन० डब्ल०

प्रिय स्टर्डी,

प्रातःकाल मैं तुम्हें यह बताना भूल गया कि प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर ने अपने पत्र में मुझसे यह भी कहा है यदि मैं आक्सफ़ोर्ड में भाषण करने जाऊँ, तो वह अपनी शक्ति भर सारा प्रबन्ध करेंगे।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—क्या तुमने शंकर पाण्डुरंग द्वारा सम्पादित अथर्ववेद-संहिता के लिए लिख दिया है?

(स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को लिखित)

बोस्टन,
२ मार्च, १८९६

प्रिय सारदा,

तुम्हारे पत्र से सब समाचार विदित हुए। महोत्सव के उपलक्ष्य में मैंने एक तार भेजा था, उसके बारे में तुमने कुछ भी नहीं लिखा है। कई महीने पहले शशि ने जो संस्कृत 'कोष' भेजा था, वह तो आज तक नहीं मिला।...मैं शीघ्र ही इंग्लैण्ड जा रहा हूँ। अब शरत् के आने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मैं खुद ही इंग्लैण्ड जा रहा हूँ। जिनको अपना मन स्थिर करने में छः महीने का समय चाहिए, उन व्यक्तियों की मुझे आवश्यकता नहीं है। उसे यूरोप भ्रमण के लिए मैंने नहीं बुलाया है और मेरे पास धन भी नहीं है। अतः उसे रवाना होने से मना कर देना, किसीको आने की आवश्यकता नहीं है।

तिब्बत सम्बन्धी तुम्हारे पत्र का विवरण पढ़कर तुम्हारी बुद्धि पर मुझे अश्रद्धा ही हुई। प्रथम नोटोवीच की पुस्तक को ठीक मानना तुम्हारी मूर्खता का सूचक है! क्या तुमने मूल ग्रन्थ देखा है अथवा अपने साथ उसे भारत में लाने का कष्ट किया है? दूसरा यह कि ईसा मसीह तथा समरिया देश की नारी के चित्र तुमने कैलास के मठ में देखे हैं—यह तुमको कैसे पता चला कि वह ईसा मसीह का ही चित्र है और किसीका नहीं? यदि तुम्हारी बात मान भी ली जाय, तो भी तुमने यह कैसे समझा कि किसी ईसाई के द्वारा वह चित्र उक्त मठ में नहीं रखा गया है? तिब्बतियों के बारे में तुम्हारी धारणाएँ ग़लत हैं। तुमने तिब्बत का मर्म-स्थान तो देखा नहीं—केवल मात्र वाणिज्य-पथ के कुछ अंश को देखा है। उन स्थलों में केवल मात्र dregs of a nation (जाति का निकृष्ट भाग) ही दिखायी देता है। कलकत्ते का चीनाबाज़ार तथा बड़ाबाजार देखकर यदि कोई प्रत्येक बंगाली को चोर कहे, तो क्या उसका कथन यथार्थ में ठीक है?

शशि के साथ विशेष रूप से परामर्श कर लेख आदि लिखना।...तुम्हारे लिए सबसे आवश्यक वस्तु आज्ञा-पालन है।

नरेन्द्र

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

न्यूयार्क,
१७ मार्च, १८९६

शुभ और प्रिय,

तुम्हारा पिछला पत्र अभी मिला। इसने मुझे बहुत भयभीत कर दिया है।

कुछ मित्रों के तत्त्वावधान में भाषण (व्याख्यान) दिया गया था, जिन्होंने आशुलिपि की तथा अन्य ख़र्च इस शर्त पर दिये कि प्रकाशन का अधिकार उन्हें ही होगा। अतः उन्होंने रविवारीय भाषण और साथ ही 'कर्मयोग', 'राजयोग' और 'ज्ञानयोग' नामक तीन पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं। 'राजयोग' को विशेष रूप से परिवर्तित कर दिया गया है और उसे पतंजलि के योग-सूत्र के अनुवाद के साथ फिर से क्रमबद्ध किया गया है। 'राजयोग' लांगमैन्स के हाथ में है। यहाँ कुछ मित्र इन पुस्तकों के इंग्लैण्ड में प्रकाशित होने की बात पर क्रुद्ध हैं; मैंने चूंकि वैधानिक रूप से ये पुस्तकें उन्हें दे दी थीं, अतः मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। पुस्तिकाओं के प्रकाशन की बात उतनी गंभीर नहीं थी। किंतु पुस्तकों को इस तरह पुनः क्रमबद्ध तथा परिवर्तित कर दिया गया है कि अमेरिकी संस्करण अंग्रेजी संस्करण से एकदम भिन्न हो गया है। अब कृपया इन पुस्तकों को मत प्रकाशित करो, क्योंकि मैं बुरी स्थिति में पड़ जाऊँगा और सदा के लिए झगड़ा खड़ा हो जायगा, जिससे यहाँ के कार्यों में भी क्षति होगी।

भारत से आयी पिछली डाक से मैं जान सका हूँ कि एक संन्यासी वहाँ से. प्रस्थान कर चुका है। कुमारी मूलर का एक सुन्दर पत्र आया था और कुमारी मैक्लिऑड का भी। लेगेट परिवार मुझसे बहुत सम्बद्ध हो गया है।

श्री चटर्जी के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। दूसरे सूत्रों से जान सका हूँ कि उसे पैसे की कठिनाई है और थियोसॉफ़िस्ट उसकी पूर्ति नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त उसकी सहायता, जो मुझे मिल सकेगी, वह भारत से आनेवाले एक सुदृढ़ व्यक्ति की सहायता की अपेक्षा बहुत ही प्रारम्भिक और अनुपयोगी होगी। उसके विषय में इतना ही पर्याप्त है। हम लोगों को जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए।

मैं पुन: प्रकाशन सम्बन्धी बातों पर सोच लेने का अनुरोध करता हूँ और श्रीमती ओलि बुल को पत्र लिखकर वेदान्त से सम्बन्धित अमेरिकन मित्रों की सम्मति पूछ लो, यह स्मरण दिलाते हुए कि 'हमारा सिद्धान्त अथवा धर्म सभी प्राणियों की एकता का है।' सभी राष्ट्रीय भावनाएँ खोटी अंधविश्वास हैं। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति दूसरे की सम्मति को जगह देने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है, उसका विचार अंतत: विजयी होता है। आत्मसमर्पण की सर्वथा अंत में विजय होती है। अपने सभी मित्रों को प्यार—

प्यार और शुभकामनाओं के साथ तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—मैं निश्चित ही जितना शीघ्र हो सका, मार्च में आ रहा हूँ।

वि०

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

प्रिय बहन,

मुझे भय है कि तुम रुष्ट हो और इसीलिए तुमने मेरे किसी भी पत्र का उत्तर नहीं दिया। अब मैं लक्षश: क्षमा माँगता हूँ। बड़े भाग्य से मुझे योगिया कपड़ा मिला गया और जितनी जल्दी हो सकेगा, मैं एक कोट बनवा लूँगा। मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि तुमने श्रीमती बुल से भेंट की। वे एक बहुत ही भद्र महिला और दयालु मित्र हैं। बहन, घर में, संस्कृत की दो बहुत पतली पतली पुस्तिकाएँ हैं। यदि तुम्हें कोई कठिनाई न हो, तो उन्हें कृपया भेज दो। भारत से पुस्तकें सुरक्षित पहुँच गयीं और मुझे उनके लिए कोई चुंगी नहीं देनी पड़ी। मुझे आश्चर्य है कि कम्बल अभी तक क्यों नहीं आये। मैं मदर टेम्पिल से फिर भेंट करने नहीं जा सका। मुझे समय नहीं मिला। जो कुछ भी समय मिलता है, मैं उसे पुस्तकालय में

व्यतीत करता हूँ। तुम सब लोगों के प्रति शाश्वत स्नेह और कृतज्ञता के साथ—

तुम्हारा सदा स्नेही भाई,

विवेकानन्द

पुनश्च—गत कुछ दिन छोड़कर श्री ह्वो नियमित रूप से कक्षा में आते हैं। कुमारी ह्वो से मेरा प्यार कहना। वि०

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

बोस्टन,
२३ मार्च, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

...तुम्हारे पत्र का जवाब मैं शीघ्र न दे सका; तथा अभी भी मुझे बहुत जल्दी करनी पड़ रही है। मेरे नये संन्यासियों में निश्चय ही एक स्त्री है। पहले ये मज़दूरों की नेता थीं।...शेष सब पुरुष हैं। मैं इंग्लैण्ड में कुछ थोड़े से और संन्यासी बनाकर भारत अपने साथ लाऊँगा। भारत में इनके 'सफ़ेद' वर्ण का प्रभाव हिन्दुओं से भी अधिक होगा इसके अतिरिक्त ये फुर्तीले हैं, जब कि हिन्दू मृतप्राय हैं। भारत में आशा केवल साधारण जनता से है। उच्च श्रेणी के लोग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मृतवत् हैं।...

मेरी सफलता का कारण मेरी लोकप्रिय शैली है—गुरु की महानता उसकी सरल भाषा में निहित है।

...मैं अगले महीने इंग्लैण्ड जा रहा हूँ। मुझे प्रतीत होता है कि मैंने अत्यधिक काम किया है। इस दीर्घकाल तक लगातार काम से मेरी नसों की शक्ति नष्ट हो गयी। मैं तुमसे सहानुभूति नहीं चाहता; परन्तु मैं इसलिए यह लिखता हूँ कि तुम मुझसे अब कुछ अधिक आशा न रखो। जितने अच्छे ढंग से तुम कार्य कर सको, उतना करो। अब मुझे बहुत कम आशा है कि मैं बड़े बड़े काम कर सकूँगा। परन्तु मुझे हर्ष है कि मेरे व्याख्यानों को सांकेतिक लिपि में लिख रखने से बहुत सा साहित्य उत्पन्न हुआ है। चार किताबें तैयार हैं। एक तो छप चुकी है; 'पातंजल सूत्र' के साथ 'राजयोग' पुस्तक छप रही है, 'भक्तियोग' पुस्तक तुम्हारे पास है, और 'ज्ञानयोग' पुस्तक के प्रकाशन की तैयारी चली है। इसके सिवाय रविवार में दिये गये व्याख्यान भी छप चुके हैं। स्टर्डी बहुत ही परिश्रमी व्यक्ति है, प्रत्येक कार्य में वह अग्रसर हो सकता है। मुझे सन्तोष है कि मैंने भलाई करने का भरसक प्रयत्न किया है और जब मैं कार्य-विरत हो एकान्त सेवन के लिए गुफा में जाऊँगा, तब मेरा अन्तःकरण मुझे दोष न देगा।

सबको प्यार और आशीर्वाद के साथ—

विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
मार्च, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

काम में लगे रहो। मैं जो कर सकता हूँ, करूँगा।...यदि प्रभु की इच्छा हुई, तो गेरुए वस्त्रवाले साधु यहाँ और इंग्लैण्ड में काफ़ी संख्या में दिखायी देंगे। वत्स-गण, काम करते रहो।

याद रखो कि जब तक गुरु में तुम्हारी भक्ति है, तुम्हारा विरोध कोई नहीं कर सकेगा। पाश्चात्यों की दृष्टि में तीनों भाष्यों का अनुवाद बहुत बड़ी बात होगी।

...इस बीच दो लोग मेरे संन्यासी शिष्य हुए हैं तथा दो-चार सौ गृहस्थ शिष्य। किन्तु वत्स, कुछ लोगों के सिवाय अधिकांश लोग ग़रीब हैं। फिर भी, कुछ लोग तो खूब धनी हैं। इस बात को अभी किसी से न कहना।

उपयुक्त समय आने पर मैं जनता के सम्मुख प्रचंड वेग से आत्मप्रकाश करूँगा। धैर्य धारण करो वत्स, धीरज रखकर काम करो। धैर्य, धैर्य! अगले वर्ष न्यूयार्क में एक मन्दिर बनवा सकने की आशा है, शेष प्रभु की इच्छा।

मैं यहाँ एक पत्रिका निकालूंगा। मैं लन्दन जा रहा हूँ और यदि प्रभु की कृपा हुई, तो वहाँ भी वैसा करूँगा।

सप्रेम तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

इंडियन एवेन्यू, शिकागो, इल०
६ अप्रैल, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल,

आपका कृपापत्र यथासमय प्राप्त हुआ। अपने मित्रों के साथ मैं कई जगह गया और अनेक कक्षाएँ लीं। कुछ और लूंगा और फिर गुरुवार को प्रस्थान करूँगा।

यहाँ हर बात का अच्छा प्रबंध था। यह सब कुमारी एडम्स की कृपा थी। वह इतनी भली और दयालु हैं।

मैं पिछले दो दिनों से हल्के ज्वर से पीड़ित हूँ; अतः लम्बा पत्र नहीं लिख सकता।

बोस्टन में सभी को मेरा प्यार।

भवदीय,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

१२४ ई० ४४वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
१४ अप्रैल, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल,

. . एक विचित्र व्यक्ति मेरे पास बम्बई से एक पत्र लेकर आया है। वह कार्यक्षम मिस्त्री है और उसका इस देश में खाने के काँटे-चम्मच आदि तथा लोहे के अन्य कारखानों को देखने का विचार है। . . . मैं उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता, किन्तु यदि वह दुष्ट भी है, तो भी मैं अपने देश के लोगों में इस प्रकार की साहसिक भावना को प्रोत्साहन देने का बड़ा इच्छुक हूँ। अपने खर्च के लिए उसके पास पर्याप्त धन है।

अब यदि पूरी सावधानी के साथ उसकी भावना की सत्यता की जाँच करते हुए आप संतुष्ट हों, तो वह जो चाहता है, वह है इन कारखानों को देखना। मैं आशा करता हूँ, वह सच्चा है और आप उसे इस कार्य में मदद दे सकती हैं।

आपका शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

(स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को लिखित)

न्यूयार्क,
१४ अप्रैल, १८९६

कल्याणीय,

तुम्हारे पत्र से समाचार अवगत हुए। शरत् सकुशल पहुँच गया है, यह संवाद प्राप्त हुआ। तुम्हारा भेजा हुआ 'इण्डियन मिरर' पत्र भी मिला। लेख उत्तम है, बराबर लिखते रहो। दोष देखना सहज है, गुणों का अवलोकन करना ही महापुरुषों का धर्म है, इस बात को न भूलना। 'मूँग की दाल तैयार नहीं हुई हैं'—इसका तात्पर्य क्या है? भुनी हुई मूँग की दाल भेजने के लिए मैंने पहले ही मना कर दिया था; चने की दाल तथा कच्ची मूँग की दाल भेजने के लिए मैंने लिखा था। भूनी हुई मूँग की दाल यहाँ तक आने में ख़राब हो जाती है तथा उसका स्वाद भी नष्ट हो जाता है एवं पकती भी नहीं है। यदि अब की बार भी भूनी हुई मूँग की दाल भेजी गयी हो, तो उसे टेम्स नदी में बहाना पड़ेगा एवं तुम्हारा परिश्रम भी व्यर्थ होगा। मेरे पत्र को अच्छी तरह पढ़े बिना तुम मनमानी क्यों करते हो? पत्र खो जाने का कारण क्या है? पत्र के जवाब लिखते समय पत्र को (जिसका जवाब लिखना हो) सामने रखकर लिखना चाहिए। तुम लोगों में कुछ business (व्यावहारिक) बुद्धि की आवश्यकता है। जिन विषयों को मैं जानना चाहता हूँ, प्रायः उनका ही उत्तर नहीं मिलता है—केवल इधर उधर

की वातों का ही अधिक उल्लेख रहता है।...पत्र कैसे खो जाते हैं? उन्हें 'फ़ाइल' क्यों नहीं किया जाता है? सब कामों में ही बचपना। मेरा पत्र क्या सबके समक्ष पढ़ा जाता है? क्या जो कोई आते हैं, 'फ़ाइल' से पत्र निकाल कर भी पढ़ते हैं?...तुम लोगों में कुछ व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता है। अब तुम्हें संगठित होना चाहिए। तदर्थ पूर्णतया आज्ञा-पालन तथा श्रम-विभाजन आवश्यक हैं। मैं सब कुछ इंग्लैण्ड पहुँचकर लिख भेजूँगा। कल मैं वहाँ के लिए रवाना हो रहा हूँ। मैं तुम लोगों को जैसा होना चाहिए, उस प्रकार बनाकर तुम लोगों द्वारा संगठित रूप से कार्य सम्पादन अवश्य कराऊँगा।

... Friend (बन्धु) शब्द का प्रयोग सबके प्रति किया जा सकता है। अंग्रेज़ी भाषा में उस प्रकार की cringing politeness (चापलूस भद्रता) नहीं है, और ऐसे बंगला शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद करना हास्यास्पद होता है। रामकृष्ण परमहंस ईश्वर हैं, भगवान् हैं—क्या इस प्रकार की बातें यहाँ चल सकती हैं?

सबके हृदय में बलपूर्वक उस प्रकार की भावना को बद्धमूल कर देने का झुकाव 'म' में विद्यमान है। किन्तु इससे हम लोग एक क्षुद्र सम्प्रदाय के रूप में परिणत हो जायेंगे। तुम लोग इस प्रकार के प्रयत्न से सदा दूर रहना। यदि लोग भगवद्बुद्धि से उनकी पूजा करें, तो कोई हानि नहीं है। उनको न तो प्रोत्साहित करना और न निरुत्साहित। साधारण लोग तो सर्वदा 'व्यक्ति' ही चाहेंगे, उच्च श्रेणी के लोग 'सिद्धान्तों' को ग्रहण करेंगे। हमें दोनों ही चाहिए, किन्तु सिद्धान्त ही सार्वभौम हैं, व्यक्ति नहीं। इसलिए उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को ही दृढ़ता के साथ पकड़े रहो; लोगों को उनके व्यक्तित्व के बारे में अपनी अपनी धारणा के अनुसार सोचने दो।...सब तरह के विवाद, विद्वेष तथा पक्षपात की निवृत्ति हो; इनके रहने से सब कुछ नष्ट हो जायगा। 'जो सबसे प्रथम है, उसका स्थान अन्त में और जो अन्त में है, वह प्रथम होगा।'

मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः (मेरे भक्तों के जो भक्त हैं, वे ही मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं)। इति।

विवेकानन्द

(डॉ० नंजुन्दा राव को लिखित)

न्यूयार्क,
१४ अप्रैल, १८९६

प्रिय डॉक्टर,

मुझे तुम्हारा पत्र आज सुबह मिला। मैं कल इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो रहा

हूँ, इसलिए मैं कुछ थोड़ी सी हार्दिक पंक्तियाँ ही लिख सकूँगा। लड़कों के लिए पत्रिका प्रकाशित करने का जो तुम विचार कर रहे हो, उससे मुझे पूर्ण सहानुभूति है और मैं उसकी सहायता करने का पूरा पूरा यत्न करूँगा। उसे स्वाधीनता होनी चाहिए; 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका की पद्धति का अनुसरण करो, केवल तुम्हारी पत्रिका की लेखन-शैली और विषय उससे अधिक लोकप्रिय होने चाहिए। उदाहरणार्थ, संस्कृत-साहित्य की विखरी हुई अद्‌भुत कहानियों को ले लो। उन्हें फिर से लोकप्रिय ढंग से लिखने का यह इतना बड़ा सुअवसर है कि जिसके महत्त्व को तुम स्वप्न में भी नहीं समझ सकते। यह तुम्हारी पत्रिका का मुख्य विषय होना चाहिए। जब मुझे समय मिलेगा, तब जितनी कहानियाँ मैं लिख सकता हूँ, लिखूंगा। पत्रिका को विद्वत्तापूर्ण करने का प्रयत्न न करना,—'ब्रह्मवादिन्' उसके लिए है। मैं निश्चित रूपसे कहता हूँ कि इस तरह से तुम्हारी पत्रिका सारे संसार में पहुँच जायगी। जहाँ तक हो सके, सरल भाषा का उपयोग करना और तुम्हें सफलता प्राप्त होगी। कहानियों द्वारा नीति-तत्त्व सिखाना पत्रिका का प्रधान विषय होना चाहिए। उसमें अध्यात्म-विद्या विल्कुल न आने देना। भारत में जिस एक चीज का हममें अभाव है, वह है मेल तथा संगठन-शक्ति, और उसे प्राप्त करने का प्रधान उपाय है आज्ञा-पालन।

...वीरता से आगे बढ़ो। एक दिन या एक साल में सिद्धि की आशा न रखो। उच्चतम आदर्श पर दृढ़ रहो। स्थिर रहो। स्वार्थपरता और ईर्ष्या से बचो। आज्ञा-पालन करो। सत्य, मनुष्य-जाति और अपने देश के पक्ष पर सदा के लिए अटल रहो, और तुम संसार को हिला दोगे। याद रखो—व्यक्ति और उसका जीवन ही शक्ति का स्रोत है, इसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं। इस पत्र को रखे रहना, और जब कभी तुम्हारे मन में चिन्ता या ईर्ष्या का उदय हो, तब इसकी अन्तिम पक्तियाँ पढ़ लिया करना। ईर्ष्या के रोग से दास लोग सदा ग्रसित रहते हैं। हमारे देश का भी यही रोग है। इससे हमेशा बचो। सब आशीर्वाद और सर्वसिद्धि तुम्हारी हो।

प्रेमपूर्वक तुम्हारा,
विवेकानन्द

(हेल बहनों को लिखित)

६ पश्चिम ४३ वाँ रास्ता,
न्यूयार्क,
१४ अप्रैल, १८९६

प्रिय बहनो,

मैं रविवार को यहाँ सकुशल पहुँच गया। अस्वस्थता के कारण और पहले

पत्र नहीं लिख सका। ह्वाइट स्टार लाइन 'जर्मनिक' जहाज से मैं कल मध्याह्न १२ बजे यात्रा करूँगा।

शाश्वत स्नेह, कृतज्ञता एवं शुभकामनाओं के साथ—

तुम्हारा सदा स्नेही भाई,
विवेकानन्द

(हेल बहनों को लिखित)

हाई व्यू, रीडिंग,
२० अप्रैल, १८९६

प्रिय बहनो,

समुद्र के इस तट से तुम्हें अभिवादन। यात्रा सुखद रही और इस बार कोई बीमारी नहीं हुई। इससे बचने के लिए मैंने अपना उपचार किया। मैंने आयरलैण्ड तथा इंग्लैण्ड के कुछ पुराने नगरों की थोड़ी यात्रा की और अब पुनः रीडिंग में ब्रह्म एवं माया तथा जीव, व्यक्ति और सार्वभौम आत्मा इत्यादि के बीच हूँ। दूसरा संन्यासी यहाँ है, मैं समझता हूँ कि वह एक उत्कृष्ट व्यक्ति है और अच्छा विद्वान संन्यासी भी है। अब हम पुस्तकों के सम्पादन में संलग्न हैं। मार्ग में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं हुई। मेरे जीवन की भाँति ही यात्रा कुण्ठित, नीरस और शुष्क रही। जब मैं अमेरिका से बाहर होता हूँ, तो मुझे उससे अधिक स्नेह होता है। क्यों न हो, जो समय हमने वहाँ व्यतीत किया है, वह मेरे अब तक के जीवन के उत्तम समयों में रहा।

क्या तुम लोग 'ब्रह्मवादिन्' के लिए कुछ ग्राहक बनाने का प्रयत्न कर रही हो। श्रीमती एडम्स तथा श्रीमती कंगर को मेरा उत्कृष्ट स्नेह और सहृदय स्मरण कहना। मुझे सुविधानुसार शीघ्र ही अपने लोगों के विषय में सारी बातें लिखना। तुम लोग क्या कर रही हो ; भोजन-पानी और सायकिल चलाने की एकरसता कैसे भंग होती है। सम्प्रति मुझे जल्दी है, बाद में एक बड़ा पत्र लिखूंगा। अतः विदा। तुम लोग सदैव प्रसन्न रहो।

तुम लोगों का सदा स्नेही भाई,
विवेकानन्द

पुनश्च—जैसे ही समय मिलेगा, मैं मदर चर्च को पत्र लिखूंगा। सैम तथा बहन लॉक को मेरा प्यार कहना।

(अपने गुरुभाइयों को लिखित)

हाई व्यू, कैवरशम,
रीडिंग, इंग्लैण्ड,
२७ अप्रैल, १८९६

कल्याणवरेषु,

शरत् के द्वारा सारे समाचार अवगत हुए। 'दुष्ट गाय की अपेक्षा सूनी गोशाला श्रेयस्कर है।'—यह बात सदैव ध्यान में रखनी होगी। मैं व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त करने के लिए यह नहीं लिखता, परन्तु तुम्हारी भलाई के लिए और भगवान् श्री रामकृष्ण जिस उद्देश्य के लिए आये थे, उस उद्देश्य की सफलता के निमित्त इसे सभी के लिए लिखना चाहता हूँ। उन्होंने तुम सब लोगों का रक्षण-भार मेरे ऊपर डाला था, और बताया था कि तुम सब लोग जगत् के कल्याण में सहायता करोगे—यद्यपि तुममें से अधिकांश इस बात को नहीं जानते। मेरा तुम्हें लिखने का यही विशेष कारण है। यदि तुम लोगों में ईर्ष्या और अहंकार के भावों ने जड़ पकड़ लिया, तो बड़े दुःख की बात होगी। जो लोग स्वयं कुछ समय तक सौहार्द भाव से एक साथ न रह सकें, वे क्या पृथ्वी पर सौहार्द-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं? निःसन्देह नियमों से आबद्ध होना एक दोष है, परन्तु अपरिपक्व अवस्था में नियमों का पालन करना आवश्यक है, अर्थात् जैसा कि गुरुदेव कहते थे कि छोटे पौधे को चारों ओर से रूँधकर रखना चाहिए—इत्यादि। दूसरी बात यह कि आलसी लोगों के लिए वृथा बकवाद करना और परस्पर विरोध भाव उत्पन्न करना इत्यादि स्वाभाविक हैं। इसलिए निम्नलिखित उद्देश्य संक्षेप में लिखता हूँ। यदि तुम इसके अनुसार अग्रसर होगे, तो परम मंगल होगा। किन्तु ऐसा न करोगे, तो हमारे सारे श्रमों के विफल हो जाने की संभावना है।

पहले मैं मठ की व्यवस्था के विषय में लिखता हूँ—

१. मठ के लिए कृपया एक बड़ा सा मकान या बाग़ किराये पर लो, जहाँ सबको एक एक कमरा अलग अलग मिल सके। एक विशाल कमरा, जहाँ पुस्तकें रखी जा सकें, और एक छोटा सा कमरा अभ्यागतों से भेंट करने के लिए होना चाहिए। यदि सम्भव हो, तो उस घर में एक बड़ा कमरा और होना चाहिए, जहाँ जनता के लिए शास्त्रों का अध्ययन और धर्म का उपदेश हो सके।

२. कोई किसीसे मठ में मिलना चाहे, तो वह केवल उससे मिलकर चला जाय और दूसरों को कष्ट न दे।

३. प्रतिदिन, बारी बारी से, कुछ घंटों के लिए तुममें से एक को बड़े कमरे

में जनता के लिए उपस्थित रहना चाहिए, जिससे जो प्रश्न वे करने आये हों, उनका सन्तोषजनक उत्तर उन्हें मिल सके।

४. सबको अपने अपने कमरे में रहना चाहिए, और किसी विशेष कार्य के अतिरिक्त दूसरों के कमरे में नहीं जाना चाहिए। जिसकी पुस्तकालय में पढ़ने की इच्छा हो, उसे वहाँ जाकर अध्ययन करना चाहिए। पर, वहाँ तम्बाकू आदि नहीं पीनी चाहिए और दूसरों के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए। शान्तिपूर्वक अध्ययन होना चाहिए।

५. एक कमरे में भीड़ करके दिन भर बातचीत में समय गँवाना और अनेक व्यक्तियों का बाहर से आकर उस कोलाहल में सम्मिलित होना, इसका पूर्णतः निषेध होना चाहिए।

६. केवल वे लोग, जो धर्म-जिज्ञासु हैं, शान्त भाव से आयें और अभ्यागतों के कमरे में प्रतीक्षा करें। जिस विशेष व्यक्ति से वे मिलना चाहते हों, उससे मिलने के पश्चात् वे चले जायँ। यदि उन्हें कोई सामान्य प्रश्न करना हो, तो उस दिन के सम्मेलन के प्रबंधकर्ता से पूछकर चले जायँ।

७. चुग़लख़ोरी, गुट्ट बनाना, दूसरों की निन्दा इधर-उधर करना, इसका पूर्ण त्याग होना चाहिए।

८. एक छोटा कमरा आफ़िस के लिए नियुक्त हो। मंत्री को उस कमरे में रहना चाहिए और वहाँ काग़ज, स्याही तथा पत्र लिखने की और सब चीज़ें होनी चाहिए। मंत्री को आमदनी और व्यय का हिसाब रखना चाहिए। पत्र आदि सब उसके पास आने चाहिए और उसे सब उन उन व्यक्तियों को बिना खोले सौंप देने चाहिए। पुस्तकें और पत्रिकाएँ पुस्तकालय में भेज देनी चाहिए।

९. तम्बाक़ू आदि पीने के लिए, एक छोटा कमरा होना चाहिए। उस कमरे के अलावा और कहीं तम्बाकू नहीं पीनी चाहिए।

१०. जो आक्षेप करना या क्रोध दिखाना चाहे, वह मठ की सीमा के बाहर ऐसा करे। इससे किंचित् भी विचलित न होना चाहिए।

शासन-समिति

१. प्रतिवर्ष अध्यक्ष का बहुमत से चुनाव होगा। अगले वर्ष दूसरे का, और आगे भी इसी तरह से।

२. इस वर्ष राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) को अध्यक्ष बना दो, इसी प्रकार किसी और को मंत्री, और पूजा-भोजन इत्यादि की देख-भाल के लिए किसी तीसरे व्यक्ति का चुनाव करो।

३. मंत्री का एक और कर्तव्य होगा। वह सबके स्वास्थ्य पर दृष्टि रखेगा। इस सम्बन्ध में मुझे तीन निर्देश देने हैं :

(क) प्रत्येक कमरे में प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निवाड़ी पलंग और गद्दा आदि होंगे। हर एक को अपना कमरा साफ़ रखना होगा।

(ख) पीने और पकाने के लिए स्वच्छ और निर्मल जल का प्रवन्ध करना होगा। अशुद्ध और मलिन जल में भोग पकाना महा पाप है।

(ग) हर एक को दो गेरुए वस्त्र दो, जैसे शरत् के लिए तुमने बनाये, और यह देखो कि वे साफ़ रखे जाते हैं। मकान के नीचे-ऊपर की सफ़ाई परमावश्यक है (इस ओर दृष्टि रखनी होगी)।

४. जो संन्यासी बनना चाहे, उसे पहले ब्रह्मचारी बनाया जाय। एक वर्ष वह मठ में रहे और एक वर्ष बाहर रहे, तत्पश्चात् संन्यास की उसे दीक्षा दी जाय।

५. पूजा का काम इन्हींमें से एक ब्रह्मचारी को सौंपो और थोड़े समय बाद उन्हें बदलते रहो।

मठ के विभाग

मठ में निम्नलिखित विभाग होंगे :

१. अध्ययन　　२. प्रचार　　३. धार्मिक साधना

१. अध्ययन—जो अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए पुस्तकों और शिक्षकों का प्रवन्ध करना इस विभाग का उद्देश्य होगा। प्रतिदिन प्रातः और सायं शिक्षकों को उनके लिए तैयार रहना चाहिए।

२. प्रचार—मठ के अन्दर और बाहर।

मठ के प्रचारकों को यह कार्य करना होगा कि वे जिज्ञासुओं को धर्मग्रंथों में से पढ़कर सुनायें और उन्हें शिक्षा दें। साथ ही प्रश्न-कक्षा द्वारा भी वे उन्हें उपदेश दें। बाहर के उपदेशकों को गाँव गाँव जाकर उपदेश देना चाहिए और उपर्युक्त प्रकार के मठ भी भिन्न भिन्न स्थानों में स्थापित करने का यत्न करना चाहिए।

३. धार्मिक साधना—जो लोग साधना करना चाहते हैं, यह विभाग उन लोगों की आवश्यकता को पूरा करने का यत्न करेगा; परन्तु जो व्यक्ति धार्मिक साधना में लगा है, वह दूसरों को अध्ययन या उपदेश देने से नहीं रोक सकेगा। जो भी इस नियम का उल्लंघन करेगा, उसे तुरन्त ही निकल जाने के लिए कहा जायगा। यह अनिवार्य है।

मठ के भीतर के उपदेशकों को भक्ति, ज्ञान, योग और कर्म पर बारी-बारी से शिक्षा देनी चाहिए। इसके लिए दिन और समय नियुक्त होना चाहिए और यह नित्य का कार्यक्रम कक्षा के दरवाज़े पर लगा देना चाहिए। अर्थात्—भक्ति-मार्ग के साधकों को जिस दिन ज्ञान के विषय पर कक्षा हो, उस दिन उपस्थित नहीं रहना चाहिए, जिससे उनकी भक्ति को कहीं हानि न पहुँचे,—इत्यादि इत्यादि।

तुम लोगों में से कोई भी वामाचार साधना के योग्य नहीं है। इसलिए मठ में इसकी साधना किसी प्रकार भी न होनी चाहिए। जो इसे न सुने, वह इस संघ को छोड़ दे। इस साधना का मठ में कभी नाम भी न लिया जाय। गुरु महाराज के संघ में जो दुष्ट, अधम वामाचार का प्रचार करेगा, उसके इहलोक और परलोक नष्ट हो जायँगे।

कुछ सामान्य निर्देश

१. यदि कोई महिला किसी संन्यासी से बात करने आये, तो उसे अभ्यागतों के कमरे में संन्यासी से मिलना चाहिए। कोई भी महिला पूजा-गृह को छोड़कर किसी और कमरे में प्रवेश नहीं कर सकती।

२. किसी संन्यासी को स्त्रियों के मठ में रहने की आज्ञा न होगी। जो संन्यासी इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा, वह मठ से निकाल दिया जायगा। 'दुष्ट गाय की अपेक्षा सूनी गोशाला श्रेयस्कर है।'

३. दुष्ट चरित्रवाले मनुष्यों का प्रवेश पूर्ण निषिद्ध है। किसी बहाने से उनकी छाया भी हमारे कमरे की देहली को पार न करे। यदि तुममें से कोई भी दुराचारी हो जाय, तो उसे तुरन्त निकाल दो, चाहे वह कोई भी हो। हमें दुष्ट गाय की ज़रूरत नहीं। प्रभु अनेक भले व्यक्तियों को लायेंगे।

४. कोई भी स्त्री पढ़ने के कमरे में (या उपदेशवाले स्थान में) कक्षा के समय या उपदेश के समय में आ सकती है, परन्तु नियत काल के पश्चात् उसे तुरन्त वह स्थान त्याग देना चाहिए।

५. कभी क्रोध प्रकट न करो, ईर्ष्या को मन में आश्रय न दो, और चुपके चुपके किसीकी चुग़ली न करो। अपने दोषों को दूर करने की जगह दूसरों के दोष देखना, यह निर्दयता और कठोर हृदय की पराकाष्ठा है।

६. भोजन का नियत समय होना चाहिए। सबके लिए एक आसन और एक नीची चौकी होनी चाहिए, जिसमें वह आसन पर बैठ सके और चौकी पर थाली रख सके, जैसा कि राजपूताने में चलन है।

कार्यकारिणी समिति

सब पदाधिकारियों का चुनाव गुप्त रूप से होना चाहिए, यह भगवान् बुद्ध का आदेश था, अर्थात् एक मनुष्य यह प्रस्ताव करे कि अमुक साधु इस वर्ष का अध्यक्ष हो, और सबको काग़ज़ के टुकड़ों पर 'हाँ' या 'नहीं' लिखकर उन्हें एक घड़े में डाल देना चाहिए। यदि अधिकांश 'हाँ' निकले, तो वह अध्यक्ष चुना जाना चाहिए, इत्यादि। यद्यपि पदाधिकारियों का चुनाव इस प्रकार होना चाहिए, तथापि मेरा यह प्रस्ताव है कि इस वर्ष राखाल अध्यक्ष, तुलसी (स्वामी निर्मलानन्द) मंत्री और कोषाध्यक्ष; गुप्त (स्वामी सदानन्द) पुस्तकालयाध्यक्ष बनाये जायँ, और शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द), काली (स्वामी अभेदानन्द), हरि (स्वामी तुरीयानन्द) और सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) शिक्षा और प्रचार के काम का बारी बारी से भार उठायें, इत्यादि। निःसन्देह ही एक पत्रिका आरम्भ करने का सारदा का विचार उत्तम है। परन्तु मैं उसे स्वीकार तब करूँगा, जब तुम सब लोग मिलकर उसे चला सको।

मतों आदि के बारे में मुझे यही कहना है कि यदि कोई श्री रामकृष्ण देव को अवतार आदि स्वीकार करे, तो अच्छा है, यदि न करे, तो भी ठीक ही है। परन्तु सच बात तो यह है कि चरित्र के विषय में श्री रामकृष्ण देव सबसे आगे बढ़े हुए हैं। उनके पहले जो अवतारी महापुरुष हुए हैं, उनसे वे अधिक उदार, अधिक मौलिक और अधिक प्रगतिशील थे। अर्थात् प्राचीन आचार्य एकदेशीय थे, परन्तु इस नये अवतार या आचार्य की शिक्षा यह है कि योग, भक्ति, ज्ञान और कर्म के सर्वोच्च भावों का सम्मिलन होना चाहिए, जिससे एक नये समाज का निर्माण हो सके।. . .प्राचीन आचार्य निःसन्देह अच्छे थे, परन्तु यह इस युग का नया धर्म है—अर्थात् योग, ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय—आयु और लिंग-भेद के बिना, पतित से पतित तक में ज्ञान और भक्ति का प्रचार। पहले के अवतार ठीक थे, परन्तु श्री रामकृष्ण के व्यक्तित्व में उनका समन्वय हो गया है। साधारण मनुष्य और नौसिखिये के लिए आदर्श में निष्ठा रखना विशेष महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् उन्हें यह सिखाओ कि यद्यपि सब महापुरुषों का यथोचित आदर करना चाहिए, तथापि अब श्री रामकृष्ण की उपासना होनी चाहिए। दृढ़ निष्ठा के बिना पौरुष नहीं हो सकता। उसके बिना हनुमान जैसी शक्ति से कोई उपदेश नहीं कर सकता। फिर, पिछले महापुरुष अब कुछ प्राचीन हो चले हैं। अब नवीन भारत है, जिसमें नवीन ईश्वर, नवीन धर्म और नवीन वेद हैं। हे भगवन्, भूतकाल पर निरन्तर ध्यान लगाये रखने की आदत से हमारा देश कब मुक्त होगा? अच्छा, अपने मत में थोड़ी

कट्टरता भी आवश्यक है। परन्तु दूसरों की ओर हमें विरोध-भाव नहीं रखना चाहिए।

यदि तुम मेरे विचारों पर चलना विवेकयुक्त समझो, और यदि तुम इन नियमों का पालन करो, तो मैं तुम्हें पर्याप्त धन देता रहूँगा। अन्यथा तुम लोगों का संग एकदम त्याग दूंगा। कृपया यह पत्र गौरी माँ, योगेन माँ आदि को दिखा देना और उनके द्वारा स्त्रियों का मठ स्थापित करवाना। एक वर्ष के लिए गौरी माँ को उसका अध्यक्ष वनने दो। परन्तु तुममें से किसीको वहाँ नहीं जाना चाहिए। वे अपना कार्य स्वयं सँभालें। तुम्हारे आदेश पर उन्हें काम नहीं करना है। मैं उस काम के लिए भी आवश्यक धन दूंगा।

भगवान् तुम्हें उचित राह पर चलाये! दो व्यक्ति भगवान् जगन्नाथ के दर्शन को गये। एक ने तो वहाँ जाकर भगवान् को ही देखा, परन्तु दूसरे ने देखा, वही गंदगी, जो उसके स्वयं के मन में व्याप्त थी!!!

मेरे मित्रो, निःसंदेह ही गुरुदेव की सेवा अनेकों ने की, परन्तु जब किसीके मन में अपने को असाधारण समझने का भाव जाग्रत हो, तब उसे यह समझना चाहिए कि यद्यपि उसने श्री रामकृष्ण का सत्संग किया है, तथापि सच बात तो यह है कि उसने अपने मन की वाहियात बातें ही देखीं। यदि ऐसा न होता, तो वह कुछ अच्छे परिणाम दिखाता। गुरुदेव स्वयं हमेशा कहते थे, "वे भगवान् के नाम में नाचते और गाते थे, परन्तु अन्त उनका दुःखदायी होता था।" इस अधोगति के मूल में अहंकार है—यह सोचना कि हम दूसरों के समान महापुरुष हैं। कोई कहेगा, "वे (गुरुदेव) मुझसे भी प्रेम करते थे। हाय, घसीटा राम, तव क्या तुम्हारा ऐसा रूपान्तर होता? क्या ऐसा मनुष्य दूसरे से डाह करता या लड़ता हुआ अपने आपको गिरा देगा? यह याद रखो कि उनकी कृपा से बहुत से आदमी देवताओं की महिमा प्राप्त करेंगे—जहाँ कहीं उनकी कृपादृष्टि पड़ेगी, वहाँ यही परिणाम दिखायी देगा।...आज्ञा-पालन पहला धर्म है। अव जो मैं तुमसे कहता हूँ, उसे उत्साहपूर्वक करो। मैं देखूं कि यह छोटे छोटे काम तुम कैसे करते हो। फिर धीरे धीरे वड़े काम होंगे।

तुम्हारा,
नरेन्द्र

पुनश्च—कृपया यह पत्र सवको पढ़कर सुनाओ और मुझे लिखो कि यह प्रस्ताव व्यवहार में लाना तुम उचित समझते हो या नहीं। कृपया राखाल से कहना कि जो सवका दास होता है, वही उनका सच्चा स्वामी होता है। जिसके प्रेम में ऊँच-नीच का विचार होता है, वह कभी नेता नहीं वन सकता। जिसके प्रेम

का कोई अन्त नहीं है, जो ऊँच-नीच सोचने के लिए कभी नहीं रुकता, उसके चरणों में सारा संसार लोट जाता है।

नरेन्द्र

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

६३, सेन्ट जार्जेस रोड, लन्दन,
३० मई, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल,

...परसों प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर से मेरी बड़ी अच्छी मुलाक़ात हुई। वे संत जैसे हैं और सत्तर वर्ष के होने के बावजूद युवक की तरह दिखते हैं और उनके चेहरे पर एक भी झुर्री नहीं है। काश, उनके भारत और वेदान्त के प्रति प्रेम का अर्द्धांश भी मुझे मिलता! साथ ही वे योग में भी रुचि लेते हैं तथा उसमें विश्वास करते हैं। केवल वे बकवादियों को बिल्कुल नापसन्द करते हैं।

सर्वोपरि, रामकृष्ण परमहंस के प्रति उनकी श्रद्धा अगाध है, और उन्होंने 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' में उन पर एक लेख लिखा था। उन्होंने मुझसे पूछा, "आप संसार भर में उनके नाम-प्रचार के लिए क्या कर रहे हैं?" रामकृष्ण ने वर्षों तक उन्हें मोहा है। क्या यह शुभ संवाद नहीं?...

धीरे किन्तु स्थिरता से यहाँ कार्य चल रहा है। अगले रविवार से मैं अपने साधारण भाषण प्रारम्भ करने जा रहा हूँ।

सदा कृतज्ञ, सस्नेह आपका,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

६३, सेन्ट जार्जेस रोड,
लन्दन, दक्षिण-पश्चिम
३० मई, १८९६

प्रिय मेरी,

अभी अभी तुम्हारा पत्र मिला। तुममें निःसन्देह ईर्ष्या नहीं थी, किन्तु जो था, वह ग़रीब भारत के प्रति अकस्मात् सहानुभूति थी। जो भी कुछ हो, डरने की आवश्यकता नहीं है। कुछ सप्ताह पूर्व मदर चर्च को मैंने एक पत्र लिखा था; आज तक उनसे एक पंक्ति भी जवाब में न मिला। मुझे डर है कि कहीं अपने दल के साथ संन्यास लेकर उन्होंने किसी कैथोलिक चर्च का आश्रय तो नहीं ले लिया है; घर पर चार चार प्रौढ़ कुमारियों के रहते हुए माँ के लिए संन्यास लिए बिना और उपाय ही क्या है?

अध्यापक मैक्स मूलर के साथ बहुत अच्छी तरह भेंट हुई। वे ऋषि जैसे हैं—वेदान्त की भावनाओं से पूर्ण हैं। इस बारे में तुम्हारी क्या धारणा है? बहुत दिनों से ही मेरे गुरुदेव के प्रति वे अत्यन्त श्रद्धा रखते हैं। उन्होंने 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' में आचार्यपाद के सम्बन्ध में एक लेख लिखा है और वह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। भारत सम्बन्धी विविध विषयों में उनके साथ लम्बी वार्ता हुई। हाय, हाय, भारत के प्रति उनके प्रेम का अर्द्धांश भी यदि मुझमें होता!

यहाँ से एक दूसरी छोटी सी पत्रिका हम निकालना चाहते हैं। 'ब्रह्मवादिन्' का क्या समाचार है? उसका प्रचार तो अधिकाधिक कर रही हो न? यदि चार उत्साही प्रौढ़ कुमारी मिलकर एक पत्रिका को भली भाँति चालू न कर सकीं, तो मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर जायगा। तुम्हें बीच बीच में मेरा पत्र मिलता रहेगा। मैं सुई तो हूँ नहीं कि जहाँ कहीं खो जाने का डर हो। अब यहाँ पर मैंने कक्षा चालू कर दी है। आगामी सप्ताह से प्रति रविवार भाषण देना प्रारम्भ करूँगा। कक्षा बड़े पैमाने पर चल रही है। सारे मौसम के लिए जो मकान किराये पर लिया गया है, वहीं पर ही कक्षा की व्यवस्था की गयी है। कल रात मैंने ख़ुद भोजन बनाया था। केशर, गुलाबजल, जावित्री, जायफल, दालचीनी, लौंग, इलायची, मक्खन, नींबू का रस, प्याज, किशमिश, बादाम, काली मिर्च तथा चावल—ये सब मिलाकर ऐसी स्वादिष्ट खिचड़ी बनायी थी कि मैं स्वयं ही उसे गले से नीचे नहीं उतार सका। घर पर हींग नहीं थी, नहीं तो कुछ हींग मिला लेने पर कम से कम निगलने में सुविधा होती।

कल एक आधुनिक फ़ैशन के विवाह में सम्मिलित हुआ था। मेरे एक मित्र कुमारी मूलर नाम की एक धनी महिला ने एक हिन्दू बालक को गोद लिया है एव मेरे कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए, मैं जिस मकान में रहता हूँ, उसीमें एक कमरा किराये पर लिया है, वे ही हम लोगों को उस समारोह को दिखाने के लिए ले गयी थीं। उनकी ही एक भतीजी अथवा भांजी वधू होनेवाली थी और वर भी किसी न किसीका भतीजा अथवा भांजा अवश्य होगा। विवाह का समारोह देर तक जारी रहा, ख़तम होने का कोई नाम ही नहीं—मैं तो परेशान हो गया। तुम जो विवाह करना नहीं चाहती हो—मैं उसे पसन्द करता हूँ। अच्छा, तो अब मैं विदा चाहता हूँ! तुम सब मेरी प्रीति ग्रहण करना। अधिक लिखने का अवकाश नहीं है, अभी कुमारी मैक्लिऑड के घर पर मध्याह्न-भोजन के लिए, चलना है। इति।

तुम लोगों का चिर शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

६३, सेंट जार्जेस रोड, लन्दन,
मई, १८९६

प्रिय बहन,

पुनः लन्दन आ पहुँचा हूँ। इस समय इंग्लैण्ड की जलवायु अत्यन्त सुन्दर तथा ठंडी है। घर के अन्दर 'अग्निकुण्ड' में अग्नि रखनी पड़ती है। तुमको यह मालूम होना चाहिए कि इस बार हमें रहने के लिए एक पूरा मकान मिला है। यद्यपि मकान छोटा है, फिर भी उसमें सब तरह की सुविधाएँ हैं। लन्दन में मकान का किराया अमेरिका की तरह अधिक नहीं है, शायद तुम्हें यह मालूम होगा। तुम नहीं जानतीं कि मैं क्या सोच रहा था—तुम्हारी माता जी के बारे में मैं सोच रहा था। अभी अभी मैंने उनको एक पत्र लिखकर उसे, द्वारा मनरो एण्ड कंपनी, नं० ७ रयू स्क्रिब, पेरिस, इस पते पर रवाना किया है। यहाँ पर मेरे कुछ यूरोप के पुराने मित्र भी हैं। कुमारी मैक्लिऑड हाल ही में यूरोप का भ्रमण कर लन्दन वापस आयी है। उसका स्वभाव स्वर्ण जैसा विशुद्ध है, उसके स्नेहमय हृदय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हम इस मकान में एक छोटे सीमित परिवार के रूप में हैं; हमारे साथ भारत से आये हुए एक संन्यासी भी हैं। 'बेचारा हिन्दू' कहने का जो तात्पर्य है, वह इन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है। मानो सदा ही ध्यानस्थ हैं, अत्यन्त नम्र तथा मधुर स्वभाव के हैं। मुझमें जैसा एक अदम्य साहस तथा घोर कर्मतत्परता विद्यमान है, उनमें उसका सर्वथा अभाव है। उस तरह से काम नहीं चल सकता। मैं उनमें कुछ कर्मशीलता लाना चाहता हूँ। अभी मेरी दो कक्षाएँ चल रही हैं। चार-पाँच महीने तक यही क्रम जारी रहेगा—फिर भारत रवाना होना है; किन्तु मेरा हृदय यांकियों में ही पड़ा हुआ है—मैं यांकियों के देश को पसन्द करता हूँ। मैं सब कुछ नवीन देखना चाहता हूँ। पुराने ध्वंसावशेष के चारों ओर आलसी की तरह चक्कर लगाना, अतीत इतिहासों को लेकर सारा जीवन हाय हाय करना तथा प्राचीन काल के लोगों की बातों का चिन्तन कर निराशा के दीर्घ श्वास छोड़ने के लिए मैं क़तई तैयार नहीं हूँ। मेरे ख़ून में जो जोश है, उसके कारण ऐसा करना मेरे लिए सम्भव नहीं। समस्त भावनाओं को प्रकाश में लाने के लिए उपयुक्त स्थान, पात्र तथा सुयोग्य सुविधाएँ एकमात्र अमेरिका में ही हैं। और मैं भी आमूलचूल परिवर्तन का घोर पक्षपाती बन चुका हूँ। मैं शीघ्र ही भारत लौटना चाहता हूँ, मैं यह देखना चाहता हूँ कि परिवर्तन विरोधी 'जेली' मछली की तरह शिथिल उस विराट् पुञ्ज के लिए मुझसे कुछ हो सकता है या नहीं? मैं उन प्राचीन संस्कारों को दूर हटाकर नवीन रूप से प्रारम्भ करना चाहता हूँ—एकदम सम्पूर्ण नवीन, सरल किन्तु साथ ही साथ

सबल सद्योजात शिशु की तरह नवीन तथा सतेज। जो असीम, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सनातन है, वह व्यक्तिविशेष नहीं है—तत्त्व मात्र है। तुम, हम तथा और सभी कोई उस तत्त्व के वाह्य प्रतिरूप मात्र हैं। इस अनन्त तत्त्व का विकास जिन व्यक्तियों में जितना अधिक है, वे उतने ही अधिक महान् हैं; अन्त में सभी को उसकी पूर्ण प्रतिमूर्ति वननी पड़ेगी; इस प्रकार यद्यपि इस समय भी, सभी लोग स्वरूपतः एक ही हैं, वास्तव में सभी एक हो जायँगे। इसके सिवाय धर्म और कुछ पृथक् वस्तु नहीं है। इस एकत्व का अनुभव अथवा प्रेम ही उसका साधन है। प्राचीन काल के निर्जीव अनुष्ठान एवं ईश्वर सम्बन्धी विविध धारणाएँ पुरातन कुसंस्कार मात्र हैं। वर्तमान समय में उनको वनाये रखने के लिए संघर्ष की सार्थकता ही क्या है? जीवन तथा सत्य की नदी जव अपने निकट ही प्रवाहित हो रही है, तब तृषातुर लोगों को नालियों का गन्दा पानी पिलाने की आवश्यकता ही क्या है? मानव-सुलभ स्वार्थपरता के सिवाय यह और कुछ नहीं है। प्राचीन संस्कारों का निरन्तर समर्थन करता हुआ मैं हैरान हो चुका हूँ। जीवन क्षण-स्थायी है और समय भी शीघ्र गति से अग्रसर हो रहा है। जिस स्थान तथा पात्र में भावनाएँ सरलता के साथ कार्य में परिणत हो सकती हों, प्रत्येक व्यक्ति को उसी स्थान तथा पात्र का निर्वाचन कर लेना चाहिए। काश! यदि साहसी, उदार, महान् तथा निष्कपट हृदय के वारह व्यक्ति भी प्राप्त होते!

मैं यहाँ पर अच्छी तरह से हूँ एवं अपने जीवन का भली भाँति उपभोग कर रहा हूँ। मेरी हार्दिक प्रीति ग्रहण करना।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि वुल को लिखित)

६३, सेंट जार्जेस रोड,
लन्दन, दक्षिण-पश्चिम,
५ जून, १८९६

प्रिय श्रीमती वुल,

'राजयोग' पुस्तक की वहुत विक्री हो रही है। सारदानन्द शीघ्र ही अमेरिका जा रहा है।...

मेरे पिता जी यद्यपि वकील थे, फिर भी मेरी यह इच्छा नहीं है कि कोई जिसे मैं प्यार करता हूँ, वकील वने। मेरे गुरुदेव इसके विरोधी थे एवं मेरा भी यह विश्वास है कि जिस परिवार के कुछ लोग वकील हों, उस परिवार में अवश्य ही कुछ न कुछ गड़वड़ी होगी। हमारा देश वकीलों से छा गया है—प्रतिवर्ष विश्व-

विद्यालयों से सैकड़ों वकील निकल रहे हैं। हमारी जाति के लिए इस समय कर्म-तत्परता तथा वैज्ञानिक प्रतिभा की आवश्यकता है। इसलिए मेरी इच्छा है कि 'म'—इलेक्ट्रिकल इंजीनियर बने। यदि कदाचित् सिद्धि-लाभ न भी हो, तो भी उसने बड़े बनन की तथा देशवासियों के यथार्थ उपकार करने की चेष्टा की—इतना जानकर भी मुझे सन्तोष होगा।...अमेरिका के वायुमण्डल में ही एक ऐसा गुण है कि वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर जो कुछ अच्छा अंश है, उसे विकसित कर देता है।...मैं चाहता हूँ कि वह निडर तथा साहसी बने एवं अपने तथा अपनी जाति के लिए कोई नवीन मार्ग आविष्कार करने के लिए यथासाध्य प्रयत्न करे। इलेक्ट्रिकल इंजीनियर भारत में बिना विशेष प्रयास के अपना जीवन निर्वाह कर सकता है।

सप्रेम आपका,
विवेकानन्द

पुनश्च—गुडविन अमेरिका से एक मासिक पत्र प्रकाशित करने के सम्बन्ध में तुम्हें इस डाक से एक पत्र भेज रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कार्य को जारी रखने के लिए इस प्रकार का कोई आयोजन करना आवश्यक है। जिस रूप से वह कार्य करना चाहता है, मैं भी उसी रूप से उसमें सहायता प्रदान करने की यथासाध्य चेष्टा करूँगा।...मैं समझता हूँ कि वह सम्भवतः सारदानन्द के साथ जाने को प्रस्तुत है।

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

६३, सेंट जार्जेस रोड, लन्दन,
७ जून, १८९६

प्रिय कुमारी नोबल,

मेरा आदर्श अवश्य ही थोड़े से शब्दों में कहा जा सकता है, और वह है—मनुष्य-जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना, तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे अभिव्यक्त करने का उपाय बताना।

यह संसार अन्धविश्वासों की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है। जो अत्याचार से दबे हुए हैं, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, मैं उन पर दया करता हूँ, परन्तु अत्याचारियों के लिए भी मेरे अन्दर करुणा है।

एक बात जो मैं सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट देखता हूँ, वह यह कि अज्ञान ही दुःख का कारण है और कुछ नहीं। जगत् को प्रकाश कौन देगा? बलिदान भूतकाल से नियम रहा है और हाय! युगों तक इसे रहना है। संसार के वीरों को

और सर्वश्रेष्ठों को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अपना बलिदान करना होगा। असीम दया और प्रेम से परिपूर्ण सैकड़ों बुद्धों की आवश्यकता है।

संसार के धर्म प्राणहीन परिहास की वस्तु हो गये हैं। जगत् को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है चरित्र। संसार को ऐसे लोग चाहिए, जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण है। वह प्रेम एक एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा।

मेरी दृढ़ धारणा है कि तुममें अन्धविश्वास नहीं है। तुममें वह शक्ति विद्यमान है, जो संसार को हिला सकती है, धीरे धीरे और भी अन्य लोग आयेंगे। 'साहसी' शब्द और उससे अधिक 'साहसी' कर्मों की हमें आवश्यकता है। उठो! उठो! संसार दुःख से जल रहा है। क्या तुम सो सकती हो? हम बार बार पुकारें, जब तक सोते हुए देवता न जाग उठें, जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें। जीवन में और क्या है? इससे महान् कर्म क्या है? चलते चलते मुझे भेद-प्रभेद सहित सब बातें ज्ञात हो जाती हैं। मैं उपाय कभी नहीं सोचता। कार्य-संकल्प का अभ्युदय स्वतः होता है और वह निज बल से ही पुष्ट होता है। मैं केवल कहता हूँ, जागो, जागो!

अनन्त काल के लिए तुम्हें मेरा आशीर्वाद।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

६३, सेंट जार्जेस रोड,
लन्दन, दक्षिण-पश्चिम,
२४ जून, १८९६

प्रिय शशि,

श्री रामकृष्ण देव के सम्बन्ध में मैक्स मूलर का लेख आगामी माह में प्रकाशित होगा। वे उनकी एक जीवनी लिखने के लिए राज़ी हुए हैं। श्री रामकृष्ण देव की समस्त वाणियों को वे चाहते हैं। उनकी सारी उक्तियों को क्रमबद्ध रूप से लिखकर भेजो—अर्थात् कर्म सम्बन्धी उक्तियों को पृथक् रूप से तथा वैराग्य, ज्ञान, भक्ति आदि का संकलन पृथक् पृथक् हो। तुम्हें इस कार्य को अभी प्रारम्भ करना होगा। जो बातें अंग्रेज़ी में अप्रचलित हों, केवल उनको लिखने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिपूर्वक उन स्थलों में यथासम्भव अन्य वाक्यों का प्रयोग करना। 'कामिनी-कांचन' के स्थल पर 'काम-कांचन' लिखना—lust and gold—अर्थात् उनके उपदेशों में सार्वजनिक भावनाएँ प्रकट होनी चाहिए।

यह पत्र और किसी को दिखाने की आवश्यकता नहीं है। तुम उक्त कार्य का सम्पादन कर, उनकी सारी उक्तियों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा वर्गीकरण कर 'प्रोफ़सर मैक्स मूलर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी, इंग्लैण्ड'—इस पते पर भेज देना।

शरत् कल अमेरिका रवाना हो रहा है। यहाँ का कार्य परिपक्व होता जा रहा है। लन्दन में एक केन्द्र स्थापित करने के लिए आर्थिक व्यवस्था पहले से ही हो चुकी है। मैं आगामी माह में स्विट्ज़रलैण्ड जाकर एक-दो माह वहाँ रहना चाहता हूँ। अनन्तर पुनः लन्दन वापस आने का विचार है। मुझे अपने देश लौटने से क्या लाभ है? यह लन्दन दुनिया भर का केन्द्र है। भारत का heart (हृदय) यहीं है। यहाँ पर अपना केन्द्र पक्का किये बिना क्या मेरे लिए जाना उचित है? क्या तुम लोग पागल हो? शीघ्र ही मैं काली को बुलाना चाहता हूँ, उसे तैयार रहने को कहना। पत्र के देखते ही जिससे वह रवाना हो सके। दो-चार दिन के अन्दर ही मैं उसके आने के लिए मार्ग-व्यय भेज रहा हूँ तथा वस्त्र. जो भी कुछ आवश्यक हों, वह भी लिख दूंगा। उसीके अनुसार सारी व्यवस्थाएँ होनी चाहिए।

परमाराध्या श्री माता जी आदि सबसे मेरे असंख्य प्रणाम निवेदन करना। तारक दादा मद्रास जा रहे हैं—बहुत ठीक है।

महान् तेज, महान् बल तथा महान् उत्साह की आवश्यकता है। अबलापन से क्या यह कार्य हो सकता है? पहले पत्र में मैंने जो कुछ लिखा था, ठीक, उसी प्रकार से चलने की चेष्टा करना। संगठन चाहिए।

Organisation is power and the secret of that is obedience—(संगठन से ही शक्ति आती है एवं आज्ञा-पालन ही उसका मूल रहस्य है।) किमधिकमिति।

तुम्हारा,
नरेन्द्र

अनुक्रमणिका

हमारे अन्य प्रकाशन

श्रीरामकृष्ण की जीवनी (रोमाँ रोलाँ)	25.00
श्रीरामकृष्ण (संक्षिप्त जीवनी)	7.50
श्रीरामकृष्ण की जीवनकथा	8.00
श्रीरामकृष्ण की कहानियाँ	10.00
श्रीरामकृष्णकथा चित्रमाला	10.00
बच्चों के श्रीरामकृष्ण	8.00
श्रीमाँ सारदा देवी	29.90
श्री सारदा देवी (संक्षिप्त जीवनी)	5.50
सारदादेवी की जीवनकथा	9.00
विवेकानन्द : एक जीवनी	20.00
स्वामी विवेकानन्द (संक्षिप्त जीवनी)	5.50
विवेकानन्द : एक सचित्र जीवनी	70.00
विवेकानन्द की कहानी	10.00
विवेकानन्द का मानवतावाद	5.75
विवेकानन्द की बोध कथाएँ	7.00
साधना और सिद्धि	8.00
मन और उसका निग्रह	4.75
समाधि के सोपान	6.00
धर्म क्यों ?	4.00
पुनर्जन्म—क्यों और कैसे ?	4.50

मूल्य :		अजिल्द	सजिल्द
	प्रत्येक खण्ड :	रु० 26	रु० 36
	सेट :	रु० 250	रु० 350